॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१

स्वतन्त्रकलाशास्त्र

प्रथम भाग

भारतीय

लेखक

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, एम्० ओ० एल्० शास्त्री,

विश्वविद्यालय अनुदान अयोग–संस्कृत प्राध्यापक,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६७

THE

CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES

I

*****

SVATANTRAKALĀ S'ĀSTRA

(Science and Philosophy of Independent Arts)

Vol. I

BHĀRATĪYA

By

Dr. KANTI CHANDRA PANDEY,

M. A., Ph. D., D. Litt., M. O. L., Shastri

U. G. C. Professor of Sanskrit

Lucknow University

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1967

भूमिका

भारतीय दृष्टिकोण से 'स्वतन्त्रकला शास्त्र' स्वतन्त्र कलाओं का विज्ञान एवं दर्शन है। स्वतन्त्र कलाएँ वह कलाएँ हैं जिनकी कृतियाँ परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में इस प्रकार से उपस्थित करती हैं कि वे आवश्यक मानसिक दशाओं से युक्त सहृदय कलारसिकों के लिये ब्रह्मानन्दप्राप्ति का समुचित साधन बन जाती हैं। निम्नलिखित कारणों से यह शास्त्र विज्ञान है :—

(१) स्वतन्त्रकला शास्त्र कलाकृतियों का प्रमेयनिष्ठ दृष्टिकोण (Objective point of view) से अध्ययन करता है। कलाकृति मनुष्य शरीर की भाँति सुसंगठित समष्टिरूप होती है। यह शास्त्र इस रूप का विश्लेषण उसके विधायक तत्वों में करता है, इन तत्वों की पारस्परिक भिन्नता प्रदर्शित करता है, इनके बीच में जो परस्पर सम्बन्ध है उसको स्पष्ट करता है, कलाओं का विभाजन उन उपादान रूप साधनों के आधार पर करता है जिनका उपयोग कलाओं की कृतियों की रचना में किया जाता है, जैसे काव्य, संगीत एवं वास्तु, (कलाओं का यह विभाजन युक्तियुक्त है क्योंकि अर्थबोधक शब्द का काव्यकलाकृतियों की रचना में, सांगीतिक स्वर का संगीतकलाकृतियों की रचना में, ईंट पत्थर आदि कठोर वस्तु का वास्तुकलाकृतियों की रचना में उपादान साधन के रूप में किया जाता है।) और एक विशिष्ट कला की कृतियों का वर्गीकरण एक समूहगत भिन्नताविधायक सामान्य लक्षणों के आधार पर करता है, जैसे ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य एवं चित्र काव्य।

(२) यह शास्त्र स्वतन्त्रकलाकृति जनित अनुभव का अध्ययन मनोवैज्ञानिक ढंग से करता है और यह स्पष्ट करने की चेष्टा करता है कि यह अनुभव सामान्य व्यावहारिक लौकिक अनुभव से भिन्न ब्रह्मानन्द रूप क्यों होता है। इसलिये यह (अ) कलाकार की व्यक्ति का विश्लेषण कर यह प्रदर्शित करता है कि प्रतिभा आदि व्यक्तिगत विलक्षणताओं के कारण कलाकार एक ऐसी कृति को रचता है जिससे उक्त प्रकार का अनुभव रसिक में उद्भूत होता है। और रसिक के व्यक्ति का सहृदयत्व, तादात्म्योत्पादन शक्ति,

चर्वणा आदि में विश्लेषण कर यह सिद्ध करता है कि कलाकृतिजनित अनुभव सर्वसाधारण क्यों नहीं है। (आ) परन्तु कलाजनित अनुभव के विषय में मतभेद है। कोई शास्त्रकार इसे "प्रीतिस्वरूप" कोई "स्वतन्त्र कल्पना स्वरूप" कोई "कलाकार के अनुभव की अनुभूति स्वरूप" एवं कोई "लोकोत्तर ब्रह्मानन्द स्वरूप" मानते हैं। इस मतभेद के कारण को समझाने के लिये यह उस प्रक्रिया का विश्लेषण करता है जिसके अनुसार कलानुभव के विभिन्न तलों—अर्थात् इन्द्रिय-जन्य अनुभव, कल्पना, तादात्म्य, साधारणीभाव एवं लोकोत्तर—पर मन की विभिन्न शक्तियों के क्रियाशील होने के कारण विभिन्न कलानुभवों को उत्पन्न करने वाली विभिन्न मानसिक प्रतिच्छायें (æsthetic images) उद्भूत होती हैं। इस विश्लेषण के आधार पर यह शास्त्र यह सिद्ध करता है कि कलासमीक्षकों में कलानुभव के विषय में मतभेद का कारण उनकी कलानुभव के विभिन्न तलों तक पहुँच है। जो जिस तल तक पहुँचा उसने उस तल के अनुभव के आधार पर अपना मत स्थापित किया।

(३) इस शास्त्र में तार्किक युक्तियों से यह स्पष्ट करते हैं कि रसात्मक विवेक (æsthetic judgement) सत्य, मिथ्या, संशयात्मक एवं भ्रान्तिमूलक तथा साधारण प्रत्यभिज्ञात्मक विवेकों से भिन्न होता है।

(४) इस शास्त्र में कला के परम लक्ष्यों का विवेचन किया जाता है जैसे कलाकृति का लक्ष्य इन्द्रिय सुख को उत्पन्न करना है अथवा कलाकृति का परम उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना है या कलाकृति का परम साध्य आध्यात्मिक अनुभव को संभव करना है। इस शास्त्र में यह भी स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार एवं किस समय पर उनकी सिद्धि होती है।

(५) यह शास्त्र कलाकृतियों की रचना करने में प्रयुक्त उन कलासाधिका क्रियाओं (artistic activities) के स्वरूपों की भिन्नता का प्रतिपादन करता है जो अनुकृति स्वरूप, भ्रान्ति जनक अथवा आदर्श स्वरूप (ideal) कलाकृतियों की उत्पादिका होती हैं।

(६) काव्य एवं नाट्य स्वरूप साहित्यिक कलाओं के सम्बन्ध में इस शास्त्र में अर्थबोध की समस्या को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखते हैं और परम्परासिद्ध अभिधेयार्थ, लाक्षणिकार्थ, तात्पर्यार्थ तथा ध्वन्यर्थ की परस्पर भिन्नता को स्पष्ट किया जाता है।

(७) इस शास्त्र में नाट्य कला की एक कृति का विश्लेषण कार्यावस्थाओं में एवं उसमें प्रयुक्त नाट्यीकरण के साधनों का विभागीकरण अर्थप्रकृतियों में तथा उपर्युक्त कार्यावस्थाओं और नाट्यीकरण के साधनों का सन्धिनामक चौंसठ भागों में करते हैं। इसके अतिरिक्त इस शास्त्र में काव्यों और नाट्यों के मुख्य नायकों एवं नायिकाओं का वर्गीकरण उनकी विलक्षण भावोत्तेजक प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं के आधार पर किया जाता है।

यह स्वतन्त्रकला शास्त्र निम्नलिखित कारणों से दर्शन (philosophy) भी है।

(अ) एक कलाकृति से उत्पन्न किए गए अनुभव के विषय में मतभेद का स्पष्टीकरण भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के आधार पर इस शास्त्र में किया जाता है।

(आ) काव्य, संगीत एवं वास्तु कलाओं के शास्त्रप्रणेता आचार्य यह मानते हैं कि कला परब्रह्म को उस स्वरूप में उपस्थित करती है जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपने दार्शनिक मत में किया है। अतएव स्वतन्त्र कलाओं के वे तीन दार्शनिक सम्प्रदाय हैं जो परब्रह्म को रस, नाद तथा वास्तु स्वरूप मानते हैं और रसब्रह्मवाद, नादब्रह्मवाद तथा वास्तुब्रह्मवाद को स्थापित करते हैं।

अतएव इस ग्रन्थ में केवल तीन ही कलाओं—काव्य, संगीत एवं वास्तु—का प्रतिपादन किया गया है और उपर्युक्त सभी विषयों की विशद व्याख्या की गई है। इसमें चौदह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में कला शब्द के अर्थ, भारत में कला परम्परा की प्राचीनता, कला का शैव मत एवं काम नामक पुरुषार्थ के साथ सम्बन्ध, विभिन्न शास्त्रकारों से स्वीकृत कलाओं की संख्या, कलाविषयक समस्याओं के समाधान करने के लिये विभिन्न दृष्टिकोण आदि कला संबन्धित साधारण विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। अगले दश अध्यायों में काव्य कला—जिसके अन्तर्गत उस नाट्य-कला का परिगणन शास्त्रकारों ने किया है जिसे वे सर्वोत्कृष्ट काव्य मानते हैं—के सात तत्वों—लक्षण, अलंकार, गुण, रीति, दोष, ध्वनि एवं रस—का विवेचन ऐतिहासिक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों से किया गया है।

बारहवें अध्याय में सामवेदिक काल से लेकर वर्तमान शताब्दी तक का संगीत कला का ऐतिहासिक विवरण, तेरहवें में संगीतकला दर्शन अर्थात् नादब्रह्मवाद का प्रतिपादन तथा चौदहवें में वास्तुकला विषयक ज्ञानस्रोतों, शैव, ब्राह्म तथा माय नामक वास्तुरचना विधियों की परम्पराओं, माय रचनाविधि का मध्य अमेरिका तक प्रसार आदि विषयों का संक्षिप्त पर्यालोचन कर वास्तुब्रह्मवाद का स्पष्टीकरण किया गया है।

विभिन्न रससिद्धान्तों का प्रतिपादन विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर किया है। कुछ आधुनिक विद्वान् यह मानते हैं कि भट्ट नायक का रससिद्धान्त मीमांसा दर्शनाश्रित तथा अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त वेदान्ताश्रित है। इस अज्ञान एवं भ्रममूलक धारणा को हटाने के लिए यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि भट्ट नायक के मत का आधारभूत दर्शन अद्वैत वेदान्त है तथा अभिनवगुप्त का सिद्धान्त अद्वैत काश्मीर शैव दर्शनाश्रित है। और क्योंकि अद्वैत काश्मीर दर्शन की पठन पाठन परम्परा नष्टप्राय है इसलिये इस दर्शन का प्रतिपादन द्वितीय अध्याय में समाविष्ट किया गया है और यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि अभिनवगुप्त अपने रससिद्धान्त के प्रतिपादन में इस दर्शन के किन अंशों से प्रभावित थे।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों के इस भ्रम को दूर करने के लिये कि ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करने वाले तथा श्री शंकुक के अनुमितिवाद के समर्थक महिम भट्ट न्यायसिद्धान्तावलम्बी थे यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वे भी अद्वैत काश्मीर शैव मत को मानते थे और उसी की अनुमिति प्रक्रिया के अनुसार उन्होंने ध्वनिसिद्धान्त विरोधी अनुमितिवाद की स्थापना की थी।

नाद और विन्दु सर्वसम्मति से दुर्गम्य दार्शनिक तत्त्व हैं। इनका प्रति-पादन द्वैत और अद्वैत शैव दर्शनों में ही किया गया है। इनका अध्ययन विरले व्यक्ति ही करते हैं। पर नादब्रह्मवाद इन्हीं पर आश्रित है। अतः विशिष्ट जिज्ञासु पाठकों के लिये इनका स्पष्टीकरण द्वैत तथा अद्वैत शैव दर्शन एवं अद्वैत शैव दर्शनावलम्बी नागेशभट्ट के दृष्टिकोणों से किया गया है।

यह ग्रन्थ प्रामाणिक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इसमें प्रकटित विचारों की पुष्टि में यत्र तत्र मूल पुस्तक में शास्त्रीय प्रमाण वाक्यों

का उल्लेख किया गया है और विशिष्ट जिज्ञासुओं के लिये पादटिप्पणियों में वे ग्रन्थभाग निर्दिष्ट किये गये हैं जिन पर मूल पुस्तक में संख्यांकित विचार आश्रित हैं। ग्रन्थ लिखते समय पादटिप्पणियों में निर्दिष्ट ग्रन्थभागों को ग्रन्थ के अन्त में एक परिशिष्ट के रूप में देने का विचार था, जैसा कि मैंने इससे पूर्वलिखित अपने ग्रन्थों में किया है। परन्तु ग्रन्थसमाप्ति के अनन्तर इस विचार को इसलिये स्थगित करना पड़ा कि यह अतीव बृहदाकार न हो जाए और साधारण पाठक को सुलभ्य बना रहे।

बहुत दिनों से मेरे विद्वान् मित्रों का यह आग्रह था कि मैं अपने भारतीय स्वतन्त्रकला शास्त्र (æsthetics) विषयक विचारों को राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित करूँ। मैं इस कार्य को अतीव दुष्कर मानता था। परन्तु मेरी इण्डियन एस्थेटिक्स नामक अंग्रेजी में लिखी हुई अपनी पुस्तक के द्वितीय संस्करण के प्रकाशित होने के बाद इस आग्रह ने इतना जोर पकड़ा कि मुझे भारतीय स्वतन्त्रकला विषयक विचारधाराओं को हिन्दी में लिखने के लिये अपनी कलम उठानी पड़ी। ये विचारधाराएँ वैज्ञानिक एवं दार्शनिक हैं। अतः इनको सरल सर्वसाधारणगम्य हिन्दी में लिखने का यथाशक्ति प्रयास करने पर भी बहुत स्थलों पर भाषा संस्कृतशब्द एवं पारिभाषिकशब्द-बहुला अतएव कुछ दुर्गम सी हो गई है। इस दुर्गमता को दूर करने के लिये प्रत्येक ऐसे शब्द के प्रयोग के समनन्तर उसकी एक उपवाक्य में व्याख्या की गई है अथवा समानार्थक अंग्रेजी शब्द कोष्ठक में दिया गया है। इस प्रयास में मैं कितना सफल हुआ हूँ इसके निर्णायक विद्वान् पाठक और समालोचक ही हैं।

मुझे अत्यन्त हर्ष है कि भारतीय स्वतन्त्रकला शास्त्र (æsthetics) का सम्मान बढ़ रहा है और उसका महत्त्व न केवल इसी देश में वरन् देशान्तरों में भी माना जा रहा है। यहां के कलकत्ता, देहली, आगरा, लखनऊ आदि के विश्वविद्यालयों ने इस विषय को एक वैकल्पिक विषय के रूप में एम्० ए० परीक्षा के लिये निर्धारित किया है। पाश्चात्य देशों में भी मैक्स मूलर से प्रकटित एतद्विषयक विचार—

"There is hardly any trace of feeling for the beautiful in the Brahmanical or Buddhistic writings." (O. Ae., 8)

(ब्राह्मण और बौद्ध मतसम्बन्धी साहित्य में सौन्दर्य संवेदना का चिह्न तक दुष्प्राप्य है ।)

भ्रममूलक सिद्ध हो गया है और इस विषय के विशेषज्ञ पाश्चात्य विद्वान् भारतीय स्वतन्त्रकला शास्त्र की गरिमा, महत्ता तथा सारगर्भितता को स्वीकार करते हैं। इसका पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे अतीव उत्कण्ठित हैं जैसा कि नीचे लिखे हुए उद्धरणों से स्पष्ट है :—

स्वतन्त्रकला शास्त्रज्ञों का पंचम अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन १९६४ में अम्स्टर्डम में हुआ था। उसमें मुझे भी आमन्त्रित किया गया था। वहाँ प्रोफेसर थामस् मुनरो ने अपने भाषण में कहा :—

(1) "Western Aesthetics can learn something from the Oriental emphasis upon artist's inner attitudes and mental Processes."

(पाश्चात्य स्वतन्त्रकला शास्त्र पूर्वीय तद्विषयक शास्त्र से कुछ सीख सकता है, क्योंकि उसमें कलाकार की आन्तरिक उन्मुखताओं तथा मानसिक प्रक्रियाओं की छानबीन और चर्चा प्रधानरूप से की गई है।)

(2) "Indian Aesthetics is, on the whole, more systematically developed than others along the philosophic lines."

J. Ae. A. C. Page 5 (1965).

(अपने समग्र रूप में भारतीय स्वतन्त्रकला शास्त्र अन्यदेशीय तद्विषयक शास्त्र की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित रूप से दार्शनिक पद्धति पर अग्रसर हुआ है।)

(3) "Western Aesthetics can learn much of value from it."

O. Ae. Page 4.

(पाश्चात्य स्वतन्त्रकला शास्त्र तद्विषयक भारतीय शास्त्र से बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें सीख सकता है।)

गतवर्ष अक्टोबर मास में स्वतन्त्रकलाशास्त्र (æsthetics) विषयक समस्त विचारधाराओं को संगृहीत करने के विचार को कार्यान्वित करने के लिये विभिन्न देशों के इस विषय के विशेषज्ञों की एक समिति बनाई गई थी

जिसकी पहली बैठक माइस्ट्रिक (नीदलैंण्ड) में यू यन् इ यस्को की आर्थिक सहायता से हुई थी। इसमें एक आमन्त्रित सदस्य के रूप में मैंने भी विचार-विमर्श में समुचित भाग लेते हुए उक्त विचार को कार्यान्वित करने के प्रकार की रूपरेखा उपस्थित की। इसे स्वीकृत कर समिति ने यह निर्णय किया कि इन विचारधाराओं का प्रकाशन बीस पुस्तक रूप भागों में किया जाय और भारतीय स्वतन्त्रकला शास्त्र पर एक पुस्तक लिखने का कार्य मुझे सौंपा जाय।

इस प्रकार पाश्चात्य देश, जो कि पहले इस भ्रम में थे कि भारत में स्वतन्त्रकला शास्त्र विषयक विचारधारा है ही नहीं, आज इसे यथेष्ट सम्मान दृष्टि से देखते हुए संसार की अन्य एतद्विषयक विचारधाराओं के संग्रह में समुचित विशिष्ट स्थान देने में प्रवृत्त हैं; इसे समझने के लिये प्रयत्नशील हैं, और यह मानने लगे हैं कि इससे बहुत कुछ उन्हें ग्रहण करना है।

अन्त में मुझे अपने सहायकों, प्रोत्साहकों और सहयोगियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अत्यधिक हर्षानुभूति हो रही है। मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिकारियों, विशेषतः इसके सम्मान्य अध्यक्ष डाक्टर डी० एस्० कोठारी का अतीव आभारी हूँ जिनकी अविरत आर्थिक सहायता के कारण मैं शान्तिपूर्वक पूर्वायोजित अनुसन्धान पर अपनी शक्तियों को केन्द्रित कर "अभिनव गुप्त" एवं "इण्डियन एस्थेटिक्स" के द्वितीय संस्करण, "शैव दर्शन विन्दु" तथा इस पुस्तक को प्रकाशित कर सका हूँ। लखनऊ विश्वविद्यालय के अधिकारियों, विशेषतः इसके उपकुलपति डाक्टर ए० वी० राव तथा संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रोफेसर एस्० वी० सिंह के प्रति कृतज्ञता के भाव को प्रकट करना स्वाभाविक है, क्योंकि इन्हीं की कृपादृष्टि और सहानुभूति के कारण अवकाश प्राप्ति के बाद भी पहले की भांति मुझे इसी विश्वविद्यालय में शैव दर्शन को पढ़ाने तथा अनुसन्धान करने की सभी सुविधायें प्राप्त होती चली आ रही हैं। चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं, विशेषतः परम कृष्णभक्त श्री कृष्णदास गुप्त जी का, जिन्होंने विशिष्ट अभिरुचि, उत्साह एवं सावधानी से मेरे इस ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थों को मुद्रित और प्रकाशित किया है, मैं बहुत ऋणी हूँ। वाराणसी, आगरा,

दिल्ली, पंजाब, इलाहाबाद, गोरखपुर, लखनऊ आदि विश्वविद्यालयों के हिन्दी प्रेमी प्राध्यापकों को जिनके निरन्तर प्रोत्साहन के बिना मैं हिन्दी में लिखने का साहस नहीं कर सकता था, मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ। श्री आदित्य प्रकाश मिश्र एम्० ए० तथा श्रीमती लीला पाण्डेय बी० ए० गत बीस वर्षों से सम्मानसूचक समुचित वेतन न पाते हुए भी अनुसन्धानानुराग के ही कारण मुझे अनुसन्धान में निरन्तर निःस्वार्थ सहयोग देते चले आ रहे हैं और इन्हीं के गाढ़ परिश्रम से इस ग्रन्थ को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हो सका है। ये दोनों मेरे हार्दिक धन्यवाद, आशीर्वाद और सराहना के विशिष्ट पात्र हैं।

फैजाबाद रोड
बाबूगंज क्रासिंग, लखनऊ
५ मई १९६७

कान्तिचन्द्र पाण्डेय

संकेत सूची

अभि० : अभिनवगुप्त—एन हिस्टारिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी (चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९३५)

अभि० भा० अथवा अ० भा० : अभिनव भारती (गायकवाड ओरियण्टल सीरीज बरोदा १९२५)

अभि० भा० पाण्डुलिपि : अभिनव भारती पाण्डुलिपि (अद्यर लाइब्रेरी—मद्रास)

अ० वे० : अथर्ववेद

अ० शा० : अर्थ शास्त्र (कौटिल्य)

अ० हि० इ० : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (के० स्मिथ)

ई० प्र० वि० : ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (कश्मीर संस्कृत सीरीज १९२८)

ई० प्र० वि० वि० : ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी (कश्मीर संस्कृत सीरीज १९३८)

उ० रा० च० : उत्तर रामचरित (नाटक) भवभूति

ऋ० इं० : ऋग्वेदिक इंडिया (ए० सी० दास) आर कम्ब्रे एण्ड को० कलकत्ता १९२५

ऋ० वे० : ऋग्वेद

एन्० इ० : एन्सियण्ट इण्डिया : बुलेटिन आफ आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया (जनवरी १९४७)

कम्० ए० भाग १ : कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स (के० सी० पाण्डेय) चौखम्बा, बनारस

का० : काव्यालंकार (रुद्रट)

का० अ० : काव्यालंकार (भामह) चौखम्बा बनारस १९२८

का० द० : काव्यादर्श (दण्डिन्)

का० प्र० : काव्य प्रकाश (मम्मट) कलकत्ता १८८६

का० लं० सं० : काव्यालंकार संग्रह (उद्भट) निर्णयसागर, बाम्बे १९१५

का० लं० सू० वृ० : काव्यालंकार सूत्र वृत्ति (वामन) जीवानन्द कलकत्ता
का० सू० : काम सूत्र (वात्स्यायन)
कु० सं० : कुमार सम्भव
कू० पु० : कूर्म पुराण
च० प्र० : चतुर्दण्डि प्रकाशिका (वेंकट मखिन) म्यूजिक एकेडेमी, मद्रास
छां० उ० : छान्दोग्य उपनिषद्
जै० ब्रा० : जैमिनीय ब्राह्मण
जै० सू० : जैमिनि सूत्र
झा० : गंगानाथ झा : तन्त्र वार्तिक का अंग्रेजी अनुवाद (एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल)
त० प्र० : तत्त्व प्रकाशिका (भोज)
तं० लो० : तन्त्रालोक (काश्मीर संस्कृत सीरीज)
द० रू० : दशरूपक (निर्णय सागर, बाम्बे १९१७)
ध्व० लो० : ध्वन्यालोक लोचन (निर्णय सागर, बाम्बे, १९२८)
ना० भ० वृ० : नागोजी भट्ट वृत्ति योग सूत्र पर (चौखम्बा बनारस १९२१)
ना० शा० : नाट्यशास्त्र (चौखम्बा बनारस १९२९)
नि० : निरुक्त
नि० (व्याख्या) : निरुक्त दुर्गाचार्य कृत व्याख्या
न्या० द० : न्याय दर्शन (जीवानन्द कलकत्ता)
न्या० सू० : न्याय-सूत्र (चौखम्बा बनारस १९२९)
पं० विं० ब्रा० : पंचविंश ब्राह्मण (डॉ० डब्ल्यू कालेण्ड)
प० वि० : परात्रिंशिका विवरण (कश्मीर संस्कृत सीरीज १९१९)
पा० : पाणिनि
पा० सू० : पाशुपत सूत्र
पु० सू० : पुष्प सूत्र (चौखम्बा, बनारस)
फि० ई० वे० : हिस्टोरी आफ फिलासोफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न (जार्ज अलेन एण्ड अनविन् १९५१)
फिलू० आ० : फिलोसफी आफ फाईन् आर्ट (हेगल)

ब्र० सू० शां० भा० : ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य (निर्णयसागर, बम्बई)
भा० : भास्करी (सरस्वती भवन संस्कृत टेक्स्ट बनारस)
भा० वृ० : भावगणेश वृत्ति (योग सूत्र पर) चौखम्बा बनारस १९२१
भो० वृ० : भोज वृत्ति (योग सूत्र पर) चौखम्बा बनारस
म० : मनुस्मृति (निर्णय सागर, बाम्बे)
म० प्र० : मणिप्रभा (योगसूत्र टीका) चौखम्बा बनारस १९२१
म० भा० : महाभाष्य (पतञ्जलि)
मा० सा० : मानसार (डॉ० पी० के० आचार्य संस्करण)
मृ० : मृगेन्द्र (आगम)
म्यू० अ० इ० : ए शार्ट हिस्टोरिकल सर्वे आफ म्यूजिक आफ अपर इंडिया (पं० विष्णु नारायण भातखण्डे)
य० वे० : यजुर्वेद
याज्ञ० : याज्ञवल्क्यस्मृति
यो० सू० : योगसूत्र (चौखम्बा बनारस १९३०)
र० गं० : रस गंगाधर (निर्णय सागर, बम्बई, १९३०)
र० त० : रसतरंगिणी (गोपालनारायण, बम्बई)
र० सु० : रसार्णव सुधाकर
रा० : रामायण (वाल्मीकि)
ल० मं० : लघुमंजूषा (नागेश भट्ट) बनारस
वा० प० : वाक्य पदीय (चौखम्बा, बनारस)
वा०प० (व्याख्या): वाक्य पदीय टीका (हेलाराज)
वा० रा० : वाल्मीकि रामायण (निर्णय सागर, बम्बई)
वि० ध० : विष्णुधर्मोत्तर पुराण
वे० सा० : वेदान्त सार (निर्णय सागर, बम्बई)
वै० द० : वैशेषिक दर्शन
व्य० वि० : व्यक्ति विवेक (चौखम्बा, बनारस १९३६)
व्य० वि० टी० : व्यक्ति विवेक टीका मधुसूदनकृत (मधुसूदनी)
व्य० वि० व्या० : व्यक्ति विवेक व्याख्यान रुय्यक कृत
श० चि० : शब्दार्थ चिन्तामणि (सज्जन यंत्रालय उदयपुर १९१७)

शृं० प्र० (रा०) : शृंगार प्रकाश (राघवन्) डॉ० वी० राघवन्
शृं० प्र० : शृंगार प्रकाश (मद्रास १९२४)
शै० शा० उ० : शैव एण्ड शाक्त उपनिषद (अद्यर, मद्रास)
सं० द० : संगीत दर्पण (चतुर दामोदर) तंजौर
सं० र० (अद्य) : संगीत रत्नाकर (शार्ङ्ग देव) अद्यर संस्करण
सं० र० (आन०) : संगीत रत्नाकर (शार्ङ्ग देव) आनन्दाश्रम संस्करण
सं०र०से०(पाण्डु.): संगीत रत्नाकर सेतु (गंगाराम) पाण्डुलिपि
स० क० : सरस्वती कण्ठाभरण (निर्णय सागर, बम्बई १९३४)
स० सू० धा० : समरांगण सूत्रधार (भोज)
सां० त० कौ० : सांख्य तत्त्व कौमुदी
सा० इ० म्यू० : साउथ इण्डियन म्यूजिक (साम्ब मूर्थी)
सा० द० : साहित्य दर्पण (जीवानन्द कलकत्ता १९१६)
सि० कौ० : सिद्धान्त कौमुदी (निर्णय सागर, बम्बई १९०८)
स्ट० सं० टे० : स्टडीज इन संस्कृत टेक्सट्स आन टेम्पिल आर्कीटेक्चर (एन्० वी० मल्लय)
स्ट० सा० : स्टडीज आन सामवेद (बरेण्ड फैड्डेगोन)
स्व० मे० क० : स्वरमेलकलानिधि (रामामात्य)
ह० यो० प्र० : हठयोग प्रदीपिका (अद्यर, मद्रास)
हि० म्यू० : हिन्दुस्तानी म्यूजिक (जी० एच्० रानाडे)
हि० सं० लि० : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (ए० बी० कीथ)
J. Ae. A. C. : Journal of Aesthetics and Art Criticism Cleveland, Ohio, U. S. A.
O. Ae. : Oriental Aesthetics by Professor Thomas Munro, Western Reserve University, Cleveland, Ohio, U. S. A.

विषय-सूची

अध्याय ३

अभिनवगुप्त के रससिद्धान्त का आधार भूत शैवमत

अध्याय ४

अभिनवगुप्त का रस सिद्धान्त

अध्याय ५

रस के भेद

अध्याय ६
अभिनवगुप्त का ध्वनि सिद्धान्त

अध्याय ७

महिमभट्ट कृत ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन एवं उसका मण्डन

अध्याय ८

संस्कृत नाटकों का रचना-विधान

अध्याय ९

रूपक के भेद

अध्याय १०

संस्कृत नाट्य-प्रदर्शन के आवश्यक तत्त्व

अध्याय ११

काव्य लक्षणग्रंथों में रससम्बन्धिनी विचारधाराएँ

अध्याय १२

संगीत-कला

स्वतन्त्रकलाशास्त्र

प्रथम भाग

(भारतीय)

अध्याय १

विषयप्रवेश : भारतीय दृष्टिकोण

स्वतन्त्रकलाशास्त्र स्वतन्त्रकलाओं का तात्त्विक विवेचन–दर्शन एवं विज्ञान है। भारतीय दृष्टिकोण से स्वतन्त्रकलाशास्त्र की इस परिभाषा को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है :—

१. भारतीय कला-इतिहास में कलाओं का सर्वप्रथम विभाजन कामशास्त्र के लेखक वात्स्यायन के पूर्व बभ्रु के पुत्र पांचाल ने 'मूल' एवं 'अन्तर' कलाओं में किया था। उनके उपरान्त भरत मुनि ने अपने प्रसिद्ध नाट्य-शास्त्र में कलाओं को 'मुख्य' और 'गौण' दो रूपों में स्वीकार किया था। पर अन्ततः भारत के अध्यात्मवादी चिन्तकों ने कलाओं का विभाजन 'स्वतन्त्र' तथा 'आश्रित' अथवा 'उपयोगिनी' कलाओं के रूपों में किया है। इस विभाजन के अनुसार स्वतन्त्र कलाएं वे हैं जो परब्रह्म अथवा परतत्त्व को ऐसे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य रूप में अनुभवकर्ता के सामने उपस्थित करती हैं कि सहृदय व्यक्ति को परब्रह्म के सत्य स्वरूप का अनुभव प्राप्त हो जाता है। तथा उपयोगिनी अथवा आश्रित कलाएं वे हैं जो मानव जाति के उपयोग में आने वाली विभिन्न वस्तुओं को उत्पन्न कर उसकी सुखवृद्धि में सहायक होती हैं।

इस विभाजन के अनुसार भारतीय दृष्टिकोण से स्वतन्त्र कलाओं की संख्या तीन है—काव्य (जिसके अन्तर्गत नाट्य कला भी है), संगीत एवं वास्तु। इन्हीं तीन कलाओं से परतत्त्व के इन्द्रियग्राह्य रूप के उपस्थापन द्वारा उसके सत्य स्वरूप की अभिव्यक्ति संभव हो सकती है। भारतीय कलाविषयक आचार्यों ने काव्य, संगीत तथा वास्तु कलाओं में ही ऐसी कृतियों को उत्पन्न करने की शक्ति मानी है जो कि परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में प्रदर्शित कर सहृदय को परतत्त्व के सत्य स्वरूप का अनुभव करा सकती हैं।

भारतीय साहित्य में पांच सौ बयासी कलाओं का उल्लेख मिलता है, परन्तु स्वतन्त्रकलाशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय उन सब कलाओं की कृतियों में उपलब्ध सौन्दर्य नहीं है, और न प्रकृतिगत सौन्दर्य ही है। इसलिए 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' शब्द 'सौन्दर्यदर्शन' (Philosophy of beauty) का पर्यायवाची नहीं है।

इस शब्द का यदि अंग्रेजी भाषा के Æsthetics शब्द से अनुवाद किया जाय तो निम्न बातों को ध्यान में रखना अतीव आवश्यक है:— (अ) इस अंग्रेजी शब्द का अर्थ Philosophy of fine arts (ललितकलाओं का दर्शन) नहीं है जो कि हेगल के अनुयायी मानते हैं। क्योंकि हेगल के अनुसार fine arts (ललितकलाएं) पांच हैं, परन्तु भारतीय मत के अनुसार स्वतन्त्र कलाएं तीन ही हैं। (आ) इसका अर्थ Philosophy of beautiful and sublime (सौन्दर्य एवं भव्यता का दर्शन) भी नहीं है, जैसा कि उन कान्ट के मत के अनुसार होता है जिन्होंने 'क्रिटिक आफ् जजमेण्ट' में सौन्दर्य एवं भव्यता का बहुत विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। क्योंकि वे प्राकृतिक पदार्थों को भव्यता के उदाहरण रूप में उपन्यस्त करते हैं। (इ) इसका अर्थ Principles of art (कला-सिद्धान्त) भी नहीं है क्योंकि इसका विषय समस्त ज्ञात कलाओं के सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं है। (ई) इस शब्द का वह व्यापक अर्थ भी नहीं है जिसमें 'एस्थेटिक्स' के इतिहास को लिखने वाले बोसान्केट और क्रोचे आदि ने इस शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि उन्होंने स्वलिखित पुस्तकों में साक्रेटीस् से लेकर उनके समय तक के लेखकों ने प्रकृतिगत सौन्दर्य एवं विभिन्न कलाओं की कृतियों के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं उन सबको यथोचित स्थान दिया है।

उपर्युक्त कारणों को मन में रखते हुए यदि हम एस्थेटिक्स के लिए आधुनिक कलाचिन्तकों द्वारा प्रयुक्त 'ललितकलादर्शन', 'सौन्दर्यदर्शन', 'सौन्दर्यशास्त्र' आदि शब्दों पर दृष्टि डालें, जो कि ऊपर लिखित अंग्रेजी शब्दों के अनुवादमात्र हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय के लिए इन शब्दों का प्रयोग करना पाठक को भ्रम में डालना होगा।

२. स्वतन्त्रकलाकृतियों में जो सौन्दर्य व्यक्त हुआ है उसका स्वस्वरूप क्या है? उसकी रचनाविधि क्या है? और उसका प्रभाव अपने उत्कृष्टतम रूप में क्या होता है? ये प्रश्न हमारे प्रतिपाद्य विषय से दृढ रूप में सम्बन्धित

हैं। इसलिए इस ग्रन्थ में हमारा कर्तव्य स्वतन्त्र कलाओं का दार्शनिक विवेचन मात्र नहीं है अपितु भारतीयशास्त्रानुसार उनका वैज्ञानिक विवेचन तथा कलाकृतियों की वैज्ञानिक रचनाविधि का प्रदर्शन भी है। इसी कारण इसका नाम स्वतन्त्रकलादर्शन नहीं अपितु 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' रखा गया है। तथ्य तो यह है कि इस समय पाश्चात्य देशों में भी कलाओं के वैज्ञानिक विवेचन की चर्चा हो रही है और थामस् मुनूरो आदि विद्वानों ने Æsthetics as a Science इत्यादिनामक पुस्तकें भी लिखी हैं।

अतएव प्रारम्भिक रूप में इतना समझ लेना आवश्यक है कि 'स्वतन्त्र-कलाशास्त्र' परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में सहृदय के सामने उपस्थित कर उसके सत्य रूप को अभिव्यक्त करने वाली कलाओं का दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन है। अब हम कला शब्द के अर्थों को स्पष्ट करेंगे।

'कला' शब्द के अर्थ

संस्कृत भाषा में 'कला' शब्द की सिद्धि कल धातु से हुई है जिसका अर्थ 'संख्यान' है। संख्यान शब्द की सिद्धि ख्या धातु से न होकर जिसका अर्थ 'कथन' (कहना), 'घोषणा करना' या 'संवादन' होता है, 'चक्षिङ् व्यक्तायाम् वाचि' से है जिसका अर्थ 'स्पष्ट वाणी में प्रकटन' होता है। चक्षिङ् के स्थान पर 'ख्या' आदेश हो जाता है। इसका अर्थ अवधानपूर्वक देखना भी है (अयं दर्शनेऽपि—सि० कौ० ३७४)। सम् उपसर्गपूर्वक इस धातु का अर्थ गिनना, गणना करना अथवा संकलन करना होता है। इस अर्थ के आधार पर 'संख्यान' शब्द का अर्थ मनन, चिन्तन एवं ध्यान भी होता है। इसी अर्थ में महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग के चालीसवें श्लोक में इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार से किया है :—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्
हरः प्रसंख्यानपरो बभूव······

'उस समय केवल शिव ही दिव्य अप्सराओं के गीतों को सुन कर भी 'आत्मानुसन्धान' में लगे रहे।'

इस प्रकार से 'कला' शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है जिसका विशेष लक्षण 'ध्यानदृष्टि से देखना', गणना अथवा संकलन करना, मनन और चिन्तन करना एवं स्पष्ट रूप से प्रकट करना है। इसलिए कला शब्द

ही स्वयं कलाकृतियों के उत्पादन के उन मूलभूत नियमों को संकेतरूप में बतलाता है जिन पर कलाकृतियों की उत्पत्ति तथा उनकी समीचीन विवेचना निर्भर है। कलाकृतियों के उत्पादन के ये मौलिक नियम 'संकलन', 'चिन्तन' एवं 'स्पष्ट अभिव्यक्ति' करना हैं।

कुछ प्रसंगों में 'कला' शब्द का अर्थ 'कलाकृति' भी होता है। इस अर्थ में इस शब्द की सिद्धि कल धातु से भावप्रक्रिया के अनुसार (कल्यते अस्याम्) होती है। तदनुसार 'कला' शब्द का अर्थ एक ऐसी कृति होती है जो उस मानवीय क्रिया से उत्पन्न होती है जिसके विशेष गुण ध्यानपूर्ण दृष्टि, संकलन, एवं स्पष्ट प्रकटन हैं। इस अर्थ में कला शब्द की सिद्धि घ-प्रत्ययान्त कल धातु से पाणिनि के 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण–'३, ३, ११८ सूत्र के अनुसार हुई है।

कला शब्द की सिद्धि ला धातु से भी होती है जिसका सामान्य अर्थ 'प्राप्त करना' होता है। परन्तु व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य चन्द्र के मतानुसार इस धातु का अर्थ 'दान करना' भी है—(द्वावपि दाने इति चन्द्रः सि० कौ० ३७८)। इस प्रकार से 'कलाकृति' के अर्थ में कला शब्द का प्रयोग 'कं लाति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आनन्ददायक—आनन्द देने वाला' अर्थ में भी होता है। शब्द के इस अर्थ से कलाविषयक यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि 'कलाकृति इन्द्रियसुख का साधन है'। इस प्रकार से शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों के अनुसार 'कला' शब्द से ही हमें निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर मिलता है :—

१. कला की परिभाषा क्या है ?

२. मनुष्य की कौन सी वह विशेष क्रिया है जिससे विविध कलाओं की कृतियां उत्पन्न होती हैं ?

३. कलाकृतियां क्या इन्द्रियों के सुख का साधन हैं ? कलाविषयक यह प्रश्न सबसे अधिक प्राचीन मालूम पड़ता है और कलाकृतियाँ इन्द्रियों के सुख का साधन हैं यह सिद्धान्त कुछ कलाकारों की क्रिया के उद्देश्य का आधार भी रहा है।

भारत में कला-परम्परा की प्राचीनता

भारतवर्ष उन देशों में से एक है जहां पर सांस्कृतिक परम्पराएं अत्यन्त प्राचीन हैं। अतएव पुरातन कला-परम्परा भी इतनी अधिक प्राचीन है

कि उसका ज्ञान हम पुरातत्त्वविज्ञान के अन्वेषणों तथा प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से ही प्राप्त कर सकते हैं।

यदि हम सिन्धु नदी के निकटस्थ प्रदेश के उन सांस्कृतिक प्राचीरों पर एक दृष्टि डालें जिनका अस्तित्व ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व माना जाता है तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उतने प्राचीन समय में वास्तु, मूर्ति, चित्र, भाण्डनिर्माण, लौहवस्तुरचना आदि अनेक भौतिक कलाएं प्रसिद्ध थीं। पुरातत्त्व-अन्वेषणों से प्राप्त पकाई गई ईंटों और चूने, मिट्टी की पकाई हुई मानवों और पशुओं की मूर्तियों, वृषभ के चित्र और लेख से अङ्कित मुद्राओं, दर्पण, सुरमें की सलाई, सीप के चमचों, कंकण, अंगूठी एवं चित्रांकित भाण्डों से इन कलाओं का अस्तित्व सिद्ध होता है।

वेद संसार के वर्तमान साहित्यिक लेखों में सबसे अधिक प्राचीन हैं। वर्तमान सुसंस्कृत एवं सभ्य राष्ट्र जिन कलाओं को आज जानते हैं उनमें से विशेषतया प्रधान कलाएं वैदिक युग में प्रसिद्ध थीं। यह वेदों में उन कलाओं, कलाकृतियों और उनके रचनाकारों के नामों के उल्लेख से ज्ञात होता है। वैदिक साहित्य में निम्नलिखित कलाओं का उल्लेख मिलता है :—

१. बुनाई—भेड़ों की ऊन सूत के रूप में काती जाती थी और उससे ऊनी वस्त्र बनाए जाते थे।[1] ऐसे लोग थे जो बुनाई की कला को सीखते थे और उसको अपनी जीविका का साधन बनाते थे। इनको वाय[2] कहा जाता था। बुनाई के यन्त्र को तन्त्र[3] कहते थे।

२. बढ़ईगीरी—उस समय में बढ़ई का काम करने वाले लोग थे जिनको तष्टृ[4] या तक्षन्[5] कहते थे। वे रथ, पहिये, नौकाएं और लकड़ी के बर्तन बनाते थे।

३. लोहारी—उन दिनों में लोहार थे जिनको कार्मार[6] कहा जाता था। ये लोग खेती के काम में आने वाले औजार तथा युद्धोपयोगी शस्त्र आदि बनाते थे।

---

[1] ऋ० वे० १०, २६, ६ [2] ऋ० वे० १०, २६, ६
[3] ऋ० वे० १०, ७१, ९ [4] ऋ० वे० १०, ११९, ५
[5] ऋ० वे० ९, ११२, १ [6] ऋ० वे० ९, ११२, २

४. मृद्भाण्डकला (कुम्हारी)—वैदिक युग में कुम्हार थे जो सरलता से टूटने वाले[1] मिट्टी के बर्तनों की रचना करते थे।

५. सोनारी—उस युग में स्वर्णकार या सुनार थे जो सोने के अलङ्कार जैसे कण्ठहार (निष्क) कर्णकुण्डल[2] आदि की रचना करते थे।

६. चर्मकारी—वैदिक काल में चमड़े को कमाने वाले लोग थे जिनको चरमम्न[3] कहा जाता था। चमड़े के बने हुए उन बर्तनों का भी उल्लेख मिलता है जिनकी रचना वे लोग करते थे जो चमड़े को कमाना और उसको उपयोगी स्वरूपों में सीना जानते थे।

७. माला बनाने की कला—वैदिक युग में ऐसे लोग भी थे जो जीविका के लिए फूलों से मालाएं एवं अन्य अलङ्कारों की रचना करते थे[4]।

८. केशसंस्कारकला—वप्ता[5] अर्थात् नाई का उल्लेख भी वेदों में प्राप्त होता है।

९. भैषज्यकला—उस युग में चिकित्सक भी थे जिनको भिषक्[6] कहा जाता था। ये लोग रोगों को फैलते हुए देखने के लिए उत्कण्ठित रहते थे।

१०. संगीतकला—ढोल (दुंदुभि[7]) का उल्लेख वेदों में है। तीन प्रकार के वाद्ययन्त्रों का वर्णन उनमें किया गया है—आघात से बजने वाले जैसे ढोल, तार से बने हुए जैसे वीणा और वायु के संचार से बजने वाले जैसे बांसुरी। वेद के मन्त्र स्वयं यह प्रमाणित करते हैं कि उस युग में संगीत का अत्यधिक आदर किया जाता था। वाद्य एवं गेय दोनों रूपों के संगीत का उल्लेख किया गया है। एक वाद्य का नाम कर्करी[8] था जो सम्भवतः वीणा की भाँति होता था। मरुतों[9] के वाद्यों के नाम क्षोणी, वीणा और वाण थे। वेद के कुछ भाष्यकार 'वाण' का अर्थ बांसुरी[10] लगाते हैं।

सामवेद में गान हैं। इनके गान का प्रकार स्वर संकेतों से प्रकट किया गया है। आर्चिक पाठ को गाने में लाने के लिये आवश्यक परिवर्तन किए

---

[1] ऋ० वे० १०, ८९, ७
[2] ऋ० वे० ८, ४७, १५
[3] ऋ० वे० ८, ५, ३८
[4] ऋ० वे० ८, ४७, १५
[5] ऋ० वे० १०, १४२, ४
[6] ऋ० वे० ९, ११२, १
[7] ऋ० वे० ६, ४७, २९–३१
[8] ऋ० वे० २, ४३, ३
[9] ऋ० वे० २, ३४, १३
[10] ऋ० इं० २३५

गए हैं। उनमें सात स्वरों का संकेत १, २, ३, ४, ५, ६, और ७ संख्याओं से किया गया है।

अत्यन्त प्राचीन भारतीय संगीत का विशद वर्णन सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण में प्राप्त होता है जो परवर्ती काल से लेकर आज तक के भारतीय संगीत के लिए आधाररूप रहा है।

११. वास्तुकला—ऋग्वेद के समय में वास्तुकला अत्यन्त विकसित थी। दुर्ग, प्रासाद और भवनों का उल्लेख उसमें किया गया है। धनी और अभिजात व्यक्ति उन दुर्गों, प्रासादों और भवनों में रहते थे जो पत्थरों के खण्डों अथवा अन्य कठोर वस्तुओं[1] से बनाए जाते थे। ऐसे अत्यन्त सुन्दर प्रासादों का भी उल्लेख किया गया है जिनकी रचना में लकड़ी का प्रयोग अधिक मात्रा में होता था। यह कहा गया है कि मित्र तथा वरुण[2] के पास एक ऐसा प्रासाद था जिसमें एक सहस्र स्तम्भ थे[3]। लौह दुर्ग तथा नगरों का भी उल्लेख[4] किया गया है। अनेक रूपों के निवासस्थानों, जैसे गृह,[5] हर्म्य[6] आदि, का वर्णन उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद के दो सूक्तों (७, ५४ तथा ५५) में वास्तु अथवा भवन पर शासन करने वाले देवता 'वास्तोष्पति' को सम्बोधित किया गया है। परन्तु परवर्ती किसी समय में 'वास्तु' शब्द का अर्थ विस्तृत हो गया और उसका प्रयोग स्थापत्य कला के अर्थ में किया जाने लगा और स्थापत्य-विज्ञान को 'वास्तुविद्या' के नाम से अभिहित किया जाने लगा।

१२. कढ़ाई—मरुतों के विषय में यह कहा गया है कि वे स्वर्ण से अलंकृत[7] प्रावार (चोंगा) धारण करते थे। वरुण के वर्णन में यह कहा गया है कि वे सुवर्णसूत्रालंकृत[8] सोने के सूत से कढ़े हुए वस्त्रों को धारण करते थे। कढ़े हुए वस्त्र[9] को पेशस् कहा गया है।

१३. नृत्य—ऋग्वेद के युग में स्त्री और पुरुष दोनों नृत्य करते थे। बांस की छड़ियों को ऊपर आकाश की ओर उठा कर[10] नृत्य करते हुए स्त्रियों एवं

---

[1] ऋ० वे० ४, ३०, २०
[2] ऋ० वे० ७, ५, ३
[3] ऋ० वे० २, ४१, ५
[4] ऋ० वे० ७, ३, ७
[5] ऋ० वे० ३, ५३, ६
[6] ऋ० वे० ७, ५६, १६
[7] ऋ० वे० ५, ५५, ६
[8] ऋ० वे० १, १६, १३
[9] ऋ० वे० २, ३, ६
[10] ऋ० वे० १, १९, १

पुरुषों का वर्णन प्राप्त होता है। नाचने वाले व्यक्ति को 'नृत' कहते थे। युद्ध के अवसर पर उत्तेजना की दशा में इन्द्र नृत्य करते थे। नाचने वाली नारी को नृतु कहा जाता था। सम्भवतः इस शब्द का प्रयोग उस नृत्यजीवी नारी के लिए किया जाता था जो नृत्य के समय कढ़े हुए वस्त्रों को धारण करती थी और लोगों को आकर्षित[1] करने के लिए अपने स्तनों को नग्न कर देती थी। ऋग्वेद में एक स्थल पर[2] एक अन्त्येष्टि क्रिया के अवसर पर नृत्य के साथ-साथ 'हास' का भी उल्लेख है।

१४. काव्य—स्वयं ऋग्वेद ही इस तथ्य का स्पष्टतम प्रमाण है कि वैदिक युग में काव्यकला उत्कृष्टता को प्राप्त कर सकी थी। सभी वैदिक-कवि द्रष्टा एवं ऋषि थे। उन्होंने चारित्रिक एवं आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार किया था और उनकी अभिव्यक्ति समुचित छन्दों में की थी। विश्व के सम्भवतः वे सबसे अधिक प्राचीन कवि थे। उनका प्रकृति का प्रत्यक्षीकरण सजीव तथा सुन्दर था।

ऋग्वेद में प्राकृतिक एवं काल्पनिक काव्य-प्रवृत्तियों का स्वाभाविक सम्मिश्रण हुआ है जैसा कि उषस्, सूर्य, चन्द्र आदि के वर्णन से ज्ञात होता है। ऋग्वेद में उन जटिल और सूक्ष्म विषयों का भी वर्णन है जिनका अनुभव हम अपनी स्थूल इन्द्रियों से नहीं, परन्तु अपनी मानसिक, चारित्रिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से कर सकते हैं। इस प्रकार से हमको वरुण[3] का वह भव्य स्वरूप मिलता है जो कि उस ईश्वर के स्वरूप के समान है जिसमें आधुनिक जनता विश्वास करती है। क्योंकि आधुनिक समय में ईश्वर-विश्वासियों के अनुसार वह संसार के चरित्र का नियन्ता और विरोधियों को दण्ड देने वाला है। लेकिन साथ ही साथ उनके प्रति वह करुणहृदय और दयालु भी है जो किए गए कुकर्मों का प्रायश्चित्त करते हैं और क्षमा की याचना करते हैं।

ऋग्वेद और परवर्ती लौकिक काव्य में भेद यह है कि लौकिक काव्य में कल्पना की प्रधानता है जब कि ऋग्वेद में यथार्थता और स्वाभाविकता का प्राधान्य है। वैदिक काव्य का आधार प्रमुख रूप से तत्कालीन धर्म के सजीव और दृढ़ सिद्धान्त हैं। वेदकालीन धार्मिकों के लिए देवगण उतने ही यथार्थ

[1] ऋ० वे० १, ९२, ४ [2] ऋ० वे० १०, १८, ३
[3] ऋ० वे० ७, ८९, ५

हैं जितने कि उनके मित्र और पड़ोसी। मृत्यु के उपरान्त आत्मा के अस्तित्व को उसके लौकिक अस्तित्व की भाँति वे यथार्थ मानते थे। यथार्थ और स्वाभाविकता की यह प्रवृत्ति वैदिक काव्य को उत्कृष्टता प्रदान करती है।

इस प्रकार के गीतों में नासदीय सूक्त (ऋग्वेद १०, १२९) सबसे अधिक भव्य है। सृष्टि की पूर्वदशा की जिस प्रकार की कल्पना और भावना इस सूक्त में मिलती है वैसी इस प्रकार के अन्य गीतों में दुर्लभ है।

वैदिक काव्य अलङ्कारहीन काव्य नहीं हैं। उसमें हमें आकर्षक रूपक, उत्प्रेक्षाएं एवं उपमाएं उषस् आदि सूक्तों में प्राप्त होती हैं।

१५. नाट्यकला—ऋग्वेद में हमें ऐसे सूक्त मिलते हैं जिनमें संवाद अथवा कथोपकथन हैं। ये सूक्त उस सबसे अधिक प्राचीन रचनाप्रणाली के रूप में लिखे गए हैं जिसके आधार पर परवर्ती नाट्यकृतियों की रचना संभव हुई थी।

कथोपकथन सूक्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध सूक्त वह है जिसमें पुरूरवा तथा उर्वशी का संवाद है। पुरूरवा मृत्युलोक के निवासी थे और उर्वशी स्वर्गलोक की अप्सरा थी। पुरूरवा की पत्नी के रूप में उर्वशी को भूलोक में रहने के लिए विवश होना पड़ा था। लेकिन जैसे ही वह गर्भवती हुई, वह अन्तर्धान हो गई। पुरूरवा उसे खोजने निकले। अन्त में उन्होंने उसको एक जलाशय में अन्य अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करते हुए देखा। इसके उपरान्त उन दोनों में परस्पर वार्तालाप आरम्भ हुआ। इतनी कथा संवाद से ही ज्ञात हो जाती है।

प्रेम की यह धर्म-कथा शतपथ ब्राह्मण में और भी अधिक विकसित रूप में कही गई है तथा बीच-बीच में वेद के मन्त्र मिला दिए गए हैं। इस कथा के अनुसार जब उर्वशी ने पुरूरवा की पत्नी बनना स्वीकार किया था तब उसने पुरूरवा से तीन प्रतिज्ञाएँ करवा ली थीं। उनमें से एक प्रतिज्ञा यह भी थी कि पुरूरवा उसको कभी भी नग्न दिखाई न पड़ें। कुछ समय के उपरान्त गन्धर्वगण में यह इच्छा हुई कि उर्वशी लौट आवे। इसलिए एक रात में उन्होंने उन दो भेड़ों के बच्चों को चुरा लिया जिनको उर्वशी अपने बालकों के समान ही चाहती थी। उर्वशी ने रात के अन्धकार में चिल्ला कर कहा कि वह लूट ली गई। पुरूरवा नग्न अवस्था में ही शयन से उठ कर चोरों का पीछा करने के लिए कूद पड़े। ठीक उसी क्षण पर

गन्धर्वों ने मेघों से बिजली चमका दी। उर्वशी ने राजा को वस्त्रहीन देखा और अन्तर्धान हो गई। जब पुरूरवा लौट कर आए और उसको नहीं देखा तो वे विरहव्यथा से उन्मत्त हो गए। वे इधर-उधर उसको खोजते हुए जब घूम रहे थे तो उन्होंने एक जलाशय में उर्वशी को अन्य अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करते हुए देखा और दोनों में वार्तालाप आरम्भ हो गया।

बौधायन श्रौतसूत्र, बृहद्देवता, हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण आदि में इस कथा का उद्धरण है। अन्त में कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक की रचना की जो उनकी अमरकृतियों में से एक है। इस नाटक में इस कथा का विकास और पूर्ण नाटकीय रूप दिखाई देता है।

परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि यजुर्वेद के समय में नाट्यकला का विकास इस सीमा तक हो चुका था कि अभिनेता नाटकों का प्रदर्शन करने लग गए थे। क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में, जिसमें उन व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है जिनका बलिदान पुरुषमेध में उन विविध दिव्य व्यक्तियों अथवा शक्तियों के लिए करना आवश्यक होता था जो उस समय पर दैवी स्वीकार कर ली गई थीं, शैलूष अथवा अभिनेता का भी उल्लेख किया गया है—"गीताय शैलूषम्"— गीत के लिए शैलूष की बलि देनी चाहिए। इसके साथ ही साथ इस प्रसंग में उन कलाओं एवं कलाकारों का भी उल्लेख है जिनका समावेश परम्परागत चौंसठ कलाओं में किया गया है। उनमें से मुख्य कलाएँ और कलाकार निम्नलिखित हैं :—

१. मागध (चारण कवि), २. नृत (नृत्य), ३. गीत, ४. रथकार (रथ की रचना करने वाले व्यक्ति), ५. तक्षन् (बढ़ई), ६. मणिकार (जौहरी), ७. इषुकार (वाण बनाने वाले व्यक्ति), ८. धनुष्कार (धनुष बनाने वाले व्यक्ति), ९. ज्याकार (धनुष की डोरी बनाने वाले व्यक्ति), १०. रज्जुसर्ज (रस्से बनाने वाले लोग), ११. श्वनिन् (शिकारी), १२. विदलकारी (बेंत से वस्तुएँ बनाने वाले व्यक्ति), १३. पेशस्करी (कढ़ाई का काम करने वाले व्यक्ति), १४. स्मरकारी (स्मारकों की रचना करने वाले लोग), १५. हस्तिप (महावत), १६. अश्वप (घोड़ों को शिक्षित करने वाले व्यक्ति), १७. सुराकार (मदिरा बनाने वाले व्यक्ति), १८. अग्न्येध (अग्नि में ईंधन डालने वाले लोग), १९. वासःपल्पूली (धोबिन), २०. रजयित्री (वस्त्र रँगने वाली नारी), २१. अञ्जनकारी (काजल या सुरमा बनाने वाले व्यक्ति), २२. अजिनसंध (चमड़ा सिलने वाले व्यक्ति), २३ चरमम्न (चमड़ा कमाने वाले लोग)

२४. हिरण्यकार (सोनार), २५. चरकाचार्य (गुप्तचरों का शिक्षक), २६. आडम्बरघात (युद्धसमय में ढोल बजाने वाले लोग), २७. वीणावाद (वीणा बजाने वाले व्यक्ति), २८. तूणवध्म (विषाण बजाने वाले लोग), २९. शंखध्म (शंख बजाने वाले व्यक्ति), ३०. वंशनर्तिन् (बांस पर नृत्य करने वाले व्यक्ति)।

यदि कलाकृति उपयोगिनी होती थी तो उसका समादर होता था और मौलिक कलाकृति की रचना करने वाले और उसकी रूपरेखा बनाने वाले व्यक्ति की प्रशंसा की जाती थी। इस प्रकार से प्रसिद्ध निपुण कलाकार ऋभुओं को रचना की कठिन समस्याओं के हल करने के कारण देवत्व[1] की प्रतिष्ठा प्रदान की गई थी। उन्होंने त्वष्टृ रचित एक ही यज्ञचषक को चार चषकों में परिणत कर दिया था। विविध रूपों की प्रतिभाओं एवं कलाविषयक निपुणताओं (धी)[2] का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

पाश्चात्य देशों में ऐसी कोई साहित्यिक कृति नहीं है जो वेदों के समान प्राचीन हो और जिसमें किए गए कलाविषयक वर्णन की तुलना उपर्युक्त वर्णन से की जा सके।

शैवमत एवं कला

प्रागैतिहासिक समय में धर्म के रूप में शैवमत की सत्ता के चिह्न हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो की पुरातत्त्व-सामग्रियों में भी प्राप्त हुए हैं। अतः शैवमत का क्रमबद्ध इतिहास कम-से-कम पाँच हजार वर्ष पुराना है। सिन्धु नदी के तटस्थ प्रदेश (हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो) की संस्कृति और सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त शिव की लिङ्गप्रतिमा आज भी शैवमतावलम्बियों में पूज्य मानी जाती है। आज इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है[3] कि सिन्धु नदी के तटस्थ प्रदेशों की संस्कृति में धर्म की प्रधानता थी। हड़प्पा के पुरातत्त्व अवशेषों में दो वस्तुएं प्राप्त हुई हैं जिनमें से मिट्टी की पकाई हुई लंबशंकाकार एक प्रतिमा है। इसका शीर्ष भाग वृत्ताकार है और इसके विषय में डाक्टर आर० ई० एम्० ह्वीलर भी यह कहते हैं कि 'सम्भवतः इसको 'लिङ्ग' माना जा सकता है'। दूसरी वस्तु एक विशाल स्थूल अंगूठी के समान है जो

---

[1] ऋ० वे० १, १६१, ४ [2] ऋ० वे० ९, ११२, १

[3] एन्० इ० ७६

सम्भवतः योनि या नारीलिङ्ग का अनुकरण है। इन दोनों वस्तुओं के आधार पर यह समुचित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि सिन्धु प्रदेश की उस संस्कृति में चाहे एक अथवा अनेक धर्म रहे हों फिर भी उसमें शैवमत का अस्तित्व था जिसका विशेष लक्षण यह था कि इसमें शिव और शक्ति[1] के एकात्मक रूप की उपासना 'योनि के ऊपर लिङ्ग' के प्रतीक के रूप में की जाती थी।

इन पुरातन सांस्कृतिक प्राचीरों में प्राप्त अवशेषों से श्री आर० डी० बनर्जी का यह मत एक अंश में पुष्ट होता है कि "मोहेंजोदड़ो के प्राचीरों में प्राप्त कुण्ड के समान हड़प्पा के भग्नावशेषों में ढँकी हुई सँकरी नालियों से युक्त जो कुण्ड मिले हैं उनका प्रयोग चरणामृत-कुण्ड के रूप में किया जाता था, जिसमें अर्चनीय प्रतिमा को स्नान कराने के बाद का पवित्र जल एकत्रित करते थे"। क्योंकि इस प्रकार के कुण्ड वर्तमान शिवमन्दिरों में सामान्य रूप से पाए जाते हैं।

यदि हम एक प्रसिद्ध पुरातत्त्ववैज्ञानिक[2] का यह मत स्वीकार कर लें कि भित्तियों से घिरे हुए हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो नगरों का नाश इन्द्र ने किया था, जो भारत पर आक्रमण करने वाले आर्यों के नायक थे और इसी कारण से वेदों में जिनको पुरन्दर कहा जाता है, एवं यदि हम तदनुकूल लिङ्ग-पूजकों के विषय में किए गए तत्कालीन घृणापूर्ण उल्लेख (शिश्नदेवाः ऋ० वे० ७, २२, ५) का सम्बन्ध भारत के मूलनिवासियों से मान लें तो यह सिद्ध हो जाता है कि सिन्धुतटस्थ प्रदेशों की संस्कृति में उस मूर्तिपूजा का अस्तित्व विशिष्ट रूप से था जिसके विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि आर्य संस्कृति में भी वह सर्वमान्य थी।

इस प्रकार से ऐसा ज्ञात होता है कि शैव मत के साथ वास्तु तथा मूर्तिकला का सम्बन्ध प्रागैतिहासिक समय से चला आ रहा है। अतएव यह मानना युक्तिसंगत होगा कि भारत में एक शैव कला-परम्परा थी जिसके अनुसार मन्दिरों और प्रतिमाओं की रचना की जाती थी। यह बात दुःखप्रद है कि वर्तमान समय में इस कला-परम्परा का कोई उल्लेख उतना प्राचीन भी नहीं प्राप्त होता जितना कि ऋग्वेद है। परन्तु शैवमत तथा कला के विषय में जो व्याख्या हम गत पृष्ठों में कर आए हैं उसके आधार

---

[1] एन्० इ० १२९ [2] एन्० इ० ८२

पर यह मानना युक्तिहीन नहीं होगा कि शैवागमों के वर्तमान संस्करणों में हमको कला-रचना के प्रारम्भिक मूल सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, यद्यपि परवर्ती समय में चाहे जितनी मात्रा में प्रक्षिप्त अंश उनमें मिलाए गए हों, और जिस भाषा में उनको व्यक्त किया गया है वह हमारे मतानुसार चाहे जितनी वर्तमान के निकट हो।

यदि हम उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लें तो यह मानना होगा कि इन शैवागमों में भारत की सबसे अधिक प्राचीन वास्तु एवं मूर्ति-सम्बन्धी कला-परम्परायें वर्णित हैं। क्योंकि अनेक प्राप्त शैवागम जैसे कामिक, कारण, सुप्रभेद आदि चार भागों में विभाजित हैं (१) ज्ञान (२) योग (३) चर्या तथा (४) क्रिया। इनके क्रियापाद में मन्दिर एवं प्रतिमाओं को बनाने की विधि के साथ विभिन्न रूपों के वासगृहों की रचनाविधि का वर्णन अत्यन्त विशद रूप में किया गया है। आगमों में इस विषय की जो विशद व्याख्या की गई है उसकी तुलना वास्तुकलारचनासम्बन्धी उन विशद व्यख्याओं से की जा सकती है जो हमको मयमत, मानसार, समरांगण-सूत्रधार आदि[1] ग्रंथों में प्राप्त होती हैं।

अपरञ्च, गीत और अभिनय जैसी ललितकलाओं का भी घनिष्ठ सम्बन्ध शैवागमों के साथ है। शैवमत के प्रारम्भिक रूप में दर्शन और धर्म के बीच कोई विभाग-रेखा नहीं थी। वस्तुतः उस प्राचीन द्वैतवादी पाशुपत दर्शन में 'धार्मिक विधि' को एक पदार्थ स्वीकार किया गया है जो ईसा के युग से पूर्व अपने को विकसित कर चुका था। एक शिलालेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'लकुलीश पाशुपत द्वैताद्वैत दार्शनिक मत' की स्थापना लकुलीश ने ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध भाग में की थी। लकुलीश-रचित 'पाशुपत सूत्र' से यह ज्ञात होता है कि इस दार्शनिक मत मे पूर्ववर्ती 'पाशुपत मत' के पाँच मूल पदार्थों को स्वीकार किया गया है। इन सूत्रों में हमको शैवों की धार्मिक विधियों का उल्लेख मिलता है। इन सूत्रों में शिवभक्त को यह आदेश दिया गया है कि प्रतिमा की दक्षिण दिशा[2] में उत्तर दिशाभिमुख खड़े होकर वह नृत्य और गान[3] करे। सार्वजनिक स्थान में प्रेम का अभिनय[4] करने का भी उसे आदेश दिया

---

[1] मा० सा० ८६ [2] पा० सू० १३
[3] पा० सू० १४ [4] पा० सू० ८६

गया है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन समय से शैवमत के साथ वास्तु, मूर्ति, नृत्य, संगीत और अभिनय कलाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

कला और काम

भारतवर्ष में सदा से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरुषार्थ अथवा मानव-जीवन के लक्ष्य स्वीकार किये गये हैं। इन पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए वेद साहित्य के अनुवर्ती साहित्य को चार प्रशाखाओं में विभाजित किया गया है—१. धर्मशास्त्र—इसके अन्तर्गत मनु, याज्ञवल्क्य आदि प्रणीत धर्म-प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। २. अर्थशास्त्र–इसके अन्तर्गत बृहस्पति आदि प्रणीत ग्रन्थ हैं। ३. कामशास्त्र—इसका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ वात्स्यायनकृत कामसूत्र है। ४. दर्शनशास्त्र—इसको अनेक दार्शनिक मतों के रूपों में विभिन्न दार्शनिकों ने प्रतिपादित किया है।

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में परम्परा से चली आई ज्ञान की एक धारा का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि ब्रह्मा ने स्वरचित सृष्टि में मानव जाति की स्थिति के लिए मानवजीवन के तीन उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयोजन को ध्यान में रख कर उनके उपायों और साधनों को एक लाख अध्यायों में प्रतिपादित किया था। इनमें से जो अध्याय धर्म से सम्बन्धित थे उनको स्वायम्भुव मनु ने, और जो अर्थ से सम्बन्धित थे उनको बृहस्पति ने अलग किया। परन्तु देवाधिदेव महादेव[1] के प्रतिष्ठित अनुचर नन्दी ने अपने स्वामी के गृहद्वार पर बैठकर उस समय कामसूत्र को एक सहस्र अध्यायों में लिखा जब शिव और पार्वती रतिक्रीड़ा में निमग्न थे। इस कृति को उद्दालक-पुत्र श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। श्वेतकेतु की इस कृति को बभ्रुपुत्र पांचाल ने संक्षिप्त करते हुए एक सौ पचास अध्यायों में निम्नलिखित सात विषयों[2] का प्रतिपादन किया है :—

१. साधारणम्—सामान्य बातें।
२. साम्प्रयोगिकम्—कामसिद्धि के उपाय एवं साधनों की प्राप्ति।
३. कन्यासम्प्रयुक्तकम्—विवाह की विधियां और उसके रूप।
४. भार्याधिकारिकम्—पत्नी के धर्म और कर्तव्य।

---

[1] का० सू० ४ [2] का० सू० ५

५. पारदारिकम्—दूसरे की पत्नी के प्रेम को पाने के उपाय तथा साधन।
६. वैशिक—वेश्याओं से सम्बन्धित बातें।
७. औपनिषदिक—रहस्यमय (गुप्त रोगों के) उपचार-निर्देश।

पाटलिपुत्र में निवास करने वाली वेश्याओं के आग्रह करने पर दत्तक ने इस ग्रन्थ के उस अंश को जिसका सम्बन्ध वेश्यालयों से था पृथक् रूप में प्रतिपादित किया था। तथा पांचालप्रणीत ग्रन्थ के अन्य विषयों का प्रतिपादन क्रमपूर्वक चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, गोणिकापुत्र तथा कुचुमार ने किया था।

यद्यपि अपने ग्रन्थ के अन्तिम श्लोकों[1] में वात्स्यायन ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उनका कामसूत्र बाभ्रव्य पांचाल रचित ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है तथापि संक्षिप्त रूप में इसमें उन सभी विषयों का प्रतिपादन है जिनका विवेचन उपर्युक्त ग्रन्थों में किया गया है।

वात्स्यायन रचित कामसूत्र भी सात भागों में विभक्त है। इसके प्रत्येक भाग के शीर्षक वे ही हैं जिनको पांचाल ने अपने ग्रंथ के भागों को मौलिक रूप से दिया था। इस कामसूत्र में चौंसठ प्रकरण हैं। अतएव इन्हीं प्रकरणों के अनुसार इसमें उन चौंसठ कलाओं का वर्णन है जो मानव-जीवन के पुरुषार्थ 'काम' की सिद्धि में सहायक[2] होती हैं।

मानव-जीवन के पुरुषार्थ 'काम' की सिद्धि का प्रतिपादन करने वाले साहित्य के विषय में उपर्युक्त परम्परागत धारणा पूर्ण रूप से निराधार कल्पना-मात्र नहीं है। इसमें तो कोई शंका नहीं है कि मानव-जीवन के तीन पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ और काम) के प्रतिपादक ब्रह्मालिखित जिस ग्रन्थ का उल्लेख ऊपर किया गया है वह कपोलकल्पना मात्र है, और उसका उल्लेख ऐसे विषयों के बारे में लिखने की भारतीय परम्परा तथा शैली के अनुसार ही किया गया है। परन्तु यह बहुत सम्भव है कि कामशास्त्र के विषय में लिखे गये नन्दी रचित उस ग्रन्थ का अस्तित्व रहा हो जो आज अप्राप्य है। क्योंकि भागवत (स्कं० १०, अध्या० ४५, श्लो० ३६) के भाष्य में श्रीधर स्वामी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उन्होंने जिन चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है—और जो वात्स्यायन-कथित चौंसठ कलाओं से मिलती जुलती हैं—वे अपने मूल रूप में शैवागम अथवा शैवतन्त्र से उद्धृत की गई हैं।

[1] का० सू० ३८१ [2] का० सू० ४१

२ स्व० शा०

क्योंकि वे निश्चित रूप से "शैवतन्त्रोक्ताः"—शैवतन्त्र में कही गई—लिखते हैं।

फिर भी यह निर्विवाद है कि परम्परागत ज्ञान के आधार पर माने गये अन्य लेखकों की कृतियों का अस्तित्व था, क्योंकि स्वयं वात्स्यायन अपने कामसूत्र के अनेक स्थलों पर उन कृतियों की ओर संकेत करते हैं जैसा कि नीचे लिखी विवरण-तालिका से ज्ञात होता है।

कामसूत्र में उद्धृत पूर्ववर्ती शास्त्रकार :—

पांचाल ६८, ७९, ९४, ९९, १३५, १९२, २३८

औद्दालकि (श्वेतकेतु) ७६

चारायण ४७, ६५

गोणिकापुत्र ६०, ६८

सुवर्णनाभ ६५, ११४, १३५, १३७, १५१

घोटकमुख ६५, १८५, १८७, १९४, २००

गोनर्दीय ६५, २२४, २२७, २३७

दत्तक १८०

शैवतन्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र में प्राप्त चौंसठ कलाओं की सूची

१. गीतम्—कण्ठ गान।

२. वाद्यम्—वाद्य संगीत।

३. नृत्यम्—नाच। वात्स्यायन के मत के अनुसार नाट्य नृत्य के अन्तर्गत है।

४. नाट्यम्—नाटक। वात्स्यायन उस परम्परा को स्वीकार करते थे जिसके अनुसार नृत्य को दो प्रकारों का माना गया था :—(१) नाट्य (२) अनाट्य[1]। नाट्य में भूमि, स्वर्ग तथा पाताल लोकों के निवासियों के कार्यों को अनुकृत रूप में प्रदर्शित किया जाता था। अनाट्य में उन्हीं कार्यों को नृत्य के रूप में प्रदर्शित किया जाता था। इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि नृत्य को (१) अभिनेय नाटक एवं (२) नृत्य नाटक में विभाजित किया गया था।

---

[1] का० सू० ३०

५. आलेख्यम्—चित्रांकन ।

६. विशेषकच्छेद्यम्—पत्तियों (सम्भवतः धातु की बनी हुई) को विविध सुन्दर रूपों में काटकर मस्तक के अलंकरण बनाना ।

७. तण्डुलकुसुमवलिविकाराः—चावल या कुसुमों से रेखाचित्रों की रचना करना ।

८. पुष्पास्तरणम्—शय्या को सुमनों से सजाना ।

९. दशनवसनाङ्गरागाः—दाँतों, वस्त्रों और शरीर के अङ्गों को रँगना ।

१०. मणिभूमिकाकर्म—जवाहरातों को चित्र रूप में जड़ना ।

११. शयनरचनम्—शय्या बनाना ।

१२. उदकवाद्यम्—पानी से इस प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करना जैसी वाद्य से उत्पन्न होती है ।

१३. उदकघात—अन्य व्यक्तियों पर पिचकारी से जल फेंकना ।

१४. चित्रयोग—कामसूत्र के चित्रयोगशीर्षक प्रकरण में लिखित विविध प्रयोजनों की सिद्धियों के लिए उपचार निर्देश देना ।

१५. माल्यग्रथनविकल्पाः—मालाएं बनाना ।

१६. शेखरापीडयोजनम्—शेखरकापीडयोजनम् (वात्स्यायन) केशों को कुसुम मालाओं से अलंकृत करना ।

१७. नेपथ्ययोगाः—नेपथ्यप्रयोगाः (वात्स्यायन) रूप रचना अथवा रूप भरना ।

१८. कर्णपत्रभंग—कर्णपत्र बनाना ।

१९. गंधयुक्तिः—सुगन्धित वस्तुएं बनाना ।

२०. भूषणयोजनम्—अलंकार बनाना ।

२१. इन्द्रजालम्—ऐन्द्रजालम् (वात्स्यायन) जादू के अद्भुत खेल दिखाना ।

२२. कौचुमारयोगाः—कौचुमाराश्च योगाः (वात्स्यायन) इस प्रकार के उपचारों का निर्देश करना जो प्रेमिका के मन को उस प्रेमी की ओर आकर्षित करे जिससे वह विमुख रहती है । कुचुमार के प्रामाणिक मत के अनुसार इन उपचारों को सुभगंकरण नामक उपप्रकरण में लिखा गया है ।

२३. हस्तलाघवम्—हाथ की निपुणता से अद्भुत खेलों को दिखाना ।

२४. चित्रशाकपूपभक्ष्यविकारक्रिया—विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया (वात्स्यायन) विविध प्रकार के भोजनों और पेयों को बनाने की कला।

२५. पानकरसरागासवयोजनम्—पेयों, रसों, रंगों और मदिराओं को परस्पर मिलाने की कला।

२६. सूचीवापकर्माणि—सूचीवानकर्माणि (वात्स्यायन) सिलाई, बुनाई और कढ़ाई करना।

२७. सूत्रक्रीड़ा—धागों का खेल खेलना।

वीणाडमरुकवाद्यानि—श्रीधर के उद्धरण के मतानुसार शैवतंत्र में वर्णित कलाओं की सूची में इस कला का उल्लेख नहीं किया गया है। इस कला का उल्लेख न करना ही उचित लगता है क्योंकि इस कला में दो वाद्यों के नामों को विशेष रूप से और अन्य वाद्यों को सामान्य रूप से कहा गया है। यह कोई विशिष्ट कला नहीं ज्ञात होती है।

२८. प्रहेलिका—पहेली बनाना और बूझना।

२९. प्रतिमाला—ऐसे अनेक सुन्दर छंदों को रागसहित पढ़ना जिनमें पहले छन्द का अन्तिम वर्ण दूसरे छन्द का पहला अक्षर हो। इस प्रकार के छन्द-पाठ में दो या इससे अधिक व्यक्ति भाग ले सकते हैं।

३०. दुर्वाचक योगाः—इस प्रकार के छन्दों की रचना करना' जिसमें कठिनता से उच्चारण किये जाने वाले अक्षर हों और उन छन्दों का अर्थ भी कठिन हो।

३१. पुस्तकवाचनम्—पुस्तक पढ़ना।

३२. नाटिकाख्यायिकादर्शनम्—नाटकाख्यायिकादर्शनम् (वात्स्यायन) नाटक और कहानी को पूर्ण रूप से समझना।

३३. काव्यसमस्यापूरणम्—उस छन्द की पूर्णरचना करना जिसका एक अंश प्रस्तावित किया गया है।

३४. पट्टिकावेत्रवाणविकल्पाः—बेंत की पट्टियों से आसन आदि बनाना।

३५. तर्ककर्माणि—तक्षकर्माणि (वात्स्यायन) [कामसूत्र का पाठ यहाँ पर अशुद्ध लगता है। क्योंकि व्याख्या में तर्ककर्माणि शब्द की व्याख्या की गई है।] चक्रयंत्र (खराद) कला। अथवा चक्रयंत्र की सहायता से वस्तुओं और चित्रों की रचना करना।

३६. तक्षणम्—बढ़ई का काम करना।

३७. वास्तुविद्या—भवन आदि का निर्माण करना।

३८. रूप्यरत्नपरीक्षा—मुद्रा, मूल्यवानधातु और मणियों की परीक्षा करना।

३९. धातुविद्या—धातुओं को पिघलाना, शुद्ध करना और मिलाना।

४०. मणिरागज्ञानम्—मणिरागाकरज्ञानम् (वात्स्यायन) स्फटिक मणि को रंगना और रत्नों की खानों को खोजना।

४१. आकरज्ञानम्—खानों को खोदना।

४२. वृक्षायुर्वेदयोगाः—वृक्षों के रोगों का उपचार करना।

४३. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि—पशु और पक्षियों को युद्धकला में निपुण करना।

४४. शुकसारिकाप्रलापनम्—पक्षियों को मनुष्यों की भाषा बोलने की शिक्षा देना।

४५. उत्सादनम्—पैरों से मर्दन करना।

४६. केशमार्जनकौशलम्—उत्सादने सम्वाहने केशमर्दने च कौशलम् (वात्स्यायन) [वात्स्यायन ने केशमार्जन का उल्लेख नहीं किया है। इसके स्थान पर वे केशमर्दन का उल्लेख करते हैं और उसको मर्दन कला का ही एक रूप मानते हैं। यह क्रिया तीन प्रकारों की होती है १ पैरों से, २ हाथों से, (अंगमर्दन) ३ केशों का मर्दन। जब यह मर्दन पैरों से किया जाता है तो उसे उत्सादन कहते हैं।]—केश स्वच्छ करना।

४७. अक्षरमुष्टिकाकथनम्—संकेत लिपि (Short-hand) अथवा संकेत भाषा (Signalling) की रचना करना जिसकी सहायता से पूर्वनिश्चित संकेतों से दूर पर स्थित व्यक्तियों को सूचना अथवा निर्देश दिये जा सकते हों।

४८. म्लेच्छितकविकल्पाः—म्लेच्छितविकल्पाः (वात्स्यायन) इस प्रकार के शब्दों से विचारों और भावों को व्यक्त करना जिनमें अक्षरों का क्रम-विपर्यय किया गया हो। कौटिल्य ने शब्दों के अक्षरों के इस क्रमविपर्यय का उल्लेख किया है। ऐसे शब्दों का प्रयोग अन्य लोगों की उपस्थिति में अपने विश्वस्त व्यक्तियों से विचारों के आदान प्रदान में किया जाता है जिसको अन्य लोग नहीं समझ सकते।

४९. देशभाषाज्ञानम्—विदेशी भाषा का ज्ञान।

५०. पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम्—[कामसूत्र की व्याख्या में 'निमित्तज्ञानम्' को पृथक् लिखा गया है।] पुष्पों के लिए खिलौना गाड़ी अथवा गाड़ियाँ बनाना। और शकुन विचारना।

५१. यंत्रमात्रिका—यंत्र चलाना।

५२. धारणमात्रिका—पढ़े हुए को स्मरण रखना।

५३. सम्पाठ्यम्—सम्पाठयम् (वात्स्यायन) अनेक व्यक्तियों के साथ पाठ करना।

५४. मानसी काव्यक्रिया—[कामसूत्र की व्याख्या में मानसी को काव्य क्रिया से पृथक् लिखा गया है।]चित्र—काव्य की रचना करना। चित्र-काव्य उस छन्द को कहते हैं जिसके अक्षरों को कमल आदि रूपों में व्यवस्थित किया जा सके और उनको ठीक रूप में पढ़ा जा सके।

५५. क्रियाविकल्पाः—क्रियाकल्पाः (वात्स्यायन) काव्यलक्षण और अलंकार।

५६. छलितकयोगाः—छल करना अथवा भ्रम उत्पन्न करना।

५७. अभिधानकोषच्छन्दोज्ञानम्—[वात्स्यायन ने अभिधान एवं कोष को छन्दोज्ञानम् से पृथक् लिखा है।] कोष और छन्दशास्त्र का ज्ञान।

५८. वस्त्रगोपनानि—वस्त्रगोपनम् (वात्स्यायन) वस्त्रों को धारण करना।

५९. द्यूतविशेषाः—जूआ खेलना।

६०. आकर्षक्रीडा—पांसा खेलना या रस्साकशी, खेल में रस्से को अपनी दिशा में खींचना।

६१. बालकक्रीडनकानि—बालकों के खिलौने तथा खेल।

६२. वैनायकीनाम् विद्यानाम् ज्ञानम्—वैनायिकीनाम् वैजयिकीनाम् व्यायामिकीनाम् च विद्यानाम् ज्ञानम् (वात्स्यायन) विनम्र व्यवहार करना।

६३. वैजयिकीनाम् विद्यानाम् ज्ञानम्—युद्धकला।

६४. वैतालिकीनाम् विद्यानाम् ज्ञानम्—चारण की कला। अनेक ग्रन्थों में यह सूची बहुत कम पाठ भेदों के साथ लिखी मिलती है। जैसे कि कुछ ग्रन्थों में संख्या २६ और २७ एक ही कला है जिसकी संज्ञा 'सूचीवापकर्म-सूत्रक्रीडा' है जिसके उपरान्त 'वीणाडमरुकवाद्यानि' लिखा हुआ है।

परम्परा के अनुसार कलाओं की संख्या चौंसठ क्यों मानी गई है ?

वात्स्यायन के कामसूत्र के व्याख्याकार जयमंगल इस प्रश्न का उत्तर कामसूत्र के दृष्टिकोण से देते हैं। वे कहते हैं कि चौंसठ कलाएं कामसूत्ररूपी शरीर के अंगों के समान हैं। इनके विना कामसूत्र में निर्धारित नियम क्रियारूप में परिणत नहीं हो सकते। इन कलाओं के विना वात्स्यायन के निर्देशों का पालन करना भी संभव नहीं है। चतुःषष्टिरंगविद्याः कामसूत्रस्यावयविनोवयवभूताः तदभावे कामसूत्रस्याप्रवृत्तेः—का० सू०—४०।

अतएव यह विचारना उचित नहीं है कि प्राचीन भारत में केवल चौंसठ कलाओं का ज्ञान था। वात्स्यायन ने जिन चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है वे कलाएं कामसूत्र के सम्बन्ध में विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इस पर शंका नहीं की जा सकती कि वात्स्यायन एवं उनके निकटस्थ समय में अनेक अन्य कलाएं प्रसिद्ध थीं। स्वयं व्याख्याकार उन कलाओं का उल्लेख करते हैं।

वात्स्यायन के पूर्ववर्ती शास्त्रप्रणेता बभ्रुपुत्र पांचाल ने कामशास्त्र के विषय में एक ग्रन्थ लिखा था जिसमें एक सौ पचास प्रकरण थे। उसमें उन्होंने कलाओं की संख्या चौंसठ निर्धारित की थी। ऐसा उन्होंने इसलिए किया था क्योंकि वे स्वप्रतिपादित कलाओं को मूल कलाएं मानते थे। उन्होंने चौंसठ कलाओं को चार वर्गों में विभाजित किया था—(१) कर्माश्रय, (२) द्यूताश्रय, (३) शयनोपचारिका और (४) उत्तरकला।

कर्माश्रय के अन्तर्गत निम्नलिखित चौबीस कलाएँ हैं:—

१ गीतम् २ नृत्यम् ३ वाद्यम् ४ कौशललिपिज्ञानम् ५ वचनम् चोदारम् ६ चित्रविधिः ७ पुस्तकर्म ८ पत्रच्छेद्यम् ९ माल्यविधिः १० गंधयुक्त्यास्वाद्यविधानम् ११ रत्नपरीक्षा १२ सीवनम् १३ रंगपरिज्ञानम् १४ उपकरणक्रिया १५ मानविधिः १६ आजीवज्ञानम् १७ तिर्यग्योनिचिकित्सितम् १८ मायाकृतपाषण्डसमयज्ञानम् १९ क्रीडाकौशलम् २० लोकज्ञानम् २१ वैचक्षण्यम् २२ सम्वाहनम् २३ शरीरसंस्कारः २४ विशेषकौशलम्।

द्यूताश्रय के अन्तर्गत बीस कलाएँ हैं। इनमें से प्रथम पंद्रह निर्जीव तथा अन्तिम पाँच कलाएँ सजीव कही जाती हैं:—

२५ आयुःप्राप्तिः २६ अङ्गविधानम् २७ रूपसंख्या २८ क्रियामार्गणम् २९ बीजग्रहणम् ३० नयज्ञानम् ३१ करणदानम् ३२ चित्राचित्रविधिः ३३ गूढराशिः ३४ तुल्याभिहारः ३५ क्षिप्रग्रहणम् ३६ अनुप्राप्तिलेखस्मृतिः ३७ अग्निक्रमः ३८ छलव्यामोहनम् ३९ ग्रहदानम् ४० उपस्थानविधिः ४१ युद्धम् ४२ रुतम् ४३ गतम् ४४ नृत्तम् ।

शयनोपचारिकाः के अन्तर्गत निम्नलिखित सोलह कलाएँ हैं :—

४५ पुरुषस्य भावग्रहणम् ४६ स्वरागप्रकाशनम् ४७ प्रत्यंगदानम् ४८ नखदन्तयोर्विचारम् ४९ नीवीस्रंसनम् ५० गुह्यस्य संस्पर्शनानुलोम्यम् ५१ परमार्थकौशलम् ५२ हर्षणम् ५३ सामानार्थताकृतार्थता ५४ अनुप्रोत्साहनम् ५५ मृदुक्रोधप्रवर्तनम् ५६ सम्यक्क्रोधनिवर्तनम् ५७ क्रुद्धप्रसादनम् ५८ सुप्तपरित्यागः ५९ चरमस्वापविधिः ६० गुह्यगूहनम् ।

उत्तर कलाओं के अन्तर्गत निम्नलिखित चार कलाएँ हैं ।

६१ साश्रुपातम् रमणाय शापदानम् ६२ स्वशपथक्रिया ६३ प्रस्थितानुगमनम् ६४ पुनः पुनर्निरीक्षणम् ।

पांचाल के मतानुसार मूल कलाओं के अन्तर्गत पांच सौ अठारह[1] उपकलाएँ हैं । इस प्रकार से पूर्ववर्ती कामशास्त्र के साहित्य में पांच सौ बयासी कलाओं का वर्णन किया गया है ।

वात्स्यायन के कामसूत्र में उन चौंसठ कलाओं[2] का वर्णन किया गया है जो उन कार्यों और आचरणों के निर्देश पालन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं जिनको अपने प्रेमपात्र के प्रति प्रेम की भावना को तीव्र (तन्त्र)[3] एवं प्रेमी अथवा प्रेमिका के हृदय को पूर्णतया वश में लाने के लिए (आवाप) किए जाना चाहिए ।

वात्स्यायन ने जिन चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है वे कुछ संशोधित रूप में वे ही कलाएँ हैं जिनका वर्णन पांचाल[4] ने दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया है :—

(१) कर्माश्रय तथा (२) द्यूताश्रय । इनके साथ-साथ उनमें कुछ

[1] का० सू० ३२ [2] का० सू० ४०
[3] का० सू० ९–१० [4] का० सू० ३२

उपकलाओं को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार से कलाओं की संख्या चौंसठ होने के दो कारण हैं :—

१. मूल कलाओं की संख्या केवल चौंसठ है।

२. कामसूत्र के दृष्टिकोण से आवश्यक कलाओं की संख्या चौंसठ है।

संख्या चौंसठ की पवित्रता

ऋग्वेद के अन्तर्गत मन्त्रों को दो रूपों में व्यवस्थित किया गया है। एक व्यवस्थाक्रम के अनुसार उसके मन्त्र मण्डल, अनुवाक एवं सूक्त में व्यवस्थित हैं। दूसरे व्यवस्थाक्रम के अनुसार उसके मन्त्र अष्टक, अध्याय एवं वर्ग में व्यवस्थित हैं। इस प्रकार से पृथक् व्यवस्थाक्रम के अनुसार ऋग्वेद में दस मण्डल, पचासी अनुवाक, एक हजार अठारह सूक्त तथा दस हजार पांच सौ नवासी मन्त्र हैं। दूसरे व्यवस्थाक्रम के अनुसार उसमें आठ अष्टक, चौंसठ अध्याय, दो हजार चौबीस वर्ग तथा दस हजार पांच सौ नवासी मन्त्र हैं। परन्तु सायणाचार्य यह कहते हैं कि ऋग्वेद में दस हजार चार सौ नवासी मन्त्र ही हैं।

महर्षि पांचाल ने ऋग्वेद को चतुःषष्टि संज्ञा इसलिए दी है क्योंकि उसमें आठ अष्टक हैं और प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं जब कि उसके मण्डलों की संख्या दस है। इस प्रकार से संख्या चौंसठ को धर्मपूत एवं पवित्र स्वीकार किया गया है। अतएव कामशास्त्र को ऋग्वेद जैसी धार्मिक प्रतिष्ठा एवं पावनता प्रदान करने के लिए वाभ्रव्य पांचाल के ग्रन्थ का वह अंश जिसमें सम्प्रयोग की व्याख्या की गई है उसके दस मुख्य भाग हैं जिनको चौंसठ उपविभागों में विभाजित किया गया है। यह चतुःषष्टि के नाम से इसलिए प्रसिद्ध है क्योंकि सम्प्रयोग के दस मुख्य भाग ऋग्वेद के दस मण्डलों के समान हैं और इसके चौंसठ उपविभाग संख्या में उतने हैं जितने ऋग्वेद के अध्याय हैं।

इसी कारण से कामशास्त्र के सुयोग्य आचार्यों[1] ने स्वयं कामशास्त्र को 'चतुःषष्टि' के नाम से अभिहित किया था। इसी के अनुसार कामसूत्र के दृष्टिकोण से आवश्यक कलाओं को सम्प्रयोग के चौंसठ विभागों के समान

---

[1] का० सू० ९३

संख्या में चौंसठ ही माना गया है जिससे कि उनको भी धर्मपूत तथा पवित्र माना जा सके।

कलाओं की संख्या को चौंसठ मानने के अन्य कारण निम्नलिखित ज्ञात होते हैं :—

यह संख्या धार्मिक रूप से पवित्र[1] है।
यही संख्या सम्प्रयोग के विभागों[2] की है।
यह संख्या वात्स्यायन[3] के कामसूत्र के प्रकरणों की भी है।

काम अथवा रति के प्रसंग में आवश्यक क्रियाओं के रूपों की संख्या भी चौंसठ है। यद्यपि मूल रूप में ये क्रियाएं आठ प्रकार की हैं तथापि उनके प्रत्येक प्रकार का विभाजन आठ उपप्रकारों में किया गया है। इन क्रियाओं का वर्णन सम्प्रयोग[4] नामक खण्ड में है।

कलाओं का वर्गीकरण

वैदिक युग में कलाओं का कोई वर्गीकरण नहीं किया गया था। 'मूल' तथा 'अन्तर' के रूपों में कलाओं का सर्वप्रथम विभाजन बभ्रु-पुत्र पांचाल ने किया था। वैदिक काल में प्रत्येक कला एक उपयोगिनी कला होती थी और उपयोगिता के कारण ही कला की सराहना की जाती थी। कलाकार भी इसलिए पुरस्कृत किए जाते थे क्योंकि वे मानवोपयोगी वस्तुओं की रचना करते थे। ऋभुओं को देवकोटि में इसलिए प्रतिष्ठित किया गया था क्योंकि उन्होंने यज्ञ के एक नवनिर्मित चषक[5] से चार चषकों की रचना की थी। यहाँ तक कि काव्य को भी एक उपयोगिनी कला माना जाता था क्योंकि वैदिक कवि ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) उन मन्त्रों की रचना करते थे जिनसे देवताओं को बुलाना तथा उनके अनुग्रह को प्राप्त करना सहज हो जाता था।

परन्तु परवर्ती समय में कलाओं का विभाजन 'मूल' तथा 'अन्तर' रूपों में किया गया था। यह विभाजन बभ्रु-पुत्र पांचाल ने किया था जो कामसूत्र के लेखक वात्स्यायन से पूर्व हुए थे। इन्होंने कामशास्त्र के विषय में एक ग्रन्थ

---

[1] का० सू० ९३ [2] का० सू० ९२
[3] का० सू० ९३ [4] का० सू० ९३–४.
[5] ऋ० वे० १, २०, ६.

की रचना की थी जिसमें एक सौ पचास अध्याय थे। उनके मत के अनुसार मूल कलाओं की संख्या चौंसठ एवं अन्तर कलाओं की संख्या पांच सौ अठारह थी।

परन्तु 'मूल' तथा 'अन्तर' कलाओं 'की विभाजन रेखा अधिक स्पष्ट एवं दृढ़ नहीं थी। वात्स्यायन के कामसूत्र के व्याख्याकार जयमंगल पांचाल से मतभेद प्रकट करते हुए यह कहते हैं कि पांचाल ने जिन चौंसठ कलाओं का उल्लेख चार विभागों के अन्तर्गत किया है वे सभी मूल कलाएँ नहीं हैं। शयनोपचारिका एवं उत्तरकला के विभागों के अन्तर्गत वर्णित अन्तिम बीस कलाएँ वस्तुतः 'अन्तर' कलाएँ हैं जिनको चौंसठ[1] की संख्या पूरी करने के लिये चवालिस मूल कलाओं के साथ गलती से मिला दिया गया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि भरतमुनि ने कलाओं का वर्गीकरण मुख्य एवं गौण दो वर्गों में किया था। क्योंकि उनका मत यह था कि नाट्यकला के सम्बन्ध में अन्य कलाएं इस रूप में गौण हैं कि नाट्यकला[2] में अन्य कलाओं का उचित समावेश हो जाता है। परन्तु भरतमुनि नाट्यकला को भी प्रधान-रूप से एक उपयोगिनी कला ही मानते थे। क्योंकि वे नाट्यकला को नैतिक उपदेश देनेवाली, वेदना, पीड़ा तथा मानसिक थकान से आकुल व्यक्तियों को शान्तिदायिनी तथा यश पुण्य एवं दीर्घायुप्रदायिनी मानते थे।

परन्तु परवर्ती समय में नाट्यकला को 'परतत्त्वविषयक' कला के रूप में स्वीकार किया गया, क्योंकि इसको उस अनुभव को उत्पन्न करने वाली कला माना गया था जो परब्रह्म के रहस्यमय अनुभव के समान होता है। परब्रह्म एवं उसके अनुभव के विषय में धार्मिक तथा अध्यात्मवादी दार्शनिक धारणाएं उपनिषदों में विशद रूप से उपलब्ध होती हैं। वर्तमान ज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस मत का सर्वप्रथम प्रतिपादन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भट्टनायक ने किया था, यद्यपि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म को रसस्वरूप उतने प्राचीन समय में मान लिया गया था जितना प्राचीन तैत्तिरीय उपनिषद् (अनु० ७) है। इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए दो अन्य कलाओं के प्रतिपादकों ने संगीत तथा वास्तु को भी परतत्त्व विषयक कलाएं

---

[1] का० सू० ३२ [2] ना० शा० ९

मान लिया। क्योंकि भोज अपने समरांगण सूत्रधार में एवं शारंगदेव अपने संगीत रत्नाकर[1] में क्रमशः वास्तुब्रह्म तथा नादब्रह्म की चर्चा करते हैं। इस प्रकार से अन्ततः तीन कलाओं–नाट्य, संगीत एवं वास्तु—को 'परतत्त्व-विषयक' स्वाधीन अथवा स्वतन्त्र कलाएं माना गया है। ये कलाएं उनसे पृथक् थीं जो व्यक्तिकल्पना प्रधान, आश्रित एवं उपयोगिनी कलाएं कहलातीं थीं।

कलाविषयक समस्याओं के समाधान करने के लिए दो दृष्टिकोण

कला सम्बन्धी समस्याओं का समाधान दो विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जा सकता है।

१. वैज्ञानिक (वाह्यपरक) दृष्टिकोण :—इस दृष्टिकोण से कलाओं के वाह्य रूपों के आधार पर उनका अध्ययन किया जाता है। इसके अनुसार कलाकृतियों की सूची ऐतिहासिक क्रम के आधार पर तैयार की जाती है एवं उनकी व्याख्या में उन वाह्य विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है जिनकी उत्पत्ति विभिन्न युगों में वाह्य अथवा सांस्कृतिक प्रभावों के कारण होती रही है। इस दृष्टिकोण से पाश्चात्य देशों में तथा ब्रिटिश शासन युग के भारत में अधिक मात्रा में प्रशंसनीय कार्य हुआ है और इस समय भी हो रहा है।

२. दार्शनिक दृष्टिकोण :—इस दृष्टिकोण से कला विषयक समस्याओं का समाधान दार्शनिक तत्त्वचिंतन की सहायता से किया जाता है। 'सौन्दर्य' के अन्तस्तल तक तात्त्विक रूप से पहुँचने की चेष्टा की जाती है। कलाकृति को उसके सामान्य सार रूप में ग्रहण किया जाता है—विशेष रूप में नहीं। एवं कला जिस विचार की अभिव्यक्ति करती है उसके तर्कसंगत एवं तत्त्वगत स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। पाश्चात्य देशों में इसी दार्शनिक दृष्टिकोण से कला-दर्शन के स्थापक प्लेटो से लेकर क्रोचे तक ने कला की समस्याओं का समाधान किया है और इस समय भी हमारे समसामयिक चिन्तक कर रहे हैं। भारतवर्ष में इस दार्शनिक दृष्टिकोण का आरम्भ तैत्तिरीय उपनिषद् के समय में आरम्भ हुआ था जिसमें रसानुभूति को परतत्त्वानुभूति अथवा ब्रह्मानुभूति के समान स्वीकार किया गया था और जैसा कि हम अनुमान कर सकते हैं काव्य तथा नाटक की अन्तर्गत भाववस्तु को परब्रह्म अथवा

[1] सं० र० ३१

परतत्त्व माना गयाथा (रसो वै सः—तै० उ० अनु० ७)। परवर्ती समय में कला की समस्याओं का दार्शनिक समाधान भट्टतोत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त महिम भट्ट आदि ने करने की चेष्टा की और अब भी अनेक व्यक्ति कर रहे हैं।

स्वतन्त्रकला शास्त्र की समस्याओं के समाधान के लिए विभिन्न दृष्टिकोण

यदि हम स्वतन्त्रकलाशास्त्र अथवा एस्थेटिक्स के प्राप्त साहित्य का अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि स्वतन्त्रकलाशास्त्र सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने के लिए रचनाविधि-विषयक, मूलतत्त्व-विषयक, मनोवैज्ञानिक, प्रमाणवादी, तार्किक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोणों को अपनाया गया है। अर्थप्रतीति विषयक सिद्धान्त भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र का आवश्यक अंग है। रचनाविधि के दृष्टिकोण से उन उपायों तथा साधनों की व्याख्या की जाती है जिनसे विभिन्न माध्यमों जैसे पत्थर, रंग, स्वर, अर्थप्रतीति जनक शब्द, मानव-शरीर आदि की सहायता से कलाकृति उत्पन्न होती है। मूलतत्त्व-विषयक दार्शनिक दृष्टिकोण से अभिव्यंजनीय वस्तु, एवं कलाकृतिजन्य चरम अनुभव का स्वरूप मूलतत्त्वदर्शन स्वीकृत पदार्थों के रूपों में व्यक्त किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से रसानुभूति के विभिन्न स्तरों पर होने वाली विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया है। प्रमाणवादी दृष्टिकोण से निम्नलिखित बातों की व्याख्या की गई है :—(१) रसोत्पादक वस्तु के साथ सहृदय के सम्बन्ध का सच्चा स्वरूप। (२) प्रमाता के अन्तः-करण की वे आवश्यक अवस्थाएं जो कलाकृति को समझने में सहायक होती हैं और कलाकृति में व्यक्त अनुभव के समरूप अनुभूति को सहृदय के अन्तः-करण में उत्पन्न करती हैं। (३) दर्शक के अन्तःकरण में सर्वांशपूर्ण रस की अभिव्यक्ति में क्रियाशील रहने वाली मानसिक शक्तियां। (४) इन मानसिक शक्तियों की उन मानसिक शक्तियों से विभिन्नता जो इन्द्रिय सम्बन्धी साधारण अनुभव में क्रियावान रहती हैं। एवं (५) सहृदय अनुभवकर्ता तथा अनुभाव्य कलाकृति के विशिष्टताविधायक तत्त्वों एवं समय आदि पाशों का उच्छेदन। तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट किया गया है कि कलाकृतिजनित अनुभव सामान्य इन्द्रियजन्य अनुभव से जो कि सत्य, मिथ्या, सन्दिग्ध अथवा भ्रान्त आदि होता है भिन्न है। और आलोचनाशास्त्र के दृष्टिकोण से इस बात की व्याख्या की गई है कि 'कलाकृति की आत्मा क्या है ?'

स्वतन्त्रकलाशास्त्र की समस्याओं का समाधान (१) कलाकृति के उद्देश्य, (२) कलाकार एवं (३) सहृदय के दृष्टिकोणों से भी किया गया है। कलाकृति के उद्देश्य के दृष्टिकोण से दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है (१) ऐन्द्रियसुखवाद—कलाकृति का एकमात्र उद्देश्य सहृदय को इन्द्रियजन्य सुख प्रदान करना है। एवं (२) उपदेशवाद—जिसके अनुसार कलाकृति का लक्ष्य सहृदय का चारित्रिक उत्थान भी है। कलाकार के दृष्टिकोण से (१) अनुकृति, (२) मिथ्याप्रतीतिजनन, (३) आदर्शीकरण आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों के आधार पर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि कलाकार अपनी कवित्वशक्ति को उत्प्रेरित करने वाली वस्तु को कलाकृति में परिणत करने के लिए क्या करता है ? इसी प्रकार से सहृदय के दृष्टिकोण से निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है :—

१. अस्पष्ट अथवा वह प्रतीति जिसका वर्गीकरण न किया जा सकता हो।
२. अनुमान।
३. साधारणीकरण। तथा—
४. रहस्यवाद।

इन सिद्धान्तों से यह स्पष्ट होता है कि उस अनुभूति का स्वरूप क्या है जो सहृदय को कलाकृति से प्राप्त होती है तथा उस अनुभव को प्राप्त करने[1] के लिए वह कौन से प्रमाणों का उपयोग करता है।

रचना विधि विषयक दृष्टिकोण

प्रत्येक कला की कृति की रचना किसी न किसी 'विधि' के अनुसार ही की जा सकती है। हर एक राष्ट्र के आदिकालीन ऐतिहासिक युग में कलाकृतियों की ये रचनाविधियां सामान्य रूप से मौखिक ज्ञान परम्परा के रूप में रहती हैं। परन्तु जब राष्ट्र का सांस्कृतिक इतिहास काफी विकसित हो चुकता है तभी विभिन्न कलाओं के विषय में लिखे गए ग्रन्थों में इन विधियों को व्यवस्थित रूप में लिखा जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से यह माना जा सकता है कि विभिन्न कलाओं की रचनाविधि विषयक ज्ञानपरम्परा का उदय राष्ट्र के इतिहास के उस प्राचीनयुग में होता है जिस युग की रचित कलाकृतियां प्राप्य होती हैं। इसलिए निर्विवाद रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि

[1] फि० ई० वे० भाग १, ४७२–७३

जिन कलाओं का उल्लेख हमको वेदसाहित्य में प्राप्त होता है तथा जिन कलाकृतियों के पुरातत्त्वविषयक भग्नावशेष हमको हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो में प्राप्त हुए हैं उनकी रचनाविधियों की एक ज्ञानपरम्परा उस युग में अवश्य रही होगी। अतएव बिना किसी शंका के यह कहा जा सकता है कि वास्तु, मूर्ति एवं चित्र कलाओं की रचना विधियों का अस्तित्व उस प्रागैतिहासिक युग में था जिसके भग्नावशेष हमको हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों में पुरातत्त्व विज्ञान की सहायता से प्राप्त हुए हैं। और संगीत, काव्य तथा नाटक कलाओं की रचना विधियों का अस्तित्व वैदिक युग में था क्योंकि वेदों में इन कलाओं, कलाकृतियों एवं उनके कलाकारों का उल्लेख किया गया है। परन्तु अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि अन्य विषयों की भांति कलाकृतिरचनाविधिविषयक अनेक ग्रन्थ भी अप्राप्य रूप से खो गए हैं। इसलिए किसी भी विषय के विचारों के क्रमिक विकास का ऐसे रूप में प्रतिपादन करना असंभव है जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि प्रारम्भिक अवस्था से क्रमशः उस विचारधारा का उद्भव कैसे हुआ जिसे हम परवर्ती ग्रन्थों में लिखा हुआ पाते हैं। इस लिए उपर्युक्त कलाओं के विषय में यह कहना निराधार है कि उनका उदय उस राष्ट्र के प्रभावों के कारण संभव हुआ था जिसका इतिहास भारतीय इतिहास के समान प्राचीन युगों तक विस्तृत नहीं है।

अध्याय २

भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र का इतिहास

भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र में नाट्यकला की प्रधानता

काव्य उत्कृष्ट कला है। और काव्य का उत्कृष्टतम रूप नाटक है। इसलिए भारतवर्ष में स्वतन्त्रकलाशास्त्र की समस्याओं का दार्शनिक-अध्ययन, संगीत, स्थापत्य अथवा चित्रकला के सम्बन्ध में नहीं वरन् मुख्य रूप से नाट्यकला के सम्बन्ध में किया गया है। संगीत और चित्र कलाएं नाट्यकला की सहयोगिनी कलाएं हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। कलाकृति जीवन की जिन विविध दशाओं तथा रूपों को प्रकट करती है उनका प्रदर्शन नाटक में ही अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक होता है, क्योंकि नाटक प्रधान रूप से नयनों और कानों के लिए रुचिकर होता है जो रसानुभूति करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त इन्द्रियां हैं। नाटक में काव्य तथा अन्य कलाओं का उपयोग सहायक रूप में किया जाता है।

नाट्यकला का अध्ययन तीन दृष्टिकोणों से किया गया है। ये दृष्टिकोण क्रमशः, नाटककार, अभिनेता एवं दर्शक से सम्बन्धित हैं। नाटककार तथा अभिनेता के दृष्टिकोण से नाट्य प्रदर्शनों के साधनों एवं उपायों का अध्ययन किया गया है, और दर्शक के दृष्टिकोण से इस बात की मीमांसा की गई है कि सम्पूर्ण रूप नाट्य प्रदर्शन से जिस आनन्द का अनुभव होता है उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विश्लेषण क्या है और नाट्य प्रदर्शन एवं तज्जनित रसानुभूति का तात्त्विक स्वरूप क्या है।

ऐतिहासिक सीमाएँ

उपर्युक्त मत की स्थापना हमने नाट्यशास्त्र प्रतिपादक ग्रन्थों में प्राप्य कलाशास्त्र सम्बन्धी सामग्री के अध्ययन के आधार पर की है। इसमें सन्देह नहीं है कि अन्य विषयों के ग्रन्थों में भी कलाशास्त्र विषयक उन अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो अप्राप्य हैं। उदाहरण के लिए पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में (४-३, ११०-१११) नाट्यकला विषयक दो सूत्ररूप ग्रन्थों का उल्लेख

अध्याय १३

संगीत कलादर्शन

अध्याय १४

वास्तु कला

प्राप्त होता है जिनकी रचना शिलालि[1] और कृशाश्व ने की थी। इन ग्रन्थों में क्या लिखा था यह ज्ञात न होने के कारण हम भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र के इतिहास का आरम्भ उन भरतमुनि (लगभग ५०० वर्ष ईसवी) से करेंगे जिनका नाट्यकला विषयक पूर्ण ग्रन्थ सबसे अधिक प्राचीन है, और इसका अन्त उन अभिनवगुप्त से करेंगे जिनके कला एवं रस सम्बन्धी सिद्धान्त परवर्ती शास्त्रकारों को मान्य रहे थे।

वास्तुकला सम्बन्धी वह ग्रन्थ जिसमें वास्तुकला का दार्शनिक विवेचन प्राप्त होता है धारा के शासक राजा भोज (१०१८–६० ई०) लिखित समरांगण सूत्रधार है और संगीतकला-विषयक वह ग्रन्थ जिसमें नादब्रह्म-वाद के नाम से संगीतकला का तात्त्विक विवेचन किया गया है, राजा शारंगदेवकृत संगीतरत्नाकर है। शारंगदेव ने देवगिरि–आजकल जिसको दौलताबाद कहते हैं—में सन् १२१० से लेकर १२४७ ई० तक शासन किया था। इस प्रकार से भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र का इतिहास सात सौ वर्षों से अधिक समय तक विस्तृत है।

इसमें सन्देह नहीं है कि यह माना जा सकता है कि भारतीय स्वतन्त्र-कलाशास्त्र का इतिहास उस साहित्य के इतिहास का समवर्ती रहा है जो स्वतंत्र कलाओं के विषय में लिखा गया है। फिर भी हम अपना अध्ययन इसी युग पर इसलिए केन्द्रित करते हैं क्योंकि हमारे वर्तमान ज्ञान के अनुसार केवल इसी युग में स्वतन्त्रकलाओं की दार्शनिक व्याख्या की गई थी।

इस इतिहास के प्रथम ३५० वर्षों तक अर्थात् भरतमुनि (५०० ई०) से लेकर भट्टलोल्लट (लगभग ८५० ई०) तक कलाशास्त्रों में 'रचना-पद्धति' का विवेचन प्रधान रूप से किया गया था। वास्तव में भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय नाटककार, सूत्रधार और अभिनेताओं को यह बताना है[2] कि नाटक के अनिवार्य अंग कौन से हैं और उनका प्रदर्शन किस सामग्री से और किन रूपों में करना चाहिए। उन्होंने अपने ग्रन्थ में 'तमभिनयेत्' 'योज्यम्' आदि शब्दों का प्रयोग अनेक बार किया है जिससे उपर्युक्त मत और भी पुष्ट हो जाता है। परन्तु रचना-पद्धति के विषय में इन निर्देशों के साथ-साथ इन ग्रन्थों में यत्र-तत्र दार्शनिक सिद्धान्तों एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं

---

[1] सि० कौ०–२५३ [2] अभि० भा० भाग १—७

३ स्व० शा०

का उल्लेख भी मिलता है जिनके आधार पर 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' का निर्माण करना सम्भव हो सका है।

धर्म से नाटक की उत्पत्ति

हिन्दूधर्मपूज्य त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ नाटक की उत्पत्ति का सम्बन्ध घनिष्ठरूप में जुड़ा हुआ है। नाट्यशास्त्र के आरम्भ में भरतमुनि ने ब्रह्मा[1] और महेश्वर की स्तुति केवल इसलिए की है क्योंकि वे ब्रह्मा को नाटक तथा शिव को नृत्य का जनक मानते हैं। इस मत[2] का उल्लेख स्वयं अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए किया है। भरतमुनि ने नाटक के प्रथम प्रतिष्ठापक प्रजापति का उल्लेख सर्वप्रथम इसलिए किया है क्योंकि वे नृत्य को नाटक का एक अलंकरण ही मानते हैं।

इस मत की सिद्धि कि 'महेश्वर नृत्य के जनक थे' एक अन्य प्रमाण से भी होती है। हिन्दूधर्म के मतानुसार उनको सबसे महान् नर्तक माना जाता है। उनका एक नाम 'नटराज' भी है। दक्षिण भारत में चिदम्बरम् में एक अति प्राचीन मन्दिर है जिसमें महेश्वर 'नटराज' (सर्वश्रेष्ठ नर्तक) की मुद्रा में प्रतिष्ठित हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि महेश्वर को नृत्य का जनक स्वीकार करने के लिए ही मन्दिर के पूर्वी और पश्चिमी गोपुरों के कक्षों में विविध करणों (नृत्य की ताल और लयात्मक मुद्राओं) को प्रस्तर शिलाओं में मूर्त-रूप में उत्कीर्ण किया गया था और उनके नीचे भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र के उन श्लोकों को भी उत्कीर्ण किया गया था जिनमे उन करणों का समीचीन वर्णन है। आज भी इन करणों को देखा जा सकता है। इसी प्रकार से विष्णु को अभिनय की उन विविध वृत्तियों का जनक माना गया था जिनको नाटक में प्रदर्शित किया जाता था।

नाट्यशास्त्र में इसके बाद इस बात का उल्लेख है कि ब्रह्मा[3] ने नाट्यवेद की उत्पत्ति के समय नाट्य विधायक विविध तत्त्वों को विभिन्न वेदों और उनकी शाखाओं से ग्रहण किया था। इसलिए यह माना गया है कि नाट्य-वेद की रचना के लिए प्रजापति ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को लिया था। प्रतिपादित रूप में

---

[1] अभि० भा० भाग १—१ [2] अभि० भा० भाग १—२

[3] ना० शा०—२

नाट्यशास्त्र को प्रतिष्ठित चार वेदों की गरिमा प्रदान करने के लिए ही नाट्य-वेद कहा गया। इसको पांचवा वेद भी कहते हैं क्योंकि अन्य चार वेदों की भांति केवल द्विज वर्गों को ही इसके पठन पाठन का अधिकार नहीं है वरन् चौथे वर्ण शूद्र को भी इसके अध्ययन करने का समान अधिकार है।

नाट्यकला का इतिहास और विकास

किसी भी राष्ट्र के इतिहास के सांस्कृतिक युग में ही नाटक की उत्पत्ति होती है। बिना अन्य प्रसिद्ध कलाओं के अस्तित्व के नाटक का आविर्भाव नहीं हो सकता। अतएव अपनी ऐतिहासिक गति में राष्ट्र जब उस सांस्कृतिक विकास क्रम पर पहुँचता है जो उसके मध्ययुग तथा अर्वाचीन युग में ही संभव है तभी नाटक की उत्पत्ति होती है।

इसी लिए ऋग्वेद में बुनाई, बढ़ईगीरी, सोनारी, चमड़े की कमाई, केश-प्रसाधन, चिकित्सा, संगीत, वास्तु, कढ़ाई, नृत्य, काव्य आदि कलाओं का उल्लेख किया गया है, परन्तु नाट्यकला का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त हो सका है। परन्तु ऋग्वेद के मंत्र-साहित्य में अनेक 'संलापसूक्त' हैं। इन सूक्तों में नाट्य-साहित्य का आदिरूप प्रकट होता है। इनसे ही परवर्ती समय में सर्वांगीण नाटक का विकास हुआ था। प्रथम अध्याय में हमने उस सूक्त का उल्लेख किया है जिसमें उर्वशी और पुरूरवा का संलाप है। इस धर्मकथा को परिवर्तित एवं परिवर्धितरूप में शतपथ ब्राह्मण, बौधायन श्रौतसूत्र, बृहद्देवता, हरिवंशपुराण, वायुपुराण आदि धर्मग्रंथों में लिखा गया था। अन्त में कालिदास ने इस कथा को एक सर्वांगीण नाटक का रूप दिया जो विक्रमोर्वशीयम् के नाम से प्रसिद्ध है।

यजुर्वेद के युग में 'अभिनेता' का अस्तित्व उसके तीसवें अध्याय से ज्ञात होता है जहां पर नृत्य के लिए अभिनेता का बलिदान करना चाहिए—'नृत्ताय शैलूषम्' लिखा हुआ है।

नाट्य-शास्त्र

हम यह कह चुके हैं कि ब्रह्मा ने नाट्यकला को जन्म दिया था। नाट्य-कला विषयक यह ज्ञान मौखिक परम्परा के रूप में चलता रहा था। परन्तु नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करण के संकलित किए जाने के बहुत पूर्व संभवतः नाट्यशास्त्रीय इस ज्ञान को 'ब्रह्म भरत' के नाम से व्यवस्थित किया गया

था। यह ज्ञात होता है कि शारंगदेव ने सात कपालों (रागांगों) के दृष्टान्तों को इसी ग्रंथ से लिया था। 'कपालानाम् क्रमाद् ब्रूमो ब्रह्मप्रोक्ताम् पदावलीम्' (संगीतरत्नाकर अध्याय १, प्रकरण ८-१४)। अभिनवभारती[1] में इस कृति का उल्लेख किया गया है और इसके कुछ विकीर्ण अंश खण्डरूप में प्राप्त हुए हैं[2]। स्वयं भरतमुनि अपने नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक में नाट्यशास्त्र की उस ज्ञानपरम्परा का उल्लेख करते हैं जिसकी स्थापना ब्रह्मा ने की थी। 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्'।

वर्तमान मुद्रित नाट्यशास्त्र के पूर्व नाट्यशास्त्र संबन्धी एक अन्य ग्रन्थ था जो सदाशिव भरत के नाम से प्रसिद्ध था और शिव से लिखा हुआ माना जाता था। अभिनवभारती[3] में इसका उल्लेख किया गया है। और इस ग्रन्थ के कुछ विकीर्ण अंश प्राप्त हुए हैं।

नाट्य-शास्त्र विषयक तीसरा ग्रन्थ सम्भवतः 'आदि भरत' के नाम से प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में बारह हज़ार श्लोक होने के कारण इसको द्वादश साहस्री भी कहते हैं। शिव और पार्वती के संलाप के रूप में यह ग्रन्थ लिखा हुआ है। इसका भी एक अंश प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ का उल्लेख बहुरूपमिश्र तथा शारदातनय ने अपने भावप्रकाश[4] में किया है। शारदातनय लिखते हैं :—

'मनु से प्रार्थना किए जाने पर भरतों ने नाट्यवेद से उन मुख्य अंशों का संकलन किया (जिनका ज्ञान) नाट्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक था। उसमें से एक संग्रह में बारह हजार और दूसरे में छः हजार श्लोक हैं।'

अभिनवगुप्त ने इस कृति में छः सहस्र[5] श्लोकों के होने का उल्लेख किया है। वर्तमान मुद्रित नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व नाट्यशास्त्र सम्बन्धी तीन अन्य ग्रन्थ थे जिनमें ब्रह्मा, शिव एवं भरत ने अपने मतों का प्रतिपादन किया था। अभिनव भारती (भाग १-८) में 'मतत्रय' शब्द का प्रयोग इसको स्पष्टरूप से सिद्ध करता है।

---

[1] अभि० भा० भाग १—८ [2] अभि० भा० भाग १ (भूमिका) ६
[3] अभि० भा० (पाण्डुलिपि) अध्याय २९—श्लो०—९९
[4] अभि० भा० भाग १ (भूमिका) ५ [5] अभि० भा० भाग १—८

नाट्य-शास्त्र का अर्थ

भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ को 'नाट्य-शास्त्र' के नाम से अभिहित किया था। 'नाट्यशास्त्र' शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। एक पूर्व आचार्य के मतानुसार इस शब्द का अर्थ वह 'मूल ग्रन्थ' है जो अभिनेताओं को अभिनय-कला में शिक्षित[1] करता है।

'नाट्य-शास्त्र' शब्द का यह अर्थ अन्य विद्वानों को मान्य नहीं था। वे 'नाट्यशास्त्र' को 'नाट्यवेद' शब्द का समानार्थक मानते थे। इस लिए वे यह कहते थे कि 'नाट्यशास्त्र' का उपर्युक्त 'मूल ग्रन्थ' आदि अर्थ प्रसंग के अनुकूल नहीं है। क्योंकि भरतमुनि ने 'प्रवक्ष्यामि' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ पाणिनि के शास्त्रीय मत के अनुसार 'तेन प्रोक्तम्' (४-३-१०१) है। अर्थात् किसी 'मूल ग्रन्थ' को लिखना नहीं (कृते ग्रन्थे-४, ३, ११६) वरन् किसी पूर्वज्ञात विषय को सहजगम्य अथवा सुबोधरूप में प्रतिपादित करना है। इसके अतिरिक्त कथित अर्थ उन पाँच प्रश्नों से ही केवल असंगत नहीं है जिनका उत्तर देने के लिए शिष्यों ने भरतमुनि से प्रार्थना की थी जैसे 'नाट्यवेद' की उत्पत्ति किस प्रकार से हुई ? यह कौन से लोगों के लिए प्रयोजनीय है ? इस वेद में कितने भाग हैं ? इसके विभिन्न भागों एवं उनके सम्बन्धों का ज्ञान कौन से प्रमाणों से होता है ? तथा नाटक को किस प्रकार से प्रदर्शित करना[2] चाहिए ? वरन् इन प्रश्नों के उन उत्तरों से भी असंगत है जिनको भरतमुनि ने अपने शिष्यों को दिया था। क्योंकि भरतमुनि यह मानते हैं कि वेदों तथा उपवेदों से ली गई सामग्री के आधार पर ब्रह्मा ने सर्वप्रथम नाट्यकला की संस्थापना की थी और उसका ज्ञान उनको दिया था।

अतएव ये समीक्षक 'नाट्य-शास्त्र' समास का विग्रह नाट्यस्य शास्त्रम् (नाटक का शास्त्र) न करके कर्मधारय समास के रूप में अर्थात् 'नाट्यं च तत् शास्त्रम्' करते हैं। इन विद्वानों ने 'नाट्यशास्त्र' का अर्थ यह लगाया कि नाट्य जो शास्त्र है—अर्थात् वह शास्त्र जो नाट्य है। क्योंकि इस ग्रन्थ का प्रयोजन शिक्षा देना है। इसी के समान इन शास्त्रकारों ने 'नाट्यवेद' शब्द का अर्थ यह बताया कि 'वेद जो नाट्य है' अर्थात् वह वेद जो नाट्य कहा जाता है। इसलिए इनके मतानुसार 'नाट्यशास्त्रम् प्रवक्ष्यामि' का अर्थ यह है 'मैं उस

[1] अभि० भा० भाग १—२ [2] अभि० भा० भाग १—६—७

नाट्य के विशेष लक्षणों को सुबोधरूप में प्रतिपादित करूँगा जिसको शास्त्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह निपुणता अथवा योग्यता उत्पन्न करता है।

परन्तु अभिनवगुप्त 'नाट्य-शास्त्र' के इस अर्थ को भी उपयुक्त नहीं मानते हैं। 'नाट्यशास्त्रम् प्रवक्ष्यामि' की व्याख्या करते हुए वे यह सिद्ध करते हैं कि यदि इन शब्दों का अर्थ हम ठीक रूप से समझ लें तो पूर्ववर्ती शास्त्रकारों की तद्विषयक व्याख्या युक्तिहीन हो जाती है। 'प्रवचन' शब्द का अर्थ 'विशद-रूप में शाब्दिक सर्वांगीण व्याख्या करना' है। इस प्रकार की सर्वांगीण व्याख्या केवल उसी विषयवस्तु की संभव है जिसके आवश्यक विधायक तत्त्व केवल शब्दमात्र ही हों। परन्तु 'नाट्य' के आवश्यक विधायकतत्त्व शब्द मात्र ही नहीं हैं। इसलिए इसकी सर्वांगीण व्याख्या शब्दों में किया जाना संभव नहीं है। यदि आक्षेपरूप में यह कहा जाय कि 'प्रवचन' शब्द का अर्थ केवल 'शाब्दिक प्रतिपादन' है तो वह आक्षेप मिथ्या सिद्ध हो जाएगा जो इन शब्दों के उस प्रथम अर्थ के विषय में किया गया था जिसके अनुसार 'नाट्यशास्त्र' को षष्ठी समास माना गया था। क्योंकि किसी भी ग्रन्थ का प्रतिपादन केवल शब्दों में ही किया जा सकता है।

अभिनवगुप्त के मतानुसार 'नाट्य-शास्त्र' शब्द में षष्ठी समास है। परन्तु समास के दोनों पदों का अर्थ उपर्युक्त अर्थों से वे भिन्न बताते हैं। उनके मत के अनुसार इन्द्रियजन्य लौकिक अनुभवों से नाट्य–अनुभव सर्वथा भिन्न होता है। सामान्य लौकिक अनुभवों के संसार में प्राप्त किसी वस्तु का नाट्य न अनुकरण है, न प्रतिबिम्ब है और न उनका चित्ररूप प्रदर्शन ही है। और नाट्य कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है जिसकी समानता किसी भी उपर्युक्त वस्तु से की जा सके। आरोपणों, सविकल्प ज्ञानों, निर्बाध कल्पित रूपों, स्वप्नों, इन्द्रजालों अथवा हस्तलाघवों से जो अनुभव होता है उससे नाट्यप्रसूत अनुभव भिन्न होता है। नाट्यजनित अनुभव को सत्य, मिथ्या, संदिग्ध, अनिश्चित अथवा निर्विकल्प ज्ञान की कोटियों में नहीं रखा जा सकता है। तत्त्वतः नाट्यजनित अनुभव 'रस' है। यह रस अपने विधायकतत्त्वों, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव एवं स्थायीभाव का ऐसा सामंजस्यपूर्ण मिश्रित रूप है कि इसका अनुभव विधायकतत्त्वों के सान्निध्यमात्र से उत्पन्न अनुभव से सर्वथा भिन्न होता है। 'रस' का यह अनुभव अन्य किसी अनुभवरूप ज्ञान को प्राप्त करने के साधनों से संभव न होकर केवल सहृदयता के साधन से ही उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार से 'शास्त्र' शब्द का अर्थ नाट्य को तत्त्वतः जानने के साधनों का प्रतिपादन है। यहाँ पर नाट्य शब्द का वही अर्थ है जो ऊपर बताया गया है। इस प्रसंग में नाट्य शब्द का अर्थ वह नाट्य नहीं है जो वस्तुजगत का केवल अनुकरणरूप होता है।

मुद्रित अभिनवभारती का वह अंश जिसमें अभिनवगुप्त ने 'प्रवक्ष्यामि' शब्द की व्याख्या की है भ्रष्ट प्रतीत होता है। नीचे लिखा गया यदि हमारा संशोधन और उसकी व्याख्या मान्य हो तो उसका तात्पर्य यह है 'मैं उस परम्परा के अनुसार, जो मौखिक रूप में ब्रह्मा के क्रमागत शिष्यों से प्रदान की गई है, नाट्य के ज्ञान के उन साधनों का सर्वांगीण प्रतिपादन करूँगा जिनसे यह ज्ञात होता है कि 'नाट्य' क्या है—(अपरब्रह्मशिष्योदितानुयोगिविकास भावसाधनेन वक्ष्यामि) (अपरब्रह्मगः शिष्यैः उदितस्य अनुयोगि यत् विकासभावसाधनम् तेन वक्ष्यामि)।

अभिनवगुप्त के कथनानुसार उनकी नाट्यशास्त्र शब्द की यह व्याख्या नाट्यशास्त्र के अन्त में लिखे हुए उन श्लोकों के अनुकूल है जिनमें भरतमुनि ने यह कहा है :—

'ब्रह्मा ने मौखिकरूप में इस नाट्यशास्त्र को कहा था। इस शास्त्र को जो कोई सुनता है, इसमें निर्धारित विधि के अनुसार जो रंगमञ्च पर नाटक का प्रदर्शन करता है अथवा इसका अध्ययन करता है (या रंगमञ्च पर प्रदर्शित नाटक को अवधान पूर्वक देखता है।) 'प्रेक्षते चावधानवान्' (चौखम्बा संस्करण) उसको वही सुगति प्राप्त होती है जो वेदों के ज्ञाता, यज्ञकर्ता अथवा दानी उदार व्यक्ति को मिलती है[1]।'

उपर्युक्त व्याख्या में इस बात का उल्लेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि अभिनवगुप्त के मतानुसार वर्तमान नाट्यशास्त्र भरतमुनि से लिखा गया कोई 'मूलग्रंथ' नहीं है वरन् ब्रह्मा प्रदत्त ज्ञानपरम्परा का प्रतिपादन मात्र है।

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त कथन और निम्नलिखित इस पंक्ति से कि 'श्रुतम् मया देवदेवात् ततश्च शंकरोदितम्' ना० शा० ४७१ यह सिद्ध होता है कि नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप अधिक प्राचीन नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त पंक्ति में उन ब्रह्मभरत तथा सदाशिव-

[1] ना० शा० ४७५

भरत का निर्देश निहित है जिनका आवश्यक परिचय हम गत पृष्ठों में लिख चुके हैं। इस पंक्ति में 'ततश्च' (उनके बाद) शब्द का प्रयोग यह भी सिद्ध करता है कि ब्रह्मभरत सदाशिवभरत से पूर्व हुए थे।

यह तथ्य कि वर्तमान नाट्यशास्त्र ग्रंथ की रचना नाट्यशास्त्रीय ज्ञान के यथेष्ट रूप से व्यवस्थित हो जाने के बाद की गई थी, उन कारिकाओं से और भी अधिक स्पष्टरूप से सिद्ध होता है जिनको भरतमुनि ने अपने रस सिद्धान्त के प्रसंग में उद्धृत किया है। स्वयं भरतमुनि के कथनानुसार ये कारिकाएं [गुरु-शिष्य परम्परा से उनको प्राप्त हुई थीं। अभिनवगुप्त[1] के मतानुसार भरतमुनि ने इन कारिकाओं को 'अनुवंश्य' इसी लिए कहा है।

नाट्य के प्रति मनु का वैरभाव।

अभिनवगुप्त ने मनु के नाट्य के प्रति उस वैरभाव का उल्लेख किया है जो कुछ विद्वानों के मतानुसार नीचे लिखे मनुस्मृति के अंश से प्रकट होता है। 'कामजो दशको गणः' (म० स्मृ० ७–४७)। कामोत्पन्न दश व्यसनों का परित्याग करना कल्याणकारी है। इनमें नृत्य, गीत, वाद्य भी हैं। निस्सन्देह रूप से यह सत्य है कि मनु ने कुछ कलाओं एवं सुखों जैसे आखेट, द्यूत, दिन में सोना, परनिन्दा, नारी संसर्ग, मद्यपान, नृत्य, गीत एवं वाद्य तथा वृथा भ्रमण को विवर्जनीय बताया है। वे उन आचरणों को गर्हित बताते हैं जो आरम्भ में सुखद परन्तु बाद में दुःखदाई होते हैं। ये आचरण व्यक्तियों को सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति एवं धार्मिक पुण्य[2] के पथ से भ्रष्ट कर देते हैं। अतएव उनके मतानुसार ये त्याज्य हैं। वे विद्यार्थियों के लिए नृत्य, संगीत तथा वाद्य को त्याज्य बताते हैं[3]। ऐसा ही आदेश वे गृहस्थों[4] और राजाओं[5] को भी देते हैं। उनके मतानुसार द्विजवर्ण के व्यक्तियों को अभिनेताओं[6] से दिया गया भोजन नहीं करना चाहिए। अभिनेता एक अप्रतिष्ठित ब्राह्मण है इसलिए उसको श्राद्ध एवं देव[7] विषयक यज्ञों के भोज में निमंत्रित नहीं करना चाहिए। वे अभिनय को एक उपपातक[8] मानते हैं और कहते हैं कि मृत्यु के

---

[1] अभि० भा० भाग १, २९१
[2] म० २३७
[3] म० ६३
[4] म० १४४
[5] म० २३७
[6] म० १७०
[7] म० १०७—९
[8] म० ४३७

उपरान्त अभिनय करने वाले वैसी ही पीड़ा को सहन करते हैं जैसी अन्य रजोगुणप्रधान[1] जीवों को सहन करनी पड़ती है।

इस प्रकार से अति सदाचारवादी मनु ने नाट्य एवं अन्य कलाओं को उसी प्रकार से हेय माना था जैसे यूनान में प्लेटो ने अपने 'लोकतंत्र' (Republic) में कला को त्याज्य सिद्ध किया था। और यह ध्यान देने योग्य है कि भारत में कला के प्रति मनु के वैरभाव के विरोध में याज्ञवल्क्य ने कला का पक्ष लिया था जैसे प्लेटो के कला के प्रति वैरभाव को अमान्य सिद्ध कर एरिस्टाटिल ने कलाका पक्ष लिया था। जिस प्रकार से एरिस्टाटिल ने अपने ग्रंथ 'काव्यलक्षणशास्त्र' (Poetics) में कला के प्रति प्लेटो के 'लोकतंत्र' में प्रकट किए गए वैरभाव को नष्टकर कला के पक्ष का समर्थन किया था उसी प्रकार से याज्ञवल्क्य ने भी अपनी स्मृति में कला की रक्षा मनु के वैरभाव से की थी।

यद्यपि मनु की भांति याज्ञवल्क्य ने स्नातकों (वे व्यक्ति जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण किए हुए वेदों के अध्ययन को समाप्त कर चुके हैं) को यह आदेश दिया है कि वे अभिनेताओं[2] से दिए गए भोजन को न खायें, फिर भी उन्होंने राजाओं को नृत्य तथा संगीतकलाओं से सुख प्राप्त करने का आदेश दिया है। उन्होंने एक प्रकार के गीतों का उल्लेख किया है जो मोक्ष के साधन होते हैं। वे यह भी कहते हैं कि वह व्यक्ति जो वीणा बजाने के रहस्य को जानता है एवं संगीत के कौशल अर्थात् श्रुति, जाति एवं ताल के मर्म को भली भांति समझता है वह बिना कठिन साधना के मोक्षपथ को पा लेता है। और वह व्यक्ति जो संगीतकला में अपने ध्यान को केन्द्रित करता है यदि चरम मोक्ष पाने में असफल हो जाय तो वह रुद्र का अनुगामी होकर उनके साथ[3] अनेक सुखों का भोग करता है।

याज्ञवल्क्य का स्वतन्त्रकलाओं के विषय में यह मत पौराणिक साहित्य में इतनी मात्रा में स्वीकार किया गया था कि विष्णु-धर्मोत्तरपुराण में लगभग[4] याज्ञवल्क्य के ही शब्दों को दुहराया गया है।

मनु के कलाविषयक मत का उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है। और यह प्रमाणित किया है कि मनु के कलाविषयक वैरभाव को भरतमुनि ने मान्य

---

[1] म० ४७५
[2] याज्ञ० ४८-९
[3] याज्ञ० ३५०-१
[4] वि० ध० ३१५

नहीं स्वीकार किया है। मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दि माना जाता है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यशास्त्र का वर्तमान पाठ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दि से अधिक प्राचीन नहीं है।

नाट्यशास्त्र का उद्देश्य

नाट्यशास्त्र का मुख्य उद्देश्य अभिनेताओं को वह आवश्यक शिक्षा देना है जिससे वे अपनी भूमिकाओं का अभिनय निपुणता के साथ निर्दोष रूप में कर सकें। इसके साथ-साथ नाट्यशास्त्र में उन नाटककारों को भी शिक्षा दी गई है जिनके पास काव्य-प्रतिभा है। इस शिक्षा की सहायता से वे दोषहीन नाटकों की रचना कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र उन सहृदय व्यक्तियों का भी सहायक है जो कलागत सौन्दर्य से सुख प्राप्त करने के लिए तो उत्सुक रहते हैं लेकिन उन वेदों तथा पुराणों के अध्ययन से भयभीत रहते हैं जो मानव जीवन के पुरुषार्थों की सिद्धि के उपाय बताते हैं। नाट्यशास्त्र ऐसे नाटक की रचनाविधि अवगत कराता है जिसको देखने से सहृदय व्यक्ति नाट्यदर्शनजनित[1] आनन्द लेते हुए इन मानव जीवन के पुरुषार्थों की सिद्धि के उपायों को अपने आप जान जाता है।

सहृदय व्यक्ति का नैतिक उत्थान—नाट्यकला का उद्देश्य

नाट्य-प्रदर्शन का प्रथम उद्देश्य सहृदय के अन्तःकरण में रस के अनुभव को जाग्रत करना है। परन्तु रसानुभव मूलतः उस स्थायीभाव का अनुभव है जो पूर्ण रूप से साधारणीकृत आत्मा (विशिष्टता—विधायकतत्वों से रहित अन्तःकरण) में प्रतिबिंबित होता है। साधारणीकरण मन्द गति से होने वाली एक प्रक्रिया है। अन्तःकरण के इस साधारणीकरण के लिए निम्नलिखित बातें अनिवार्य होती है :—

१. वह आत्मविस्मृति जो नाटक के आरम्भकालीन संगीत से उत्पन्न होती है।

२. नायक के साथ तादात्म्य।

३. अन्य (नायक) के व्यक्तित्व का आत्मसात् करना।

४. नायक की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखना।

---

[1] अभि० भा० भाग १—४

५. नायक के समान ही भावों से प्रभावित होना।

६. स्थायीभाव के चरमबिंदु पर अपनाए गए व्यक्तित्व का भी परित्याग करना।

इस प्रकार से साधारणीकृतस्तर पर रसानुभव पूर्णरूप से साधारणीकृत (विशिष्टता विधायकतत्त्वों से रहित) उस अन्तःकरण का अनुभव है जो साधारणीकृत स्थायीभाव के अतिरिक्त अन्य सभी भावानुभवों के विभिन्न रूपों से शून्य होता है।

नाट्य प्रदर्शन से सहृदय का नैतिक उत्थान इस रूप में होता है कि उसकी सहायता से वह नाटक के उस नायक के अनुभवों का अनुभव करता है जो स्वभावतः उत्कृष्टचरित्रवान व्यक्ति होता है। सहृदय को यह अनुभव नायक के साथ उन विभिन्न परिस्थितियों में तादात्म्य करने से सम्भव होता है जिनमें उस नायक के नैतिक—व्यक्तित्व की शुद्धता की परीक्षा होती है। यह तादात्म्य उसकी नैतिक भावना को सन्तुष्ट करता है। क्योंकि सहृदय का यह अनुभव नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने के महत्त्व को प्रत्यक्षरूप से सिद्ध करता है। इसका सहृदय दर्शक पर अत्यंत गम्भीर प्रभाव पड़ता है क्योंकि सहृदय उस अधम प्रतिनायक के कार्यों एवं भावों को प्रत्यक्ष देखता है जो स्वभावतः एक सिद्धान्तहीन व्यक्ति होता है। वह नाट्य प्रदर्शन में यह देखता है कि नैतिक सिद्धान्तों की उपेक्षा करने से प्रतिनायक प्रतिष्ठित एवं शक्तिशाली होते हुए भी किस प्रकार से दुःख और ध्वंस के पथ पर घसिट जाता है और उसकी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा और शक्ति व्यर्थ हो जाती है। यह देख कर वह पाप[1] के पथ से विमुख हो जाता है। भरतमुनि के मतानुसार नाटक में कर्म और उनके फलों के संबंध प्रत्यक्ष एवं स्पष्टरूप में प्रदर्शित किए जाते हैं, इसलिए नाटक में दर्शकों के नैतिक उत्थान[2] को सम्भव करने की शक्ति होती है। अभिनवगुप्त के मतानुसार भरतमुनि ने जो 'इतिहास' शब्द का प्रयोग किया है उसका यही अर्थ है।

नाट्य-शास्त्र के मुख्य-प्रश्न।

भरतमुनि ने प्रथमबार नाटक का जो प्रदर्शन किया था उसको देखने के पश्चात् उनके शिष्यों ने निम्नलिखित प्रश्न उनसे किए थे—

---

[1] अभि० भा० भाग १–६ [2] अभि० भा० भाग १–१३

१. वे कौन सी परिस्थितियां[१] थीं जिनके कारण पाँचवे वेद की रचना की गई थी ? इस वेद की रचना किसके लिए की गई थी ? शिष्यों के इन प्रश्नों को करने का कारण निम्नलिखित था :—

शिष्यों ने नाटक के प्रदर्शन को देखा था एवं तज्जनित प्रभाव का भी विश्लेषण किया था। उन्होंने इस बात का अनुभव किया था कि नाट्य प्रदर्शन से दर्शकों का नायक के साथ तादात्म्य होने के कारण यह स्वानुभव से ज्ञात हो जाता है कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए साधना करना अत्यावश्यक है क्योंकि मानव जीवन के यही चार परम उद्देश्य अथवा पुरुषार्थ हैं। इस प्रकार से उनको यह ज्ञात हो चुका था कि नाट्यकला उपदेश देती है इसलिए इसके प्रदर्शन के साधनों तथा उपायों को स्पष्टरूप में प्रकट करने वाले शास्त्र को 'वेद' कहना उचित ही है। अतएव उनके अन्तःकरण में यह प्रश्न उठा था कि नाट्यवेद की रचना क्यों की गई थी ? मानव जीवन के निर्धारित चार पुरुषार्थों की साधना की कर्तव्यता[२] की स्थापना तो चार वेदों में यथेष्ट रूप में की जा चुकी है। अतएव पाँचवें वेद की रचना निष्प्रयोजन ही है। इसलिए यह प्रश्न उन्होंने किया था कि "पांचवे वेद की रचना क्यों की गई ?" और यदि कुछ ऐसे लोग हैं जिनको वेदों से उपदिष्ट नहीं किया जा सकता तो वे कौन से व्यक्ति हैं ? अतएव एक उपप्रश्न उन्होंने और किया "इस नाट्यवेद की रचना किसके लिए की गई थी ?"

२. इस नाट्यवेद को कितने भागों में विभाजित किया गया था ? क्या इसके इतने अधिक भाग हैं कि सर्वांगीण रूप से इसको समझा नहीं जा सकता ?

३. नाट्य—प्रदर्शन के लिए कौन सी अन्य कलाएं आवश्यक हैं ? नाटक के कितने अंग हैं ? क्या नाटक उन विभिन्न अंगो का संकलित रूप है अथवा उन अंगों में परस्पर वैसा ही संबंध है जैसा कि सजीव शरीर के अंगों में होता है ?

४. नाटक के विभिन्न अंगों को समझने के लिए कौन से विभिन्न प्रमाण आवश्यक हैं ? और यदि नाटक विभिन्न अंगों का संकलनमात्र नहीं है वरन् सजीव शरीर के अंगों के परस्पर आन्तरिक संबंध के समान ये अंग परस्पर संबंधित हैं तो इन संबंधों को जानने के लिए क्या कोई विशेष प्रमाण है ? यदि ऐसा है तो वह विशेष प्रमाण कौन सा है ?

---

[१] ना० शा० १ [२] अभि० भा० भाग १–६

५. नाटक के विभिन्न अंगों का प्रदर्शन किस प्रकार से करना चाहिए ?

उपर्युक्त प्रश्नों तथा इनसे संबद्ध प्रश्नों का उत्तर भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र अथवा नाट्यवेद में देने का प्रयास किया है ।

उपर्युक्त प्रश्नों में से प्रथम तीन प्रश्नों के उत्तर नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में ही दिए गए हैं । प्रथम प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से है—

जिन परिस्थितियों में नाट्यशास्त्र की रचना आवश्यक हुई थी उनका संबंध युग-प्रवृत्तियों से था । वैवस्वत मन्वन्तर के अन्तर्गत त्रेतायुग में इन्द्र को आगे कर देवतागण ब्रह्मा के निकट गए और उनसे यह प्रार्थना की कि वे एक क्रीडावस्तु की सृष्टि करें जो नयनों और कानों को एकसाथ प्रिय हो और लोगों को कर्त्तव्यपथ पर सहजरूप में प्रेरित करे जिससे राजाज्ञा ऐसी किसी दण्डभय से धर्मपथ पर चलने के लिये बाध्य करने वाली बाह्य वस्तु की आवश्यकता न हो । इस प्रकार की क्रीडावस्तु की आवश्यकता का कारण यह था कि त्रेतायुग में रजस् गुण की प्रधानता थी । इस गुण से उत्पन्न कर्मों का विशेष लक्षण यह होता है कि इनके उत्प्रेरक स्वार्थमयी इच्छाएं एवं स्वार्थपूर्ति के भाव होते हैं । इसलिए इस युग का सामान्य अनुभव[1] सुख-दुःख मिश्रित होता है । क्रीडावस्तु की आवश्यकता केवल उन्हीं लोगों के लिए होती है जिनका अनुभव सुख-दुःख का मिश्रित रूप होता है और दुःख की मात्रा सुख से अधिक होती है । क्योंकि क्रीडावस्तु मनोरंजक होती है । और जो दुःखमय है उसी से लोग विकर्षित होकर मनोरंजन की इच्छा करते हैं ।

मनुष्य के लिए इस प्रकार का मनोरंजन आवश्यक था । क्योंकि रजस् गुण की प्रधानता के कारण मनुष्य उस सत्य मार्ग से विचलित हो रहे थे जिसको वेदों ने निर्धारित किया था और देवतुष्टिकारी यज्ञ हवनादि शिथिल होते जा रहे थे । इसलिए उन्होंने मनुष्यों को धर्म के सत्य मार्ग पर चलाने की चेष्टा की । केवल वेदों की सहायता से यह संभव नहीं रह गया था ।[2] क्योंकि शूद्रवर्ण के लिए वेदों का अध्ययन निषिद्ध था । अतएव देवताओं का प्रयास शिक्षा के एक ऐसे साधन को प्राप्त करना था जिससे वर्णनिरपेक्ष होकर सबको एक साथ शिक्षा दी जा सके । वे उस शिक्षा को आदेशात्मक शिक्षा से भिन्न रखना चाहते थे जो आज्ञा के रूप में दी जाती है और जिसको सुनना

---

[1] अभि० भा० भाग १–१०   [2] अभि० भा० भाग १–११

तथा पालन करना सामान्यतः कष्टपूर्ण होता है। वे ऐसा साधन चाहते थे जो आनन्दपूर्ण शिक्षा दे सके, जो आदेश की कटुता को अभिराम हर्यो और मधुर स्वरों से वेष्टित कर सके, शिक्षा की कटु औषधि[1] पर मधुरता की पर्त चढ़ा सके अथवा शिक्षारूपी औषधि में मधुर दुग्ध[2] मिला कर सुस्वादु बना सके। ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने देवों की प्रार्थना सुनने के उपरान्त ब्रह्मा को पांचवे वेद की रचना करने के लिए प्रेरित किया था। इसकी रचना उन लोगों के लिए की गई थी जो वेदनिर्धारितपथ पर स्वयमेव नहीं चलते थे अथवा शूद्रों के लिये थी जिनके लिए वेदों का पढ़ना और सुनना दोनों निषिद्ध थे।

नाट्यवेद को कितने भागों में विभाजित किया गया है? इस दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि उसको चार मुख्य भागों में विभाजित किया गया है—इनमें निम्नलिखित विषयों का निरूपण किया गया है :—

१. वाचिकाभिनय।
२. संगीत—कला।
३. अभिनय—कला।
४. रस।

तीसरा प्रश्न यह था कि नाट्यशास्त्र के विभिन्न अंगों अथवा भागों में परस्पर संबंध का क्या रूप है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नाट्यवेद में निरूपित रचना—विधि विषयक विज्ञान एवं सिद्धान्तों का अनुसरण कर नाटक मुख्यरूप से रस को प्रकट करता है और अन्य तीन कलाएं रस को प्रभावशाली रूप में प्रकट करने में सहयोग देती हैं। इस प्रकार से इन भागों में परस्पर वैसा ही संबंध होता है जैसा सजीव शरीर का उसके अंगों के साथ पाया जाता है, अर्थात् विभिन्न अंग परस्पर संबंधित होकर एक सांग शरीर की पूर्णता के समान नाट्य में पूर्णता उत्पन्न करते हैं।

चौथे प्रश्न का उत्तर यह है कि नाटक के विभिन्न भागों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से आंखों तथा कानों की सहायता से किया जाता है। पांचवे प्रश्न का उत्तर सम्पूर्ण नाट्यवेद में दिया है।

---

[1] अभि० भा० भाग १–१०   [2] अभि० भा० भाग १–११

आधुनिक समस्याएं और उपर्युक्त उत्तर

यदि हम नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में कहे हुए प्रचीन कथानक को आधुनिक दृष्टिकोण से देखें तो हमें यह ज्ञात होता है कि इसमें उन मुख्य प्रश्नों का उचित उत्तर मिल जाता है जो आधुनिक कलाशास्त्रियों के मन में उस समय उठते हैं जब वे कलाशास्त्र की आधुनिक समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा करते हैं।

१. प्रथम प्रश्न यह है कि कलाविषयिणी इन्द्रियां कौन-कौन सी हैं? भरतमुनि के मतानुसार आंख और कान ही कलाविषयिणी इन्द्रियाँ हैं। नाट्य प्रदर्शन से जो रसानुभव होता है उसमें वे स्पर्श, स्वाद एवं घ्राण इन्द्रियों का सहयोग नहीं मानते हैं। क्योंकि आँख एवं कान ही ऐसी इन्द्रियाँ हैं जिनका विषय ऐसा होता है जिसे बहुत से मनुष्य एक समय में अनुभूत कर सकते हैं। अनेक व्यक्ति एक साथ एक वस्तु को देख सकते हैं—एक राग को सुन सकते हैं। परन्तु स्वाद लेने अथवा स्पर्श करने वाली इन्द्रिय का विषय ऐसा होता है कि अनेक व्यक्तियाँ एक ही काल में उसका अनुभव नहीं कर सकती हैं। एक व्यक्ति के लिए जो वस्तु स्वाद एवं स्पर्श का विषय है वह अन्य व्यक्तियों के लिए स्वाद तथा स्पर्श का विषय नहीं हो सकती। परन्तु नाटक-प्रदर्शन जो दृश्य और श्रव्य है उसका अनुभव सभी दर्शक समानरूप से एक साथ कर सकते हैं[1]।

२. दूसरा प्रश्न यह है कि नाट्यकला का उद्देश्य क्या है? उत्तर में यह कहा गया है कि नाट्यकला का प्रयोजन आंखों और कानों को रुचिकर लगने वाले प्रदर्शन के साधन से ज्ञातरूप से नहीं वरन् अज्ञातरूप से शिक्षा देना है। नाट्यकला ज्ञातरूप में आदेश नहीं देती वरन् दर्शकों का नायक से तादात्म्य कराते हुए पुण्य मार्ग के कल्याणों को ज्ञात करा देती है। नाट्यकला शिक्षारूपी औषधि की व्यवस्था करती है परन्तु उसकी कटुता को दूर करने के लिए या तो अभिराम दृश्य और मधुर स्वररूपी शकर की पर्तें उस पर चढ़ा देती है अथवा तद्रूप दुग्ध को उसमें मिला देती है जिससे औषधि की कटुता का अनुभव नहीं होता।

३. भरतमुनि ने यह माना है कि नाट्य प्रदर्शन के अनुभव में इन्द्रियजनित

---

[1] अभि० भा० भाग १–१०

सुख के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यह सुख केवल आरम्भविन्दु ही है। इस प्रकार से वे अपने नाट्यशास्त्र में निम्नलिखित कलाविषयक सिद्धान्तों को यथायोग्य स्थान देते हैं—

(क) कला प्रदर्शन का प्रयोजन इन्द्रियजनित सुख का अनुभव है एवं

(ख) कला प्रदर्शन का प्रयोजन दर्शकों को शिक्षा देते हुए उनका चारित्रिक उत्थान करना है।

४. भरतमुनि का यह मत है कि नाट्य प्रदर्शन केवल क्रीडा अथवा क्रीडावस्तु मात्र है जो मन को दुःखद एवं चिन्ताकारी वस्तुओं से विकर्षित कर देती है।

५. भरतमुनि के मतानुसार रसानुभव के लिए वह मानसिक अवस्था सबसे अधिक आवश्यक है जिसमें दर्शक का अन्तःकरण व्यक्तिगत तीव्र दुःख या सुख से ग्रस्त न हो।

६. उन्होंने रंगमंच पर नारी की आवश्यकता को स्वीकार किया है। क्योंकि भाव का यथार्थ प्रकटीकरण, जैसे प्रिय नायक को देखकर नायिका का लज्जा के भाव को प्रकट करना, तबतक संभव नहीं है जब तक वह भाव जिसके कारण शरीरिक परिवर्तन संभव होता है यथार्थरूप से अन्तःकरण में न हो। कुछ भाव[1] ऐसे हैं जिनको नारी वर्ग ही यथार्थ रूप में प्रकट कर सकता है। इसलिए उनके यथार्थ और सजीव प्रदर्शन के लिए रंगमंच के लिए नारियाँ आवश्यक हैं।

नाट्यशास्त्र पर एक विहंगम दृष्टि

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की कुछ प्रतिलिपियों में ३६ और कुछ प्रतिलिपियों में ३७ अध्याय प्राप्त होते हैं। व्याख्या लिखते समय अभिनवगुप्त के पास जो प्रतिलिपि थी उसमें ३७ अध्याय थे। उन्होंने प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में कश्मीर शैवदर्शन के ३६ पदार्थों में से एक को व्यक्त करने वाले एक श्लोक को मंगलाचरण के रूप में लिखा है। सैंतीसवें अध्याय के आरम्भ में उन्होंने 'अनुत्तर' का उल्लेख किया है।

नाट्य शास्त्र की विषयवस्तु को स्थूलरूप से दो भागों में विभाजित किया गया है—

---

[1] अभि० भा० भाग १–२१–२२

१. रस—वह वस्तु जिसको नाट्य-प्रदर्शन प्रदर्शित एवं व्यक्त करता है।
२. रस के प्रदर्शन के साधन।

'प्रदर्शन के साधन' को शास्त्र की भाषा में अभिनय कहते हैं। अभिनय का अर्थ प्रदर्शनीय वस्तु को दर्शक के सामने प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित करना[१] अथवा यों कहें कि अभिनय दर्शक को ऐसा सविकल्प ज्ञान प्रदान करता है जो प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त होने वाले ज्ञान के समान स्पष्ट होता है। इस अभिनय को चार प्रकार का कहा गया है :—

१. आंगिक—वह अभिनय जो शरीर के अंगों के परिचालन से किया जाता है।

२. वाचिक—पाठ्य के स्पष्टोच्चारण के लिए 'ध्वनियन्त्र' का उपयुक्त संचालन।

३. सात्विक—विविध भावपरिस्थितियों में वह मानसिक क्रियाशीलता जो विविध अनुभावों के रूपों में प्रकट होती है जैसे वर्णपरिवर्तन, स्वरकम्प, रोमांच आदि।

४. आहार्य—नाट्य-प्रदर्शन के वे सब साधन जो अभिनेताओं के मानसिक एवं शारीरिक चेष्टाओं के विधायक तत्वों से भिन्न होते हैं। इसके अन्तर्गत उन सभी सामग्रियों का समावेश किया गया है जो (अ) नाटक के अभिनेताओं को पात्रानुरूप स्वरूप प्रदान करती हैं जैसे रंग, वेश, भूषा, अलंकार आदि (आ) उन दृश्यों को प्रदर्शित करने लिए आवश्यक सामग्री जिनमें नाटकीय घटनायें घटित होती हैं। (इ) वे सब यांत्रिक साधन जिनसे विमान आदि वाहन समुचित रूपसे प्रदर्शित किये जा सकें।

नाट्य शास्त्र में रंगमंच की रचना और उसके प्रबंधों के उपायों का भी उल्लेख किया गया है। नृत्य तथा संगीत–वाद्य एवं गेय–की व्याख्या भी विशद रूप से की गई है। अभिनेताओं और सूत्रधार के आवश्यक गुणों तथा योग्यताओं का वर्णन भी स्पष्ट रूप में किया गया है।

नाट्य शास्त्र में उन दस प्रकार के नाटकों के लक्षणों का वर्णन किया गया है जिनमें एक से लेकर दस अंक तक होते हैं। नायक, नायिका एवं प्रतिनायक के भेदों के साथ-साथ कथानक के नाटकीकरण के साधनों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें रस भेदों, स्थायीभावों, व्यभिचारीभावों, अनुभावों एवं विभावों का भी वर्णन किया गया है।

---

[१] ना० शा० ९८

भारतीय स्वतंत्र कला शास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय हम कुछ उपर्युक्त विषयों की विशद व्याख्या करेंगें ।

इस ग्रन्थ का परिच्छिन्न प्रतिपाद्य

भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ की रचना नाटककारों तथा अभिनेताओं को आवश्यक शिक्षा देने के लिए की थी। ग्रन्थ के अधिकांश भाग में चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन किया गया है। इस समय हम उनके मत का प्रतिपादन केवल नाटककार के दृष्टिकोण से ही करेंगे।

इसलिए हम यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि—

१. नाटककार नाटक में क्या प्रस्तुत करता है।

२. नाट्य-रचना में कौन से तत्त्व होते हैं और उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध होता है?

३. कौन से उपायों से काल्पनिक तथा ऐतिहासिक कथावस्तु को नाटकीय रूप दिया जाता है।

४. नाट्य-प्रदर्शन से रसानुभव करने के लिए कौन सी मानसिक परिस्थितियाँ आवश्यक हैं।

रस शब्द के अर्थ

संस्कृत भाषा में 'रस' का प्रयोग अनेक अर्थों[1] में किया गया है। इस 'रस' शब्द का सामान्य भाषा में अर्थ—जो वैशेषिक मत का अनुसरण करता है—वह गुण है जिसका ज्ञान हमको स्वाद प्राप्त करनेवाली इन्द्रिय से होता है। इस अर्थ में यह रस छ प्रकार का होता है मधुर, अम्ल, लवण आदि। आयुर्वेद शास्त्र में इस शब्द का अर्थ वह सफेद द्रव पदार्थ[2] है जो पाचन क्रिया की सहायता से भोजन से उत्पन्न होता है। यह रस मुख्य रूप से हृदय में वास करता है। वहां से परिचालित होकर धमनियों में होते हुए यह सम्पूर्ण शरीर का पोषण करता है। सामान्य रूप में फल या फूलों से निकले हुए द्रव पदार्थ को भी 'रस' कहते हैं। प्रवृत्ति, रुचि, इच्छा, खनिज अथवा धातु-लवण और पारे को भी रस कहते हैं।

---

[1] अभि० भा० भाग १–२८९   [2] श० चि० भाग ४–७१

परन्तु स्वतंत्र कला शास्त्र के प्रसंग में इसका अर्थ कला से अभिव्यंजनीय वस्तु होता है। यह इसका अत्यंत शास्त्रीय अर्थ है, यद्यपि इस अर्थ में भी समान्य मूल अर्थ का कुछ अंश वर्तमान रहता है।

'स्वादनीय वस्तु' होने का भाव इस प्रयोग में भी बना रहता है यद्यपि इस स्वादनीय वस्तु का सम्बन्ध इन्द्रिय से न होकर सहृदय के हृदय से होता है।

भरतमुनि के मत में रस का महत्त्व

हम यह पहले कह आए हैं कि नाट्य शास्त्र में मुख्य रूप से चार विषयों की ही व्याख्या की गई है—अभिनय, संगीत, नृत्य और रस। भरतमुनि की दृष्टि में 'रस' का महत्त्व इस बात से ज्ञात होता है कि अभिनय, नृत्य तथा संगीत को वे 'रस' को अभिव्यक्त करने के प्रधान अथवा गौण सहकारी साधन मात्र ही मानते हैं। भरतमुनि ने जिन उपविषयों की व्याख्या की है उन सबका संबंध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रस के साथ है क्योंकि रस के प्रकटीकरण के सम्बन्ध में ही उनकी चर्चा की गई है। उदाहरण के लिए जब वे निर्धारित करते हैं कि मध्यम आकार के रंगमंच को ३२ हाथ चौड़ा और ६४ हाथ लम्बा (४८ × ९६ फीट) होना चाहिए तो उसका भी यह अर्थ होता है कि यह आकार 'रस' का साक्षात्कार कराने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। क्योंकि रंगमंच का आकार यदि बहुत विशाल हुआ तो दर्शकों के लिए वह 'रस' अस्पष्ट हो जायगा जिसको वाणी के उच्चारण तथा मुखसम्बन्धी अनुभावों से[1] प्रकट किया जाता है।

नृत्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह स्वीकार किया है कि विविध प्रकार के नृत्त [नृत्य[2]] विविध रसों को अभिव्यक्त करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि नृत्य के साथ होने वाले गीत के सूक्ष्म स्वर उसको व्यक्त करने में सफल हो जाते हैं जिसको काव्य भाषा[3] भी व्यक्त नहीं कर सकती है। इस प्रकार से उनके मतानुसार नृत्य भी रस की अभिव्यक्ति का एक साधन है।

नाटक की सामान्य प्रस्तावना में नान्दी, कथा वस्तु का संक्षिप्त परिचय और संगीत होता है। इस प्रस्तावना की आवश्यकता का वर्णन करने के उपरान्त

---

[1] अभि० भा० भाग १–५३–५४ [2] अभि० भा० भाग १–१८२

[3] अभि० भा० भाग १—१७५

भरतमुनि ने यह नियम निर्धारित किया है कि प्रस्तावना को बहुत विस्तृत नहीं होना चाहिए क्योंकि यदि यह अधिक विस्तृत हुई तो अभिनेता थक[1] जाएँगे और रस को स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं कर सकेंगे। दर्शक भी आरम्भ में ही अधिक विस्तार से खिन्न हो जाएँगे और रस का स्वाद नहीं ले सकेंगे।

इस प्रकार से भरतमुनि से प्रतिपादित अधिकांश विषय रस की अभिव्यक्ति के साधनमात्र ही हैं। इसलिए उनके मत के अनुसार रस सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है क्योंकि उनसे वर्णित सभी विषयों का चरमलक्ष्य रस का प्रदर्शन ही है। इसलिए यह प्रश्न स्वाभाविक है कि 'रस' क्या है ?

रसविधायक तत्त्व

विषयरूप रस की अनिवार्य रूप से उत्पत्ति नाटक से होती है। प्रकृतिजन्य[2] वस्तुओं में इसकी प्राप्ति संभव नहीं है। यह रस शुद्ध एकत्वरूप नहीं है वरन् अनेकता में एकत्व है। अनेकता में एकत्व-विधायकतत्त्व स्थायीभाव है जो निम्न-लिखित तत्त्वों में अङ्ग-अङ्गीभावसे एकत्व स्थापित करता है—(१) विभाव—मानवीय संबंध से युक्त वह भावोत्पादक परिस्थिति जो स्थायी भाव की उत्पत्ति का भौतिक कारण होती है। (२) अनुभाव—उद्भूत स्थायीभाव से उत्प्रेरित वे स्पष्टरूप शारीरिक चेष्टाएं जो अन्तःकरण की अवस्थाओं को सांकेतिक रूप में प्रकट करती हैं। (३) व्यभिचारी भाव—वह भाव जो जलतरंग की भाँति अस्थिर होता है। रसोत्पादक इस तत्त्वसमुदाय में स्थायी भाव सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्य तत्त्व केवल आवश्यक सहकारी हैं जैसे राजा के संबंध में उसकी साज-सज्जा होती है। ये रसविधायक तत्त्व उसी प्रकार से स्थायी भाव को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं जैसे राजसी साज-सज्जा राजा को प्रधान-रूपता प्रदान करती है। और ठीक जिस प्रकार से राजसी साज-सज्जा के बीच में राजा ही दर्शकों की दृष्टियों का आकर्षणविन्दु होता है उसी प्रकार से स्थायीभाव भी दर्शकों के लिए एकमात्र आकर्षणविन्दु होता है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि स्थायीभाव रस है (स्थायी भावो रसः स्मृतः) तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि रसानुभव में रसविधायक अन्य तत्त्वों का अनुभव नहीं किया जाता वरन् यह अर्थ होता है कि वे सहकारी रूप में अनुभूत होते हैं। रस की तत्त्वगत प्रकृति को समझने के लिए उपर्युक्त शास्त्रीय शब्दों का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

---

[1] अभि० भा० भाग १—२४८ [2] अभि० भा० भाग १—२९२

पारिभाषिक शास्त्रीय शब्दों का विवरण

अपने व्यावहारिक जीवन के अनुभव के आधार पर हम यह जानते हैं कि—(१) व्यावहारिक जीवन में ऐसी विशेष परिस्थितियाँ किसी भाव को उत्पन्न करने का कारण बनती हैं जिनका केन्द्रविन्दु एक विशेष व्यक्ति होता है। परिस्थिति-जनित यह भाव किसी उद्देश्य की सफलता को प्राप्त करने के लिए अनेक क्रमबद्ध क्रियाओं को जन्म देते हैं। अतएव इन परिस्थितियों को भाव का कारण माना जाता है। (२) यह भाव क्रमबद्ध अनेक कार्यों में उस समय तक स्थायी बना रहता है जब तक उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो जाती, एवं अपने को शरीर की अनेक चेष्टाओं एवं स्पष्ट परिवर्तनों के रूपों में प्रकट करता है—जैसे प्रेम में आँखों और भौहों के विचित्र परिचालन, रंग का परिवर्तन (विवर्णता), सामान्य व्यवहार की मृदुता तथा सौम्यता आदि। (३) स्थायी भाव के साथ साथ अनिवार्य रूप से संचारी भाव भी लगे रहते हैं। जिस प्रकार से रति का भाव, प्रियवस्तु से विलग होने पर, अपने को उन विविध भावों में व्यक्त करता है जो वियोग की दशा में उत्पन्न होते हैं जैसे निर्वेद, ग्लानि, भय आदि। ये संचारी भाव रति के स्थायी भाव के स्वाभाविक संगी होते हैं।

लेकिन उस स्थायी भाव का—जिसको रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है और जिसका अनुभव दर्शकगण करते हैं—कारण वह परिस्थिति नहीं मानी जा सकती जिसका सामना नाटक का नायक रंगमंच पर करता है। वह परिस्थिति न तो नायकान्तर्गत स्थायी भाव का कारण है और न दर्शकों के अन्तर्गत स्थायी भाव का ही उत्पादक है। क्योंकि उस रंगमंचीय परिस्थिति का वही लौकिक संबंध नायक से एवं दर्शक से नहीं होता जो उस ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ होता है जिसका अभिनय नायक करता है। जैसे कि सीता को एक ऐतिहासिक व्यक्ति अर्थात् जनक की पुत्री के रूप में रति का विषय न तो अभिनेता नायक मान सकता है और न दर्शक ही मान सकते हैं। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में सीता धार्मिक रूप से श्रद्धास्पद हैं। इस नाम की नायिका रंगमंच पर जब प्रदर्शित होती है तो वह रति के भाव को जागृत न कर रति से सर्वथा भिन्न प्रकृति के भावों—श्रद्धा तथा आदर को ही जागृत करती है। कारण की अनुपस्थिति में कार्य की भी संभावना नहीं होती। अतएव विशिष्ट अभिनय-

शिक्षा प्राप्त नायक जब मुख एवं शरीर के अन्य परिवर्तनों को प्रकट करता है तो उनको रति स्थायी भाव का कार्य नहीं माना जा सकता है और नायक से शारीरिक संकेतों एवं परिचालनों के रूप में प्रदर्शित तत्संबन्धी संचारी भावों को लौकिक अर्थ में स्थायी भावों के अनिवार्य सहचर भी नहीं माना जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यावहारिक संसार में स्थायी भाव का जो सम्बन्ध लौकिक परिस्थिति के साथ होता है वही सम्बन्ध नाट्य-प्रदर्शन में नायकगत स्थायी भाव और परिस्थिति के बीच में नहीं होता है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए ही परिस्थिति को स्थायीभाव का कारण न कहकर विभाव, शारीरिक परिवर्तनों को कार्य न कह कर अनुभाव, तथा संचारी भावों को सहकारी न कह कर व्यभिचारी भाव कहते हैं।

विभाव

विभाव शब्द का अर्थ वह भावोत्तेजक परिस्थिति है जिसको रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है। यह परिस्थिति व्यावहारिक जीवन में उस स्थायी भाव का कारण बनती है जिसको नायक प्रकट करता है। परन्तु रंगमंच पर इस परिस्थिति एवं नायकान्तर्गत स्थायी भाव में कारण कार्य का सम्बन्ध नहीं होता है, इसकी व्याख्या हम गत उपप्रकरण में कर चुके हैं। यह सम्बन्ध वैसा ही होता है जैसा एक साधन-प्रतीक का तज्जनित भाव के साथ होता है जैसे आध्यात्मिक साधनप्रतीक (Mystic medium) का लोकोत्तर की अनुभूति के साथ होता है। सामान्य रूप से इस सम्बन्ध को निम्नलिखित दृष्टान्त से और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

व्यावहारिक संसार में प्रायः हम यह देखते हैं कि एक बालक छड़ी पर सवार होकर अश्वारोहण का आनन्द लेता है। वह अश्वारोही की अनेक चेष्टाओं और शारीरिक परिचालनों का प्रदर्शन करता है। वह कभी वल्गा को खींचता है, कभी कोड़ा मारता है और कभी उसे कुदाता है। प्रश्न यह है कि क्या अश्वारोहण के अनुभव का कारण अश्व है? यदि बिना अश्व के अश्वारोहण का अनुभव नहीं हो सकता तो बालक को यह अनुभव किस प्रकार से होता है? इसलिए यह माना गया है कि यह अनुभव उस साधन-प्रतीक के कारण उत्पन्न होता है जिसके सहारे बालक एक अश्वारोही के समान चेष्टाओं को करते हुए स्वयं अश्वारोही बन जाता है और अश्वारोहण का अनुभव करने[1] लगता है। यही

---

[1] द० रू०—९७

स्वरूप रंगमंच पर प्रदर्शित परिस्थिति का होता है। यह एक साधन-प्रतीक है जिसकी सहायता से अभिनेता अपने अन्तःकरण में उस भाव को जगाने में समर्थ हो जाता है जिसके उन चिह्नों को वह प्रकट करता है जो उस भाव के लिए स्वाभाविक हैं।

इस प्रकार से 'विभाव' शब्द का अर्थ नाट्यगत वह परिस्थिति है जो कारण रूप न होकर साधन-प्रतीक के रूप में है जिसकी सहायता से अभिनेता में स्थायी भाव जाग्रत होता है। लेकिन दर्शक में स्थायी भाव का उदय नायक के साथ तादात्म्य होने के कारण होता है। इसको 'कारण' न कह कर विभाव इसलिए कहा जाता है क्योंकि व्यावहारिक जीवन में जिस प्रकार से यह भाव को उत्पन्न करती है उससे सर्वथा भिन्न प्रकार से[1] यह परिस्थिति स्थायी भाव को अभिनेता में जागृत करती है।

विभाव के दो रूप

भाव का सम्बन्ध सदैव किसी न किसी बाह्य वस्तु के साथ होता है। इसका उदय केवल भावप्रेरक लोकगत वस्तु के अस्तित्व कारण ही हो सकता है। प्रत्येक लोकगत वस्तु का अस्तित्व विशिष्ट देश एवं काल में ही होना संभव है इसलिए अवच्छेदक रूप देश तथा काल में और अवच्छिन्न वस्तु में भेद परिलक्षित होता है। इस भेद के कारण ही विभाव को दो रूपों का माना गया है—(१) आलम्बन—वह वस्तु जो मुख्य रूप से किसी स्थायी भाव को जागृत करने का कारण होती है—वह वस्तु जो स्थायी भाव का आधार रूप होती है और जो स्थायी भाव की सत्ता का एकमात्र आश्रय होती है एवं (२) उद्दीपन—वातावरण, विद्यमान देश और काल के सम्पूर्ण रूप जो स्थायी भाव की उत्प्रेरक वस्तु की प्रभावशालीनता को तीव्र करते हैं।

विभाव के इन दो रूपों को हम 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के प्रथम अंक में देख सकते हैं जिसमें दुष्यन्त के अन्तःकरण में प्रथम बार 'रति' स्थायी भाव का उदय हुआ है जो शृङ्गार-रस का स्थायी भाव है। कण्व ऋषि के तपोवन के निकट दुष्यन्त पहुँच चुके हैं। उन्होंने अपनी दो सखियों के साथ शकुन्तला को तपोवन के वृक्षों को सींचते हुए देखा है। वह अपनी एक सखी से यह कहती

[1] अभि० भा० भाग १–२८५

है कि वह बल्कल से बनी हुई उसकी कंचुकी के बन्धनों को ढीला कर दे जिसको उसकी दूसरी सखी ने बहुत कस कर बाँध दिया है। उसकी दूसरी सखी तुरन्त उचित उत्तर देती है—"मुझे दोष तुम क्यों देती हो जब कि दोष तुम्हारे उठते हुए यौवन का है।"

इसी परिस्थिति में उपर्युक्त संलाप की सहायता से शकुन्तला नायिका के रूप में प्रत्यक्ष होती है और दुष्यन्त की प्रेमिका बनती है—इसलिए वह आलम्बन विभाव है और वन का सम्पूर्ण दृश्य जिसके केन्द्र में सुन्दर आश्रम बाटिका है—सुखद वायु, कोमल आतप और उसकी सुन्दर सखियाँ जो उसके सौन्दर्य को और भी अधिक आकर्षक एवं मुग्धकारी बना देती हैं—उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव

वे सब शारीरिक परिवर्तन जो किसी स्थायीभाव की जागृति के कारण उत्पन्न होते हैं और जिनको व्यावहारिक लोक में किसी स्थायीभाव का कार्य माना जाता है अनुभाव कहे जाते हैं। व्यावहारिक जगत में स्थायीभाव के कार्य रूप शारीरिक परिवर्तनों से इनकी भिन्नता द्योतित करने के लिए ही इनको अनुभाव कहा जाता है। इनको अनुभाव इसलिए कहा जाता है क्योंकि रंगमंच पर स्थित पात्रों को नायकान्तर्गत स्थायीभाव के स्वरूप का ज्ञान इनसे ही होता है। और इसलिए भी इनको अनुभाव कहा जाता है कि ये दर्शकों में समान स्थायी भाव को जागृत करते हैं (अनुभावयति)।

किसी स्थायी भाव की जागृति के समनन्तर होने वाली शारीरिक चेष्टाएँ और गतियाँ दो प्रकार की होती हैं (१) इच्छाजन्य (२) स्वयंभूत। कुछ गतियाँ एवं चेष्टाएँ ऐसी होती हैं जिनको स्थायी भाव युक्त व्यक्ति निश्चित रूप में अपनी इच्छा शक्ति से प्रकट करता है और जो स्थायी भाव के इच्छाकृत-भावप्रकटन के रूपों में होती हैं जैसे कि आँखों और भौंहों के परिचालन। स्थायीभाव के आवेश में ये इच्छाजनित चेष्टाएँ दूसरों को अपने भाव को अवगत कराने के लिए की जाती हैं। परन्तु एक दूसरे प्रकार की भी चेष्टाएँ और गतियाँ होती हैं जो भाव के उदय होने पर अपने आप बिना किसी इच्छा के प्रकट होने लगती हैं। जैसे विवर्णता, रोमांच, व्रीड़ा आदि। जो शारीरिक चेष्टाएँ एवं गतियाँ अपनी इच्छा से प्रकट की जातीं हैं उनको केवल 'अनुभाव' कहते हैं परन्तु जो अपने आप प्रकट होती हैं उनको सात्त्विक भाव

कहते हैं। इच्छाजन्य चेष्टाओं एवं गतियों को उस समय भी प्रकट किया जा सकता है जब कि अन्तःकरण में वह स्थायीभाव न भी हो जिसका कार्यरूप उनको माना जाता है। इसलिए इन चेष्टाओं को स्थायीभाव का अविनाभावी चिह्न नहीं माना जा सकता है। लेकिन सात्त्विक भाव तभी प्रकट होंगें जब स्थायीभाव का अस्तित्व अन्तःकरण में होगा। वे स्थायी भाव के अविनाभावी लक्षण अथवा चिह्न हैं। सात्त्विक भावों की संख्या आठ है।[1] भरतमुनि ने जिन उनचास भावों को माना है उनमें सात्त्विक भावों की गणना की गई है।

विभाव एवं शुद्ध अनुभावों को प्रकट करने के लिए भरतमुनि ने कोई शिक्षा नहीं दी है और न उनके रूपों की परिभाषा ही दी है। वे केवल इतना ही कहते हैं कि उनका प्रकटन व्यावहारिक जीवन में उनके यथार्थ रूपों के अनुरूप होना चाहिए। इसलिए उनकी शिक्षा व्यावहारिक लोक-जीवन से ही ली जा[2] सकती है।

भरतमुनि ने उनचास भावों का वर्णन विशद रूप में इसलिए किया है क्योंकि रस के अनुभव में वे विशेष रूप से उपयोगी होते हैं। इन भावों का विभाजन निम्नरूप में किया गया है।

(१) आठ सात्त्विकभाव—ये अनुभावों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इनकी गणना भिन्नरूप से केवल इसलिए की गई है क्योंकि ये अन्तर्गत स्थायी भाव के ऐसे निर्भ्रान्त चिह्नों के रूपों में स्वयं प्रकट होते हैं कि इसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता है।

(२) तेंतीस व्यभिचारीभाव।

(३) आठ स्थायी भाव।

इसलिए हमको 'भाव' की परिभाषा और प्रक्रिया को विशद रूप से समझ लेना चाहिए।

भाव

नाट्य कला के सम्बन्ध में 'भाव'[3] शब्द का प्रयोग उन मानसिक दशाओं के लिए किया गया है जिनकी संख्या गत उपप्रकरण में उनचास निर्धारित

---

[1] ना० शा० ९५ [2] ना० शा० ८०

[3] अभि० भा० भाग १—३४३

की गई है। यद्यपि भाव शब्द समासपदों के अन्त में प्रयुक्त होकर विभाव तथा अनुभाव के अर्थों को व्यक्त करता है फिर भी इनको भावों की कोटि में रखा नहीं जा सकता है क्योंकि भरतमुनि ने इस शब्द का प्रयोग शास्त्रीय अर्थ में किया है और भावों की संख्या निर्धारित कर दी है।

मानसिक दशाओं को दो कारणों से भाव कहा जाता है। (१) वे तीन प्रकारों के अभिनयों (वाचिक, आंगिक और सात्त्विक) से रस को अभिव्यक्त अथवा प्रकट करती हैं। (२) वे दर्शकों के अन्तःकरण[1] में व्याप्त हो जाती हैं और उसको तीव्र रूप में प्रभावित करती हैं। जब नाटककार अथवा अभिनेता को शिक्षा देने के प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इस शब्द के प्रयोग का उपर्युक्त पहला कारण होता है। जब यह स्पष्ट करना होता है कि भाव कही जाने वाली मानसिक दशाएँ दर्शकों को किस प्रकार से प्रभावित करती हैं तो इस शब्द के प्रयोग का उपर्युक्त दूसरा कारण होता है।

इसकी विशद व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है—

संस्कृत भाषा में 'भाव' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है (१) वह जो किसी वस्तु के होने का कारण होता है (भावन) और (२) वह जो प्रभावित करता है (वासन)। इन दोनों ही प्रयोगों में 'भाव' शब्द एक प्रकार के कारण का वाचक होता है। इस प्रकार से अभिनेता के अन्तःकरण में वर्तमान भाव जिनको वह तीन प्रकार के अभिनयों से प्रकट करता है रंगमंच के प्रदर्शन में रस को उत्पन्न करने के कारण होते हैं। इसी प्रकार से नाटककार के अन्तःकरण में वर्तमान भाव उस समय रस को उत्पन्न करते हैं जब उन भावों को स्वाभाविक रूप में प्रकट करनेवाले शारीरिक परिचालनों एवं परिवर्तनों को उपयुक्त भाषा में प्रकट किया जाता है।

परन्तु 'भाव' शब्द का दूसरा अर्थ 'व्याप्त होना' दर्शक के दृष्टिकोण से ही संभव है। यह प्रसिद्ध है[2] कि कस्तूरी के समान सुगंधित वस्तु अपने संयोग से दूसरी वस्तुओं को सुगंधित कर देती है अथवा उसमें व्याप्त हो जाती है। कस्तूरी के तत्त्वतः व्याप्त होने के कारण वह वस्त्र सुवासित हो जाता है जिसमें

---

[1] अभि० भा० भाग १—३४७ [2] अभि० भा० भाग १–३४५

उसको रखा जाता है। वह प्रक्रिया जिससे कोई निर्गंध वस्तु दूसरी वस्तु की सुगन्ध को ग्रहण कर लेती है 'भाव' अथवा 'भावना' कही जाती है। इस प्रकार से दर्शक की दृष्टिकोण से मानसिक दशाओं को इसलिए 'भाव' कहा जाता है क्योंकि वे दर्शक के अन्तःकरण में उसी प्रकार से व्याप्त होते हैं जिस प्रकार से कस्तूरी अपने संयोग में आने वाले वस्त्र में व्याप्त हो जाती है।

व्यभिचारीभाव

व्यभिचारीभाव अस्थायी भाव हैं। उनको व्यभिचारी भाव इसलिए कहा[1] जाता है—क्योंकि विविध रसों के अनुभव में दर्शक के सामने मानों वे प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि यथार्थतः वे भाव मानसिक दशायें ही होते हैं फिर भी जब समुचित परिस्थिति में अनेक प्रकार के अभिनयों से उनको प्रकट किया जाता है तो वे प्रत्यक्ष साकार रूप के समान दिखाई पड़ने लगते हैं। एक अन्य कारण से भी उनको 'व्यभिचारी' कहा जाता है। वे विविध रसों को भी मानो प्रत्यक्ष रूप में दर्शकों के सामने प्रकट करते हैं। क्योंकि जब एक उचित परिस्थिति में अस्थायी मानसिक अवस्थाओं का उचित अभिनय किया जाता है तो दर्शकों के मन में उस स्थायी भाव के विषय में कोई शंका नहीं रह जाती है जिससे उनकी उत्पत्ति होती है। स्थायी भाव को जब व्यभिचारी भावों, स्वयंभूत सात्विक भावों एवं अनुभावों से उपयुक्त परिस्थितियों में प्रदर्शित किया जाता है तो स्थायीभाव अनुमान प्रमाण से ज्ञात न होकर जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभव किया जाता है। क्योंकि अनुमान प्रमाण अपने शुद्धरूप में तभी तक रहता है जब तक (१) कारण (२) कार्य एवं (३) अव्यभिचरित सहचारी में से एक के प्रत्यक्ष से अनुमेय का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। लेकिन जिस समय ये तीनों ही स्पष्टरूप में प्रत्यक्ष होते हैं तब अनुमान अनुमान न रह कर प्रत्यक्ष के समान इसलिए हो जाता है क्योंकि अनुमिति में जो शंका का अंश रहता है वह प्रमाणों की अनेकता के कारण[2] नष्ट हो जाता है।

यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रसंग (अभिनव भारती भाग १-३५६-७) में 'नयति' (लाता है) शब्द का जो अर्थ है वह शब्दशः न होकर रूढ़ है जैसे भाषा में यह कहा जाता है कि 'सूर्य दिन को लाता है।'

---

[1] अभि० भा० भाग १-३५६-५७ [2] अभि० भा० भाग १-२८५

स्थायीभाव

किसी मानसिक भाव-दशा को स्थायी क्यों कहा जाता है इसका कारण निम्न लिखित है—

नाटक में एक सर्वांगीण कार्य का प्रदर्शन किया जाता है। कार्य की सर्वांगीणता का अर्थ पांच अवस्थाओं से युक्त होना है—

१. प्रारम्भ—उद्देश्य की निर्धारणा।
२. यत्न—प्राप्ति के लिए यत्न।
३. प्राप्त्याशा—बाधाएँ और आशाएँ।
४. नियताप्ति—बाधाओं पर विजय।
५. फलागम—उद्देश्य की सिद्धि।

परन्तु अपने भौतिक रूप में कार्य की उत्पत्ति एक विशेष मानसिक दशा (भाव) से होती है। इस भाव का उदय उस विशिष्ट बाह्य-परिस्थिति के कारण होता है जिसमें कर्ता स्थित होता है। यह आवश्यक है कि वह भाव कार्य की सभी अवस्थाओं में बना रहे। अन्यथा 'कार्य' का अन्त किसी भी बीच की अवस्था में सहसा हो सकता है और उसकी सर्वांगीणता खण्डित हो सकती है। यह भी स्वाभाविक है कि परिस्थिति के परिवर्तन, भाग्य की प्रतिकूलता अथवा घटनाक्रम में आकस्मिक अनुकूलता के कारण अन्य भावों की भी उत्पत्ति हो। परन्तु इन भावों का न तो कोई स्वतंत्र अस्तित्व हो सकता है और न वे उस मूल एवं स्थायी भाव से विलगरूप में तथा अप्रभावित रूप में उत्पन्न हो सकते हैं जिसने उद्देश्य का निर्धारण किया था। वास्तविकता यह है कि स्थायी भाव के होने के कारण ही अन्य भावों की उत्पत्ति होती है। स्थायी भाव के सागर में वे भाव तरंगों के समान होते हैं और उसी में से उठकर उसी में विलीन हो जाते हैं।

स्थायी भाव आठ हैं। इन भावों का प्रकटन जिन विभावों एवं अनुभावों में होता है तथा जो व्यभिचारी भाव इनके सहचर आवश्यक रूप में रहते हैं उन सबका विशद वर्णन भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र के सातवें अध्याय में किया है। दुर्भाग्यवश ग्रंथ के इस अंश की व्याख्या करने वाला अभिनव भारती का भाग अप्राप्य रूप से खो गया है।

विविध दृष्टिकोणों से रस का महत्त्व

नाटककार, अभिनेता एवं दर्शक के दृष्टिकोण से नाटक-विधायक तत्त्वों में 'रस' सबसे अधिक महत्त्वमूर्ण तत्त्व है। क्योंकि नाटककार जब तक उस विशेष रस पर अपने ध्यान को केन्द्रित नहीं कर लेता जिसको वह प्रदर्शित करना चाहता है तब तक वह प्रभावशाली[1] रूप में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों को प्रकट नहीं कर सकता। अभिनेता भी अपनी वेश-भूषा, सामान्य रूपविन्यास तभी चुन सकता है एवं परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रियाओं को तभी निश्चित रूप दे सकता है जब उसको उसका ज्ञान हो जिसको वह प्रकट करना चाहता है। दर्शक रंगशाला में केवल रस का अनुभव करने के लिए ही जाते हैं। दर्शक के अन्तः करण में रसविधायक तत्त्व विभावादि स्वतंत्र एवं परस्पर विलग रूप में अनुभूत न होकर उस स्थायीभाव में निमज्जित होकर अनुभव में आते हैं जिसे सहचारी व्यभिचारीभाव अत्यन्त तीव्र कर देते हैं। नाट्य प्रदर्शन का प्रयोजन दर्शकों को उपदेश देना है। इसकी सिद्धि भी 'रस' से ही होती है। क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन निरपेक्ष विधि-वाक्यों की सहायता से उपदेश नहीं देता। वरन् दर्शक को वह उपदेश, नायक के साथ में तादात्म्य स्थापित करने के कारण नायक के अनुभवों का अनुभव करते हुए प्राप्त होता है। रसास्वाद नायक के अनुभव की अनुभूति ही है। इसलिए चाहे जिस दृष्टिकोण से हम देखें 'रस' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नाट्यविधायक तत्त्व है।

भरत मुनि के मतानुसार रस का स्वरूप

भरतमुनि के लिए 'स्वतन्त्रकला शास्त्र' की समस्या कोई दार्शनिक समस्या नहीं थी। रस शब्द के अर्थ से संबन्धित जो दार्शनिक विचार धारा है, जैसे कि उपनिषदों में 'रसो वै सः' कहा गया है, उससे भरत मुनि प्रभावित नहीं हुए थे। उनकी दृष्टि में रस विषय रूप है जिसके कारण दर्शक रस का अनुभव करते हैं। उन्होंने यह बताया है कि रसविधायक तत्त्व कौन कौन से होते हैं और उनमें परस्पर क्या संबंध है। और इन तत्त्वों को कौन से उपायों तथा साधनों से प्रदर्शित किया जा सकता है। इसमें कोई शंका नहीं है कि वे उन मानसिक दशाओं का भी उल्लेख करते हैं जो रसास्वादन के लिए आवश्यक हैं। परन्तु उनका उल्लेख केवल

---

[1] अभि० भा० भाग १—२७२

इसलिए करते हैं क्योंकि दर्शक के मनोरंजन के लिए ही वह रस रूप वस्तु होती है जिसको वे सबसे अधिक प्रधान मानते हैं।

रस विधायक तत्त्वों में परस्पर संवंध

हम यह कह चुके हैं कि रस निम्नलिखित तत्त्वों का मिश्रित समुदाय रूप है—(१) विभाव–आलम्बन एवं उद्दीपन (२) अनुभाव और सात्त्विक भाव (३) संचारी अथवा व्यभिचारी भाव तथा (४) स्थायी भाव। इसलिए स्वाभाविक रूप से प्रश्न यह उठता है कि 'क्या रस इन तत्त्वों का केवल पारस्परिक सान्निध्यमात्र है अथवा उनका अव्यवस्थित मिश्रणमात्र है या किसी विशेष नियम के अनुसार ये तत्त्व परस्पर संबंधित होते हैं।' भरतमुनि इस विषय में क्या विचारते हैं इसका आभास हमको उनके इस कथन से मिलता है कि विभावादि में एवं रस में अंग अंगी संबंध होता है। इस संबंध के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भरत मुनि ने षाडव रस का दृष्टान्त दिया है। षाडव रस की रचना किस प्रकार से होती है–इसको निम्न लिखित रूप में कहा जा सकता है।

षाडव रस की रचना १. मसाले—काली मिर्च, इलायची, दही, कांजी आदि २. औषधि—इमली, गेहूँका दलिया, हरिद्रा, केशर आदि ३. द्रव्य–गुड़, नमक आदि और ४. चावल को एक में मिला कर की जाती है। इन सब वस्तुओं का स्वाद भिन्न भिन्न होता है। अपने अलग अलग रूपों में कोई कड़ुवा, कोई खट्टा, कोई मीठा और कोई नमकीन होता है। लेकिन जब कोई निपुण रसोइया इन सब वस्तुओं को उचित मात्रा में मिश्रित कर पका देता है तो उनसे एक नया स्वाद उत्पन्न हो जाता है। यह नया स्वाद तद्गत किसी एक वस्तु में नहीं होता। और अपने अलग अलग रूप में ये वस्तुएं जितनी स्वादिष्ट होती हैं उनसे अधिक[1] स्वादिष्ट यह षाडव रस होता है। इस नये स्वाद और वस्तुरूप द्रवपदार्थ दोनों को षाडव रस कहते हैं।

नाटक में जो विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव प्रदर्शित किए जाते हैं वे विशिष्ट स्वादयुक्त उन सामाग्रियों के समान होते हैं जिनसे षाडव रस की रचना की जाती है। जिस प्रकार से षाडव रस की उत्पत्ति तभी होती है जब कोई निपुण रसोइया अपनी पाक कला से इन सब वस्तुओं को उचित

---

[1] अभि० भा० भाग १—२८९

मात्रा में इस प्रकार से मिला देता है कि उसमें एक ऐसा नया स्वाद उत्पन्न हो जाता है जो उसमें सम्मेलित किसी एक वस्तु में नहीं होता है, उसी प्रकार से नाटक में जो रस प्रदर्शित किया जाता है उसकी उत्पत्ति तभी संभव होती है जब कोई प्रतिभावान् कवि समुचित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव एवं स्थायी भाव को एक ऐसे सामंजस्य पूर्ण रूप में मिश्रित करता है कि वे अपने विशिष्ट रूपों से सर्वथा भिन्न वस्तु को प्रदर्शित करने लगते हैं।

भरत मुनि की रस की परिभाषा में 'स्थायिन्' शब्द का असमावेश

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भरत मुनि ने रसविषयक परिभाषा के सूत्र में नतो 'स्थायीभाव' शब्द का प्रयोग किया है और न षाडव रस के दृष्टान्त में ही किसी ऐसी सामग्री का उल्लेख किया है जिसकी तुलना स्थायी भाव से की जा सके।

सर्वप्रथम भट्टलोल्लट ने 'स्थायिन्' शब्द के अभाव की ओर ध्यान दिया था। उनका मत यह था कि न प्रयुक्त किए जाने पर भी 'स्थायिन्' शब्द का आक्षेप प्रसंगवश हो जाता है[1]। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के दो व्याख्याकारों—१. श्री शंकुक और २. अभिनवगुप्त—ने 'स्थायिन्' शब्द के असमावेश को विशेष अर्थपूर्ण बताया है और रसविषयक अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिए इसकी व्याख्या विभिन्न रूप में की है। इसकी विशद व्याख्या हम उपर्युक्त दोनों व्याख्याकारों के रससिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रसंग में करेंगे।

विषयरूप रस अनुकृतिरूप नहीं है

विभावादि रसविधायक तत्त्व प्रकृति[2] से उत्पन्न नहीं होते। वे उस कला की सृष्टि हैं जो प्रकृति का अनुकरण नहीं करती अपि तु कविकल्पित लोक का प्रदर्शन अत्यंत विशद रूप में करती है।

कवेरन्तर्गतम् भावम् भावयन् भाव उच्यते। ना० शा० ७९
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यम् भावानुकीर्तनम् ना० शा० ८

विभावादि रसविधायक तत्त्वों को यथार्थ रूप ऐतिहासिक परिवेश में प्रदर्शित न कर उनको ऐतिहासिक यथार्थ के तत्त्वों से सर्वथा पूर्ण स्वतंत्र रूप

[1] अभि० भा० भाग १—२७४ [2] अभि० भा० भाग १—२९२

में प्रदर्शित करना चाहिए। इस शास्त्र विधि के महत्त्व को भरत मुनि ने अपने उन शब्दों को ब्रह्मा के मुख से कहला कर स्पष्ट किया है जिनसे उन्होंने उन दैत्यों के क्षोभ को शान्त किया था जो प्रथम नाट्य-प्रदर्शन में अपने पतन को देखकर क्रोधित हो उठे थे।

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्। ना० शा० ८

नकली रत्न के समान विषय रूप रस अनुकरण की सृष्टि नहीं है क्योंकि नकली रत्न में असली रत्न की छाया अथवा उसके बाह्य रूप की समानता ही होती है। असली रत्न का मूलतत्त्व उसमें नहीं होता। नकली रत्न इसलिए नकली होता है क्योंकि उसमें असली रत्न का मूल तत्त्व नहीं होता। परन्तु रंगमंच पर प्रदर्शित रस में यदि एक भी उपरोक्त तत्त्व और विशेष रूप से उन भावों का अभाव होता है जिनसे प्रत्यक्ष रूप विभिन्न मुखमुद्राओं के परिवर्तन एवं रोमांच[1] आदि सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं तो वह रस ही नहीं रह जाता है। वास्तव में रंगमंच पर नारी को लाने के औचित्य को सिद्ध करने के लिए यह भी एक युक्ति थी। क्योंकि कोई भी शिक्षा पुरुष के अन्तः-करण को उस भावदशा में नहीं ला सकती जो विशिष्ट परिस्थितियों में[2] नारी के लिए स्वाभाविक है। वह प्रदर्शन हास्यास्पद[3] होता है जिसमें केवल बाह्य रूपों एवं चेष्टाओं का अनुकरण मात्र होता है और सामान्य भावदशाएं नहीं होती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अनेक प्रसंगों में 'अनुकरण[4]' 'अनुचरण[5]' 'अनुकीर्तन[6]' आदि शब्दों का प्रयोग किया है जिसका सामान्य अर्थ अनुकरण करना ही है। परन्तु जिन प्रसंगों में इन शब्दों का प्रयोग किया गया है उन पर ध्यान देने से निश्शंक रूप से यह कहा जा सकता है कि भरतमुनि ने इन शब्दों का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है जैसे कि हम ऊपर बता आए हैं।

स्थायी भाव आदि से रस का भेद

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय रूप रस उस स्थायी भाव से भिन्न है जो उसके विधायक तत्त्वों में से एक तत्त्व है। यह विषय रूप रस

[1] अभि० भा० भाग १–२१–३
[2] ना० शा० ७२
[3] ना० शा० ८१
[4] ना० शा० ३०७–८
[5] ना० शा७ २४७
[6] ना० शा० ८

उस अनुभवरूप रस से भी भिन्न है जो इसकी अनुभवात्मक प्रतीति के उपरान्त उत्पन्न होता है। अनुभवरूप रस से इस विषयरूप रस की भिन्नता का प्रमाण इस बात[1] से और मिलता है कि भरतमुनि ने स्पष्ट एवं दृढ़ता के साथ यह कहा है कि रस को और भी विशिष्ट अथवा प्रभावशाली बनाने के लिए जातियों का प्रयोग करना चाहिए। भरतमुनि के मतानुसार प्रत्येक रस अपने को स्वरों के एक विशिष्ट मिलन में व्यक्त करता है। रस को व्यक्त करने वाले इन स्वरमिलनों को जाति कहते हैं। विषयरूप रस की स्थायी भाव से भिन्नता इस बात से और भी सिद्ध होती है कि भरत मुनि के कथनानुसार स्थायी भाव को प्रकट करने के लिए आवश्यक नेत्र-परिचालन उन नेत्र-परिचालनों से भिन्न[2] होते हैं जिनका सर्वांगीण रसप्रदर्शन के समय में होना उन्होंने अवश्यम्भावी निर्धारित किया है।

अन्य दृष्टिकोण से रस का महत्त्व

भरतमुनि ने रसविधायक विभावादि तत्त्वों के सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रितरूप रस के 'उत्पादन' को अपना प्रधान प्रतिपाद्य विषय माना है। उन्होंने अभिनेताओं, सूत्रधारों एवं नाटककारों को जो भी निर्देश दिए हैं उन सब का प्रयोजन यही है कि रस की उत्पत्ति में वे अपना व्यक्तिगत सहयोग प्रदान कर सकें[3]। एक कुशल अभिनेता बनने के लिए इतनी ही योग्यता आवश्यक नहीं है कि वह किसी स्थायी भाव के अनुभावों को सफलतापूर्वक प्रकट कर सके। वरन् उसमें इस शक्ति का होना आवश्यक है[4] कि वह अपने अन्तःकरण में उन आवश्यक भावों को जागृत कर सके जिनसे अनुभाव तथा सात्त्विक भाव सहज रूप में प्रकट होते हैं।

विषयरूप रस का स्वरूप

भरतमुनि ने विषयरूप रस के जिस स्वरूप का प्रतिपादन नाट्यशास्त्र में किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि वह सामान्य व्यवहारिक जगत् की वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है। व्यवहारिक जगत् की वस्तुओं की प्रतीतियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (१) यथार्थ, (२) मिथ्या एवं (३) भ्रान्त। विषयरूप रस को 'यथार्थ' दो कारणों से नहीं माना जा

[1] ना० शा० ३३०
[2] ना० शा० १०२
[3] अभि० भा० भाग १–२७३–४
[4] अभि० भा० भाग १–१६
५ स्व० शा०

सकता—पहला कारण यह है कि वह प्रकृतिजन्य नहीं होता। दूसरा कारण यह है कि घट के समान 'रस' की अनुभवजनकता सभी दर्शकों के लिए समान रूप से नहीं होती। विषयरूप रस आकाश सुमन की भांति मिथ्या भी नहीं होता है क्योंकि उसका अस्तित्व होता है। इस रस को भ्रान्तिजनक वस्तु भी माना नहीं जा सकता क्योंकि भ्रान्तिजनक वस्तु का तत्त्वतः स्वरूप यह होता है कि वस्तुतः वह वैसी वस्तु नहीं होती जैसी ऊपर से दिखाई देती है। परन्तु रंगमंच पर विषयरूप में प्रदर्शित रस का स्वरूप तत्त्वतः वैसा ही होता है जैसा ऊपर से दिखाई देता है। संक्षिप्त रूप में यह कहा जा सकता है कि अपने उस लोक में 'रस' की स्वतंत्र सत्ता होती है जो सामान्य व्यावहारिक जगत् से भिन्न होता है। इसको कला का लोक कहा जासकता है।

रस का वासस्थान

विषयरूप रस एक ऐसा मिश्रितरूप है जिसके विधायक तत्त्व विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा स्थायीभाव हैं। इनकी परस्पर मिश्रित एकरूपता को केवल एक मनुष्य ही प्रकट कर सकता है। इसलिए भरतमुनि के मतानुसार रस का निवास स्थान किसी भावपरिस्थिति में वर्तमान प्रधान व्यक्ति ही होता है। क्योंकि मिश्रितरूप रस के पूर्ण हो जाने पर जो विशिष्ट दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं उनका उल्लेख भरतमुनि ने किया है (रसजा दृष्टयः)

इस प्रकार से भरतमुनि के लिए रसविषयक समस्या शुद्ध रूप से व्यवहारिक है और उनके समाधान का आधार मानसिक जीवन के तत्त्वों एवं नाट्य रचनाविधि का सर्वांगीण विश्लेषण है। रस के विषय में यही प्राचीन मत है जिसको दण्डिन् ने अपने काव्यादर्श में लिखा था। बिना किसी संशोधन के भट्ट लोल्लट ने इसी मत को स्वीकार किया है। दर्शक के दृष्टिकोण से श्री शंकुक ने इस मत का जो खण्डन किया है वह इस सिद्धान्त की सत्यता को नष्ट नहीं कर सकता।

दर्शक का दृष्टिकोण

परन्तु भरतमुनि ने दर्शक के दृष्टिकोण की सर्वथा उपेक्षा नहीं की है क्योंकि विषयरूप रस का अस्तित्व ही दर्शक के लिए होता है। वस्तुतः नाट्यशास्त्र के सत्ताइसवें अध्याय में उन्होंने दर्शकों के लक्षणों का वर्णन विशद रूप में किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने उन मानसिक दशाओं का वर्णन

स्पष्ट रूप से किया है जो रसानुभव के लिए आवश्यक हैं। दर्शक के प्रधानतम[1] लक्षण एवं मानसिक दशाएँ निम्नलिखित हैं :—

१. ज्ञान सम्बन्धी लक्षण—सामान्य रूप से कलाओं तथा साहित्य का और विशेष रूप से नाट्यकला का ज्ञान।

२. रस-भेद तथा विभावादि के सूक्ष्म भेदों का ज्ञान।

३. विभिन्न भाषाओं तथा उपभाषाओं का ज्ञान जिनका नाटक में प्रयोग किया जाता है।

४. अव्यग्रता—ध्यान को केन्द्रित करने की शक्ति।

५. बुद्धि की कुशाग्रता।

६. बुद्धि की निष्पक्षता।

७. चरित्रशीलता एवं अभिजातीयता।

८. नाट्य प्रदर्शन के प्रति अभिरुचि।

९. और इन सबसे अधिक प्रधान लक्षण नायक के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने की शक्ति है जिससे दर्शक नायक के समान अनुभव करता है।

दर्शक के उपर्युक्त लक्षण रसानुभव के लिए सामान्य रूप से आवश्यक हैं। लेकिन इन लक्षणों के होने पर भी प्रत्येक दर्शक प्रत्येक नाट्यप्रदर्शन से रस का अनुभव नहीं कर सकता। आयु[2] जन्मजात संस्कार एवं किसी नाट्य प्रदर्शन को देखते समय दर्शक की मानसिक एवं शारीरिक दशा रस के अनुभव के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें हैं। उदाहरण के लिए एक वृद्ध दर्शक उस श्रृंगार रस का अनुभव नहीं कर सकता जिसका स्थायी भाव रति है। उसी प्रकार से जो व्यक्ति हृदय से कायर है, जो नायक की वीरता को भयभीत होकर देखता है, उसको वीर रस का अनुभव इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि नायक के साथ तादात्म्य स्थापित करने में वह असमर्थ है।

अतएव इससे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि भरतमुनि श्री शंकुक के इस सिद्धान्त को ठीक नहीं मानते कि अनुभावों के प्रत्यक्ष के आधार पर दर्शक स्थायीभाव का अनुमान कर रस का अनुभव करता है। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं भरतमुनि का मत यह है कि रस का अनुभव दर्शक को तभी होता है जब वह नायक के साथ अपना तादात्म्य

---

[1] ना० शा० ३१२ [2] ना० शा० ३१३

स्थापित कर लेता है एवं इसके परिणामस्वरूप वह तद्वत् अनुभव करने लगता है। अभिनवगुप्त भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। इसलिए हम नाट्यशास्त्र के अन्य व्याख्याकारों की अपेक्षा अभिनवगुप्त को भरतमुनि के सिद्धान्तों का यथावत् प्रतिपादक मानते हैं।

नाट्य शास्त्र के अन्य व्याख्याकार

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गई हैं। दुर्भाग्य से अभिनवगुप्त की व्याख्या अभिनवभारती को छोड़ कर अन्य सभी व्याख्याएँ अप्राप्य हैं। वस्तुतः अभिनवभारती से ही हम उन टीकाओं तथा लेखकों के विषय में जानते हैं। उनके विषय में विशेष रूप से जानने के लिए पाठक को 'अभिनवगुप्त–एक ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन' के पृष्ठ १ से लेकर २५ तक देखना चाहिए।

भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र के वर्तमान अध्ययन के दृष्टिकोण से अभिनव गुप्त के अतिरिक्त केवल तीन महत्त्वपूर्ण व्याख्याकार हैं—भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक एवं भट्ट नायक, क्योंकि रसविषयक भरतमुनि के परिभाषा सूत्र की व्याख्या करते समय अभिनवगुप्त ने उनके मतों का उल्लेख विशद रूप से किया है।

भट्ट लोल्लट का व्यावहारिक दृष्टिकोण

भट्ट लोल्लट के जीवन समय की विवेचना हम अपने पूर्वलिखित ग्रन्थ[१] में कर चुके हैं। वे स्पंदकारिका के लेखक अथवा प्रकाशक भट्ट कल्लट के समकालीन थे। उन्होंने केवल भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर ही व्याख्या नहीं लिखी वरन् स्पंदकारिका की भी टीका लिखी थी। अतएव उन्होंने अपने पूर्वगुरुओं से नाट्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के प्राचीन ज्ञान को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया था। उनके रस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

भरतमुनि के रस सूत्र विषयक भट्टलोल्लटकृत व्याख्या का उल्लेख दो स्थानों पर प्राप्त होता है—(१) अभिनवभारती भाग १–२७४। इसमें व्याख्याकार के नाम का उल्लेख है एवं (२) ध्वन्यालोक लोचन (पृष्ठ

[१] अभि० १२६–९

६८)। इसमें व्याख्याकार के नाम का उल्लेख नहीं है, परन्तु उल्लिखित सिद्धान्त तत्त्वतः एक ही है। अभिनवभारती में यह अंश इस प्रकार से है :—

तेन स्थाय्येव विभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भावस्त्वनुपचितः। स च मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये 'अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसंधान-वलात्।' अभि० भा० भाग १–२७४।

उपर्युक्त उद्धरण में व्याख्याकार भट्टलोल्लट ने रस के वासस्थान की व्याख्या की है। प्रश्न यह है कि 'रस कहाँ होता है?' अथवा 'रस का वास-स्थान क्या है?' भट्टलोल्लट का उत्तर यह है कि रस प्रधान रूप से उस ऐतिहासिक मूल व्यक्ति में निवास करता है जिसका अभिनय रंगमंच पर किया जाता है। अभिनेता में रस गौण रूप से निवास करता है। इस गौणता का कारण निम्नलिखित है :—

अभिनेता अपना तादात्म्य नाटकीय रूप में परिवर्तित ऐतिहासिक मूल व्यक्ति के साथ कर लेता है जिससे वह अपने अनुभव के तत्त्वों को इस प्रकार से संगठित करने में सफल हो जाता है कि ठीक मूल नायक के समान ही आवश्यक भाव उसमें जागृत हो जाता है।

हम यह बता चुके हैं कि भट्टलोल्लट साहित्यिक एवं दार्शनिक दोनों ही थे। शैव दर्शन के वे ज्ञाता थे। इसलिए यह मानना युक्तिसंगत होगा कि इस प्रसंग में जो उन्होंने अनुसंधान शब्द का प्रयोग किया है उसका एकमात्र अर्थ वही हो सकता है जो तत्कालीन दर्शन–लोक में प्रचलित था। अनुसंधान शब्द 'अभिमान' अथवा 'आरोप' का पर्य्याय न होकर 'योजना' का पर्याय था। यह उत्पलाचार्यकृत ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका के निम्नलिखित श्लोक और अभिनवगुप्तकृत उसकी व्याख्या से स्पष्ट होता है :—

कादाचित्कावभासे या पूर्वाभासादियोजना।
संस्कारात्कल्पना प्रोक्ता सापि भिन्नावभासिनि॥

ई० प्र० भाग १–२५६

कादाचित्कः कदाचिद्भवः अज्ञातदेशकालाकारः अवभासो यस्य देहादेः स्वलक्षणरूपस्य, तत्र या पूर्वाभासेन बालादिशरीराभासेन योजना योऽहम् बालः स एवाद्य युवा इत्यनुसंधानम्।

इस प्रकार से हम यह देखते हैं कि रस के विषय में दर्शक का दृष्टिकोण

भट्टलोल्लट ने उपेक्षित कर दिया है। अभिनवगुप्त ने जिस रूप में उनके मत का उल्लेख किया है उसमें 'दर्शक' का कोई संकेत नहीं है। मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में अभिनवगुप्त के ग्रन्थपाठ में थोड़ा सा संशोधन करते हुए 'प्रतीयमान' शब्द को उसमें और जोड़ दिया है जो दर्शक का बोधक है। मम्मट का संशोधित पाठ इस प्रकार से है :—

'मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्यें,
तद्रूपतानुसंधानात्
नतर्केऽपि प्रतीयमानो रसः
का० प्र० ३१

भट्ट लोल्लट का रस सिद्धान्त

रस के विषय में भट्टलोल्लट का दृष्टिकोण तत्त्वतः व्यावहारिक है। उनका प्रयोजन विषयरूप रस का विश्लेषण रसविधायक तत्त्वों के रूप में करते हुए यह स्पष्ट करना है कि ये तत्त्व किस प्रकार से मिलकर रंगमंच पर विषय-रूप रस को उत्पन्न करते हैं? उनके मत के अनुसार विषयरूप रस विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों की अनेकता के बीच स्थायी भाव की एकता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। रस विधायक तत्त्व समूह में स्थायीभाव ही एकता जनक तत्त्व है क्योंकि विभावादि रसविधायक सभी तत्त्व किसी न किसी रूप में स्थायी भाव के साथ सम्बन्धित होते हैं। विभाव स्थायीभाव का कारण होता है। अनुभाव स्थायीभाव के परिणाम हैं। इस प्रसंग में अनुभाव का अर्थ केवल वेही चेष्टाएँ हैं जिन्हे आलम्बन विभावरूप व्यक्ति प्रकट करता है। इस संदर्भ में उन अनुभावों का उल्लेख नहीं किया गया है जो पूर्ण विकसित स्थायीभाव से उत्पन्न होते हैं। व्यभिचारी भाव स्थायी भाव से सहकारी रूप में सम्बन्धित होते हैं।

यद्यपि सामान्यतः स्थायीभाव तभी उत्पन्न होता है जब कि उसको उत्पन्न करने वाला कोई यथार्थ रूप कारण हो, फिर भी अभिनेता अपने प्रशिक्षण और नाटकीय रंगमंच के वातावरण की सहायता से अपना ऐसा तादात्म्य उस पात्र के साथ स्थापित कर लेता है जिसकी रचना कवि ने अपनी कल्पनाशक्ति से की है कि वह अभिनेता कविकल्पित व्यक्ति की ही भांति आचरण करने लगता है, उसी की भांति अपने अंगों का परिचालन करता है और उसकी ही भांति अनुभव करने लगता है। इस प्रकार से वह अपने अन्तः-

करण में उसी भाव को उत्पन्न कर लेता है जिसको कवि ने नायक के अन्तः-करण में वर्तमान दिखाया है। विभाव स्थायीभाव का कारण उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार से आध्यात्मिक प्रतीक लोकोत्तर अनुभव का कारण होता है।

अतएव भट्टलोल्लट के मतानुसार विभावादि की अनेकता में एकता जनक स्थायी भाव ही विषयरूप रस हो जाता है जब कि इसको ये ही अनेक रसविधायक तत्त्व पुष्ट कर देते हैं और शक्तिशाली एवं उत्कृष्ट रूप से प्रभाव-शाली बना देते हैं।

विषयरूप रस के विषय में यही प्राचीन सिद्धान्त है। भट्टलोल्लट की मूल देन इसमें कुछ भी नहीं है।

इस मत का खण्डन

व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त की सत्यता पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

फिर भी रसानुभव के दृष्टिकोण से इस मत का खण्डन किया गया है। आक्षेपकर्ता के आक्षेपों के स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि आक्षेपकर्ता की निम्नलिखित मूल मान्यताओं को ध्यान में रखा जाय :—

१. रस के अनुभव का कारण प्रदर्शन का विषयरूप में प्रत्यक्ष करना है।

२. रस का अनुभव करने के लिए रसविधायक तत्त्वों की प्रतीति आव-श्यक है यद्यपि इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए अनेक उपायों को काम में लाया जा सकता है।

३. भावों की प्रतीति प्रत्यक्ष रूप में नहीं हो सकती और न उनको अभिधेयार्थ प्रकट करने वाली भाषा में कहा जा सकता है।

भट्ट लोल्लट का मत मुख्य रूप से व्यावहारिक है, फिर भी आक्षेपकर्ता ने यह मान लिया है कि वे किसी सर्वांगीण सिद्धान्त की पुष्टि करना चाहते हैं। उसके मत में भट्टलोल्लट ने 'रस' विषयक जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह इसलिए दोषपूर्ण है क्योंकि इसका अनुसरण करते हुए दर्शक के अन्तः-करणगत 'रस' के स्वरूप के कारणों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। रस विधायक तत्त्वों में सबसे अधिक प्रमुख स्थायीभाव की प्रतीति प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकती। तब फिर दर्शक के अन्तःकरण में वह किस प्रकार से प्रकट होता है? अभिधामूलक भाषा में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह

नायक के अन्तःकरण के स्थायी भाव को दर्शक के अन्तःकरण में उदित कर सके। अभिधामूलक भाषा व्यवहारिक लोक के सामान्य जीवन के क्रिया कलापों का वर्णन कर सकती है—आदर्शलोक के भावों को वह प्रकट नहीं कर सकती। तो यदि रसविधायक सर्वप्रमुख तत्त्व स्थायी भाव की प्रतीति दर्शक को नहीं हो सकती तो रसास्वाद कैसे संभव हो सकता है ? इस लिए भट्टलोल्लट का सिद्धान्त दोषपूर्ण है। उपर्युक्त तीन मूल मान्यताओं पर आधारित श्रीशंकुक के रसानुभवविषयक आक्षेपों का परिहार इस सिद्धान्त से नहीं हो सकता।

इस प्रसंग में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात का भी उल्लेख किया जा सकता है। भट्टलोल्लट ने रस के विषय में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसके प्रमुख अंश को श्रीशंकुक ने उस अर्थ में समझा था जो भट्टलोल्लट के लिए अमान्य था। श्रीशंकुक के बाद काव्य-लक्षण-विषयक आदिकालीन ग्रंथों के शंकुक से परवर्ती व्याख्याकारों ने प्रमुख रूप से भट्टलोल्लट के मत को और भी अधिक गलत रूप में समझा। उन्होंने यह कहा कि भट्टलोल्लट का रसास्वाद का सिद्धान्त वस्तुगत प्रत्यक्ष (objective perception) से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। इसको निम्नलिखितरूप में कहा जा सकता है :—

इस मत के अनुसार कवि—कल्पित वस्तु के निपुण प्रदर्शन के साधन से कला एक भ्रमलोक का सृजन करती है। अतः ठीक जिस प्रकार से सीप की चमक को देखकर चाँदी की मिथ्या प्रतीति होती है अथवा वैसा ही अनुभव होता है जैसा असली चाँदी को देखकर होता है उसी प्रकार से रंगमचं पर प्रदर्शित ऐतिहासिक इतिवृत्त को नाटकीय रूप में प्रत्यक्ष देखकर कुछ समय के लिए वैसा ही अत्यंत आनन्ददायी अनुभव होता है जैसा कि उसको सत्य ऐतिहासिक रूप में देखने से हो सकता था। क्योंकि दर्शक को नायक के अन्तःकरण में उस भाव की स्थिति का ज्ञान होता है जो वास्तव में वर्तमान नहीं है।

यूरोप के स्वतंत्रकला के कुछ शास्त्रकारों ने कला के भ्रान्तिवादी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इसका विशद उल्लेख हम इस ग्रंथ के दूसरे भाग में करेंगे।

भट्टलोल्लट के मतविरोधियों ने पहले तो यह मान लिया कि भट्टलोल्लट ने दर्शक के अन्तःकरणगत रस की व्याख्या अपने रसविषयक सिद्धान्त में की है और फिर उसके बाद उस मत का खण्डन किया जो वस्तुतः भट्टलोल्लट

का अभिमत नहीं था।[1] अभिनवगुप्त से परवर्ती इन व्याख्याकारों ने जिस रसविषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने विशद रूप से किया था, उसको भली-भांति जानकर स्वीकार कर लिया था। इसलिए वे यह स्पष्ट रूप से जानते थे कि रस के अनुभव का कारण विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव से संयुक्त स्थायीभाव का वस्तुरूप प्रत्यक्ष नहीं है, वरन् अन्तःकरणगत आन्तर साक्षात्कार है, इसलिए भट्टलोल्लट के रसानुभव संबंधी कल्पित सिद्धान्त (वह जिसका प्रतिपादन भट्टलोल्लट ने नहीं किया था वरन् उनको उसका प्रतिपादनकर्ता माना गया था) का स्वाभाविक रूप से मुख्य खण्डन यह था कि स्थायीभाव के वस्तुरूप प्रत्यक्ष से रसास्वाद संभव नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होना संभव हो तो कोई कारण नहीं है कि सामान्य व्यवहारिक संसार की भावमूलक परिस्थितियों से रस का अनुभव न किया जा सके।

इस मिथ्या धारणा के कारण

रस के अनुभव के विषय में भट्टलोल्लट को भ्रान्तिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादक क्यों माना गया—इसको समझना सरल है। भरतमुनि शुद्धरूप में नाट्यकला के शास्त्रकार थे इसलिए उन्होंने रस की व्याख्या उसके उस रूप में की है जिस रूप में उसको रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है। परन्तु भरतमुनि दर्शक के अन्तःकरण में विद्यमान उस मानसिक चित्र को भी रस कहते हैं जो प्रदर्शनगत रस से उत्पन्न होता है और सर्वांगीण रसानुभव का एक प्रमेयरूप अंश होता है। क्योंकि विषयरूप रस और दर्शक के अन्तःकरण में मानसिक चित्र के रूप में विद्यमान रस के विधायक तत्त्व समान ही होते हैं। परन्तु उन्होंने दर्शक के अन्तःकरण में चित्र के रूप में रसविधायक सभी तत्त्वों का जो प्रतिबोध होता है उसका निरूपण दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं किया है। इसका कारण यह है कि भरतमुनि मुख्यरूप से दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक नहीं थे। भरतमुनि के परवर्ती समय में काव्यलक्षण ग्रंथों के जो रचनाकार दण्डिन् आदि हुए उसका प्रधान विषय स्वतंत्रकलाशास्त्र का प्रतिपादन न होकर काव्यलक्षणों का ही निर्देश करना था, इसलिए उन्होंने भरतमुनि के रससिद्धान्त का उल्लेख अप्रमुख रूप से किया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के जो प्रथम व्याख्याकार थे उन्होंने सच्चाई

---

[1] सा० द० (व्याख्या) ६९

के साथ मूलग्रंथ के मत का ही प्रतिपादन किया था। उनके रसविषयक सिद्धान्त का उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या अभिनवभारती में किया है। इसलिए जब श्री शंकुक ने रस की समस्या को अनुभव के दृष्टिकोण से उठाया अर्थात् रंगमंच पर प्रदर्शित रस की नहीं वरन् दर्शकगत अनुभव के रूप में रस की व्याख्या करनी चाही तो उन्होंने रस की परिभाषा को सदोष पाया। क्योंकि प्रदर्शन के प्रत्यक्षमात्र से ही दर्शक के अन्तःकरण में स्थायी भाव प्रकट नहीं हो सकता। और जब दर्शक के मन में स्थायीभाव का अस्तित्व नहीं है तो विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव के साथ उसके संयोग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए जब श्रीशंकुक ने यह देखा कि भट्टलोल्लट ने अपनी व्याख्या में 'रस' शब्द का रंगमंच पर प्रदर्शित रस तथा दर्शकगत रस दोनों ही अर्थों में बिना उनमें विद्यमान भेद को स्पष्ट किए हुए किया है तो उन्होंने उनके सिद्धान्त को सदोष बताया। बिना पारस्परिक भेद को स्पष्ट किए हुए दोनों अर्थों में रस शब्द के प्रयोग करने का श्रीशंकुक ने मतलब यह समझा कि भट्टलोल्लट के अनुसार प्रदर्शनगत रस और दर्शक के अनुभवगत रस में कोई भेद है ही नहीं अर्थात् दोनों एक ही वस्तु हैं। परन्तु साथ ही साथ उन्होंने यह भी देखा कि इस अभेद के कारणों का पर्याप्त रूप से स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। इस लिए उन्होंने भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए अपने रस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

इसी प्रकार से हम यह भी स्पष्ट कर सकते हैं कि आदिकालीन काव्य लक्षण ग्रंथों के आधार पर किए संकलनों के रचयिता, जैसे मम्मट, और उनके व्याख्याकारों ने भट्टलोल्लट के विषय में यह क्यों माना है कि उन्होंने 'प्रदर्शनगत रस से रसास्वाद उत्पन्न होता है' इस मत का प्रतिपादन किया है। श्रीशंकुक से लेकर आज तक रस का प्रदर्शनगत रस की अपेक्षा दर्शक के अन्तःकरण-गत अनुभवरूप रस का अध्ययन अधिक किया गया है। अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए अनेक लेखकों ने रस का प्रतिपादन दर्शक गत अनुभव के रूप में अधिक किया है। अभिनवभारती में रस विषयक जिन चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है उनमें से तीन सिद्धान्त 'रस' को अनुभव के रूप में स्वीकार करते हैं। और चौथे सिद्धान्त का खण्डन 'अनुभवरूप रस के दृष्टिकोण से किया गया है। अतएव संभवतः काव्य लक्षणकारों में भट्टलोल्लट को भी अनुभवरूप रस की एक प्रकार की व्याख्या करने वाला मानने की एक परम्परा

चल पड़ी थी । इस सिद्धान्त का अन्तिमरूप परवर्ती काव्यलक्षण-संकलन-कर्ताओं की कृतियों की व्याख्याओं में प्रकट हुआ था । संस्कृत साहित्य के इतिहास में यह एक अत्यंत सामान्य बात है कि मूल सिद्धान्तकारों को उन मतों का स्थापक माना जाता है जिनको वे मानते नहीं हैं । यदि ऐसा न होता तो यह कैसे संभव था कि बादरायण का ब्रह्मसूत्र अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैताद्वैत के मतों का आधार बनता ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अभिनवगुप्त भट्टलोल्लट के रसविषयक मत का खण्डन नहीं करते क्योंकि वे उनके सिद्धान्त के प्रयोगक्षेत्र को भली भांति जानते थे । इस सिद्धान्त का खण्डनकर्ता श्रीशंकुक को माना जाता है ।

अपनी मिथ्या धारणा के कारण श्रीशंकुक ने भट्टलोल्लट के रसविषयक प्राचीन सिद्धान्त का खण्डन किया था । भट्टलोल्लट ने अपने सिद्धान्त की रचना प्रदर्शनगत रस के अध्ययन के आधार पर की थी । दर्शक के अन्तःकरण में उद्भूत रस उनके अध्ययन का विषय नहीं था । यद्यपि ठीक रूप में समझने पर उनकी रसविषयक परिभाषा दर्शक के अन्तःकरणगत रस पर भी प्रयुक्त की जा सकती है। भरतमुनि के रसविषयक सूत्र के प्राचीन व्याख्याकारों के लिए, प्रदर्शनजन्य रसप्रतीति के साधनों एवं उपायों के विषय में प्रमाणमीमांसागत अनुचिन्तना तथा रसास्वाद के चरम स्वरूप के विषय में मूलतत्त्वशास्त्रगत अनुचिन्तना, सर्वथा अज्ञात प्रदेश के समान थीं । परन्तु श्रीशंकुक का खण्डन इन्हीं अनुचिन्तनाओं पर आधारित है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस मिथ्या धारणा का कारण नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को दार्शनिक दृष्टिकोण से उलझा देना है ।

भट्टलोल्लट के सिद्धान्त पर दूसरा आक्षेप

भरतमुनि के रसविषयक सूत्र की जो व्याख्या भट्टलोल्लट ने की है उसके विषय में श्रीशंकुक ने दूसरा आक्षेप उस अंश के विषय में किया है जहां पर वे रस एवं स्थायीभाव के पारस्परिक भेद को स्पष्ट करते हैं । हम यह भलीभांति जानते हैं कि भट्टलोल्लट के मतानुसार स्वयं स्थायीभाव ही उस समय रस[1] हो जाता है जब विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव उसको परिपुष्ट करते हैं । आक्षेप यह है कि यदि परिपुष्टि अथवा उपचिति ही के कारण स्थायीभाव रस हो जाता है तो उपचिति की प्रक्रिया में असंख्य क्रम होनेके कारण प्रत्येक

---

[1] अभि० भा० भाग १—२७४

स्थायीभाव के भी असंख्य विविध रूप होंगे । इसलिए भरतमुनि[१] ने हास्य के जो छः भेद किये हैं वे बिल्कुल निरर्थक होंगे । जब कि यह सिद्ध है कि प्रत्येक उपचीयमान वस्तु के असंख्य क्रम होते हैं तो कौन यह मानेगा कि (१) हास्य के भी असंख्य रूप अथवा भेद नहीं होंगे । अथवा (२) शृंगार रस के केवल दो ही भेद होंगे (अ) सम्भोग तथा (आ) विप्रलम्भ, जब कि वे स्वयं कामसूत्र की प्रामाणिकता के आधार पर विप्रलम्भ शृंगार के दश क्रमों का उल्लेख करते हैं । इन दश क्रमों को और भी उपक्रमों में विभाजित किया जा सकता है, इसलिए शृंगार रस के केवल दो अथवा दस भेद ही नहीं होंगे वरन् असंख्य भेद होंगे । और यदि यह मान लिया जाय कि भट्ट-लोल्लट का मत यह है कि स्थायीभाव की परिपुष्टि का चरमबिन्दु रस है तो श्रीशंकुक यह आक्षेप करते हैं कि वैसी दशा में करुण रस का अस्तित्व नहीं हो सकता । क्योंकि करुण रस का स्थायी भाव शोक है जो अपने स्वभाव से ही अपने प्रथम विकासक्रम में तीव्रतम होता है और ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जाता है त्यों त्यों उसका आवेग कम होता जाता है । इस लिए यह मानना कि शोक स्थायीभाव अपने विकास के चरमबिंदु पर करुण रस हो जाता है सर्वथा निरर्थक है ।

इसी प्रकार से रौद्र, वीर एवं शृंगार रस के क्रमशः स्थायीभाव क्रोध, उत्साह तथा रति उस समय दुर्बल हो जाते हैं जब परिस्थिति के बदलने के कारण अपमान अथवा आघात की तीव्रता का अनुभव विस्मृत हो जाता है अथवा दृढ़ संकल्पता भग्न हो जाती है या प्रेमपात्र में प्रेम के अभाव का अनुभव होने लगता है । अतएव भट्टलोल्लट के मतानुसार नाटक के उन अंशों में रस वर्तमान नहीं मानना चाहिए और इसलिए उन अंशों को निरर्थक मान कर नाटक में उनको कोई स्थान नहीं देना चाहिए । परन्तु क्रोध, उत्साह तथा रति को दुर्बल रूप में दिखाना कुछ कारणों से आवश्यक है जैसे किसी एक स्थायिभाव की उत्कृष्ट अवस्था के अनुभव से मन को कुछ समय के लिये शान्ति देने के लिए । कुछ स्थलों पर इन स्थायी भावों के दुर्बल रूप मूल इतिवृत्त के आवश्यक अंग होते हैं जो कथानक के विकास की गतिदिशा को निर्धारित करते हैं । इस प्रकार के अंश सभी उत्कृष्ट नाटकों में पाए जाते हैं । अतएव भट्टलोल्लट का यह सिद्धान्त कि स्थायी भाव अपने चरमबिन्दु पर रस हो जाता है युक्तिहीन है ।

---

[१] अभि० भा० भाग १–३१५–१६

श्रीशंकुक की देन

भट्टलोल्लट के रसविषयक सिद्धान्त पर जो आक्षेप श्रीशंकुक ने किये थे वे चाहे जितने अमान्य हों फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने स्वतन्त्र-कलाशास्त्र के अध्ययन के लिये एक नया दृष्टिकोण दिया था। उनकी यह देन इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि श्रीशंकुक को हम भारतवर्ष में उस स्वतंत्र-कलाशास्त्र का प्रथम संस्थापक कह सकते हैं जिसका चरम विकसित रूप हमको अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

श्रीशंकुक भट्टलोल्लट के कनिष्ठ समकालीन थे। वे कश्मीर के निवासी थे। उन्होंने भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की व्याख्या लिखी थी। परन्तु अपने ज्येष्ठ समकालीन भट्टलोल्लट के समान उन्होंने कलाशास्त्र का अध्ययन व्यावहारिक दृष्टिकोण से न कर प्रमुख रूप से अनुभव के दृष्टिकोण से किया था। अर्थात् उनके सामने यह समस्या नहीं थी कि रस को रंगमंच पर किस प्रकार से प्रदर्शित किया जावे वरन् उनके सामने समस्या यह थी कि नाट्य प्रदर्शन से जो दर्शक के अन्तःकरण में रसास्वाद उत्पन्न होता है उसकी कारण सामग्री क्या है।

आरम्भ में ही हम यह कह सकते हैं कि श्रीशंकुक के मतानुसार रस के अनुभव का कारण नाट्य-प्रदर्शन का प्रमेयरूप प्रत्यक्ष है। इस सिद्धान्त को यूरोप के स्वतन्त्रकलाशास्त्र के अनेक आचार्य स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य स्वतन्त्रकलाशास्त्र के इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या हम इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में करेंगे।

श्रीशंकुक वे प्रथम शास्त्रकार हैं जिन्होंने रस के दो स्वरूपों को स्पष्ट किया है—रंगमंच पर प्रदर्शित विषयरूप रस और दर्शक के अन्तःकरणगत अनुभव-रूप रस, और दर्शक के अनुभव के रूप में उसकी व्याख्या की है। भरतमुनि के मतानुसार रस चाहे नाटक के नायक के अन्तःकरण में हो या दर्शक के अन्तःकरण में हो उसके विधायक तत्त्व एक से ही होते हैं। क्योंकि बिना किसी स्वरूपभेद को स्पष्ट किये हुए वे दोनों को 'रस' संज्ञा से ही अभिहित करते हैं। इसलिए श्रीशंकुक के लिए समस्या यह थी कि दर्शक के अन्तःकरण में सर्वांगपूर्ण रस का अनुभव किस प्रकार सम्भव होता है। क्योंकि स्थायीभाव शुद्ध रूप से एक मानसिक दशा है और इसलिए रसविधायक अन्य तत्त्वों की भांति उसका ज्ञान विषयरूप में नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए उन्होंने अनुमितिवाद की स्थापना की है। उनके मत के अनुसार प्रत्यक्ष

रूप विभावादि से स्थायीभाव का अनुमान उसी प्रकार से किया जाता है जैसे उठते हुए धूम के प्रत्यक्ष से पर्वत के शिखर पर सघन वृक्षों के कुञ्जों में प्रच्छन्न अग्नि के अस्तित्व का ज्ञान होता है। परन्तु अभिनेता के अन्तःकरण में जो स्थायीभाव होता है वह अप्रत्यक्ष वस्तु की अप्रत्यक्ष अनुकृति रूप होता है। क्योंकि अभिनेता विषयरूप रस के अन्य विधायक तत्त्वों को तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर देता है, जैसे कि विभाव को काव्य शैली में लिखे गये वर्णनों[1] से, अनुभावों को अभिनयकला की शिक्षा से एवं व्यभिचारी भावों को अपने अतीत के अनुभवों की स्मृति से। परन्तु स्थायी भाव को उपर्युक्त किन्हीं साधनों से प्रकट नहीं किया जा सकता है। और क्योंकि स्थायी भाव अप्रत्यक्ष वस्तु की अप्रत्यक्ष अनुकृति मात्र है इसलिए इसको रस कहते हैं जिससे कि अप्रत्यक्ष वस्तु की अप्रत्यक्ष अनुकृति का भाव स्पष्ट हो जाय।

संक्षेप में श्रीशंकुक के मत को निम्नलिखित रूप में कहा जा सकता है:—

किसी भी नाटक के प्रदर्शन में दृश्यों के यथाक्रमविन्यास और निपुण अभिनय से दर्शक को, अभिनेता तथा मूल व्यक्ति में, जिसका वह अभिनय करता है, अभेद का बोध होता है। उसका यह ज्ञान भ्रान्ति नहीं है क्योंकि भ्रान्ति क्षणस्थायी होती है। इस ज्ञान का स्वरूप संशय जैसा भी नहीं है। क्योंकि दर्शक के अन्तःकरण में यह संशय नहीं उठता कि रंगमंच पर प्रदर्शित नायक अभिनेता है अथवा वह मूल व्यक्ति है जिसका अभिनय वह कर रहा है। इस अनुभव का स्वरूप न तो यथार्थ वस्तु के अनुभव जैसा है और न इसको मिथ्याज्ञान की कोटि में ही रखा जा सकता है। यह ज्ञान वैसा ही है जैसा चित्र में अश्व की सजीव आकृति को देखकर[2] यह सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह वही अश्व है।' इस प्रकार से सहृदय दर्शक अभिनेता को मूल व्यक्ति मान कर जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं विभावादि से स्थायीभाव का अनुमान कर लेता है। यह अनुमानित स्थायीभाव मूल नायक राम के यथार्थ स्थायीभाव का अनुकृतरूप होने के कारण और चित्ताकर्षक विभावादि के साथ सम्बन्धित होने के कारण विशेषरूप से मुग्धकारी हो जाता है और उसका विकास दर्शक के अन्तःकरण की उस दशा में हो जाता है जो आनन्ददायक होती है। आनन्ददायक होने के कारण ही इसको 'रस' कहते हैं।

---

[1] अभि० भा० भाग १—२७४ [2] अभि० भा० भाग १—२७५

मनोवैज्ञानिक एवं प्रमाणमीमांसाश्रित दृष्टिकोण

श्रीशंकुक ने स्वतन्त्रकला शास्त्र की समस्याओं का समाधान मनोवैज्ञानिक एवं प्रमाणमीमांसाश्रित दृष्टिकोण से किया है। इसलिए स्वाभाविक रूप से वे निम्नलिखित विषयों की विशद व्याख्या करते हैं :—

(१) रसानुभव जनक नाट्य-प्रदर्शन का तात्त्विक स्वरूप।

(२) उसको जानने के उपाय और साधन।

(३) रस की चरम प्रतीति का स्वरूप।

उनके मत के अनुसार :—

१. नाट्य-प्रदर्शनगत स्थायीभाव एक अनुकृत भाव है।

२. स्थायीभाव अनुमानप्रमाण से ज्ञेय है।

३. रस की चरम प्रतीति यद्यपि मुख्य रूप से प्रत्यभिज्ञा स्वरूपिणी है फिर भी यह परस्पर विरोधी प्रतीतियों के एक ऐसे अविश्लिष्ट उत्प्रवाह के रूप में होती है जिसका वर्गीकरण किसी भी स्वीकृत ज्ञान-कोटि के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता है।

४. रसानुभव की उत्पत्ति नाट्य-प्रदर्शनरूप विषय के प्रत्यक्ष से होती है।

भरतमुनि के रस की परिभाषा विषयक सूत्र की व्याख्या श्रीशंकुक ने (१) कलाविषयक भ्रान्तिवाद, (२) अनुमानप्रमाणवाद एवं (३) चित्रांकित अश्व के उपमान के आधार पर की है। उन्होंने विषयरूप रस के विधायक तत्त्वों को दो वर्गों में विभाजित किया है १ भ्रांतिजनक एवं २ अनुमेय। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव भ्रान्तिजनक हैं क्योंकि रंगमंच पर उनका कलापूर्ण सफल प्रदर्शन दर्शकों में उनकी यथार्थता की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। अप्रत्यक्ष स्थायीभाव का अनुकृत रूप प्रत्यक्षरूप से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता, इसलिए भ्रान्तिजनक उन विभावादि के प्रत्यक्ष के आधार पर जिनको दर्शक यथार्थरूप मान लेता है उसका अनुमान किया जाता है। अपने रस सिद्धान्त के प्रतिपादन करने में श्री शंकुक ने 'प्राच्य न्याय' (प्राचीन न्यायशास्त्र) की विधि को अपनाया है इसलिए यह आवश्यक है कि न्याय के निम्नलिखित विषयों को भलीभाँति समझ लिया जाय :—

१. ज्ञान की परिस्थितियाँ।

२. प्रमाण।

३. भ्रान्ति, संशय एवं उपमिति ज्ञान विषयक सिद्धान्त ।

४. प्रत्यभिज्ञा का सिद्धांत ।

ज्ञान की परिस्थितियाँ

न्यायदर्शन एक यथार्थवादी विचारधारा है। इसके मतानुसार ज्ञेय वस्तुएँ केवल भ्रमरूप मात्र नहीं हैं और न ज्ञाता के अन्तःकरणगत विचाररूप ही हैं। ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञाता से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व और यथार्थता होती है। न्यायदर्शन की यथार्थवादी विचारधारा सामान्य लौकिक व्यावहारिक ज्ञान के दृष्टिकोण को पुष्ट करती है। बाह्यरूप व्यवहारिक लोक की यथार्थता को सिद्ध करने के लिए तर्कशास्त्रीय विधियों का उपयोग इस विचारधारा के अनुयायी करते हैं। ज्ञेय वस्तुओं की परीक्षा यह विचारधारा तार्किक प्रमाणों से करती है। ज्ञान प्राप्ति के साधनों का विश्लेषण अत्यन्त विशद रूप में स्पष्ट करते हुए इस विचारधारा ने इस अनास्थावादी मान्यता को निर्मूल कर दिया है कि इस लोक में कुछ भी निश्चित और सत्य रूप नहीं है। इस विचारधारा के अनुसार यह माना जाता है कि व्यक्तियों की आत्माएँ द्रव्य रूप हैं और ज्ञाता तथा ज्ञेय परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

इसलिए न्याय मत के अनुसार सभी प्रकार के ज्ञानों में निम्नलिखित अंग होते हैं :—

१. प्रमाता

२. प्रमेय

३. प्रमिति

४. प्रमाण

५. प्रमेय और प्रमाता को परस्पर सम्बन्धित करने वाले साधन। क्योंकि प्रमाता आत्मा अव्यवहित रूप से प्रमेय के साथ सम्बन्धित नहीं होती। मन एवं इन्द्रियों के साधन से इसका सम्बन्ध ज्ञेय वस्तु के साथ संभव होता है।

जीवात्मा अथवा प्रमाता

संख्या में जितने प्रमाता हैं उतनी ही जीवात्माएँ हैं। इनमें से प्रत्येक आत्मा अथवा प्रमाता शाश्वत एवं विभु द्रव्य है। यह शुद्ध द्रव्य है जिसमें

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख[1] एवं ज्ञान गुण रूप में वर्तमान रहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से इस आत्मा को जाना नहीं जा सकता। अनित्य गुणों के प्रत्यक्ष के आधार पर इसके अस्तित्व को अनुमान प्रमाण से जाना जा सकता है। उदाहरण रूप में जब कोई व्यक्ति अपने अनुभव से यह जान लेता है कि अमुक वस्तु आनन्द प्रदायिनी है तो वह परवर्ती समय में भी उसको प्राप्त करने की इच्छा करता रहता है। इसका स्पष्टीकरण केवल इसी आधार पर किया जा सकता है कि प्रमाता अथवा आत्मा ही क्षणिक काल के प्रवाह में एकरूप रहती है, वस्तु की सुखप्रदायकता के गुण का ज्ञान उसमें बना रहता है जिससे कि वह उस वस्तु की इच्छा करती रहती है। जब यह आत्मा व्यावहारिक सामान्य लोक की वस्तुओं के साथ मन और इन्द्रियों के माध्यम से सम्बन्धित होती है तो इसको बाह्यलोक का अनुभव प्राप्त होता है और उसके फलस्वरूप ज्ञानरूपी गुण उसमें उत्पन्न होता है।

मन एवं इन्द्रियाँ

यदि आत्मा एक विभु द्रव्य है तो प्रत्येक वस्तु के साथ उसका सदैव संबंध बना रहना चाहिए और इसलिए उसको प्रत्येक वस्तु का ज्ञाता होना चाहिए। आत्मा को विभु होने के कारण सर्वज्ञ भी होना आवश्यक है। आत्मा को सर्वव्यापक मान लेने पर यह कठिनता उत्पन्न हो जाती है, इसलिए इसके परिहार के लिए न्यायदर्शन के प्रतिपादकों ने यह माना है कि व्यवहारिक लोक की वस्तुओं के ज्ञान के लिए (१) मन और (२) इन्द्रियाँ दो अन्य आवश्यक साधन हैं।

मन अणु तथा शाश्वत है, आत्मा और इन्द्रियों के परस्पर संयोग का माध्यम है, अन्तःकरण की दशाओं एवं व्यवहारिक लोक की वस्तुओं के ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। प्रमाता के सीमित ज्ञान के कारण को इसका अणुत्व स्पष्ट करता है। क्योंकि विभु होते हुए भी आत्मा उसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकती है जिससे उसका संयोग मन के माध्यम से होता है। मन अणु रूप है और ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मा उस पर पूर्ण रूप से निर्भर रहती है, इसलिए यह आत्मा केवल उसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकती है जो मन की सहायता से व्यवहित और सीमित रूप में उसके सन्निकर्ष में आती है। मन

---

[1] न्या० द० १९

६ स्व० शा०

के अस्तित्व से इन्द्रियजन्य ज्ञान की क्रमशीलता को भी स्पष्ट किया जाता है। क्योंकि इंद्रियों की संख्या यद्यपि पाँच है और इन पाँचों इंद्रियों के ज्ञेय विषय भिन्न-भिन्न हैं फिर भी वे अपने-अपने विषयजनित प्रतिबिम्बों को एक ही समय में आत्मा से सन्निकृष्ट नहीं कर सकतीं, क्योंकि केवल उसी इंद्रिय के विषय के प्रतिबिम्ब का आत्मा के साथ सन्निकर्ष हो सकता है जो मन के माध्यम से आत्मा के साथ संयोजित है। अणु होने के कारण मन एक समय में केवल एक इंद्रिय को ही आत्मा[1] के साथ संयोजित कर सकता है।

प्रमेय

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जो प्रमाण की कोटि में नहीं आता वह प्रमेय वस्तु है। इसलिए आत्मा, शरीर, इंद्रियानुभव के विषय, बुद्धि, मन, शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाएँ, प्रवृत्ति, निवृत्ति, पुनर्जन्म[2], कर्मफल के रूपों में सुख और दुःख तथा मोक्ष सभी प्रमेय हैं। वैशेषिक मत के समान न्यायदर्शन में भी प्रमेय शब्द का अर्थ सीमित रूप में केवल पांचभौतिक लोक ही माना जाता है। इस पांचभौतिक लोक की रचना शाश्वत, अपरिवर्तनशील एवं कारणरहित परमाणुओं से होती है और इसका अस्तित्व विज्ञान (Thought) लोक से स्वतंत्र होता है।

प्रमाण

न्याय मत के अनुसार प्रमाणों की संख्या चार है—१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान और ४ शब्द।

प्रमाण रूप में 'प्रत्यक्ष' का अर्थ ज्ञेय वस्तु के साथ तत्संबंधी इंद्रिय का सन्निकर्ष मात्र है। इस प्रमाण से प्राप्त ज्ञान शब्दाभिव्यक्तिहीन[3] (अव्यपदेश्य) भ्रान्तिहीन (अव्यभिचारी) तथा सुलक्षित (व्यवसायात्मक) होता है।

प्रमाण रूप में अनुमान प्रत्यक्ष-प्रमाण पर आधारित है। इन्द्रियों का सन्निकर्ष जिस वस्तु के साथ नहीं है उसको अप्रत्यक्षरूप से प्रत्यक्षगत वस्तु की सहायता से जानना अनुमान है। गौतम के मत के अनुसार प्रत्यक्षगत वस्तु की सहायता से अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान तीन प्रकारों से होता है :—

---

[1] न्या० द० २२१–३ [2] न्या० द० १८
[3] न्या० द० १३

१. पूर्ववत्
२. शेषवत् एवं
३. सामान्यतोदृष्ट

१. प्रत्यक्षरूप कारण से अप्रत्यक्षरूप कार्य का ज्ञान पूर्ववत् अनुमान है, जैसे घने और काले बादलों को आकाश में देखकर हम 'सन्निकट' वर्षा का अनुमान करते हैं।

२. प्रत्यक्षरूप कार्य से अप्रत्यक्षरूप कारण का ज्ञान शेषवत् अनुमान है, जैसे जब हम किसी सरिता में बाढ़ को देखते हैं तो यह अनुमान करते हैं कि नदी की स्रोत भूमि पर विपुल वर्षा हुई होगी।

३. सामान्यतोदृष्ट[1] अनुमान में हम उन दो वस्तुओं में से एक के प्रत्यक्ष से उस दूसरे अप्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान करते हैं जिनके अनिवार्य रूप साहचर्य को हम पहले से जानते हैं, जैसे कि हम यह सामान्य ज्ञान के आधार पर जानते हैं कि जिस पशु के सींग होते हैं उसके पूंछ भी होती है। इसलिए जब हम किसी पशु का सींगों से युक्त शिर देखते हैं तो हम उसकी पूंछ के अस्तित्व का भी अनुमान कर लेते हैं। सामान्यतोदृष्ट अनुमान का जो दृष्टान्त गौतम ने दिया है वह इससे भिन्न है और इस प्रकार है :—

हम यह अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर जानते हैं कि एक भौतिक पदार्थ का स्थान परिवर्तन केवल गति के अनन्तर ही होता है। इसलिए जब हम सूर्य को आकाश में विभिन्न स्थानों पर प्रत्यक्ष देखते हैं तो सूर्य की अप्रत्यक्ष गति का अनुमान करते हैं। परन्तु हमने एक दूसरा दृष्टान्त यह स्पष्ट करने के लिए दिया है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान का आधार पूर्ववत् और शेषवत् के समान कार्य-कारण का संबंध नहीं है। इसका आधार हमारे अनुभव की समरूपता है।

व्यभिचारी ज्ञान

गौतम ने जो प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा दी है उसमें उसका विशेष लक्षण अव्यभिचारी होना बताया है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा की व्याख्या करते समय वात्स्यायन ने न्याय मत के अनुसार 'व्यभिचारी ज्ञान' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। व्यभिचारी ज्ञान का अर्थ है[2] 'किसी ज्ञेय वस्तु को वह समझना जो वह नहीं है'। जैसे जो 'अ' नहीं है उसको 'अ' मान लेना

[1] न्या० द० १५ [2] न्या० द० १४

व्यभिचारी ज्ञान है। उदाहरण के लिए जब किसी मरुथल के रेत पर ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की अत्युष्ण किरणें पड़ती हैं और मरुभूमि के तप्त रेत से उष्णता निकल कर कम्पायमान होती है उस समय यदि कोई दर्शक कुछ दूर से उसको देखे तो उसको प्रत्यक्ष रूप से जल दिखाई देगा। यह प्रत्यक्ष मिथ्या प्रतीति है क्योंकि इस प्रत्यक्ष में दर्शक उस वस्तु का प्रत्यक्ष करता है जिसका अस्तित्व नहीं है।

इस मिथ्या ज्ञान के कारणों को निम्नलिखित रूप में कहा जा सकता है :—

प्रत्येक प्रत्यक्ष में निम्नांकित बातें होती हैं :—

(१) ज्ञेय वस्तु। (२) बाह्य माध्यम, जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश। (३) इन्द्रियाँ—जो वस्तु का प्रत्यक्ष करती हैं। (४) मन तथा (५) प्रमाता अथवा आत्मा। इनमें से यदि एक भी तत्त्व ठीक रूप से क्रियाशील नहीं है या किसी भी रूप में सदोष है तो मिथ्या प्रतीति अथवा व्यभिचारी ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञेय वस्तु में दोष यह हो सकता है कि किसी दूसरी वस्तु के साथ उसकी समानता घनिष्ठ रूप से है। उदाहरण के लिए मरीचिका, क्योंकि जल के साथ इसकी अत्यन्त समानता होती है अतः वह जल की प्रतीति उत्पन्न करती है। अथवा शुक्ति, क्योंकि इसकी चमक चाँदी के ही समान होती है इसलिए उसको चाँदी ही मान लिया जाता है। वातावरण अथवा ज्ञान के माध्यम में दोष इस प्रकार का होता है जैसे दृष्टिगत प्रत्यक्ष में प्रकाश की मन्दता जिसके कारण हम ज्ञेय वस्तु को स्पष्ट देख ही नहीं सकते। प्रकाश की मन्दता के कारण सूखे वृक्ष का तना मनुष्य की आकृति का 'प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है। इन्द्रियदोष रोग के कारण होता है। पाण्डु रोग से पीड़ित व्यक्ति को श्वेत शंख भी पीत दिखाई पड़ता है। मन में दोष यह हो सकता है कि उसमें कुछ विचार दृढ़ रूप से ही वर्तमान हों—जैसे अगर किसी मेले की भीड़ में हमारा साथी खो गया हो और हम उसको ढूंढ रहे हों तो किसी दूसरे व्यक्ति को भी जिसमें अपने साथी की कुछ भी समानता है अपना खोया हुआ साथी ही मान लेते हैं क्योंकि हमारे मन में पहले से ही अपने साथी की आकृति, रूप, वेशभूषा आदि के विचार दृढ़ रूप से वर्तमान होते हैं। प्रमाता में दोष यह हो सकता है कि वह किसी भाव से अन्यन्त प्रभावित हो। इस प्रकार से हम यह पाते हैं कि कालिदास रचित मेघदूत में यक्ष जड़रूप बादल को प्राणवन्त समझ कर यह मान लेता है कि वह उसकी प्रेयसी के निकट उसका सन्देश ले जा सकेगा।

मिथ्याज्ञान अथवा भ्रान्ति प्रमातागत होती है। ज्ञेय वस्तु में वह वर्तमान

नहीं होती। क्योंकि जिस समय कोई ज्ञाता किसी वस्तु को कोई अन्य वस्तु मान लेता है तब भी वह वस्तु वैसी ही बनी रहती है जैसी कि वह है। सूर्य की अत्युष्ण तरंगायित किरणें जो दर्शक को जल की तरंगों के रूप में दिखाई देती हैं उस समय भी अत्युष्ण किरणें ही रहती हैं जब उनको जल समझा जाता है। और यह मिथ्या प्रतीति तभी तक स्थायी रहती[1] है जब तक कि यथार्थ ज्ञान उसको नष्ट नहीं कर देता। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति शुक्ति को चाँदी मान लेता है और उसको उठाने चलता है तो मिथ्या प्रतीति तभी तक रहती है जब तक कि वह शुक्ति के इतने निकट नहीं आ जाता कि ज्ञेय वस्तु का यथार्थ स्वरूप उसको दृष्टि में स्पष्ट हो उठे और वह जान ले कि जिस प्रयोजन को मन में लेकर वह उसकी ओर गया था उसकी सिद्धि उस निकटस्थ वस्तु से नहीं हो सकती। इस प्रकार से मिथ्या ज्ञान उसी समय मिथ्या ज्ञान होता है जब कि कम से कम प्रमाता को यह ज्ञान हो जाता है कि उसको मिथ्या ज्ञान हुआ है। क्योंकि यदि पहले ही से उसको ज्ञेय वस्तु के ज्ञान के मिथ्यात्व का ज्ञान होता तो वह उसकी ओर क्रियाशील न होता। व्यवहारिक अथवा उपयोगवादी दृष्टिकोण से वह क्रियाशीलता उत्पन्न होती है जो व्यभिचारी ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान को नष्ट कर देती है।

मिथ्या ज्ञान अथवा भ्रान्ति के विषय में न्याय के इस सिद्धान्त को अन्यथाख्याति कहते हैं। यह सिद्धान्त (१) योगाचार मत के ज्ञानाकार ख्याति, (२) माध्यमिक मत के असत्ख्याति, (३) अद्वैत वेदान्त के अनिर्वचनीय ख्याति, (४) प्रभाकर मत के विवेकाख्याति के सिद्धान्तों से भिन्न है। वस्तुतः न्यायदर्शन के प्रामाणिक सिद्धान्त-प्रणेताओं ने मिथ्या ज्ञान के विषय में अन्य सिद्धान्तों का खण्डन किया है। मिथ्या ज्ञान के संबंध में न्याय का सिद्धान्त तर्कसंगत है और मूल तत्त्व ज्ञान संबंधी (Metaphysical) पक्षपातों से सर्वथा मुक्त है।

संशय

ऐसी बहुत सी परिस्थितियाँ हैं जिनमें संशय उत्पन्न होता है। लेकिन हमारे प्रयोजन के लिए केवल एक ही आवश्यक परिस्थिति है। उसका उल्लेख हम निम्न रूप में कर सकते हैं :—

एक व्यक्ति किसी वस्तु में कुछ ऐसे गुणों को देखता है जो अन्य वस्तुओं में भी पाये जोते हैं। इसलिए उसके अन्तःकरण में उस वस्तु के प्रत्यक्ष के समय

---

[1] न्या० द० २९०

समान गुण वाली प्रत्यक्ष रूप में देखी गई दो वस्तुओं के चित्रों का उदय हो जाता है। वह व्यक्ति यह निर्णय नहीं कर पाता कि ज्ञानप्रेरक वस्तु उन दोनों में से कौन सी है। उसके अन्तःकरण की निर्णय शक्ति दो वस्तुओं के चित्रों के बीच अस्थिर रहती है। बुद्धि की इस अस्थिरता को ही संशय कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा

भारतवर्ष के सभी दार्शनिक मतों ने प्रत्यभिज्ञा को स्वीकार किया है जिसका स्वरूप इस प्रकार का ज्ञान है "यह वही व्यक्ति है जिसको मैंने पहले देखा था।" परन्तु उसके स्वभाव के विषय में मतभेद है। कोई उसको एकज्ञान स्वरूप और कोई उसको अनेक ज्ञानों का मिश्रण मानते हैं। बौद्ध मत के अनुयायी इसको विद्यमान काल के प्रत्यक्ष एवं भूतकाल के प्रत्यक्ष से उत्पन्न संस्कार के बुद्धिगत चित्र का एक सम्मिश्रण मात्र मानते हैं। प्रभाकर के मतानुयायी प्रत्यभिज्ञा को एकरूप ज्ञान मानते हैं जो आंशिक रूप में प्रत्यक्ष और आंशिक रूप में स्मृतिजन्य होता है। न्याय मत के अनुयायी इन दोनों सिद्धान्तों का खण्डन निम्न रूप में करते हैं :—

यह मत कि प्रत्यभिज्ञा विद्यमानकाल के प्रत्यक्ष एवं भूतकाल के प्रत्यक्ष के संस्कार के बुद्धिगत चित्र का एक सम्मिश्रण मात्र है उचित नहीं है। क्योंकि न तो इस प्रकार के ज्ञान का कारण केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष मात्र है, क्योंकि अतीत-कालगत वस्तु के साथ ऐन्द्रिय सन्निकर्ष संभव नहीं हो सकता, और न तो यह ज्ञान संस्कार मात्र ही से उत्पन्न होता है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में 'इदन्ता' का ज्ञान वर्तमान रहता है। वर्तमानकालीन प्रत्यक्ष तथा भूतकालीन प्रत्यक्ष के संस्कार इन दोनों के सहयोग से इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इन दोनों में से प्रत्येक पृथक् रूप में क्रियाशील होता है और भिन्न रूप के ज्ञान को उत्पन्न करता है।

अतएव न्यायदर्शन के अनुयायी यह मानते हैं कि प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार का विशिष्ट प्रत्यक्ष है। इससे हमको अतीतविशिष्ट वर्तमान का ज्ञान होता है। जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि यह वही वस्तु है जिसका प्रत्यक्ष हमने पहले कभी किया था और हम इन दोनों मनोगत-चित्रों को उसी प्रकार से संबंधित कर लेते हैं जैसे घट के प्रत्यक्ष से काले रंग के प्रत्यक्ष को संबंधित कर काले घट का प्रत्यक्ष करते हैं तब प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान उत्पन्न होता है।

श्री शंकुक ने अपने रसानुभव के सिद्धान्त के प्रतिपादन में जिस प्राच्य न्याय की विधियों का उपयोग किया है उसके आवश्यकीय अंश का उल्लेख करने के पश्चात् अब हम उनके रस सिद्धान्त की व्याख्या करना आरम्भ करेंगे।

अप्रत्यक्ष यथार्थ के अनुकरण रूप प्रदर्शन के प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान प्रमाण से ज्ञात स्थायीभाव को रस केवल इसीलिए कहा जाता है क्योंकि वह एक अनुकृति स्वरूप होता है।

स्थायीभाव को अनुमान प्रमाण से जानने के लिए उन्होंने प्राच्य न्याय मत के अनुसार प्रतिपादित अनुमान विधि का उपयोग किया है। हम यह कह आए हैं कि न्यायदर्शन के अनुसार अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है—(१) कार्य से कारण का अनुमान (पूर्ववत्), (२) कारण से कार्य का अनुमान (शेषवत्) एवं (३) दो परस्पर सर्वदा सम्बन्धित वस्तुओं में से एक के प्रत्यक्ष से दूसरी का अनुमान (सामान्यतोदृष्ट)। इसलिए श्री शंकुक यह स्वीकार करते हैं कि स्थायीभाव का ज्ञान अनुमान प्रमाण से तभी उत्पन्न होता है जब उसके रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित निम्नलिखित तीन हेतुओं का प्रत्यक्ष बोध हो जाता है :—

१. विभाव[1]—स्थायीभाव का कारण।

२. अनुभाव (सात्विकभाव)—स्थायीभाव के कार्य।

३. व्यभिचारीभाव—स्थायीभाव के अनिवार्य सहचारी।

अनुमान प्रमाण की आवश्यकता

श्री शंकुक के इस मत के अनुसार 'रस' स्थायीभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु अनुकृतिमूलक कला रस को प्रत्यक्षतः[2] प्रदर्शित नहीं कर सकती। अनुकृतिमूलक कला दो साधनों से प्रदर्शनीय कलाकृति की रचना करती है।

१. काव्य की भाषा विभाव को प्रदर्शित करने का प्रधान साधन है। रंगमंच पर विभावों का प्रदर्शन दृश्यों के चित्रों में पूर्णतया नहीं किया जा सकता। चित्ररूप दृश्यों की अपेक्षा काव्य अधिक सफलता पूर्वक विभावों को प्रकट करता है।

२. अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों को प्रदर्शित करने के लिए अभिनेता का शारीरिक-मानसिक प्रशिक्षण साधन है। इस प्रशिक्षण की सहायता से स्थायी

---

[1] अभि० भा० भाग० १–२७४ [2] अभि० भा० भाग १–२७५

भाव से जनित अनुभाव एवं उसके अनिवार्य सहचारी व्यभिचारी भावों को प्रकट किया जाता है। स्थायी भाव को शब्दों तक से प्रकट नहीं किया जा सकता। इसलिए इसको जानने के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार से श्री शंकुक के मत से स्थायीभाव को केवल अनुमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है। परन्तु इस अनुमान को मिथ्या प्रतीति इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि अनुकर्ता अभिनेता में इसका अस्तित्व नहीं होता। तो भी रस का अनुभव उसी प्रकार से सम्भव होता है जैसे रस्सी को सर्प समझने से भय उत्पन्न होता है।

रस सूत्र में 'स्थायिन्' शब्द के अप्रयोग का कारण

जैसा कि हम कह चुके हैं श्री शंकुक के मत के अनुसार स्थायी भाव को केवल अनुमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है। श्री शंकुक यह विश्वास करते थे कि उनके मत को भरतमुनि की भी सहमति है। क्योंकि भरतमुनि ने अपने रससूत्र में अत्यावश्यक होने पर भी 'स्थायिन्' शब्द का प्रयोग केवल इसलिए नहीं किया है क्योंकि रस उस स्थायी भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसका अनुमान विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के प्रत्यक्ष के आधार पर किया जाता है। वे भरतमुनि के रसपरिभाषा विषयक सूत्र की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं—विभावादि के प्रत्यक्ष से अनुमानित स्थायी भाव ही रस है। (विभावानुभावव्यभिचारिभ्यः स्थायिनः संयोगात्-अनुमानात् रसस्य निष्पत्तिः-अनुमानजन्या प्रतीतिः)। समास के विग्रह से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि भरतमुनि ने 'स्थायी' शब्द का प्रयोग किया होता तो 'विभावादि' शब्दों में जो विभक्ति है उससे भिन्न विभक्ति का प्रयोग इस शब्द में किया जाता। क्योंकि विभावादि में पंचमी विभक्ति होने पर 'स्थायिन्' में षष्ठी का प्रयोग करना आवश्यक था। पृथक् विभक्ति[1] में 'स्थायिन्' शब्द का आवश्यक प्रयोग तो दूर, भरतमुनि ने इस शब्द का प्रयोग ही नहीं किया। इस शब्द के न प्रयोग करने का कारण कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका आशय यह है कि भरतमुनि के मतानुसार दर्शक के अन्तःकरण में स्थायी भाव के बोध का रूप विभावादिकों के बोध के रूप से भिन्न होता है—विभावादि का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है लेकिन स्थायी भाव को केवल अनुमान प्रमाण से ही जानते हैं।

---

[1] अभि० भा० भाग १–२७५

अनुमानजन्य प्रतीति का स्वरूप

अनुमान प्रमाण से स्थायी भाव की प्रतीति संभव होती है। इसलिए इस प्रतीति में अनुमेय वस्तु का स्थान और अनुमेय वस्तु दोनों ही चित्त में प्रतिबिंबित होते हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रतीति प्रत्यभिज्ञारूपिणी होती है। अतएव स्वाभाविक रूप से अनुकारी अभिनेता एवं मूल अनुकार्य व्यक्ति दोनों ही इसमें वर्तमान रहते हैं। रंगमंच पर अनुकृत प्रदर्शन के प्रत्यक्ष से जिस 'रति' स्थायी भाव की अनुमान जन्य प्रतीति होती है उसका रूप यह होता है 'वह सुखी व्यक्ति (राम) यह है।'

हम गत उपप्रकरण में प्रत्यभिज्ञा के विषय में न्यायदर्शन के मत की व्याख्या स्पष्ट रूप से कर चुके हैं। यह विशिष्ट प्रत्यक्ष है। इसमें दो मानसिक चित्रों को परस्पर संबंधित किया जाता है। रसानुभव के संबंध में जिन दो मानसिक चित्रों का परस्पर सम्बन्ध होता है वे इस प्रकार हैं—(१) रंगमंच के प्रदर्शन से उत्प्रेरित मानसिक चित्र तथा (२) दर्शक निर्मित वह मानसिक चित्र जिसकी रचना उसने रंगमंच पर कलापूर्ण ढंग से प्रदर्शित नायक के विषय में सुन कर अथवा पढ़ कर की थी। इन दोनों मानसिक चित्रों का परस्पर सम्बन्ध होता है और अन्तःकरण में द्वितीय चित्र प्रथम चित्र के विशेषण के रूप में भात होता है। इसलिए इस विशिष्ट प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है—'यह वह सुखी राम' है।

कला सम्बन्धी प्रत्यभिज्ञा की वर्गीकरणीयता का असंभव

लेकिन[1] सामान्यरूप से प्रत्यभिज्ञा में निश्चितरूपता अथवा सन्देहहीनता का अंश अवश्य वर्तमान रहता है। यह ऐसा निश्चितरूप ज्ञान है जो किसी एक वस्तु के प्रत्यभिज्ञान को अनेक वस्तुओं में होने से रोकता है। यदि किसी ने 'अ' में 'स' को पहचाना है तो 'स' का 'ब' में पहचानना असंभव है। क्योंकि यदि 'स' 'ब' में पहचाना जाता है तो 'अ' में 'स' की प्रत्यभिज्ञा मिथ्याज्ञान हो जाएगी। परन्तु कला के क्षेत्र में अनुकरण सिद्धान्त के प्रतिष्ठापकों के मतानुसार वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक सफल अनुकरण में अनुकरणीय का प्रत्यभिज्ञान होता है। इसलिए कला के लोक में प्रत्यभिज्ञारूप जो ज्ञान होता है उसमें सन्देहहीनता का वह अंश वर्तमान नहीं होता जो अनुकरणीय मूल व्यक्ति के प्रत्यभिज्ञान को सभी सफल अनुकृतियों के प्रदर्शन में होने से रोक सके।

---

[1] अभि० भा० भाग १–२७५

कला के क्षेत्र में प्रत्यभिज्ञा मिथ्या प्रतीति नहीं है

प्राच्य न्याय मत के अनुसार 'मिथ्या ज्ञान' की व्याख्या करते हुए हमने निम्नलिखित बातों को स्पष्ट किया था—

१. मिथ्या प्रतीति के उत्पन्न होने का कारण ज्ञेय वस्तु का सदोष होना है (जैसे अन्य किसी वस्तु के साथ उसकी अत्यन्त समता)।

२. प्रत्यक्ष गत वस्तु को वह वस्तु समझना जो वह नहीं है मिथ्या ज्ञान है।

३. मिथ्या ज्ञान का निवास प्रमेयवस्तु में न होकर प्रमाता की मानसिक दशा में होता है।

४. मिथ्या ज्ञानी के दृष्टिकोण से मिथ्याज्ञान उसी समय मिथ्याज्ञान है जब मिथ्याज्ञानी को उस मिथ्याज्ञात वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

५. व्यवहारिक अथवा उपयोगवादी दृष्टिकोण इस मिथ्याज्ञान को नष्ट कर देता है।

यदि हम उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखें तो हमको यह स्पष्टरूप से ज्ञात हो सकता है कि श्री शंकुक प्रत्यभिज्ञारूप रस प्रतीति को मिथ्याज्ञान क्यों नहीं मानते हैं। उनका प्रयोजन रसानुभव के तात्त्विक स्वरूप का वर्णन करना है। इसलिए वे रसोत्पादक मानसिक प्रक्रिया की विशद व्याख्या ही में अपनी लेखनी के उपयोग को सीमित रखते हैं। रंगमंच के प्रदर्शन के प्रति एक असहृदय व्यक्ति का जो दृष्टिकोण होता है उससे उनका कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार से श्री शंकुक का मत यह है कि दर्शक जब रंगशाला में जाता है तो यदि उसका नायक ऐतिहासिक व्यक्ति है तो उसका मानसिक चित्र दर्शक के अन्तःकरण में होता है और यदि शूद्रककृत मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त के समान नायक नाटककार की कल्पना से उद्भूत हुआ है तो नाटक की प्रस्तावना में वर्णित नायक का मानसिक चित्र दर्शक के अन्तःकरण में बन जाता है। जब नायक रंगमंच पर प्रवेश करता है तो दर्शक उसको अभिनेता न मानकर ऐतिहासिक अथवा कल्पना प्रसूत व्यक्ति मान लेता है क्योंकि दर्शक के अन्तःकरणगत नायक के मानसिक चित्र की नाट्य प्रदर्शनगत नायक के चित्र के साथ घनिष्ट समता होती है।

परन्तु दर्शक का दृष्टिकोण व्यवहारिक नहीं होता—इसके प्रतिकूल वह सहृदयीय होता है। उसकी मानसिक सक्रियता उसे शारीरिक सक्रियता की ओर प्रवृत्त नहीं करती है। वह वस्तुस्थितियों की परीक्षा नहीं करता। प्रदर्शन के साथ में वह अपना कोई व्यवहारिक संबंध स्थापित नहीं करता। इसलिए

मिथ्या प्रतीति होते हुए भी उसको मिथ्या प्रतीति नहीं होती, क्योंकि सहृदय दर्शक के रूप में उसको कोई ऐसा परवर्ती ज्ञान नहीं होता जो उसकी पूर्वप्रतीति को खण्डित कर दे। एक असहृदय व्यक्ति के दृष्टिकोण से उसकी (सहृदय प्रेक्षक की) प्रत्यभिज्ञा रूप प्रतीति मिथ्या ज्ञान हो सकती है, परन्तु उसके दृष्टिकोण से अवश्य ही वह मिथ्या नहीं होती, क्योंकि वह किसी व्यावहारिक प्रयोजन को सिद्ध नहीं करना चाहता है। इसलिए श्री शंकुक यह मानते हैं कि रस की प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतीति मिथ्या ज्ञानरूप नहीं होती है।

रसानुभव एवं संशयात्मक ज्ञान

हम यह कह चुके हैं कि संशयात्मक ज्ञान की मुख्य विशेषता यह है कि ज्ञाता की बुद्धि दो मानसिक चित्रों के बीच एकपर स्थिर नहीं हो पाती। एक मानसिक चित्र प्रत्यक्षगत वस्तु से उत्प्रेरित होता है और दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण की परिस्थिति के दोष से जैसे प्रकाश की मन्दता आदि के कारण इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि प्रत्यक्षगत वस्तु के साथ उसकी समानता अत्यन्त घनिष्ठ रूप से होती है। रसात्मक प्रत्यभिज्ञा प्रतीति में क्योंकि दो मानसिक चित्रों के बीच कोई बुद्धि की अस्थिरता नहीं होती वरन् दो मानसिक चित्र परस्पर संबंधित होते हैं इसलिए रस के प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान को संशय की कोटि में भी रखा नहीं जा सकता।

रस-प्रतीति और उपमानजन्य ज्ञान

उपमान प्रमाण से जो ज्ञान ज्ञाता को होता है उसमें दर्शक के अन्तःकरण में दो स्पष्ट मानसिक चित्र उत्पन्न होते हैं—(१) उपमानगत चित्र एवं (२) उपमेयगत चित्र। क्योंकि रस संबंधी प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान में दोनों मानसिक चित्र पृथक् रूप में वर्तमान नहीं रहते वरन् गुण और द्रव्य की भांति परस्पर संबंधित हो जाते हैं इसलिए रस प्रतीति को उपमान प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान भी नहीं माना जा सकता है।

रस-सिद्धान्त पर चित्रकला का प्रभाव

यह ज्ञात होता है कि जिस समय में श्री शंकुक भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की व्याख्या लिख रहे थे उस समय चित्रों से उद्भूत अनुभव के विषय में एकमत प्रतिष्ठित हो चुका था। क्योंकि नाट्यप्रदर्शन से प्राप्त अनुभव के स्वरूप

को स्पष्ट करने के लिए वे किसी कुशल चित्रकार से अंकित अश्व के चित्र से प्राप्त अनुभव के उपमान का उल्लेख करते हैं। अति प्रसिद्ध वस्तु को ही उपमान के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। चित्रांकित अश्व के उपमान से यह सिद्ध होता है कि रसानुभव अपने में उन सभी प्रकार के अनुभवों से विलक्षण हैं जिनका प्रतिपादन न्यायदर्शन में किया गया है। न्यायदर्शन में सामान्य रूप से प्राप्त होने वाले ज्ञान की व्याख्या है। रस प्रतीति एक प्रकार का विलक्षण प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान है जिसको सत्य, मिथ्या तथा संशयात्मक ज्ञान की कोटियों में रखा नहीं जा सकता। रस की यह प्रतीति किसी रंगमंच पर प्रदर्शित व्यक्ति के साथ किसी प्रसिद्ध रूप से ज्ञात ऐतिहासिक व्यक्ति की समानता का ज्ञान भी नहीं है वरन् रसास्वाद में उन दो मानसिक चित्रों का संबंध होता है जिनमें से एक दर्शक के अन्तःकरण में पूर्वकाल से वर्तमान रहता है और दूसरा नाट्य प्रदर्शन से उद्भूत होता है। इस संबंध से जो प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतीति होती है उससे रसात्मक तुष्टि उत्पन्न होती है। इसलिए श्री शंकुक यह स्वीकार करते हैं कि रसास्वाद जनक प्रत्यभिज्ञा परस्पर विरोधी स्वभाव के अनुभवों का विपुलप्रवाह है जिसके स्वरूप के विषय में कोई प्रश्न उठाया नहीं जा सकता। यह एक विलक्षण प्रतीति है। जिस प्रकार से एक पूर्वदृष्ट अश्व के चित्र अथवा मूर्ति को देखकर हमको उस अश्व का अनुभव होता है ठीक उसी प्रकार से नाट्य में अनुकृत व्यक्ति के दर्शन से अनुकार्य का अनुभव होता है।

इस रस सिद्धान्त की देन

१. रसानुभव की कोई परिभाषा संभव नहीं है।
२. भाषा में स्थायी भाव को प्रकट नहीं किया जा सकता।
३. रसानुभव में परस्पर विरोधी अनुभवों के सद्भाव का सिद्धान्त।

इस रस सिद्धान्त की समीक्षा

यदि स्थायी भाव का ज्ञान हमको अनुमान प्रमाण से ही होता है, अर्थात् यदि रस के अनुभव का कारण उस अनुकृत स्थायी भाव का विषयरूप ज्ञान मान लिया जावे जिसका अनुमान अनुकृत विभावादि से तीन प्रकार की युक्तियों के साधन से किया जाता है तो कला के विषय में अनुकृति सिद्धान्त तथा अनुमान सिद्धान्त को एक साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता।

योरुप के स्वतंत्र कला शास्त्र के कुछ शास्त्रकारों ने कला के अनुकृति सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इस पाश्चात्य दृष्टिकोण का विशद उल्लेख हम इस ग्रंथ के दूसरे भाग में करेंगे। ग्रंथ के इस भाग में हम केवल श्री शंकुक के मत की ही व्याख्या करेंगे। श्री शंकुक ने कला विषयक अनुकृति के सिद्धान्त की स्थापना जब की तो कुछ ही समय के बाद इसका खण्डन अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के गुरू भट्टेन्दुराज एवं भट्ट तौत ने किया था। अभिनवगुप्त के ये गुरू संभवतः श्री शंकुक के कनिष्ठ समकालीन थे। क्योंकि अभिनवगुप्त ने यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि उनके गुरुवों[1] ने श्री शंकुक के इस मत का खण्डन किया था। इस खण्डन को संक्षेप रूप में इस प्रकार से कहा जा सकता है :—

आलोचकों[2] ने मुख्य रूप से दृष्टिकोण विषयक प्रश्न उठाया। उन्होंने यह प्रश्न किया किसके दृष्टिकोण से कला अनुकृति है? क्या (१) दर्शक या (२) अभिनेता या (३) उस निष्पक्ष विश्लेषणकर्ता के दृष्टिकोण से कला अनुकृति है जो नाट्यप्रदर्शन के स्वरूप को तत्त्वतः जानना चाहता है? अथवा (४) इस मत का प्रतिपादन भरतमुनि ने क्या कहीं पर अपने नाट्यशास्त्र में किया है? इस प्रसङ्ग में हमको यह याद रखना चाहिए कि श्री शंकुक के अनुकृति सिद्धान्त का संबंध केवल स्थायी भाव से ही है।

(१) दर्शक के दृष्टिकोण से अनुकृति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसका प्रथम कारण यह है कि अनुकरण की प्रतीति तभी हो सकती है जब उस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जिसको अनुकृत कहा जाता है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति एक विशेष प्रकार से दूध पीता हुआ यह कहता है कि इस प्रकार से अमुक व्यक्ति मदिरा पीता है तो दर्शक उसके दूध पीने को, जिसको वह प्रत्यक्ष देखता है, अमुक व्यक्ति के मदिरापान की अनुकृति मान लेता है। परंतु नाट्य प्रदर्शन के संबंध में अनुकर्ता अभिनेता में कौन सी ऐसी वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शक को होता है जिसको स्थायी भाव की अनुकृति कहा जा सके? जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है वह अभिनेता का शरीर, प्रदर्शित अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा धारण किए हुए वस्त्रादि ही होते हैं। परन्तु यह तो कोई भी स्वीकार नहीं करेगा कि ये सब स्थायी भाव के अनुकरण हैं क्योंकि दोनों में स्वरूपभेद है। प्रत्यक्षगत वस्तुएं भौतिक हैं जब कि स्थायी भाव मूल रूप से मानसिक है। उनको जानने के साधन भी भिन्न-भिन्न हैं—भौतिक वस्तुओं

[1] अभि० भा० भाग १–२७५ [2] अभि० भा० भाग १–२७५–७६

का ज्ञान हम नेत्रों से करते हैं जब कि स्थायी भाव की प्रतीति हमको अन्तःकरण अथवा बुद्धि से होती है।

दर्शक के दृष्टिकोण से अनुकरण के सिद्धान्त को स्वीकार न करने का दूसरा कारण यह है कि अनुकरण का ज्ञान बिना अनुकार्य तथा अनुकृति के प्रत्यक्ष ज्ञान के नहीं हो सकता। लेकिन दर्शक अनुकार्य ऐतिहासिक मूल व्यक्ति के स्थायी भाव को नहीं जान सकता है क्योंकि उसका अस्तित्व सुदूर अतीत में होता है। और अगर यह मान लें कि साहित्य से स्थायी भाव का ज्ञान होता है तो जैसा कि हम पहले कह आए हैं—श्री शंकुक स्वयं यह मानते हैं कि भाषा किसी अत्यंत साधारण स्थायी भाव को ही वाच्यार्थ के रूप में प्रकट कर सकती है—उत्कृष्टरूप स्थायी भाव को भाषा कभी भी प्रकट नहीं कर सकती।

(२) उपर्युक्त दूसरी युक्ति से इस प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है कि क्या अभिनेता अनुकरण करता है? क्योंकि अनुकरण की प्रतीति के लिए जैसे दर्शक के लिए यह आवश्यक होता है कि उसको अनुकार्य का ज्ञान हो वैसे ही अभिनेता के लिए भी अनुकरण करने के लिए अनुकार्य का ज्ञान अपेक्षित होता है। परन्तु जिन कारणों से दर्शक को उसका ज्ञान नहीं हो सकता है उन्हीं कारणों से अभिनेता को भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता है।

अनुकरण की प्रतीति के लिए जिन बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है यदि उन पर ध्यान न देकर हम नाट्य प्रदर्शन से उद्भूत स्थायी भाव की दर्शकगत प्रतीति का विश्लेषण करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि दर्शक को अनुकृत स्थायी भाव की प्रतीति नहीं वरन् मूल (सत्य) स्थायी भाव की प्रतीति होती है। क्योंकि यदि हम स्थायी भाव को पूर्ववत्, शेषवत् अथवा सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ज्ञात मान लें तो अनुमानित स्थायीभाव अनुकृत स्थायीभाव न होकर मूल यथार्थरूप स्थायीभाव होगा।

इस प्रसंग में यह नहीं कहा जा सकता कि मूल ऐतिहासिक अनुकार्य व्यक्ति के संबंध में तो विभावादि यथार्थ रूप होते हैं। पर रंगमंचस्थ नायक के संबंध में वे विभावादि कलाकृत होते हैं। इसलिए उन विभावादि से अनुमानित स्थायी भाव भी यथार्थ की कलाकृत अनुकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है। क्योंकि ऐसी दशा में अनुकरण के सिद्धान्त के प्रतिपादकों से यह प्रश्न किया जा सकेगा कि रंगमंच पर कलापूर्ण रीति से जिन विभावादि को प्रदर्शित किया जाता है वे दर्शक को सत्य प्रतीत होते हैं या बनावटी लगते हैं? यदि बनावटी रूप में दिखाई देते हैं तो उनसे स्थायी भाव का अनुमान करना

असंभव है। परन्तु यदि वे विभावादि यथार्थ रूप लगते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि अनुमानित स्थायीभाव अनुकरणरूप है।

अनुकरण के सिद्धान्त के अनुयायी निम्नलिखित दृष्टान्त से भी अपने सिद्धांत की पुष्टि नहीं कर सकते—

यह अत्यंत प्रसिद्ध है कि बिच्छुओं की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है। वे केवल गर्भ से ही उत्पन्न नहीं होते वरन् विशेष दशाओं में रखे गए गोवर से भी उनकी उत्पत्ति होती है। इन दोनों प्रकारों के—गर्भजात और गोबरजात बिच्छुओं का कुछ गुणों में भेद होता है। इसलिए केवल निपुण व्यक्ति ही उनको देख कर उनके विभिन्न जन्मस्रोतों को जान सकता है। इस प्रकार से समान रूप दिखाई देने वाले कार्यों से निपुण व्यक्ति विभिन्न कारणों का अनुमान लगा सकते हैं। अतएव उसी प्रकार से रंगमंच पर प्रदर्शित बनावटी (अप्राकृतिक) विभावादि से बनावटी स्थायी भाव का अनुमान करना स्वाभाविक है।

उपर्युक्त युक्ति इस प्रसंग में सर्वथा निस्सार है। दो आपाततः समान रूप कार्यों से विभिन्न कारणों के अनुमानित होने की संभावना को हम वहाँ पर शंका की दृष्टि से नहीं देखते जहाँ पर बिच्छू और गोबर के समान उपादान कारण का कार्य से संबंध यथार्थ रूप से हो। परन्तु जहाँ पर कार्य के समान प्रतीत होने वाली वस्तु का कार्यकारण संबंध उस वस्तु से नहीं होता जो कारण के समान प्रतीत होती है तो अनुमान करना असंभव हो जाता है। दृष्टान्त के लिए जपाकुसुमों का ढेर बहुत कुछ अग्नि के समान दिखाई पड़ता है, और कुहरा बहुत कुछ धूम के समान दिखाई पड़ता है। परन्तु क्या कोई व्यक्ति कुहरे को धूम के समान जानते हुए उसके प्रत्यक्ष के आधार पर जपाकुसुमों के ढेर का अनुमान कर सकता है? अतएव विभावादि के बनावटीपन के प्रत्यक्ष के आधार पर अनुकृत रूप स्थायी भाव का अनुमान करना असंभव है।

(३) नाट्य-प्रदर्शन के निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि में भी स्थायी भाव अनुकृति स्वरूप न होकर विभावादि के प्रति नायक के साथ अपना तादात्म्य करने वाले अभिनेता की तत्सम प्रतिक्रिया है। पारिभाषिक शब्द में इसको 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। विभावादि साधनों द्वारा ऐतिहासिक नायक के साथ तादात्म्य स्थापित करने से 'अनुव्यवसाय' होता है। इसकी विशद व्याख्या हम अभिनवगुप्त के रस सिद्धान्त के प्रसंग में करेंगे।

(४) यह युक्ति[1] निराधार प्रतीत होती है कि भरतमुनि ने स्वयं कला के

---

[1] अभि० भा० भाग १-२७७-८

अनुकरण सिद्धान्त का समर्थन किया है। हमें वर्तमान नाट्यशास्त्र में एक भी ऐसा अंश नहीं प्राप्त हुआ जो प्रकरणानुसार पर्याप्त रूप से अनुकरण के सिद्धान्त का समर्थन करता हो। रस सिद्धान्त के संबंध में जितने भी आवश्यक अंश हैं वे तादात्म्य मूलक प्रतिक्रिया (अनुव्यवसाय) के सिद्धान्त को ही पुष्ट करते हैं। इस प्रकार से श्री शंकुक का यह सिद्धान्त कि रंगमंच पर प्रदर्शित स्थायीभाव अनुकृति स्वरूप है प्रत्येक दृष्टिकोण से दोषयुक्त है।

अनुभवरूप रस की समीक्षा

जिस प्रकार से विषयरूप रस के विषय में श्री शंकुक का सिद्धान्त ग्राह्य नहीं है उसी प्रकार से उस अनुभवरूप रस के विषय में भी[1] जो विषयरूप रस के ज्ञान से उत्पन्न होता है उनका सिद्धान्त युक्ति संगत नहीं है। उनके मत के अनुसार 'रस' एक प्रकार की प्रतीति है जिसे शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया जाता है "वह सुखी राम यह है" एवं जिसका वर्गीकरण ज्ञान की किसी भी प्रसिद्ध कोटि में नहीं किया जा सकता है। पर यह कहना सर्वथा निराधार है। क्योंकि यदि रंगमंच पर प्रदर्शित रामादि की प्रतीति तात्कालिकमात्र है तो यह प्रतीति मिथ्या नहीं है क्योंकि किसी भी परवर्ती ज्ञान से इसका खण्डन नहीं होता है। परन्तु यदि किसी भी परवर्ती ज्ञान से इसका खण्डन हो जाता है तो यह अवश्य ही मिथ्या प्रतीति है। और यदि परवर्ती ज्ञान इसको मिथ्या प्रमाणित न भी करे तो भी यह तत्वतः मिथ्या ज्ञान ही होगा। अतएव उपर्युक्त कथन के अनुसार यह प्रतीति विलक्षण ज्ञान नहीं हो सकती—क्योंकि इस प्रकार का कोई विलक्षण ज्ञान नहीं होता।

स्थायी भाव के अनुकृतिसिद्धान्त को खण्डित करने वाली युक्तियों का सारांश

श्री शंकुक के रस सिद्धान्त का सारतत्त्व यह है—वह नाटकीय अभिनेता जो राम के समान किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का अभिनय करता है, स्थायी भाव का अनुकरण करता है। रंग मंच पर प्रदर्शित स्थायी यथार्थ (सत्य) नहीं अपितु अनुकृति रूप होता है। इस कारण ही इसको 'रस' कहा जाता है। उनके मत के अनुसार रस तथा स्थायी भाव में भेद यह है कि रस केवल अनुकृति रूप स्थायीभाव है जब कि यथार्थ स्थायी भाव वास्तविक होता है—अनुकृति रूप नहीं होता।

---

[1] अभि० भा० भाग १–२७८

इस मत के विरोध में युक्ति यह है कि अनुकृति के दो विशेष लक्षण होते हैं (१) अनुकृत मूल व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान के विना यह संभव नहीं है और (२) अनुकरण में मूल वस्तु को ऐसे माध्यम में प्रदर्शित किया जाता है जो उसके उपादान कारण से भिन्न होता है। क्योंकि मूल ऐतिहासिक व्यक्ति सुदूर अतीत में होता है इसीलिये अभिनेता उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है और इसीलिए मूल व्यक्ति के अन्तर्गत स्थायी भाव के अनुकरण की बात तो दूर उस व्यक्ति के शारीरिक अंशों का भी अनुकरण नहीं किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि विभाव अनुभाव आदि के रूपों में स्थायी भाव का अनुकरण किया जाता है तो वह भी युक्तिसंगत नहीं है—क्योंकि विभावादि एवं स्थायी भाव दो भिन्न प्रकार के ज्ञानोपायों से जाने जाते हैं—विभावादि प्रत्यक्ष प्रमाण से जाने जाते हैं परन्तु स्थायी भाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। परन्तु यदि यह कहा जाय कि अभिनेता नाटककार से काव्यरूप में वर्णित नायक का एक मानसिक चित्र उसके वर्णन की सहायता से रच लेता है और उस (मानसिक चित्र) के साथ अपना कल्पित तादात्म्य स्थापित कर यथार्थरूप रत्यादि स्थायि भाव को अपने में जागृत करता है, तो उसकी इस मानसिक दशा को 'अनुकरण' न कह कर 'अनुव्यवसाय' (तादात्म्य से उद्भूत क्रिया) ही कहेंगें क्योंकि इस प्रसंग में (उपादान कारणों) माध्यमों की भिन्नता नहीं होती और अभिनेता के अन्तःकरण में किसी स्पष्टरूप अनुकार्य वस्तु का मानसिक चित्र भी वर्तमान नहीं होता।

चित्रांकित अश्व के उपमान का खण्डन

यह ज्ञात होता है कि श्री शंकुक के बाद तुरन्त ही चित्र कला के अनुभव के विषय में 'प्रत्यभिज्ञावाद' सिद्धान्त के स्थान पर 'सदृशतावाद' सिद्धान्त मान्य हो गया था। यह सम्भव है कि ये दोनों सिद्धान्त समकालीन रहे हों। अभिनव गुप्त और उनके आचार्य 'सदृशतावाद' को ही स्वीकार करते थे। इसलिए श्री शंकुक से मान्य उपमान का खण्डन 'सदृशतावाद' सिद्धान्त के दृष्टिकोण से किया गया था। सदृशतावादी सिद्धान्त के अनुसार चित्रों में मूल व्यक्ति के शरीर के विभिन्न अंगों को इस प्रकार से चित्रित किया जाता है कि एक साथ देखने पर वे मूल व्यक्ति के शरीर की भांति दिखाई पड़ते हैं जिससे चित्रगत आकृति की मूल आकृति से सदृशता का ज्ञान उत्पन्न होता है।

इसलिए श्री शंकुक के मत का खण्डन[1] यह है कि चित्रांकित अश्व सजीव

[1] अभि० भा० भाग १, २७८

७ स्व० शा०

अश्व की अनुकृति इसलिए है क्योंकि दोनों के बाह्य रूपों में सदृशता है। लेकिन इसी के आधार पर विभावादि को स्थायी भाव का अनुकरण नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों में किसी भी प्रकार की समानता नहीं है। अतएव श्री शंकुक का यह सिद्धान्त कि रस स्थायीभाव का केवल अनुकरण मात्र है असंगत है क्योंकि स्थायीभाव का अनुकरण असंभव है।

सांख्यमत के अनुसार रससिद्धान्त

अभिनव भारती में जिसका उल्लेख संक्षिप्त रूप में किया गया है वह रस विषयक दूसरा सिद्धान्त[1] सांख्यदर्शन की धारणाओं के आधार पर रचा गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार विभावादि और स्थायीभाव में कार्य-कारण का सम्बन्ध होता है। विभावादि सम्पूर्ण रूप से वह बाह्य कारण सामग्री है जिससे उस स्थायीभाव की उत्पत्ति होती है जो तत्त्वरूप में सुख अथवा दुःख की मानसिक दशा है। यही रस है। यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने स्थायीभाव के अनुभव एवं रसानुभव में कोई भेद नहीं माना है। अतएव उन्होंने अनुभव सिद्ध वस्तुस्थिति का ही विरोध नहीं किया है वरन् भरतमुनि के ग्रन्थपाठ की प्रामाणिकता का भी विरोध किया है क्योंकि भरतमुनि के मतानुसार रस और स्थायीभाव स्पष्ट रूप से परस्पर भिन्न हैं।

पूर्वकालीन सिद्धान्तों की समीक्षा

पूर्व पृष्ठों में अभी तक हमने रस विषयक दो सिद्धान्तों की विवेचना की है। (१) अनुमान-सिद्धान्त, स्पष्ट रूप से इसकी स्थापना न्यायदर्शन के दृष्टिकोण से की गई है। (२) सांख्य-मत के अनुसार रस सिद्धान्त। इन दोनों सिद्धान्तों के विषय में एक प्रश्न समान रूप से उठाया जा सकता है—क्या इन सिद्धान्तों के अनुसार दर्शक को अभिनेता के अन्तःकरण में विद्यमान स्थायिभाव प्रतीत होता है अथवा दर्शक में उसकी उत्पत्ति होती है। ये दोनों ही मत युक्तिसंगत नहीं हैं।

क्योंकि यदि हम यह मान लें कि वह स्थायीभाव जो प्रेक्षक को प्रतीत होता है अभिनेता के अन्तःकरण में निवास करता है तो सामान्य व्यावहारिक लोक की प्रतीतियों के समान होने के कारण केवल साधारण लौकिक मानसिक अवस्थाओं[2] एवं तदनुकूल प्रतिक्रियाओं का ही जनक होगा। इस मत को

---

[1] अभि० भा० भाग १, २७८ [2] अभि० भा० भाग १, २७८

स्वीकार करने का अर्थ 'रस' के स्वतन्त्र महत्त्व को अस्वीकार करना है। और यदि हम यह मान लें कि दर्शक के अन्तःकरण में स्थायीभाव उत्पन्न होता है तो हमको सभी दुःखवेदनामूलक प्रदर्शनों (Tragic Presentations) का बहिष्कार करना होगा क्योंकि ऐसी दशा में हमें यह मानना होगा कि उनसे दुःखात्मक वह शोक दर्शक में उत्पन्न होता है जो आस्वादनीय नहीं है। वस्तुतः नाट्य प्रदर्शन के विषयरूप प्रत्यक्ष से दर्शक के अन्तःकरण में स्थायीभाव की उत्पत्ति संभव नहीं है।

इसको निम्नरूप में सिद्ध किया गया है।

रंगमंच पर प्रदर्शित राम और सीता को देखकर दर्शक के अन्तःकरण में रति के स्थायीभाव की उत्पत्ति की व्याख्या यदि हम मनोवैज्ञानिक तथा प्रमाणमीमांसा शास्त्र के दृष्टिकोण से करें तो यह प्रश्न उठता है कि दर्शक के अन्तःकरण में 'रति' का स्थायीभाव किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? सीता का जो सम्बन्ध राम से है वही सम्बन्ध दर्शक के साथ नहीं है। दर्शक सीता को रति का विषय नहीं मान सकता है। वस्तुतः सीता के व्यक्तित्व के साथ में जो ऐतिहासिक एवं धार्मिक भावनाएँ मिली हुई हैं वे इस प्रकार के प्रदर्शन से दर्शक में रति के स्थायीभाव को उत्पन्न नहीं होने देंगी।

सांख्यकारिका और तत्त्वकौमुदी में प्रतिपादित रसविषयक सांख्य-सिद्धान्त

उपर्युक्त एक उपप्रकरण में हम रस विषयक सांख्य-सिद्धान्त का उल्लेख और अभिनव भारती के दृष्टिकोण से उसकी समीक्षा कर आये हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उपर्युक्त रस विषयक सिद्धान्त के प्रतिपादक सांख्यकारिका के लेखक ईश्वरकृष्ण (लगभग ईसा की दूसरी शताब्दि) और कारिका के भाष्यकार वाचस्पति मिश्र (९७६ ई०) के मतों से पूर्णरूप से परिचित नहीं थे। क्योंकि रस के विषय में ईश्वरकृष्ण आदि का सिद्धान्त गत उपप्रकरण में कथित सिद्धान्त से यथेष्ट मात्रा में भिन्न है और उसकी समीक्षा इस सिद्धान्त की मान्यताओं को दूषित नहीं करती। निश्चित रूप से वाचस्पति आदि का यह मत है कि रस के अनुभव का कारण स्थायीभाव तथा विभावादि प्रदर्शन का विषय रूप में ज्ञान है। परन्तु यह अनुभव सामान्य लौकिक प्रतीतियों से भिन्न है और इससे सामान्य मानसिक भाव तथा प्रतिक्रियायें उत्पन्न नहीं होते क्योंकि दर्शक के व्यक्तित्व विधायक सभी तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और दर्शक व्यक्ति

रूप न रहकर सामान्य रूप हो जाता है। दर्शक का यह साधारणीकरण उसी प्रकार से होता है जैसे सांख्यदर्शन में मान्य पुरुष का साधारणीकरण उस समय होता है जब उसको प्रकृति से अपनी भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इन दर्शनकारों की कृतियों में रस विषयक सिद्धान्त का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया गया है।

सांख्यकारिका में रसविषयक सिद्धान्त का उल्लेख दो स्थानों पर किया गया है—एक स्थल पर अभिनेता तथा अभिनेय मूलनायक के सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार अभिनेता मूलनायक का अनुकरण नहीं करता वरन् वह स्वयं मूलनायक हो जाता है। अभिनेता एवं अभिनेय मूलनायक में वही संबंध है जो सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर में हैं। जिस प्रकार से एक सूक्ष्म शरीर एक मनुष्य अथवा एक पशु हो जाता[1] है (भवति) उसी प्रकार से अभिनेता वह मूलनायक हो जाता है जिसका अभिनय वह करता है। दूसरे स्थल पर यह स्पष्ट किया गया है कि रस का अनुभव करते समय दर्शक रजस् एवं तमस् गुणों से रहित होता है और इसलिए उस समय उसके अन्तःकरण में न तो कोई लोकगत स्वार्थ होता है और न कोई प्रयोजनात्मक चेष्टा ही होती है। उस समय सविकल्पात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने वाले साधनों में सक्रियता भी नहीं होती (देखिए कान्ट का सिद्धान्त)। जिस प्रकार से पुरुष प्रकृति[2] से अपने भेद को जब तत्त्वतः जान लेता है तब प्रकृति के अस्तित्व को केवल देखता भर है उसी प्रकार से दर्शक को प्रदर्शन का भान भर ही होता है। यही कारण है कि जिस समय प्रदर्शन का कोई दृश्य इन्द्रियानुभव के दृष्टिकोण से दुःखोत्पादक होता है उस समय भी रसानुभव में पीड़ा का कोई अंश नहीं होता।

भट्टनायक का सैद्धान्तिक वातावरण

भट्टनायक कश्मीर के शासक शंकरवर्मन (८८३–९०२ ई०) के समकालीन थे, इसलिए अभिनवगुप्त से कुछ पूर्व उनका लेखन काल था। अतएव यह माना जा सकता है कि उनका सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक वातावरण अभिनवगुप्त जैसा ही था। जब उन्होंने रस-विषयक अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके पूर्व अभिनवगुप्त से स्थापित रस सिद्धान्त के विकास के सहायक दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्पष्ट किये जा चुके थे। (१) आनन्दवर्धन

[1] सां० त० कौ० ४२

[2] सां० त० कौ० ६५

अपने ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके थे। यह भाषा की अर्थविषयक उस शक्ति का एक नया सिद्धान्त था जिसके द्वारा 'आध्यात्मिक अर्थ' अथवा 'ध्वनि' की प्रतीति होती है। (२) उत्पलाचार्य ने स्वरचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका की विशद व्याख्या—विवृति—लिख कर शैव मूलतत्त्व चिन्तन को एक विशिष्ट रूप प्रदान कर दिया था। परन्तु भट्टनायक इन दोनों बातों से प्रभावित नहीं हुए थे। वे अपने को ध्वनिसिद्धान्त का विरोधी मानते थे और उन्होंने इस सिद्धान्त को खण्डित करने के लिए ही 'हृदय दर्पण' ग्रन्थ की रचना की थी। और ऐसा प्रतीत होता है कि शैवमत की ओर से वे उदासीन रहे थे। वे वेदान्त मत के अनुयायी थे और उसी के आधार पर उन्होंने अपने रस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।

भट्टनायक की वेदान्तमूलक धारणाएँ

भट्टनायक के जन्मस्थान और जन्मतिथि के विषय में हम अपने पूर्व लिखित ग्रन्थ (अभिनवगुप्त द्वितीय संस्करण पृष्ठ १९९–२००) में विशद रूप में लिख आए हैं। उनकी धारणाएँ वेदान्तमूलक हैं। क्योंकि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक की व्याख्या में ही वे इन्द्रिय प्रत्यक्ष गोचर जगत के सम्बन्ध में वेदान्त मत की धारणा का उल्लेख करते हैं। वे नाट्यप्रदर्शन के साथ उस धारणा की समानता स्थापित करते हैं। उनके मत के अनुसार (रंगमंच के प्रदर्शन में) राम और रावण की क्रियाएँ यथार्थ रूप में अस्तित्ववान् न होने पर भी अद्भुत रूप से प्रकाशित होती हैं। वे केवल कल्पना शक्ति की सृष्टियाँ हैं, इसीलिए उनका कोई विशिष्ट निश्चित रूप नहीं है। उनमें असंख्य कल्पित रूप और भी मिलाए जा सकते हैं। वे स्वप्नगत और भ्रान्तिज्ञान आदि में अनुभूयमान वस्तुओं से भिन्न होती हैं इसलिए हृदय को सम्पूर्णतया मुग्ध करने की शक्ति उनमें होती है। वे उन अभिनेताओं से उत्पन्न की जाती हैं जो उनको उत्पन्न करते समय उसी प्रकार से अपने मूल स्वभाव का परित्याग नहीं करते जिस प्रकार से सृष्टि की रचना करते समय ब्रह्म अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ता। परन्तु इतना होने पर भी रस के अनुभव को उत्पन्न करने की शक्ति उनमें रहती है और इस रूप में वे एक मानवीय प्रयोजन को सिद्ध करती हैं। इसी प्रकार से यह अनुभूयमान संसार, जो नाम और रूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है एवं जो असत् है; ध्यान और मनन से परमपुरुषार्थ[1] की सिद्धि प्राप्त करने में सहायक होता है।

---

[1] अभि० भा० भाग १, ५

आनन्द के स्वरूप के विषय में भी उन्होंने वेदान्त मत का उपयोग किया है। वेदान्त मत के अनुसार आनन्द रजस् एवं तमस् से सर्वथा रहित शुद्ध सत्त्व की प्रधानता मात्र है। वे रस के अनुभव को ब्रह्म के आध्यात्मिक साक्षात्कार के समान मानते हैं। परन्तु अपने रस-सिद्धान्त के प्रतिपादन में उन्होंने पूर्ण रूप से वेदान्त की दार्शनिक प्रक्रिया का उपयोग नहीं किया है। भट्टनायक ने वेदान्त और उसी के समान अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के जिन दृष्टिकोणों को अपनाया है उनका उल्लेख हम उचित प्रसंगों में करेंगे।

भट्टनायक कृत अन्य सिद्धान्तों का खण्डन

भट्टनायक ने उस सिद्धान्त को अस्वीकार किया जिसके अनुसार नाट्य-प्रदर्शन दर्शक में उन भावों को उत्पन्न करता है जो दर्शक के व्यक्तित्व के साथ सम्बन्धित होते हैं। क्योंकि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से यह मानना होगा कि पीड़ाजनक दृश्य दर्शक के अन्तःकरण में वेदना को उत्पन्न करता है। और फिर व्यक्तिगत भाव का अनुभव संभव नहीं है, क्योंकि सीता के समान ऐतिहासिक व्यक्ति दर्शक के अन्तःकरण में किसी व्यक्तिगत रत्यादि भाव का उद्प्रेरक नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि नाट्य-प्रदर्शन को देखकर दर्शक में अपनी रतिजनक वस्तु की स्मृति उत्पन्न होती है जिसके कारण दर्शक में व्यक्तिगत रति भाव जागृत होता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह सहृदय के अनुभव के विपरीत है। नाटक देखते हुए ऐसी कोई स्मृति नहीं होती।

भट्टनायक उस सिद्धान्त को भी अस्वीकार करते हैं जिसके अनुसार नाट्यप्रदर्शनगत भाव की प्रतीति अनुमान प्रमाण अथवा वाचिक अभिनय से होती है, क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति रस के अनुभव को उत्पन्न नहीं कर सकती। वरन् इसके विपरीत ईर्ष्या, लज्जा, घृणा आदि भावों को ही उत्पन्न कर सकेगी जैसा कि सामान्य लोक में उत्पन्न करती है। इन्हीं सिद्धान्तों के समान वे उन सिद्धान्तों को भी अस्वीकार करते हैं जिनके अनुसार 'रस कार्य रूप होता है' अथवा 'रस अभिव्यक्ति रूप होता है।'

भट्टनायक की नवीन सिद्धान्त-साधन विधि

गत उपप्रकरण में भट्टनायक से अस्वीकृत जिन सिद्धान्तों का उल्लेख हमने किया है उनका सामान्य खण्डन यह है कि यदि हम मनोवैज्ञानिक एवं

दार्शनिक आक्षेपों को महत्त्व न दें तो भी कोई व्यक्ति जिसने रस का अनुभव किया है इस बात पर सहमत नहीं होगा कि उपर्युक्त सिद्धान्तों में रसानुभव के स्वरूप का यथार्थ अंकन किया गया है। नाट्य-प्रदर्शन कभी भी दुःख को उत्पन्न नहीं कर सकता। दुःख-प्रधान नाटक भी दर्शक को आनन्दप्रद होता है। लोक में यथार्थ वस्तु जिन भावों का उत्प्रेरक होती है उन भावों को नाट्य-प्रदर्शन उत्पन्न नहीं करता। इसलिए उन्होंने एक नई साधनविधि (प्रक्रिया) का प्रयोग किया जिसका उपयोग सामान्य लौकिक अनुभव के प्रसंग में नहीं किया जा सकता है।

भट्टनायक से अपनाई गई नवीन साधन विधि इस प्रकार से है। अपने सभी पूर्ववर्ती स्वतन्त्रकलाशास्त्र के आचार्यों की भाँति उनका भी यह सिद्धान्त था कि नाट्य-प्रदर्शन के बाह्येन्द्रियजनित प्रत्यक्ष से रस का अनुभव होता है। परन्तु अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तकारों से उपर्युक्त अंश में मतभेद न रखते हुए भी वे यह मानते थे कि सहृदय दर्शक और नाट्य-प्रदर्शन दोनों ही व्यक्तित्व विधायक पाशों से मुक्त होते हैं। उनके मत के अनुसार इस साधारणीकृत अवस्था में उत्पन्न आध्यात्मिक दशा आत्मा की अपने में पूर्ण विश्रान्ति रूपिणी होती है, क्योंकि उस दशा में रजस् एवं तमस् गुण क्षीण हो जाते हैं और दर्शक के अन्तःकरण में सत्त्वगुण प्रधान हो जाता है। इसलिए रसानुभव की दशा की विलक्षणता यह है कि उसमें शारीरिक, मानसिक एवं संकल्पात्मक क्रियाओं का सर्वथा अभाव रहता है और इसलिए इस दशा में सहृदय दर्शक के अन्तःकरण में राग और द्वेष के भाव वर्तमान नहीं रह सकते हैं।

इसका कारण[1] स्पष्ट है। सभी संकल्पजन्य क्रियाएँ अर्थात् चेतनात्मक मानसिक और शारीरिक सभी क्रियाएँ रजस् गुण की प्रधानता के कारण ही उत्पन्न होती हैं। उसी प्रकार से मोह का कारण तमस् है। परन्तु सभी ज्ञान और तज्जनित आनन्दमय आत्मविश्रान्ति की दशा का कारण सत्त्व है। जिस समय सत्त्व की प्रधानता के कारण रजस् और तमस् गुण क्षीण हो जाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप सभी सांकल्पिक, मानसिक एवं चेतनात्मक शारीरिक क्रियाएँ असम्भव हो जाती हैं तथा जिस दशा में मोह अथवा अज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता है उस समय पर आत्मा की उस दशा का आविर्भाव होता है जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है।

---

[1] अभि० भा० भाग १, २७८–९.

भट्टनायक की मूल मान्यताएँ

भट्टनायक यह मानते हैं कि काव्य-भाषा में तीन शक्तियाँ होती हैं।

१. अभिधाशक्ति—भाषा की वह शक्ति जो श्रोता की बुद्धि में श्रुत शब्द सम्बन्धी रूढ़ अर्थ की प्रतिभा को जागृत करती है।

२. भावकत्वशक्ति—भाषा की वह शक्ति जो रंगमंच पर विषयरूप में प्रदर्शित रस को उन सभी संबन्धों से मुक्त करती है जिनसे सामान्य लौकिक वस्तु सम्बन्धित होती है और इस प्रकार से वह नाट्य प्रदर्शन का साधारणीकरण करती है।

३. भोजकत्वशक्ति—भाषा की वह शक्ति जो नाट्य-प्रदर्शन के दर्शक के अन्तःकरण में रजस् एवं तमस् गुणों को क्षीण करके सत्त्वगुण को प्रधान बनाती है।

भट्टनायक के मतानुसार इस प्रकार से भाषा की तीसरी शक्ति जिसको पारिभाषिक रूप में भोजकत्व कहते हैं सत्त्वगुण को प्रधान बनाती है। सामान्य रूप से मान्य काव्य-भाषा का रूढ़ अर्थ प्रदान करने वाली अभिधा शक्ति के साथ-साथ भट्टनायक ने भावकत्व तथा भोजकत्व दो अन्य शक्तियाँ मानी हैं। आत्म-विश्रान्ति की दशा को उत्पन्न करने में भाषा की भावकत्व शक्ति भोजकत्वशक्ति की सहायता करती है, क्योंकि वह प्रदर्शन के विशिष्टता-विधायक तत्त्वों को नष्ट कर उसका साधारणीकरण करती है। विषयरूप रस का साधारणीकरण हो जाने से रजस् गुण निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार से नाट्य-प्रदर्शन को देखकर किसी दृष्टिगोचर विषय को प्राप्त करने अथवा उससे छुटकारा पाने की इच्छा जागृत नहीं होती है। इच्छा शक्ति से ही सभी मानसिक एवं शारीरिक क्रियाएँ जन्म लेती हैं, इसलिए इन क्रियाओं का भी अविर्भाव नहीं होता। इस प्रकार से रजस् प्रभावहीन हो जाता है। जहाँ तक तमस् का प्रश्न है सत्त्व के क्रियाशील होने पर तमस् उतना ही प्रभावहीन होता है जितना प्रकाश के होने पर अन्धकार प्रभावहीन होता है। इसलिए दर्शक को नाट्य-प्रदर्शन का सामान्य रूप ज्ञान ही होता है जो ब्रह्म के आध्यात्मिक अनुभव के समान इसलिए होता है क्योंकि इस अनुभवदशा में इच्छाजन्य मानसिक एवं शारीरिक क्रियाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। फिर भी ब्रह्म की आध्यात्मिक अनुभूति से इसका अन्तर यह है कि रसानुभूति एक सीमित अनुभव है यद्यपि इस अनुभव के अस्तित्व काल में इन सीमाओं का ज्ञान इसलिए नही होता क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन और दर्शक दोनों ही साधारणी-

कृत होते हैं। इस रसानुभव को सामान्य लौकिक अनुभव भी नहीं माना जा सकता जो प्रत्यक्ष, स्मृति आदि से उत्पन्न होता है। क्योंकि यह सविकल्प ज्ञान इसलिए नहीं है क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन से दर्शक अपनी सविकल्प क्रिया द्वारा किसी विशिष्ट मूर्ति को अंकित करने की चेष्टा नहीं करता। यह निर्विकल्प ज्ञान भी नहीं है क्योंकि बाद में भी रस के अनुभव की स्मृति बनी रहती है।

इस प्रकार से इस सिद्धान्त के अनुसार रस का अनुभव एक साधारणीकृत दर्शक का सत्त्व की प्रधानता के कारण पूर्ण आनन्द की दशा में साधारणीकृत विषयरूप रस का अनुभव है।

भट्टनायक की देन

अनुकरण–अनुमान सिद्धान्त के समालोचकों ने यह समस्या उठाई थी— 'यदि स्थायी भाव का ज्ञान प्रमेय रूप में अर्थात् रंगमंचस्थ अनुकृत-व्यक्ति से सम्बन्धित रूप में—होता है तो इस प्रमेय सम्बद्ध ज्ञान से प्राकृतिक मनोवृत्तियाँ तथा प्रतिक्रियाएँ क्यों उत्पन्न नहीं होतीं ?'

इनके उत्पन्न न होने का कारण यह है कि इस नये सिद्धान्त के अनुसार प्रेक्षक लौकिक प्रतिक्रिया जनक स्तर से परे होता है, क्योंकि काव्य-भाषा की अनुकल्पित शक्ति भावकत्व से प्रदर्शन का साधारणीकरण हो जाने से क्रियाशक्ति अथवा रजस् गुण पूर्णतया निश्चेष्ट हो जाता है। प्रतिक्रिया का कारण विशेष का ज्ञान है। नाट्य-प्रदर्शन विशेषरूप नहीं होता इसलिए वह क्रियाजनक भी नहीं हो सकता। इसलिए दर्शक में सत्त्व प्रधान आध्यात्मिक दशा की उत्पत्ति होती है जो आनन्दमय होती है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार रसानुभव विधायक दो तत्त्व हैं—साधारणीकृत दर्शक एवं साधारणीकृत नाट्य-प्रदर्शन।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है—

इस अनुभव में प्रमाता एवं प्रमेय में क्या सम्बन्ध है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भट्टनायक ने एक नई शक्ति की कल्पना की है जिसको 'भोग' कहते हैं और जिसके द्वारा उत्थित अनुभव को वे आनन्द मानते हैं। इसलिए हम यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओं में इन शब्दों का कौन सा अर्थ निर्धारित था।

वेदान्त मत और आनन्द

सामान्य लौकिक अनुभव तीन प्रकार के होते हैं—सुख, दुःख और मोह। इसी प्रकार से प्राणी के जीवन की भी तीन दशाएँ होती हैं 'ज्ञान, क्रिया और जड़ता'। परन्तु लौकिक व्यवहारिक जीवन में सुख, दुःख और मोह और इन्हीं के समान ज्ञान, क्रिया तथा जड़ता शुद्ध रूप में नहीं मिलते—परस्पर एक दूसरे से सम्मिलित रूप में ही मिलते हैं।

उपरोक्त सुख दुःख एवं मोह तथा ज्ञान क्रिया और जड़ता के मूल कारण सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण हैं। ये ही अविद्या विधायक तत्त्व हैं।

व्यक्ति के जीवन में ऐसा कोई भी क्षण नहीं होता जिसमें ये गुण क्रियाशील न रहते हों। ऐसा कोई भी सविकल्पज्ञान नहीं है जो मन में प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिविषयक उन्मुखता और प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न न करता हो। एक वस्तु के सविकल्प ज्ञान का अर्थ दूसरी वस्तुओं के विषय में अज्ञान है। फिर भी किसी विशेष क्षण में एक गुण की प्रधानता होती है और दूसरे क्षणों में अन्य गुण मुख्य रूप से सक्रिय होते हैं। इस प्रकार सामान्य लौकिक जीवन में एक गुण को दो अन्य गुण सदैव घेरे रहते हैं। फिर भी कभी-कभी एक गुण अन्य दो गुणों से अधिक प्रधान हो जाता है। सत्त्व की प्रधानता आनन्द है, रजस् की प्रधानता दुःख और तमस् की प्रधानता मोह है। इसलिए पारिभाषिक शुद्ध अर्थ के अनुसार आनन्द की प्राप्ति किसी उस व्यक्ति को नहीं हो सकती जो अपने व्यक्तित्व विधायक पाशों से रहित नहीं है।

व्यावहारिक जगत् के कारण को स्पष्ट करने के लिए वेदान्त मत के अनुसार जिस परम आत्मा[१]—ब्रह्म—को स्वीकार किया गया है वह भी अविद्या के साथ सम्बद्ध है। लेकिन वह अविद्या व्यष्टिरूपा नहीं है। वह सब व्यष्टि रूप अविद्याओं की समष्टि है और प्रत्येक अनुभवगम्य वस्तु का कारण है। समष्टिरूपिणी अविद्या में भी उपर्युक्त तीन गुण वर्तमान रहते हैं। लेकिन इस त्रयी में पूर्ण रूप से शुद्ध सत्त्व की प्रधानता रहती है। इस परम शुद्धता का कारण यह है कि उसमें रजस् गुण पूर्णतया निष्क्रिय हो जाता है। उसके निष्क्रिय होने का कारण यह है कि विशिष्ट व्यावहारिक जगत अपने उस सम्पूर्ण विकसित रूप में जो कि रजस् की क्रिया का क्षेत्र है परम आत्मा के लिए सत्ता नहीं रखता है। और तमस् गुण, सत्त्व के विपरीत होने के कारण

[१] वे० सा० (व्याख्या) ९–११

उतना ही क्रियाशील हो सकता है जितना ज्योति के रहते अन्धकार क्रियाशील होता है। यह सत्त्वप्रधान अविद्या ईश्वर का आनन्दमय कोश कहा गया है। इसलिए वेदान्त मत के अनुसार सुख से भिन्न जो आनन्द है वह ब्रह्म से संबंधित पूर्णतया शुद्ध सत्त्व की प्रधानता ही है। विशिष्टतामय व्यावहारिक लोक के अभाव के कारण दोनों गुणों के क्षीण हो जाने से सत्त्व गुण की प्रधानता होती है।

सांख्य मत के अनुसार भोग का अर्थ

भोग[1] में चार वस्तुओं का होना आवश्यक है—

१. पुरुष, जो कि बुद्धिगत आत्मप्रतिबिंब से तादात्म्यापन्न है।

२. बुद्धि—जिस पर भीतर से पुरुष का प्रतिबिंब पड़ता है और बाहर से व्यावहारिक लोक की वस्तुओं का प्रतिबिंब पड़ता है।

३. बुद्धि पर ज्ञेय वस्तु का प्रतिबिंब।

४. अहंकार[2]—जिसके कारण निम्नलिखित वस्तुएँ संभव होती हैं—

(अ) प्रमाता तथा प्रमेय वस्तु के प्रतिबिम्बों का मेल।

(आ) प्रमाता का अपने प्रतिबिम्ब के साथ तादात्म्य।

(इ) प्रमाता तथा प्रमेय वस्तु के प्रतिबिम्बों के मेल का व्यावहारिक उपयोग।

(ई) 'मैं जानता हूँ।' इस प्रतीति की उत्पत्ति।

ज्ञान की प्रक्रिया

१. व्यावहारिक वस्तु रूप जगत से बुद्धि पर वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

२. प्रमाता का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर भीतर से पड़ता है।

३. अहंकार इन दोनों प्रतिबिम्बों का सम्मेलन करता है।

४. दोनों प्रतिबिम्ब एक दूसरे से मिल जाते हैं।

५. वस्तु प्रकाशमान हो जाती है। प्रमाता के साथ मेल होने के कारण वस्तु का इस प्रकार से प्रकाशमान होना इस प्रक्रिया का अन्तिमांश है। इसलिए इसको ज्ञानजनक क्रिया का परिणाम कहा गया है। इसी को ज्ञान कहते हैं।

---

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग १, १५३

[2] ई० प्र० वि० वि० भाग १, १५५

प्रमाता और प्रमेय के प्रतिबिंब बुद्धि पर पडते हैं जिनका सम्मेलन अहंकार करता है। इन दोनों प्रतिबिंबों के सम्मेलन से 'मैं यह जानता हूं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान में विषय का आत्मा (पुरुष) के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है और पुरुष और उसके प्रतिबिंब में पारस्परिक भेदज्ञान का अभाव होता है। अहंकार जब इस ज्ञान का उपयोग व्यावहारिक सिद्धि के लिए करता है तो इसको 'भोग' कहते हैं। इसको 'भोग' इसलिए कहते हैं क्योंकि एक बुद्धि में ही इन दो प्रतिबिंबों का परस्पर सम्मिलन एक वास-ग्रह में युवा और युवती के सम्मिलन के समान होता है, और इसको भोग कहने का दूसरा कारण यह है कि अहंकारजनित ज्ञान एवं पुरुष के प्रतिबिंब की आश्रय भूमि एक ही होती है।

भोग के विषय में योगदर्शन का मत

'सत्त्वपुरुषयोः अत्यन्तासंकीर्णयोः[१] प्रत्ययाविशेषो भोगः' योगदर्शन के पारिभाषिक शब्दार्थ के अनुसार 'सत्त्व' शब्द का अर्थ 'बुद्धि' है। यह जड़ है। और पुरुष चेतन है अथवा स्वयं चेतना है। इस प्रकार से दोनों का ही स्वरूप परस्पर विरोधी है। इसलिए जिस प्रकार से 'नील' और 'कमल' में संबंध होता है उस प्रकार से बुद्धि और पुरुष में संबंध असम्भव है। फिर भी व्यावहारिक जीवन में उत्प्रेरक वस्तु के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के समय में इन दोनों में कोई भेद ज्ञात नहीं होता। पुरुष एवं बुद्धि की इस एकाकारता के अनुभव को व्यावहारिक जीवन में पारिभाषिक रूप से 'भोग' कहते हैं।

भोग के विषय में वैशेषिक दर्शन का मत

वैशेषिक दर्शन के मतानुसार[२] भी ज्ञान आत्मा से भिन्न है। इसलिए ज्ञान एवं आत्मा के संबंध को 'भोग' माना गया है और इस सम्बन्ध को 'समवाय संबंध' कहा गया है। इसलिए वैशेषिक दर्शन के मतानुसार भोग में एक प्रकार का सम्बन्ध निहित होता है जो सांख्यमत के अनुसार 'संयोग' है परन्तु वैशेषिक मत के अनुसार 'समवाय' है।

---

[१] ई० प्र० वि० वि० भाग १, १५६–७

[२] ई० प्र० वि० वि० भाग १, १५५

भट्टनायक की इस नई विधि का खण्डन

भोग और आनन्द की उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों (परस्पर विरोधी होने के कारण) एक साथ नहीं हो सकते। सभी दार्शनिक मतों ने यह स्वीकार किया है कि भोग में प्रमाता और प्रमेय का सम्बन्ध अवश्य होता है। लेकिन वह आनन्द जो सत्त्व की प्रधानता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक प्रमाता और प्रमेय वस्तु (भोक्ता और भोग्य) का सम्बन्ध परस्पर बना रहता है। भोग आनन्दमय मोक्ष का विरोधी है। इसलिए यह नया सिद्धान्त युक्तिसिद्ध नहीं है क्योंकि इसमें रस के अनुभव के स्वरूप का स्पष्टीकरण दो विरोधी तत्त्वों के आधार पर किया गया है।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि रसानुभव के विषय में भट्टनायक से प्रतिपादित सिद्धान्त में जिसका उल्लेख हस गत उपप्रकरण में कर आए हैं और अभिनवगुप्त से प्रतिपादित उस सिद्धान्त में जिसका उल्लेख विशद रूप से हम अगले एक अध्याय में करेंगे कोई मूल अन्तर नहीं है। वस्तुतः स्वयं अभिनवगुप्त के कथनानुसार (अभिनव भारती भाग २, पृष्ठ २८०) उनका[1] रस विषयक सिद्धान्त भट्टनायक के सिद्धान्त से भिन्न नहीं है वरन् निम्नलिखित बातों में उसका संशोधन मात्र है:—

१. नाट्य-प्रदर्शन के विषयरूप में प्रत्यक्ष करने से रस का अनुभव नहीं उत्पन्न होता, वरन् नायक के साथ दर्शक का तादात्म्य होने के कारण उसकी उत्पत्ति होती है। इस तादात्म्य के परिणाम स्वरूप दर्शक की मानसिक-शारीरिक दशाएँ नायक के समान ही होती है।

२. अभिनवगुप्त ने प्रदर्शन के साधारणीकरण को मनोवैज्ञानिक तथ्यों का आधार लेकर स्पष्ट किया है। भट्टनायक के समान उन्होंने काव्यभाषा की एक नई शक्ति 'भावकत्व' की कल्पना से उसको स्पष्ट नहीं किया है।

३. अभिनवगुप्त यह स्वीकार करते हैं कि रस का अनुभव जिस ज्ञान-प्रक्रिया का फलस्वरूप है वह ज्ञान-प्रक्रिया साधारण लौकिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदि की ज्ञान-प्रक्रिया से भिन्न है। रसानुभव की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि काव्य-भाषा की तीसरी शक्ति 'भोजकत्व' की स्थापना करना अनावश्यक है।

---

[1] अभि० भा० भाग १, २८०

भट्टनायक के रस सिद्धान्त का महत्त्व

भट्टनायक के समकालीन कश्मीर के साहित्य के इतिहास में वे प्रभाव स्पष्ट हैं जिनके कारण भट्टनायक भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र के रससिद्धान्त को नई गति दिशा प्रदान कर सके थे। भरतमुनि (लगभग ५०० ई०) से लेकर भट्टलोल्लट (नवीं शताब्दि के उत्तरार्ध भाग) तक के ५०० वर्षों में स्वतन्त्रकलाशास्त्र का अध्ययन केवल कलाकार के ही दृष्टिकोण से किया गया था। इसलिए उस युग के स्वतन्त्रकलाशास्त्र के प्रतिपादकों के सामने एक ही व्यावहारिक समस्या थी। वे यह स्पष्ट करने की चेष्टा करते थे कि नाटक को किस प्रकार से प्रदर्शित किया जाय जिससे दर्शकों को इष्ट रस का अनुभव प्राप्त हो सके। भट्टलोल्लट के कनिष्ठ समकालीन श्री शंकुक ने स्वतन्त्र-कलाशास्त्र की व्याख्या दर्शक के दृष्टिकोण से की थी। वे न्यायमत के अनुयायी थे, इसीलिए संभवतः उन्होंने कभी रस का अनुभव नही किया था (?) अथवा यह कहें कि वे रस के अनुभव को प्राप्त नहीं कर सकते थे क्योंकि उन्होंने रसानुभूति की समस्या का समाधान उस न्याय मत के दृष्टिकोण से करने की चेष्टा की थी जो सामान्य लौकिक व्यक्ति के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता था। इसलिए रसविषयक उनका सिद्धान्त अत्यन्त असन्तोषप्रद है। उनका रससिद्धान्त केवल अनुभव से ही असिद्ध नहीं है वरन् अनुभव से विरुद्ध भी है। भट्टनायक (नवीं शताब्दि के उत्तरार्ध और दसवीं शताब्दि के पूर्वार्ध भाग में) ने इस दोष को देखा था और उनके सिद्धान्त का खण्डन किया था।

उपरोक्त समय में उस अद्वैत शैवमत का आविर्भाव हाल ही में हुआ था जिसको दर्शन शास्त्र की भाषा में 'त्रिक' कहा जाता है (हमने इस शैवमत को अपने पूर्व लिखित ग्रन्थ में 'यथार्थवादी ज्ञप्तिवाद' (Realistic Idealism) कहा है।) एवं उत्पलाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा विचारधारा को एक दार्शनिक मत के रूप में हाल ही में प्रतिपादित किया था, लेकिन अभिनवगुप्त ने इस समय तक इस विषय पर अपनी प्रतिभा का प्रकाश नहीं डाला था। कश्मीर में इस युग में सांख्यदर्शन प्रमुखरूप से प्रभावशाली था। आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त जिसके अनुसार भाषा के अभिधा और लक्षणा मूलक अर्थों से भिन्न ध्वन्यर्थ (आध्यात्मिक अर्थ) की स्थापना की गई थी इस समय तक पूर्णतया स्थापित नहीं हो पाया था। विद्वानों का एक दल इस नये सिद्धान्त

का विरोध कर रहा था। इस विरोधी दल का नेतृत्व संभवतः स्वयं भट्टनायक कर रहे थे जैसा कि उनके ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' से सिद्ध होता है, जिसकी रचना प्रत्यक्ष रूप से ध्वनिसिद्धान्त को ध्वस्त करने के लिए ही की गई थी। इसलिए रस के अनुभव के विषय में भट्टनायक ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उस सिद्धान्त का ऐसा ही होना ऐतिहासिक परिस्थितियों में संभव था।

प्रत्येक सिद्धान्त की विकसित दशा का कारण तत्सम्बन्धी सभी ज्ञान शाखाओं का विकास है जो किसी देश के साहित्यिक इतिहास के विशेष युग में संभव होता है। साहित्य के इतिहास के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण युग में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो तद्युगीन साहित्यिक रचनाओं को अन्ययुगीन रचनाओं से भिन्न करती हैं। नवीं शताब्दि में शैवदर्शन का आविर्भाव उस विचार प्रवृत्ति के आरम्भ का सूचक है जिसके अनुसार सिद्धान्त रचना में निजी अनुभव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और जिसके कारण मान्य शास्त्रीय ग्रन्थों का अर्थ निजी अनुभव के आधार पर स्पष्ट किया जाता है। इस कारण रस के अनुभव की समस्या का समाधान करने के लिए श्री शंकुक द्वारा एक नये दृष्टिकोण के दरसाये जाने के बाद भट्टनायक ने इस प्रवृत्ति के अनुसार रसानुभव की समस्या का समाधान करने की चेष्टा करते हुए अपने रस सिद्धान्त की स्थापना की। रसानुभव के मूल स्वरूप के विषय में भट्टनायक का सिद्धान्त निर्दोष है। लेकिन उनकी सिद्धान्त-साधन विधि दोषपूर्ण है। इस दोष का कारण यह था कि उस समय तक एक अनुभव का विभिन्न अनुभवांशों में विश्लेषण करने की वह प्रवृत्ति जिसके चरम विकास के परिणामस्वरूप आगे चल कर शैवमत के अन्तर्गत "आभासवाद" के विचित्र सिद्धान्त की स्थापना की गई थी उस समय तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकी थी। अतएव स्वाभाविक रूप से भट्टनायक सांख्य तथा वेदान्तदर्शनों की विचारधाराओं से प्रभावित थे। वे विषयरूप तथा दर्शक के अनुभवरूप रस के तत्त्वगतस्वरूप की व्याख्या स्पष्ट रूप में इसलिए नहीं कर सके क्योंकि सांख्य और वेदान्त दार्शनिक मतों में उन आवश्यक सिद्धांतों, दृष्टिकोणों एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण विधियों का अभाव है जो रस के अनुभव को सर्वांग पूर्ण रूप में स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हैं।

अभिनवगुप्त के रससिद्धान्त को प्रभावित करने वाले नए तत्त्व

भट्टनायक और अभिनवगुप्त के बीच में आने वाले शास्त्रकार विद्वानों ने अभिनवगुप्त के उस रस सिद्धान्त के लिए सामग्री एकत्रित कर दी थी जो अपनी निर्दोषता के कारण एक हजार वर्ष से भी अधिक समय की परीक्षा में भलीभांति सफल रहा है। अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती युग मनोविज्ञान के गम्भीर अध्ययन का युग था। इस समय में मानवीय अनुभव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सभी सिद्धांतों और मान्यताओं को रचने का आधार बन गया था। मान्य ग्रन्थों के वाक्य सर्वोत्कृष्ट प्रमाण नहीं माने जाने लगे थे। यहाँ तक कि सिद्धान्त रचना के आधार के रूप में युक्तिवाद अथवा तर्कवाद को भी प्रथम स्थान नहीं दिया गया। इससे अधिक और क्या हो सकता था कि दर्शन के जगत्सृष्टि विषयक सिद्धांतों की रचना भी मानवीय अनुभवों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के आधार पर की गई थी। वस्तुतः शैवमत के त्रिक सिद्धांन्त की विशेषता ही यही है कि वह वेदान्त तथा भारतीय दार्शनिक अन्य मतों की भांति प्राचीन आप्तता–श्रुति–आदि पर आधारित न होकर मानवीय मनोविज्ञान के अति गम्भीर विश्लेषण पर आधारित था। उत्पलाचार्य लिखित ग्रन्थ 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका' इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है। क्योंकि इसी ग्रन्थ में वे यह प्रमाणपूर्वक लिखते हैं कि विना सर्वात्मा सर्वव्यापक चित् तत्त्व के जिसको शास्त्रीय भाषा में महेश्वर कहा जाता है, न तो प्रत्यक्ष अनुभव संभव है और न स्मृतिजन्य ज्ञान ही संभव है। अनुभव की अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान करने के लिए इस विचारधारा ने एक नया दृष्टिकोण अपनाया था जिसको आभासवादी दृष्टिकोण कहते हैं। उत्पलाचार्य ने इस दृष्टिकोण को सर्वप्रथम प्रधानता दी थी। इसलिए इसका मुख्य श्रेय उत्पलाचार्य को ही है।

उत्पलाचार्य की व्याख्याविधि तथा उनके दृष्टिकोण का अनुसरण उनके बाद की पीढ़ी के विद्वानों ने दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में ही नहीं किया वरन् काव्य-लक्षण शास्त्र के क्षेत्र में भी किया था। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उत्पलाचार्य के दृष्टिकोण तथा साधनविधि का अनुसरण करने वाले अभिनवगुप्त के दर्शनशास्त्र के गुरु लक्ष्मणगुप्त थे। और मानवीय अनुभव से संबंधित काव्यशास्त्रीय समस्याओं का समाधान करने के लिए भट्ट इन्दुराज एवं भट्ट तौत ने उनके दृष्टिकोण तथा उनकी साधनविधि को अपनाया था। भट्ट इन्दुराज अभिनव गुप्त के ध्वनिसिद्धान्त के तथा भट्टतौत नाट्यशास्त्र के गुरु थे। अभिनवगुप्त के

उपर्युक्त आचार्यों के मतों को हम लिखित रूप में नहीं पाते फिर भी अभिनवगुप्त ने स्वरचित तीन प्रधान ग्रंथों—(१) ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, (२) अभिनवभारती एवं (३) ध्वन्यालोक लोचन—की प्रस्तावनाओं में इन आचार्यों का उल्लेख किया है और यह स्वयं स्वीकार किया है कि जो कुछ भी उन्होंने इन ग्रंथों में लिखा है उसका अधिकांश उन्होंने अपने गुरुओं से पैतृक साहित्यिक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त किया था।

साहित्य के इतिहास के इस युग में अभिनवगुप्त का आविर्भाव हुआ। उनमें काव्य और दर्शन की प्रतिभाओं का दुर्लभ मिश्रण था। संसार में शास्त्रों के अध्ययन और व्याख्यान के अतिरिक्त उनके जीवन का और कोई लक्ष्य नहीं था। वे दर्शनशास्त्र, तंत्रशास्त्र और काव्यलक्षणशास्त्र के विशेषज्ञ थे, और इन शास्त्रविषयक सभी प्राचीन ज्ञान को उन्होंने आत्मसात् किया था। इस विपुल ज्ञानराशि को आत्मसात् करने के कारण ही वे रससिद्धांत की समस्याओं का समाधान करने के लिए नये दृष्टिकोण तथा नई साधनविधि को अधिक स्पष्टरूप से समझने एवं अपने सिद्धांत की रचना में उसका उपयोग करने में पूर्णरूप में सक्षम थे। अपनी बौद्धिक सक्षमता के कारण उन्होंने शैवमत के आभासवादी दृष्टिकोण को अपनाकर एक नये दृष्टिकोण से रसानुभव सम्बंधी समस्याओं का समाधान करते हुए एक ऐसे नये रससिद्धांत की स्थापना विशद रूप में की थी जिसमें आज भी कोई मूल संशोधन करना अत्यंत कठिन है। अभिनवगुप्त के रससिद्धांत को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी दार्शनिक विचारधारा के सिद्धांतों को भलीभांति समझ लिया जाय। इसलिए हम अगले अध्याय में अभिनवगुप्त से प्रतिपादित उन दार्शनिक सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय देंगे जिनका प्रभाव उनके रससिद्धांत की रचना पर पड़ा था।
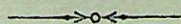
अध्याय ३

अभिनवगुप्त के रससिद्धान्त का आधारभूत शैवमत

अभिनवगुप्त का महत्त्व

भारतीय स्वतंत्रकलाशास्त्र के प्रतिपादन के दृष्टिकोण से अभिनवगुप्त अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इस ग्रंथ में हमारा उद्देश्य उनके रस सिद्धांत का प्रतिपादन उस रूप में करना है जिस रूप में वह हमको उनकी कृतियों—मुद्रित एवं अमुद्रित—के अध्ययन से ज्ञात होता है। यदि हमने अन्य सिद्धांतों की व्याख्या की है तो इसीलिए कि वे सिद्धांत भारतीय रस सिद्धांत के चरम विकसित रूप की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं और उसके विकास के विभिन्न क्रमों को स्पष्ट करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने रस सिद्धांत का प्रतिपादन लगभग पूर्ण विकसित रूप में किया था। उनके मतों को लगभग सभी परवर्ती शास्त्रकारों ने मान्य ठहराया है। केवल महिमभट्ट तथा पंडितराज जगन्नाथ ही ऐसे परवर्ती लेखक थे जिन्होंने उनके मत को यत्र तत्र खण्डित करने की चेष्टा की है। यदि हम किसी भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन पाश्चात्य स्वतंत्रकलाशास्त्र के शास्त्रकार के सिद्धांत से उनके सिद्धांत की तुलना करें तो भी उनका महत्त्व घटने के स्थान पर बढ़ेगा ही। पाश्चात्य शास्त्रकारों के सिद्धांतों की तुलना के आलोक में उनके सिद्धांत के सम्पूर्ण महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए हम इस ग्रंथ के दूसरे भाग में पाश्चात्य कला-तत्त्वचिंतकों की उन मान्यताओं की व्याख्या करेंगे जो कि अभिनवगुप्त प्रतिपादित रससिद्धांत से कुछ अंशों में समानता रखती हैं। और इस ग्रंथ के तीसरे भाग में भारतीय स्वतंत्रकला के शास्त्रकारों के मतों से तद्विषयक पाश्चात्य सिद्धांतकारों के मतों की विशद रूप में तुलना करेंगे।

अभिनवगुप्त बहुशास्त्रचिंतक थे। उनसे लिखे हुए पैंतालिस ग्रंथों को हम जान सके हैं। इन ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय हमने अपने पूर्वलिखित ग्रंथ 'अभिनवगुप्त' के दूसरे अध्याय में लिखा है। यद्यपि प्रधानतः वे पूर्वलिखित ग्रंथों के भाष्यकार ही थे फिर भी उन्होंने एक महान् मौलिक प्रतिभा का परिचय अपनी उन कृतियों में दिया है जिनमें मूलतत्त्वशास्त्र (Metaphysics) तथा स्वतंत्रकलाशास्त्र (Æsthetics) विषयक नई विचारधाराओं की स्थापना

की है। उनके रस सिद्धांत का आधार शैवमूलतत्त्वशास्त्र एवं शैवप्रमाण-मीमांसा शास्त्र है। वे वेदान्त मत के अनुयायी नहीं थे जैसा कि कुछ लोग मानते हैं। वे वेदान्त मत के विरोधी थे। इसीलिए उनके रस सिद्धान्त का आधार वेदान्त मत न होकर शैव मत है। इसलिए हम उनके सामान्य दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन संक्षिप्त रूप से तथा जिन सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध उनके रस सिद्धान्त से है उनका उल्लेख कुछ विशद रूप में करेंगे।

अभिनवगुप्त का युक्तिपरिपुष्ट आध्यात्मवाद

अभिनवगुप्त की विचारधारा प्रधानतः आध्यात्मवादी थी क्योंकि उन्होंने अपने दर्शनशास्त्र में सब प्रकार के बहुतत्त्ववाद का खण्डन करते हुए परमसत्य को एकात्मरूप प्रतिपादित किया था। वे उसको पूर्ण रूप से अवर्णनीय मानते थे। वे उस परमसत्य को मानव आत्मा के उस सारतत्त्व के सदृश मानते थे जो उस परमसत्य की ही भाँति अवर्णनीय है, जिसका साक्षात्कार उस समाधि में किया जा सकता है जो कि संयमित तथा नियमित जीवन यापन से प्राप्त होती है। परन्तु इसके साथ-साथ वे युक्तिवादी भी हैं, क्योंकि योग साधना से जिसका साक्षात्कार होता है उसकी सत्यता को वे युक्तियों से सिद्ध भी करते हैं। इस प्रकार से वे युक्तिसंगत आध्यात्मवादी (Rational mystic) कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनके दार्शनिक विचारों का आधार केवल अतीन्द्रिय अनुभव ही नहीं है वरन् युक्ति भी है।

अभिनवगुप्त का ज्ञप्तिवाद (Idealism)

उनको ज्ञप्तिवादी भी माना जा सकता है क्योंकि वे यह मानते हैं कि—

१. परतत्त्व ज्ञप्तिस्वरूप है इन्द्रियग्राह्य नहीं है।

२. सभी ज्ञान अन्तःकरणगत विषयचित्र स्वरूप होता है। ज्ञान का विषय सामान्यों के मिश्रित समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

३. सामान्य सत्य, यथार्थ एवं नित्य होता है। यह प्रमाता की केवल कल्पना पर ही निर्भर नहीं होता। किसी व्यक्ति के मस्तिष्क से इसकी सृष्टि नहीं होती। इसका अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और केवल युक्ति से ही उसको जाना जा सकता है।

४. परमसत्य (Reality) अपने इन्द्रियग्राह्य बाह्यरूप (Appearance) से भिन्न है। परमसत्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र तत्त्व है जब कि इन्द्रियग्राह्य विषय उस पर आधारित है।

५. ज्ञप्ति और उसका विषय एक दूसरे से अभिन्न हैं। ज्ञप्ति से विलग कोई वस्तु नहीं है। ज्ञप्ति ही स्वयं वस्तु है।

६. विषय सम्बन्धी एवं प्रमाता सम्बन्धी ज्ञप्तियों में तात्विक भेद नहीं है। परम आत्मा का क्रियाक्रम उस आत्मा के क्रियाक्रम के समान है जो व्यक्ति के मन में क्रियाशील है।

अभिनवगुप्त स्वीकृत दार्शनिक तत्त्वों में अन्य दार्शनिक मतों का क्रमोचित स्थान

हीगेल की भाँति अभिनवगुप्त भी अपने दार्शनिक तत्त्वों में अन्य दार्शनिक मतों को समुचित स्थान देते हैं। इस प्रकार से वे यह मानते हैं कि वेदान्तमत के प्रतिपादकों ने जिस परब्रह्म का साक्षात्कार किया था—जो उनके लिए परम आध्यात्मिक तत्त्व था वह शैव मत के अनुसार प्रतिपादित तीसरे तत्त्व 'सदाशिव' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। स्थूल दृष्टि से बौद्धमत को स्वदर्शन में प्रतिपादित बुद्धितत्त्व में स्थान देते हैं। शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों ने जिस चरमतत्त्व को स्वीकार किया था वह शैवमत में प्रतिपादित शून्यप्रमाता से भिन्न नहीं है। सांख्यदर्शन में प्रतिपादित चरमतत्त्व (पुरुष) को वे स्वयं प्रतिपादित 'पुरुष तत्त्व' ही मानते हैं। वस्तुतः शैवमत के अधिकांश दार्शनिक सम्प्रदायों में, जिनमें से आठ दार्शनिक सम्प्रदायों का परिचय हमने भास्करी के तीसरे भाग की भूमिका में दिया है, छत्तीस तत्त्वों को स्वीकार किया गया है, जिनमें सांख्य मत में प्रतिपादित प्रसिद्ध चौबीस तत्त्व तथा पुरुष, वेदान्त मत में मान्य माया, तथा दस अन्य तत्त्व सम्मिलित हैं। इन दस तत्त्वों में पाँच लोकोत्तर तथा पाँच व्यक्तिरूप प्रमाता के पाश हैं। इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि सांख्य एवं वेदान्त मतों के प्रतिपादकों ने क्या अपने-अपने मतों में प्रतिपादित तत्त्वों को उन नन्दिकेश्वर द्वारा प्रतिपादित अतीव प्राचीन स्वातन्त्र्यवादी शैवदर्शन से लिया था जो (नन्दिकेश्वर) उपमन्युलिखित गुरुपरम्परा के अनुसार पाणिनि के ज्येष्ठ समकालीन थे? अथवा क्या आदिकालीन शैवमत में सांख्य और वेदान्त मतों में प्रतिपादित तत्त्वों का समन्वय किया गया था? यह ऐसा प्रश्न है जिसकी पूर्णरूप व्याख्या करने के लिए उतना स्थान चाहिए जितना इस ग्रन्थ में हम नहीं दे सकते हैं। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अभिनवगुप्त ने सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य जैसे प्रामाणिक गुरुओं का अनुसरण करते हुए इन तत्त्वों को स्वीकार किया

था और अद्वैतमत के अनुसार उनकी व्याख्या की थी। इन सब तत्त्वों के परे वे उस अनुत्तर को स्थान देते हैं जिसके अन्य सब तत्त्व अभिव्यक्तियां मात्र ही हैं।

अनुत्तर का आध्यात्मिक स्वरूप

हम यह कह चुके हैं कि अभिनवगुप्त का दार्शनिक मत युक्तिपरक आध्यात्मवाद था। उनके मत के अनुसार परमतत्त्व केवल वही नहीं है जिसको युक्ति अपने स्वभाव के कारण स्वीकार करने पर बाध्य होती है वरन् वह भी परमतत्त्व है जिसको समाधिजन्य शुद्ध अतीन्द्रिय आत्मानुभव प्रकट करता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यह वह परम यथार्थ तत्त्व है जिसके परे और कुछ नहीं है। अतएव यह परतत्त्व सभी सीमापाशों से स्वतन्त्र है, असीमित है। सामान्य व्यवहारिक जीवन के ज्ञान क्रिया तथा अनुभव के आधार पर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। उसके विषय में 'यह', 'वह' अथवा 'यह नहीं', 'वह नहीं' नहीं कहा जा सकता। अल्पशक्ति एवं आवरणों से आच्छादित जीवात्मा उसका पूर्णरूप से साक्षात्कार नहीं कर सकता, इसलिए उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यह परमतत्त्व कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका बाह्येन्द्रियों द्वारा अन्य वस्तुओं की भाँति प्रत्यक्ष किया जा सके। यह अन्तःकरणग्राह्य भी नहीं है। इसका केवल आध्यात्मिक साक्षात्कार ही किया जा सकता है। चाहे जिस शब्द अथवा जिन शब्दों का प्रयोग हम उसके स्वरूप का वर्णन करने के लिए करें—उसके यथार्थ स्वरूप को हम प्रकट नहीं कर सकते। क्योंकि शब्द केवल निश्चित अथवा सीमित विचारों को ही प्रकट कर सकते हैं। लेकिन यह परमतत्त्व सीमित नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह परमतत्त्व कोई निस्तत्त्व अभाव अथवा शून्यता मात्र है। वरन् इसका अर्थ यह है कि भाषा इसके यथार्थ स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकती।

पाश्चात्य देशीय प्लुटाइनेस जैसे आध्यात्मवादियों ने भी परमतत्त्व के विषय में इसी प्रकार की बातें कहीं हैं। उनका उल्लेख हम इस ग्रन्थ के दूसरे भाग के पाँचवें अध्याय में करेंगे।

इस परमतत्त्व का साक्षात्कार केवल आध्यात्मिक साधना से ही सम्भव है। यही साधना साधक को यथाक्रम परिच्छिन्न दशाओं को पार कराती हुई परम लक्ष्य तक पहुँचा देती है। इस आध्यात्मिक साधना का प्रयोजन जीवात्मा को उन विविध मलों से मुक्त करना है जो उसमें व्याप्त रहते हैं और उन अनेक

अवच्छेदकों की रचना करते हैं जिनके कारण ही जीवात्मा परम आत्मतत्त्व से भिन्न होती है।

आत्मा के मल

आत्मा में अनादिकाल से व्याप्त उसके पाशरूप मल तीन प्रकार के होते हैं—

१. आणव मल—यह स्वाभाविक अज्ञान है। यह आत्मा के मूल स्वरूप को आच्छादित कर देता है। इस अज्ञान से आत्मा की सर्वव्यापकता तिरोहित हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप उसके यथार्थ रूप का विस्मरण हो जाता है। यह केवल मिथ्या कल्पित अपूर्णता की प्रतीति है। यह अनादि है पर इससे स्वतंत्र हुआ जा सकता है।

२. कार्ममल—अनिश्चितस्वरूप कामना। अनिश्चित एवं असीम कामना आणव मल के कारण उत्पन्न होती है। पूर्ण आत्मा इच्छाशून्य होती है, क्योंकि उसके परे अथवा उससे विलग किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं होता जिसकी कामना वह कर सके। क्योंकि कामना का सम्बन्ध सदैव किसी न किसी विषय के साथ अवश्य होता है, इसलिए कामना करने वाले व्यक्ति में किसी अपूर्णता अथवा अल्पता के बिना इसका अस्तित्व नहीं हो सकता। इस लिए कार्ममल वह अव्यक्त कामना है जो अव्यक्तदशा में विशिष्ट विषय से रहित होती है परन्तु व्यक्तरूप होने पर मायाजनित वस्तुओं के साथ आत्मा के असंख्य सम्बन्धों को उत्पन्न करती है। यह उन कर्मसंस्कारों से भिन्न है जो व्यक्ति के मानसिक एवं शारीरिक विविध कर्मों के परिमित आत्मा पर अंकित प्रभावों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते।

३. मायीय मल—मानसिक-शारीरिक सीमा रूपी पाश। उपर्युक्त दो मलों के कारण आत्मा का सम्बन्ध जिन ऐसी वस्तुओं के साथ होता है जो उसकी मानसिक-शारीरिक शक्तियों को सीमित कर देती हैं उनको पारिभाषिकरूप में मायीय मल कहते हैं। आत्मा को सीमित करने वाले पाँच तत्त्व—(१) कला (२) नियति (३) राग (४) विद्या और (५) काल एवं महान् से लेकर पृथ्वी तक सभी तत्त्व मायीय मल के अंग हैं। इनमें से आवश्यक तत्त्वों का वर्णन हम आगामी उपप्रकरण में करेंगे।

मलों से मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक साधना।

जिस प्रकार से मलों की संख्या तीन हैं उसी प्रकार से उनसे मुक्त होने के लिए तीन प्रकार की विभिन्न आध्यात्मिक साधनाएँ भी हैं। हमने मलों का

उल्लेख अवरोह क्रम से किया है परन्तु आत्मा की उनसे शुद्धि आरोह क्रम से होती है। इसलिए इन साधनाओं का वर्णन हम आरोह क्रम से ही करेंगे—

१. क्रियोपाय—मोक्ष प्राप्ति के लिए यह वह साधना है जिसके अनुसार आत्मसाक्षात्कार करने के लिए बाह्य वस्तुओं जैसे किसी मंत्र का जाप आदि का उपयोग किया जाता है। इस साधना को क्रियोपाय दो कारणों से कहा जाता है—एक तो इसके साधक को आत्मा और विषयरूप संसार दोनों का ज्ञान होता रहता है और दूसरे जप आदि शारीरिक क्रियाएँ इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। यह मायीय मल से मुक्त होने का उपाय है।

२. ज्ञानोपाय—ज्ञान शक्ति से चरम एकत्व का साक्षात्कार करने के लिए बार-बार चेष्टा करना। इस प्रकार से कोई व्यक्ति इस साधना का आरम्भ इस विचार पर मन को स्थिर करने से कर सकता है कि 'यह सब केवल आत्मा ही है।' और अन्य विचारों के निराकरण की चेष्टा बार बार करते हुए परम 'आत्मा' के अटूट साक्षात्कार करने में सफल हो सकता है। इसको ज्ञानोपाय इसलिए कहते हैं क्योंकि मानसिक ध्यानक्रिया इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। यह कार्ममल को नष्ट करने का साधन है। इस साधन से आत्मा और विषयस्वरूप संसार का द्वैत भाव नष्ट हो जाता है, ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं और कामना की गति के लिए क्षेत्र असंभव हो जाता है।

३. इच्छोपाय—समाधि के लिए विशेष प्रयत्न न करते हुए परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए इच्छाशक्ति का उपयोग करना इस उपाय का स्वरूप है। यह सब से उच्च उपाय है और इसके द्वारा सबसे अन्तरतम आणव मल से छुटकारा मिलता है।

४. अनुपाय—अनुग्रह पथ। इन उपायों के विषय में विशद रूप से हमने 'अभिनवगुप्त' नामक ग्रंथ के द्वितीय संस्करण के पृष्ठों (२०७–२११) पर लिखा है। यह उपाय इच्छोपाय का केवल उच्चतम स्वरूप है।

अभिनवगुप्त के मूलतत्त्व चिन्तन का आधार।

युक्तिवाद का विषय सम्पूर्ण अनुभवजनक लोक के प्रयोजन, स्वरूप एवं मूलकारण की व्याख्या करना है। अभिनवगुप्त उन कान्ट के अनुयायियों की भाँति युक्तिवादी नहीं हैं जो यह मानते हैं कि 'मूलतत्त्वदर्शन' एक असंभव विषय है। इसके प्रतिकूल वे उन हीगेल पंथियों के सदृश युक्तिवादी हैं जो

सृष्टि के मूलतत्त्व तथा अनुभवलोक के स्वरूपविषयक समस्या का समाधान करने की गम्भीर चेष्टा करते हैं।

वे न्यायदर्शन के युक्तिवादी यथार्थवाद और वैशेषिकमत के परमाणुवादी बहुतत्त्ववाद के मूल सिद्धान्तों और उनकी विशद व्याख्याओं को पूर्णरूप से अमान्य मानते हैं। उनके मतानुसार ये दार्शनिक मत सामान्य लोगों के दृष्टिकोणों और मतों को प्रकट करते हैं। सांख्यदर्शन के द्वैतवाद, बौद्धमत के विज्ञानवाद और वेदान्तमत के अद्वैतवाद के मूलसिद्धान्तों से उनका मतभेद है।

द्वैतवादी एवं बहुतत्त्ववादी सभी विचारधाराओं को वे इसलिए अमान्य ठहराते हैं क्योंकि इनके मतानुसार आत्म और अनात्म में एक ऐसा समुद्रांश (खाड़ी) है जिसके ऊपर पुल नहीं बांधा जा सकता, इसलिए इन दोनों का संयोग नहीं हो सकता। यदि प्रमातृरूप आत्मा और विषयरूप अनात्म जगत में परस्पर किसी भी प्रकार का संबंध संभव नहीं है और दोनों के स्वरूप तथा स्वभाव परस्पर सर्वथा भिन्न हैं एवं एक दूसरे से स्वतंत्र होकर स्वात्मनिष्ठ हैं तो वे एक दूसरे से उन लकड़ी के दो लट्ठों के समान कभी नहीं मिल सकते जो उन विभिन्न धाराओं में बह रहे हों जो विलग रूप में अपने अस्तित्व को किसी मरुभूमि में खो देती हों।

बौद्धमत के क्षणिकवाद के विषय में उनका मत कुछ और प्रकार का है। वे बौद्धमत के क्षणिकवाद को विचारों या ज्ञप्तियों (Ideas) के क्षेत्र में तो स्वीकार करते हैं परन्तु प्रमातृरूप आत्मा के विषय में बौद्धक्षणिकवाद को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि यदि ऐसे प्रमाताओं का अस्तित्व नहीं है जो विषयगत विचारों को अपनी स्मृति में सुरक्षित रख सकते हों, यदि प्रमाता क्षणिक हों और प्रत्येक विचार के तिरोहित हो जाने के साथ-साथ स्वयं भी तिरोहित हो जाते हों तो विचारों का संगठन जिस पर समूहात्मक ज्ञान निर्भर है असंभव हो जावेगा।

इसी प्रकार से वेदान्तमत में प्रतिपादित 'माया' के सिद्धान्त को वे अस्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है कि माया न तो सत् स्वरूप है और न असत् स्वरूप है इस लिए अनिर्वचनीय है। क्योंकि वेदान्त मत के अनुयायी जब यह कहते हैं कि यह अनिर्वचनीय माया व्यवहारिक जगत का कारण है तो वे स्वसिद्धान्तविरोधी बात कहते हैं। क्या यह मानना कि माया व्यावहारिक जगत का कारण है स्वयं माया की एक परिभाषा नहीं है? इसलिए अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि माया सत्-स्वरूपिणी है

और परतत्त्व की शक्ति है। वे शक्ति एवं शक्तिमान् के अभेद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उचित स्थान पर इस विषय की व्याख्या हम विशद रूप से करेंगे।

अपने लोकोत्तर तत्त्वों के स्वरूप के प्रतिपादन के विषय में अभिनवगुप्त भारतीय व्याकरण दर्शन से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। व्याकरण दर्शन को अत्यन्त प्रामाणिक रूप में प्रतिपादित करने वाले वाक्यपदीयम् के लेखक भर्तृहरि को वे एक महान् प्रामाणिक चिन्तक स्वीकार करते हैं और अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिए बहुधा उनके ग्रन्थ के अंशों को उद्धृत करते हैं। परन्तु स्वाभाविक रूप से 'वाक्' के विभिन्न रूपों के विषय में भर्तृहरि के वाक्यपदीयम् में लिखित इस मत को न मान कर कि परा और पश्यन्ती में कोई भेद नहीं है वे शिवदृष्टि के तीसरे अध्याय में कथित सोमानन्द के इस मत को मानते हैं कि परा पश्यन्ती से भिन्न है। क्योंकि भर्तृहरि ने वाक् के केवल तीन रूपों को स्वीकार किया है ('त्रय्या वाचः परं पदम्'—वाक्यपदीयम् ११५)। और नागेश भट्ट तथा उनके मतानुयायियों ने जो परा को पश्यन्ती से भिन्न माना है उसका कारण वाक्यपदीयम् की अपनी व्याख्या में (पृष्ठ ९७) प्रो० सूर्यनारायण शुक्ल ने शैवागम का प्रभाव बताया है। इसीलिए अभिनवगुप्त 'परा' शब्द का प्रयोग स्वातन्त्र्यशक्ति, प्रत्यवमर्श, विमर्श, स्फुरत्ता तथा महासत्ता के पर्य्याय के रूप में करते हैं। वे लोकोत्तर स्तर पर माया और परावाक् को एकात्म मानते हुए उसको महामाया कहते हैं। इसी प्रकार से अद्वैतवादी शैवमत में प्रतिपादित तीसरे तत्त्व 'सदाशिव' का पश्यन्ती के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं।

परतत्त्व का युक्तिवादी स्वरूप।

अभिनवगुप्त एक आध्यात्मवादी थे। उनके शिष्यों एवं भाष्यकारों ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि उन्होंने परतत्त्व का साक्षात्कार किया था। और जैसा कि हम गत उपप्रकरण में कह आए हैं उनके मत के अनुसार आध्यात्मिक साधना का प्रयोजन मलों को नष्ट करना ही था। इसलिए उनका यह मत था कि लोकोत्तर अनुभव निर्मल, अर्थात् ऊपर लिखे गये उन तीनों मलों से विमुक्त, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विधायक हैं, आत्मा का साक्षात्कार है। इस अनुभव में जीवात्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मूल रूप में जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है। इसलिए अनुत्तर अथवा

परतत्त्व के स्वरूप के विषय में जो विचार उन्होंने प्रकट किए हैं उनका आधार मानव के चित्त का विश्लेषण है। इस प्रसंग में चित्त शब्द का अर्थ आत्मा ही है, जब वह अपने शुद्ध चित्स्वरूप से अवतीर्ण होकर विषयज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है। "चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंवेदिनी चित्तम् ।"

(प्र० हृ०)

मानव के चित्त के विश्लेषण से उसके दो निश्चित रूप स्पष्ट होते हैं :—

१. इस चित्त पर प्रत्यक्ष विषयरूप वस्तुओं एवं अतीतकाल के अनुभवों के संस्कारों का प्रतिबिम्ब समान रूप से पड़ता है—अथवा इनका प्रभाव उस पर पड़ता है। अपने इस रूप में यह चित्त उन चित्तगत चित्रों की आधार भूमि है जो केवल उसी के रूप अथवा वृत्तियाँ ही होती हैं। ये चित्तगत चित्र या तो प्रत्यक्ष करते समय विषयभूत वस्तुओं से उत्पन्न होते हैं अथवा स्मृति, कल्पना अथवा स्वप्न के समय पुनर्जागृत संस्कारों के रूप में होते हैं। अभिनवगुप्त इन्द्रियानुभूतमात्र सत् है इस सिद्धान्त को मानने वाले (Empiricist) नहीं हैं, इसलिए वे यह नहीं मानते कि विषयरूप ज्ञानोत्प्रेरक वस्तु का चित्त पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कि मोम पर मोहर का पड़ता है। इसके विपरीत यह प्रभाव निर्मल दर्पण पर पड़े हुए वस्तु के प्रतिबिम्ब के समान होता है। दर्पण के उपमान का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि चित्त बिना अपनी शुद्धता और भिन्न अस्तित्व का परित्याग किए हुए प्रभाव को स्वात्मतादात्म्य रूप में प्रकट करता है। फिर दर्पण और चित्त में भेद यह है कि बिना बाहरी प्रकाश के दर्पण पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। अन्धकार में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब दर्पण पर नहीं पड़ता। परन्तु चित्त स्वप्रकाश है। बिना किसी बाह्य प्रकाशकारी के भी इस पर प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। इस लिए चित्त का प्रथम स्वभाव स्वप्रकाशता है। इस पर वस्तुओं के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और इससे तादात्म्य रूप में प्रकट होते हैं। चित्त के इस रूप को पारिभाषिक रूप में 'प्रकाश' कहते हैं।

२. चित्त का दूसरा स्वभाव विमर्श अथवा आत्मानुभव है। उसका यह स्वभाव सम्पूर्ण रूप से शुद्ध अपने स्वरूप का अनुभव करता है जैसे कि आध्यात्मिक अनुभव में आत्मा स्वानुभव करता है। यह विमर्श विभिन्न विषयजनित प्रभावों का विश्लेषण अथवा संश्लेषण करने में स्वतंत्र है। यह इन प्रभावों को संस्कार रूप में संचित करता है। अपनी इच्छानुसार, जैसा कि स्मृतिदशा में संभव होता है, यह विमर्श स्मृति भंडार में से कोई अंश लेकर

किसी भी भूतपूर्व मानसिक दशा को उत्पन्न कर सकता है। जैसा कि स्वतन्त्र कल्पना में संभव होता है, यह विमर्श मूल रूप में सर्वथा नवीन मानसिक रचना कर सकता है। चित्त के इस रूप को पारिभाषिक भाषा में विमर्श कहते हैं। यह मानव के चित्त का विलक्षण स्वभाव है। क्योंकि इसी के कारण स्वप्रकाश भानु, मणियों और स्फटिकों से आत्मा का भेद स्पष्ट होता है।

इस प्रकार से मानव का चित्त स्वप्रकाश है, और स्वानुभवकर्ता है। और क्योंकि व्यक्तिरूप आत्मा के साथ विश्वरूप आत्मा अथवा परतत्त्व की एकरूपता है इसलिए परतत्त्व में भी स्वप्रकाशत्व और आत्मचेतनता या स्वानुभवित्व दोनों स्वभाव हैं।

वस्तुतः परतत्त्वविषयक शैवमत और वेदान्तमत में यही भेद है कि शैवमतानुयायी परब्रह्म को स्वप्रकाश ही नहीं वरन् स्वानुभवकर्ता भी मानते हैं जब कि वेदान्तमतानुयायी परतत्त्व को स्वानुभवशील नहीं स्वीकार करते—वे उसको शान्त मानते हैं। उसमें किसी भी प्रकार की क्रिया को स्वीकार नहीं करते। वेदान्तमत के अनुयायी परतत्त्व को प्रगतिशील न मानकर प्रगति-शून्य (कूटस्थ) मानते हैं। उनके मत के अनुसार ब्रह्म स्वप्रकाश तो है परन्तु स्वानुभवशील नहीं है। क्योंकि प्रत्येक चेतना एक प्रकार की क्रिया है इसलिए आत्मचेतना भी एक प्रकार की क्रिया है और इसलिए शान्ति, पूर्ण विश्रान्ति तथा क्रिया-शून्यता को नष्ट करने वाली है। वेदान्त मत के अनुसार ब्रह्म निर्विकल्प है। यह विचार कर कि उसको स्वानुभवशील मानने का अर्थ उसको सविकल्प मानना है वे ब्रह्म को केवल शुद्ध चिन्मात्र ही मानते हैं।

शैवमतानुयायी यह स्वीकार करते हैं कि परतत्त्व केवल स्वप्रकाशमात्र ही नहीं है वरन् स्वानुभवशील भी है और साथ ही साथ निर्विकल्प भी है।

शैवमत के सिद्धान्तकार इसको इस प्रकार से सिद्ध करते हैं :—

विकल्प के कार्य निम्नलिखित हैं—

१. अनेक का एकीकरण। जैसे कि कोई व्यक्ति अनेक शुद्ध प्रत्यक्षों का एकीकरण एक मिश्रित (अनेक प्रत्यक्षयुक्त) पूर्णप्रत्यक्ष में करता है।

२. प्रमाण द्वारा ज्ञात वस्तु की अन्य वस्तुओं से भिन्नता का निर्धारण करना।

३. किसी ज्ञानजनक वस्तु के विषय में विविध प्रकारों की कल्पनाएँ उठाना और उनमें से एक उचित प्रकार को स्वीकार करते हुए अन्य सभी

प्रकारों[1] का परित्याग करना। इस प्रकार से प्रत्येक विकल्प का आधार अनेकता का ज्ञान है चाहे इस अनेकता का एकीकरण किया जाय अथवा उसका उपयोग भेद के ज्ञान के लिए किया जाय। अतएव जहां पर अनेकता का ज्ञान नहीं है वहां पर विकल्प की सम्भावना भी नहीं है। क्योंकि लोकोत्तर आत्मानुभव में (परतत्व अथवा परब्रह्म अनुभव में) आत्मा से भिन्न किसी वस्तु का भान नहीं होता जिससे भेद का ज्ञान संभव हो, क्योंकि लोकोत्तर परब्रह्म में सत् तथा असत् का अस्तित्व नहीं होता जिनमें परस्पर भेद किया जा सके, इसलिए इसको विकल्प नहीं माना जा सकता है।

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि 'विकल्प' शब्द का जो परम्परा-सिद्ध अर्थ है उसको छोड़ कर 'विकल्प' शब्द का प्रयोग एक नए अर्थ में किया गया है। क्योंकि विकल्प शब्द का प्राचीन अर्थ है 'वह ज्ञान जिसको भाषा में व्यक्त किया जा सके'—'साभिलापं विकल्पाख्यम्'। और क्योंकि लोकोत्तर आत्मचेतना के विषय में 'अहम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसके विकल्पत्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ?

इस आक्षेप को खण्डित करने के लिए शैवमत के अनुयायी यह कहते हैं कि केवल वह स्थूल अभिलाप ही 'विकल्प' का कारण होता है जो वागिन्द्रियों के संचालन से उत्पन्न होता है अथवा जिसका स्पष्ट एवं विशिष्ट ज्ञान होता है। परन्तु अभिलाप आवश्यकरूप से सदैव स्थूल ही नहीं होता। अपने चरम रूप में वाक् अथवा अभिलाप सबसे अधिक सूक्ष्म होता है। इसी को व्याकरण-शास्त्र के व्याख्याता 'परावाक्' के नाम से पुकारते हैं और इस रूप में उसको 'परतत्व' रूप मानते हैं। शैवमत के दार्शनिक जिस आत्मचेतना (self-consciousness) की बात करते हैं वह स्थूल नहीं है वरन् परावाक् रूप है। और इस लिए वह सब प्रकार की विकल्पता से मुक्त है।

परतत्व के विषय में शैवमत के अनुयायी यह मानते हैं कि यह आध्यात्मिक अनुभव में अनुभूत अद्वैत है। परन्तु इस अद्वैत अनुभव को जब सयुक्ति समझने के लिए और बोधगम्य व्याख्या करने के लिए तर्कशास्त्र की दृष्टि से देखा जाता है तो इसको स्वप्रकाशता और आत्मचेतना रूप द्वैतयुक्त-सा मान लेते हैं। परन्तु वस्तुतः आत्म-प्रकाश और आत्मचेतना में परस्पर वैसी ही अभिन्नता है जैसी कि अग्नि की अभिन्नता दाहकता के साथ होती है। दोनों एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न हैं। स्वप्रकाशता (शिव अथवा प्रकाश) आत्म-चेतना (शक्ति

---

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग २–२७३–४

अथवा विमर्श) से कभी विलग नहीं होती ।

अतएव युक्तिवादी दृष्टिकोण से परतत्त्व शुद्ध रूप से अद्वैत न होकर द्वैत में अद्वैत की दशा है। परतत्त्व के इस स्वरूप को कलाक्षेत्र में उस मूर्ति में प्रकट किया गया है जिसका दक्षिण अर्ध भाग शिव रूप और वाम अर्ध भाग पार्वती रूप होता है (अर्धनारी नटेश्वर)

शैवमत का गर्भीकृतानन्तरूप अद्वैतवाद

अभिनवगुप्त ने जिस अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है वह शुद्ध अद्वैत नहीं है। क्योंकि परतत्त्व के इस प्रकार के स्वरूप से अनेकता की सृष्टि असंभव है। यदि परतत्त्व में किसी भी रूप से अनेकता वर्तमान नहीं है तो अनेकता किस प्रकार से प्रकट हो सकती है ? परन्तु परतत्त्व की अद्वैतता में जो अनेकता है वह व्यक्तरूप अथवा स्थूल मूर्तरूप नहीं है वरन् सूक्ष्म और अव्यक्तरूप है। यह अनेकता पूर्ण स्वातंत्र्य शक्ति के रूप में होती है जो अपनी अव्यक्त दशा में केवल सूक्ष्म 'अहं विमर्श' होती है। जिस प्रकार से किसी व्यक्ति के स्वप्न दृष्ट चित्र उसकी जागृत दशा में उस व्यक्ति से एकात्म रहते हैं उसी प्रकार से सृष्टि की अनेकता परतत्त्व से एकात्म होकर वर्तमान रहती है। इसको स्पष्ट करने के लिए अधिक यथार्थ दृष्टान्त योगी और उससे रचित सृष्टि है। यह प्रसिद्ध है कि योगी सृष्टि की रचना कर सकता है। जब तक वह इस सृष्टि की रचना नहीं करता तब तक जिस प्रकार से यह अव्यक्तरूप सृष्टि उस योगी से एकात्म रूप रहती है उसी प्रकार से व्यक्त होने के पूर्व शक्ति रूप में विद्यमान अनेकता परतत्त्व से एकरूप रहती है।

शैवमत का स्वातंत्र्यवाद

शैव-स्वातंत्र्यवाद के मतानुसार स्वतन्त्र इच्छास्वरूप विश्वात्म शिव[1] अपने से, अपने में, अपने आप पूर्ण सृष्टि की रचना करता है। अनुभव लोक के सभी विधायक तत्त्व, एकत्व, अनेकत्व, अनेक में एकत्व चाहे वह प्रमातृरूप, प्रमेयरूप, अथवा उनके परस्पर सम्बन्ध स्वरूप हों, जैसे कि कार्यकारणभाव, क्रिया आदि, सभी उसी सर्वथा स्वतंत्र इच्छा की अभिव्यक्तियाँ हैं। सृष्ट्युत्पत्ति सिद्धांत में स्वतंत्र इच्छा सर्वोपरि यथार्थ अथवा परतत्त्व है।

इस प्रकार से स्वातंत्र्यवाद की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं :—

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग १, ३

१. समस्त अनुभवलोक परतत्त्व के साथ उसी प्रकार से एकात्म रहता है जिस प्रकार से कार्यारम्भ करने वाले व्यक्ति के साथ उसकी इच्छा का विषय एकात्म रहता है।

२. जो परतत्त्व से एकात्मरूप है वही उससे विलगरूप में व्यक्त होता है।

३. विविध और विशिष्ट रूप में अभिव्यक्ति का कारण इच्छाशक्ति है।

४. व्यक्तरूप विविधता स्वयं परतत्त्व में निवास करती है और तत्त्वतः उससे एकात्म रहती है। इन मान्यताओं के विरुद्ध आक्षेप क्रमशः निम्नलिखित हैं—

१. स्वातंत्र्यवादी यह मानते हैं कि 'समस्त अनुभवलोक परतत्त्व में निवास करता है' इस तथ्य को हम किस प्रकार से जानते हैं ? और कौन से प्रमाणों से इसको सिद्ध कर सकते हैं।

२. यदि इच्छाशक्ति अनुभवलोक को अपने से बाह्यरूप में व्यक्त करती है तो यह कहना कि यह अपने अन्दर विविधता को व्यक्त करती है अथवा विविधता की आश्रयभूमि बनती है अधिक अर्थपूर्ण नहीं हो सकता। क्योंकि समस्त अनुभवलोक परतत्त्व से बाहर व्यक्त होता है और फिर भी यह अनुभवलोक उस परतत्त्व के अन्दर ही रहता है अथवा उस पर ही आश्रित रहता है यह दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं।

३. स्वातन्त्र्यवादी यह मानते हैं कि व्यक्त विविधता परतत्त्व की अद्वैतता के साथ एकात्मरूप रहती है। परन्तु किस प्रकार से विविधतामय वस्तु उसके साथ एकात्म हो सकती है जो तत्त्वतः अद्वैत है ? क्योंकि द्वैत तथा अद्वैत मूलरूप में एक दूसरे के विरोधी हैं।

४. इच्छाशक्ति अपने को विषयी एवं विषय रूपों में क्यों व्यक्त करती है। क्या इस अभिव्यक्ति का कोई कारण है ? यदि कोई कारण नहीं है तो विविधता की अभिव्यक्ति या तो अन्तहीन होगी अथवा उसका आरम्भ ही नहीं होगा।

स्वातंत्र्यवादी मत के प्रतिपादक इन आक्षेपों का निराकरण निम्नरूप से करते हैं।

१. 'अनुभवलोक की विविधता तथा अनेकरूपता को परतत्त्व अपने से बाहर अभिव्यक्त करता है फिर भी वह उस परतत्त्व में निवास करती है' इस कथन में निहित आत्मविरोध का परिहार किस प्रकार से किया जा सकता है ? इसका उत्तर स्वातंत्र्यवादी यह देते हैं—

किसी ज्ञेय विषय की 'सत्ता' एवं 'अभाव' का ज्ञान उसकी ज्ञेयता पर निर्भर होता है। जब तक कोई वस्तु ज्ञेय नहीं बन जाती तब तक निश्चित रूप से उसकी सत्ता अथवा अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है। और ज्ञेयता तभी होती है जब ज्ञेय विषय एवं ज्ञाता का तादात्म्य हो जाता है।

'वस्तुएं प्रकाशित होती हैं' इस कथन का अर्थ यह है कि ज्ञान के साथ में उनका वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध व्यक्ति प्रमाता का परप्रमाता के साथ होता है। जिस प्रकार से परप्रमाता के साथ एकात्म होते हुए भी व्यक्ति प्रमाता का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार से ज्ञान से एकात्म होते हुए भी ज्ञेय वस्तु की बाह्यविषयरूप विशिष्टता नष्ट नहीं होती। 'बाह्य' अथवा 'विषयरूप' का अर्थ 'अचित्' होना नहीं है। क्योंकि बाह्य को अचित्स्वरूप मानने का अर्थ यह होगा कि ज्ञेयलोक ज्ञान से तत्त्वतः भिन्न होता है और इस कारण द्वैतवाद की कठिन समस्या का सामना हमें करना पड़ेगा। क्योंकि जो ज्ञानस्वरूप नहीं है अर्थात् प्रकाशरूप नहीं है उसको कभी भी प्रकाशित नहीं किया जा सकता। किसी वस्तु का मूल स्वभाव परिवर्तित नहीं होता और यदि कोई स्वभाव परिवर्तित हो जाता है तो वह मूल स्वभाव नहीं है।

अतएव स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार विषयरूप संसार की बाह्यरूप में अभिव्यक्ति का यह अर्थ नहीं है कि वह अज्ञानस्वरूप है। अतः यदि यह अनुभव लोक तत्त्वतः चेतना (Consciousness) से अभिन्न है तो परतत्त्व के साथ उससे अभिव्यक्त लोक की मूल अद्वैतता को किस प्रकार से अस्वीकार किया जा सकता है?

अतएव विषयगत विविधता परमचेतन तत्त्व पर आश्रित है क्योंकि चेतन से सम्बन्धित अथवा उस पर आश्रित रूप में ही वह विविधता प्रकाशित होती है। स्वतन्त्र रूप में कभी प्रकाशित नहीं होती।

२. 'अभिव्यक्त विविधता सर्वव्याप्त चेतना में निवास करती है' यह इसलिए माना गया है क्योंकि प्रत्येक अनुभव एकानेक रूप है, और बिना सामान्य भूमि (Common basis) के अनेकता का एकीकरण नहीं किया जा सकता। इसलिए शैवमत के अनुयायी यह मानते हैं कि जिस प्रकार से बाह्य रूप में प्रकट होते हुए भी स्वप्नगत विविध वस्तुओं में एकता इस कारण होती है क्योंकि वे एक स्वप्नद्रष्टा के अन्तःकरण में वर्तमान होती हैं उसी प्रकार से परतत्त्व से बाहर प्रकट होने पर भी अनुभवलोक की विविधता में एकता इसलिए होती है क्योंकि वह एक परचेतन तत्त्व में निवास करती है। सर्वव्यापी चेतना विषयभूत जगत की स्थायी आश्रय भूमि है। जिस प्रकार से दर्पण के बिना

प्रतिबिम्ब का अस्तित्व नहीं हो सकता, स्वप्न द्रष्टा के बिना स्वप्न का अस्तित्व नहीं हो सकता उसी प्रकार से अनुभवलोक का स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व बिना परतत्त्वरूप चेतना के नहीं हो सकता। जिस प्रकार से अग्निशिखा के साथ किरणें सम्बन्धित होती हैं उसी प्रकार से व्यक्त जगत अभिव्यक्तिकारी सर्वात्म-चेतना से सम्बन्धित होता है। परमयथार्थ तत्त्व और उससे अभिव्यक्त लोक के परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्लुटाइनस ने भी यह कहा है कि यह सम्बन्ध वैसा ही है जैसा सूर्य का उसकी किरणों के साथ होता है। इसका उल्लेख हम इस ग्रन्थ के दूसरे भाग के पाँचवें अध्याय में करेंगे।

३. 'किस प्रकार से व्यक्त अनुभव लोक की विविधता परतत्त्व से एकात्म-रूप से सम्बन्धित होने पर भी उसकी एकता को नष्ट नहीं करती ?' इस प्रश्न के उत्तर में स्वातन्त्र्यवादी यह कहते हैं:—

परम अद्वैतता शून्यरूप[1] नहीं है, अपितु गर्भीकृतानन्तरूप है, अतः पूर्ण है। हीगेल ने स्वप्रतिपादित परतत्त्व के विषय में यह कहा है कि वह विरोधी तत्त्वों की एकता है। परन्तु स्वातन्त्र्यवादी यह मानते हैं कि वह परमतत्त्व केवल विरोधी तत्त्वों की ही एकता नहीं हैं वरन् विविधतागत अनेकता की भी एकता (Unity of distincts) है जैसा कि हीगेल के मत को संशोधित करते हुए क्रोचे ने परतत्त्व के विषय में लिखा है। यदि परतत्त्व शुद्ध अद्वैतरूप हो तो विविधता की अभिव्यक्ति उससे नहीं हो सकती। यदि परतत्त्व में किसी भी प्रकार की अनेकता का अस्तित्व नहीं है तो फिर उसको अनेकता का स्रोत अथवा कारण कैसे माना जा सकता है ? जिन युक्तियों के आधार पर स्पिनोज़ा के शून्यरूप (abstract) अद्वैतवाद का खण्डन हीगेल करते हैं उन्हीं युक्तियों के आधार पर शैवमत के अनुयायी वेदान्त मत में प्रतिपादित शुद्ध शून्यरूप अद्वैत परब्रह्म को अमान्य सिद्ध करते हैं।

४. 'इच्छाशक्ति अपने को विषयिरूप और विषयरूप विविधताओं में क्यों प्रकट करती है ?' अथवा 'क्या अभिव्यक्ति का कोई कारण है ?' इस प्रश्न के उत्तर में स्वातंत्र्यवादी यह कहते हैं कि कार्य-कारण सम्बन्ध से कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर व्याख्या करना नितान्त मतान्धता है। क्योंकि आदिकारण को मानना एक ऐसी रहस्यमय वस्तु को मान लेना है जिसे युक्तियों से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः स्वातंत्र्यवादी

---

[1] ई० प्र० वि० भाग २, २६

स्वतंत्र इच्छाशक्ति को इसी लिए स्वीकार करते हैं क्योंकि कार्य-कारण रूप व्याख्या को वे अत्यन्त असन्तोषप्रद मानते हैं। स्वाभिव्यक्ति इच्छाशक्ति का स्वभाव है।

आभासवाद

जिस प्रकार से परतत्त्व के दृष्टिकोण से शैवमत के जगदुत्पत्ति सिद्धान्त को 'स्वातंत्र्यवाद' कहते हैं उसी प्रकार से अभिव्यक्त विविधता के दृष्टिकोण से उस सिद्धान्त को 'आभासवाद' कहते हैं। विषयभूत संसार में जितनी भी विविधताएँ हैं वे परतत्त्व में उसी प्रकार से पूर्णरूप से एकात्म हैं जैसे कि मोर के अण्डे के अन्दर वर्तमान द्रव पदार्थ में वे सब रंग पूर्ण एकात्म रूप में वर्तमान रहते हैं जो एक तरुण मयूर में पाये जाते हैं। सभी विविधताओं की परतत्त्व में एकात्मता को स्पष्ट करने के लिए शैव मत प्रतिपादक साहित्य में बहुधा इस उपमान का प्रयोग किया जाता है—शास्त्रीय भाषा में इसको 'मयूराण्डरस न्याय' कहते हैं।

परतत्त्व से जो कुछ भी उद्भूत होता है, अथवा जिसको वह व्यक्त करता है उस सबको 'आभास' केवल इसलिए कहते हैं क्योंकि वह अभिव्यक्ति रूप होता है और एक प्रकार की अपूर्णता अथवा अल्पता उसके साथ संलग्न रहती है। इस प्रकार से इस मत में प्रतिपादित प्रथम पदार्थ 'शिव'[1] अथवा 'सामान्य सत्' (universal being) भी एक आभास है। क्योंकि यह भी इस रूप में अपूर्ण है कि परतत्त्व की परम अद्वैत दशा को भग्न कर देता है। यह पदार्थ परतत्त्व के एक अंश को प्रधानतया प्रकट करता है। परतत्त्व के 'प्रकाश' रूप को वह प्रधान रूप से प्रकट करता है। यह वह स्वप्रकाश दर्पण है जिस पर प्रत्येक वस्तु प्रतिबिम्बित होती है। यह सम्पूर्ण अनुभवगम्य विविधता की आश्रयभूमि है। यह अहं रूप है। इसके साथ ही सम्बन्धित होने के कारण अनुभवगम्य ज्ञेय वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। इस पदार्थ के बिना किसी भी प्रकार का अनुभव अथवा ज्ञान सम्भव नहीं है। इसके बिना इसका निषेध भी नहीं किया जा सकता है।

परन्तु यह प्रकाश अथवा 'अहं' केवल स्वप्रकाशमय ही है। यह परतत्त्व के रूप को विश्लेषक के दृष्टिकोण से प्रकट करता है। परतत्त्व के केवल 'स्व-

---

[1] ई० प्र० वि० भाग १, १

प्रकाश' स्वरूप को यह प्रकट करता है उसके 'चेतन' "स्वात्मपरामर्श" रूप को व्यक्त नहीं करता। यह "आत्मपरामर्श" (Self-Consciousness) रूप समस्त पद में आत्मा का वाच्य है। परन्तु आत्मा और चेतना अथवा परामर्श अभिन्न हैं। बिना चेतना के आत्मा नहीं होती और बिना आत्मा के चेतना नहीं होती। जिस प्रकार से दाहकता अग्नि से अभिन्न होती है उसी प्रकार से आत्मा और चेतना अभिन्न होते हैं। हीगेल ने भी 'सत्' को परम पदार्थ स्वीकार किया है क्योंकि 'सत्' की ज्ञप्ति (Idea of being) उन सब ज्ञप्तियों से अधिक सामान्य है जिनको युक्तिपरक बुद्धि विचार सकती है। परन्तु शैवमत के अनुयायी इसको परम पदार्थ इसलिए मानते हैं क्योंकि आध्यात्मिक अनुभव की यह परमोच्च भूमिका है। यह अनुभव की वह भूमिका है जहां पर चेतना भी आत्मा में लीन हो जाती है। अनुभव के इस स्तर पर चेतना उद्बुद्धरूप में नहीं रहती—केवल आत्मा प्रकाशित होती है। यह वह प्रकाश अथवा ज्योति-शिखा है जिसमें चञ्चलता बिलकुल नहीं होती है।

परन्तु कम से कम, अव्यक्त अथवा सम्भावना रूप चेतना के बिना किसी भी आत्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता है। तरंगरूप में बहने की शक्ति के बिना कोई प्रकाश नहीं होता। इसलिए आत्मपरामर्श की शक्ति अथवा चेतना को जिसको शास्त्रीय भाषा में 'शक्ति' कहते हैं शैवमत के अनुसार दूसरा पदार्थ माना गया है।

अभिनवगुप्त रस के अनुभव को इस दूसरे पदार्थ के स्तर से सम्बन्धित मानते हैं। इसलिए हम इस पदार्थ की व्याख्या विशद रूप से करेंगे जिससे कि हम रस के अनुभव के स्वरूप को स्पष्टतया प्रकट कर सकें और यह सिद्ध कर सकें कि वेदान्त मत में प्रतिपादित उन सिद्धान्तों के आधार पर रस के अनुभव की सन्तोषप्रद व्याख्या करना असम्भव है जिनको आधार मान कर आज तक रसविषयक सिद्धान्तकार विद्वानों ने उसकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन समय में ही शैव अद्वैतमत की ज्ञान परम्परा कश्मीर से बाहर प्रदेशों में नष्ट हो चुकी थी और वेदान्त ज्ञान की परम्परा भारतवर्ष के दर्शन लोक भर में सुदृढ़ हो गयी थी। इसलिए अभिनवगुप्त के दार्शनिक सिद्धान्तों को न जानते हुए शास्त्रकार विद्वानों ने अभिनवगुप्त के रससिद्धान्त की व्याख्या उन दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर की जिनको वे उत्कृष्ट मानते थे। अभिनवगुप्त के विषय में जो ग्रन्थ हम लिख रहे हैं उनका मुख्य प्रयोजन ही यह है कि शैव अद्वैतमत की ज्ञान

परम्परा को फिर से प्रतिष्ठित किया जाय और उनके रससिद्धान्त की व्याख्या उनके दार्शनिक मतों के आधार पर की जाय।

चमत्कार रूप में शक्ति पदार्थ

रस के अनुभव के मूल स्वरूप की व्याख्या के प्रसंग में अभिनवगुप्त यह कहते हैं कि निर्बाध प्रतीति में जिस स्थायी भाव का अनुभव किया जाता है वही रस है। 'वीतविघ्न प्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः।' और जब वे निर्बाध प्रतीति अथवा संवित्ति के निहितार्थ की व्याख्या करते हैं तो वे यह कहते हैं कि यह प्रतीति 'चमत्कार' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'चमत्कार' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वे यह कहते हैं कि स्पन्द में लीन ज्ञाता की यह एक क्रिया है। यह स्पन्द एक आश्चर्यजनक भोग है।

'भुञ्जानस्य-अद्भुतभोगात्मकस्पन्दाविष्टस्य'

(१) चमत्कार, (२) भोग तथा (३) स्पन्द अभिनवगुप्त के दर्शन-शास्त्रीय प्रमुख शब्द हैं।

१. 'चमत्कार' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त ने उचित प्रसंगों में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका पर लिखी गई उत्पलाचार्य की विवृति की व्याख्या करते हुए तीन स्थलों पर की है।

अ—स्वभावमवभासस्य १, ५, ११

आ—चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् १, ५, १३

इ—पृथग्दीपप्रकाशानाम् २, ३, ८

२. 'भोग' शब्द की व्याख्या अभिनवगुप्त ने 'स्वस्वरूपापरिज्ञानमयो' ३, १, ३० की व्याख्या करते हुए की है। परन्तु वे साधारण लोकगत भोग और अलौकिक भोग में भेद मानते हैं। अलौकिक भोग को वे 'परमभोग' भी कहते हैं। इसकी व्याख्या वे बृहती विमर्शिनी (१, ५, ११ और १, ५, १२) में करते हैं।

३. स्पन्द शब्द के दर्शन सम्बन्धी अर्थ का विशद स्पष्टीकरण शैवमत के 'स्पन्द' सम्प्रदाय सम्बन्धी ग्रन्थों में जैसे (१) स्पन्दकारिका, (२) स्पन्द-सन्दोह आदि में किया गया है।

यथाक्रम हम इन शब्दों की व्याख्या करेंगे :—

---

[1] अ० भा० भाग १–२८१

'चमत्कार' की व्याख्या के प्रसंग

शैवमत के जगदुत्पत्ति सिद्धान्त के प्रसंग में 'चमत्कार' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है। शैव स्वतन्त्र्यवादी मत के अनुसार सम्पूर्ण सीमित जगत परतत्त्व से उसी प्रकार से उद्भूत होता है जैसे कि एक योगी की अपनी योग-शक्ति से एक सृष्टि का उद्भव होता है। परमाणु आदि उपादान कारणों से—जैसा कि न्याय एवं वैशेषिक मत के अनुयायी मानते हैं—यह सृष्टि सर्वथा स्वतन्त्र है। और यह सम्पूर्ण व्यक्त संसार अव्यक्त रूप से उसी प्रकार से परतत्त्व में वर्तमान रहता है जैसे स्वप्नगत दृश्य एवं विचार सीमित स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति के अन्तःकरण में अव्यक्त रूप से रहते हैं। परमात्मा में जो अव्यक्त रूप से निवास करता है उसके बाहर व्यक्त होने का मूल कारण 'इच्छाशक्ति' ही है। इसके अतिरिक्त स्वातन्त्र्यवादी यह मानते हैं कि व्यक्त होने वाली विविधता परतत्त्व में उसी प्रकार से निवास करती है जैसे कि बनाया जाने वाला घड़ा विचार रूप में कुम्हार के मन में निवास करता है। क्योंकि घट का यही विचार कुम्हार की शारीरिक क्रियाओं का एकलक्ष्यमुखी परिचालन करता है। इस प्रसंग में स्मरणीय यह है कि इच्छाशक्ति के जगने के पूर्व सम्पूर्ण सृष्टि परतत्त्व के साथ और घट कुम्हार के साथ एकात्म रहता है।

इस प्रकार से शैव स्वातन्त्र्यवादी यह मानते हैं कि विषयभूत जगत् परतत्त्व की इच्छा का अभिव्यक्त रूप है। गत पृष्ठों में हम यह कह आए हैं कि यह इच्छाशक्ति 'विमर्श' अथवा 'आमर्श' ही है। इसलिए इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि यदि इच्छाशक्ति विषयसंबद्ध है और इसलिए भाषा में उसके स्वरूप को व्यक्त किया जा सकता है तो क्या यह अभ्युपगम इस सिद्धान्त का विरोधी नहीं है कि परतत्त्व सभी प्रकार के विकल्पों से शून्य है?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर १-५-११ श्लोक में दिया गया है। इसी श्लोक में 'चमत्कार' शब्द के अर्थ को भी स्पष्ट किया गया है—श्लोक का भावार्थ निम्नलिखित है :—

परतत्त्व केवल स्वप्रकाश ही नहीं है वरन् उसको आत्मज्योति का विमर्श भी होता है। यह आत्मविमर्श ही उसका मूल स्वभाव है। इसी स्वभाव के कारण यह परतत्त्व स्फटिक आदि स्वप्रकाश पदार्थों से भिन्न होता है।

स्वतन्त्रता इस विमर्श का स्वभाव है। स्वातन्त्र्यवादी जिस इच्छाशक्ति का प्रतिपादन अपने शास्त्र में करते हैं वह 'स्वातन्त्र्य' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस 'स्वातन्त्र्य' का अर्थ है किसी भी रूप में परावलम्बी न होना, जो

परतत्त्व में अव्यक्त रूप से वर्तमान है उसको व्यक्त करने की स्वतन्त्रता और जो व्यक्त है उसको अव्यक्त बनाने की स्वतन्त्रता। यह स्वतन्त्रता परतत्त्व का मूल स्वभाव है। और इच्छाशक्ति इस स्वतन्त्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परतत्त्व की आत्माभिव्यक्तिविषयक स्वतन्त्रता ही यह इच्छाशक्ति है। यह स्वात्माभिव्यक्तीकरण विषयक स्वतन्त्रता की उद्भूति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। इस दशा में बाह्य के साथ उसका किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। इस दशा को अखण्ड और शाश्वत सर्वव्यापी आत्मविमर्श का किंचित विकास माना जा सकता है क्योंकि इस दशा में उसका स्वातन्त्र्य प्रधान हो जाता है। इसलिए इस दशा में किसी भी प्रकार की विकल्पता का अस्तित्व नहीं होता है। क्योंकि विकल्पता वह सीमित प्रतीति है जिसका सम्बन्ध देश एवं काल से परिच्छिन्न उस सीमित ज्ञेय वस्तु के साथ होता है जो ज्ञाता से भिन्न एवं स्वतन्त्र होती है। इस दशा में विकल्पता इसलिए असम्भव होती है क्योंकि देश और काल माया से उत्पन्न होते हैं और स्वतन्त्रता मायोत्तीर्ण है, क्योंकि इस दशा में विषयभूत 'वस्तु' और ज्ञाता रूप 'अहं' दोनों अभिन्न होते हैं—उनमें परस्पर कोई भेद नहीं होता है।

इस प्रसंग में उत्पलाचार्य यह कहते हैं कि अगर परतत्त्व विमर्श (इच्छा-शक्ति की स्वतन्त्रता से) रहित है और केवल प्रकाश (स्वप्रकाश) रूप है तो स्फटिक मणि की ही भांति वह एक जड़ पदार्थ है। अपने इस कथन में वे विमर्श शब्द के स्थान पर[1] 'चमत्कृति' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने चमत्कार शब्द के अर्थ में जो जगदुत्पत्ति सिद्धान्त सम्बन्धी एवं रसानुभव सम्बन्धी भाव हैं उनको स्पष्ट किया है।

सबसे पहिले उन्होंने चमत्कार शब्द के लोकसिद्ध सामान्य अर्थ का उल्लेख किया है। इसके अनुसार इस शब्द का अर्थ वह आनन्द है जो आनन्दप्रद अनुभव की प्राप्ति होने पर अनुभवकर्ता की परिच्छिन्न स्वात्म-परामर्शरूप क्रिया के रूप में प्रकट होता है। इस सामान्य लोकसिद्ध अर्थ से इसके शास्त्रीय अर्थ की भिन्नता का उल्लेख करते हुए वे यह कहते हैं कि शैवमत में इस शब्द का प्रयोग शास्त्रीय अर्थ में किया गया है और तदनुसार उसका अर्थ 'आत्मपरामर्श' है। आत्मपरामर्श का अर्थ उस आत्मा का परामर्श है जो सभी प्रकार की सीमाओं एवं अपूर्णताओं से रहित है। यह आत्मपरामर्श सामान्य रूप में वह विमर्श है

---

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग २–१७७–९

जो 'प्रकाश' का सर्वप्रधान स्वभाव है। इसी के कारण स्वप्रकाश स्फटिक मणियों आदि से यह परतत्त्व भिन्न होता है।

इसी को विशद रूप से निम्नरूप में कहा जा सकता है—

एक व्यक्ति है। किसी कारणवश वह अपनी आत्मा का शरीर के साथ पूर्ण तादात्म्य मान लेता है। इसलिए वह एक सीमित अथवा अपूर्ण भोक्ता व्यक्ति है। उसका पेट खाली है और वह विकट रूप से क्षुधित है। कुछ खाद्य पदार्थ को पाने के लिए उसका सम्पूर्ण अन्तःकरण व्यग्र और अत्यन्त व्याकुल है। पर कहीं पर भी उसको कुछ खाद्य वस्तु दिखाई नहीं पड़ रही है। ऐसी दशा में इस व्यक्ति की सम्पूर्ण मानसिक शक्ति, उसकी पूरी विचार शक्ति, स्वभावतः खाद्य वस्तु की प्राप्ति में लग जाएगी और आत्मविमर्श के प्रति उन्मुख नहीं होगी। इसलिए ऐसी दशा में वह आनन्दशून्य है। परन्तु ज्यों ही उसका पेट भर जाता है त्यों ही उसकी मानसिक शक्ति आत्मा की ओर उन्मुख होती है और उसको 'एषणीय' तथा 'इच्छा' से स्वतन्त्र परिच्छिन्न आत्मा का अनुभव होता है। सामान्य लोक-सिद्ध भाषा में ऐसे व्यक्ति के विषय में यह कहा जाता है कि वह 'आनन्दित' है। परन्तु मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि इसकी विचारधारा स्थायीरूप से आत्माभिमुखी नहीं रह सकती। सदैव एक न एक अपूर्ण इच्छा उसके साथ लगी रहती है और वह उसको पूर्ण करने वाली वस्तु को पाने के लिए सदैव ही चेष्टा किया करता है। जैसे कि वह व्यक्ति जिसकी भूख शान्त हो चुकी है स्वभाविक रूप से किसी रमणी के विषय में चिन्ता करेगा जिसका आलिंगन वह कर सके। इस प्रकार से सांसारिक काम्य वस्तुओं की प्राप्ति कभी भी शान्ति, अविच्छिन्न सुख, आत्मविश्रान्ति अथवा आनन्द को उत्पन्न नहीं करती। एक कामना के विषय की प्राप्ति दूसरी अप्राप्त विषय की कामना की ओर मन को ले जाती है, अथवा प्राप्त की सुरक्षा की चिन्ता को उत्पन्न करती है या प्राप्त के खो जाने का भय उसके मन में जागृत करती है। इसलिए इच्छा के लौकिक विषय को प्राप्त करने से जो आनन्द किसी व्यक्ति को प्राप्त होता है वह अपूर्ण होता है क्योंकि उसकी प्राप्ति के बाद ही अन्य अतृप्त कामनाओं का जन्म होने लगता है, सुरक्षा की चिन्ता अथवा उसके खो जाने का भय उत्पन्न होता है। कामना को तृप्त करने वाली विषयवस्तु की प्राप्ति से जो आनन्द का परमाणु अनुभव में आता है उसका कारण क्षण भर के लिए आत्मपरामर्श ही है। जैसे कि एक रसिक व्यक्ति जब स्वाद लेता हुआ किसी स्वादिष्ट भोजन को खाता है—केवल उसे निगलता ही नहीं जाता—अर्थात् वह विशेष स्वाद से प्रभावित स्वात्मा का

अनुभव करता है अथवा जिस समय वह परिच्छिन्न आत्मरूप का अनुभव प्रधानतः करता है तो यह क्षण भर के लिए आनन्द का अनुभव करता है। जो व्यक्ति स्वात्मरूप में निमग्नता अथवा विश्रान्ति की दशा (प्रमातृ–विश्रान्ति) में होता है उसको शास्त्रीय भाषा में 'भुंजान' कहते हैं।

इसी प्रकार से जब कोई रसिक सहृदय व्यक्ति रंगमंच पर प्रदर्शित किसी उत्तम नाटक को देखता है उस समय वह प्रमातृविश्रान्ति की दशा को प्राप्त होता है। रस के चरम अनुभव में जो प्रमातृविश्रान्ति होती है वह निम्नलिखित कारणों से अन्नादि के स्वाद के अनुभव के समय की प्रमातृविश्रान्ति से भिन्न होती है—

१. स्वादिष्ट भोजन में 'स्वाद' की विषयरूपता नष्ट नहीं होती।

२. अस्वाद्य विषय का संबंध उस भोक्ता व्यक्ति के साथ होता है जिसने अपना तादात्म्य अपनी इन्द्रियों के साथ कर लिया है।

३. परन्तु रस के अनुभव के चरम रूप में विषय सर्वथा नष्ट हो जाता है। उपचेतन (subconscious) में वर्तमान स्थायी भाव विषय रूप में प्रतीत नहीं होता। इसका संबंध नाटक के नायक के साथ भी नहीं होता। इसमें उद्बोधित वासना फिर से उपचेतन में लीन हो जाती है। यह द्वंद्वपरक सभी संबंधों से रहित होता है।

४. रस के अनुभव में सहृदय व्यक्ति भी विशिष्टताविधायक सभी तत्त्वों से रहित होता है। उसका साधारणीकरण हो जाता है। उसका अनुभव उन सब विघ्नों से शून्य होता है जिनका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में रससिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रसंग में किया है। इन विघ्नों के विषय में हम अगले अध्याय में लिखेंगे।

५. रस के चरम अनुभव में विषयज्ञान का सर्वथा अभाव होता है। रस के अनुभव की विशेषता 'विमर्श' की प्रधानता है। अर्थात् रसानुभव साधारणीकृत संवित् का अविच्छिन्न अनुभव है। इसी को 'रसना' 'चर्वणा' 'निर्वृति' अथवा 'प्रमातृविश्रान्ति' कहते हैं। इसलिए अभिनवगुप्त के मत के अनुसार 'चमत्कार' का अर्थ उस संवित् अथवा विमर्श का अनुभव है जो अपने सामान्यरूप में 'स्वप्रकाशता' अथवा 'प्रकाश' से अभिन्न है और इसीलिए सभी प्रकार की अपूर्णताओं से रहित है। यह साक्षात्कार क्षणिक न होकर कुछ समय तक अविच्छिन्न और निर्बाध होता है। यह चमत्कार शब्द 'रस' 'आनन्द' एवं 'परमभोग' का पर्यायवाची है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि स्वादिष्ट भोजन के आस्वादन में

और रसास्वादन में भेद यह है कि भोजन के आस्वादन में विषयानुभव के रूप में विघ्न वर्तमान रहता है जब कि रसास्वादन में इस प्रकार के सभी विघ्नों का सर्वथा अभाव रहता है। यद्यपि रसानुभव के कारण स्वरूप रंगमंच पर प्रदर्शित वस्तुओं के संस्कारों की सत्ता रसानुभव काल में नहीं होती यह नहीं कहा जा सकता है, फिर भी एक सहृदय व्यक्ति इन संस्कारों से परे हो जाता है, अपनी (रस) प्रतीति में इनको प्रधान रूप नहीं होने देता और इस प्रकार से 'परमानन्द' का उसको अनुभव हो जाता है।

शैवमत में प्रतिपादित दूसरे पदार्थ की विलक्षणता विमर्शप्रधानता है—यह हम कह चुके हैं। विमर्श शब्द 'आनन्द' और 'परमभोग' का पर्यायवाची है। गत व्याख्या से यह स्पष्ट हो चुका है कि 'चमत्कार' और 'रसना' शब्द 'विमर्श' शब्द के समानार्थक हैं। इससे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि अभिनवगुप्त के मतानुसार रस के अनुभव का संबंध शैवमत में प्रतिपादित दूसरे पदार्थ से है जिसको शास्त्रीय भाषा में 'शक्ति' कहा गया है। अभिनवगुप्त ने स्वयं यह स्पष्ट कहा है कि उन्होंने इसी दार्शनिक आधार पर अपने रससिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसका उल्लेख उन्होंने अभिनव भारती में प्रतिपादित रससिद्धान्त के संबंध में 'चमत्कार' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में किया है।

शैवमत के अनुसार 'भोग' शब्द का अर्थ

शैवमत के अनुसार 'भोग' शब्द के अर्थ की व्याख्या निम्नलिखित ग्रन्थों में की गई है :—

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका का तत्त्वसंग्रहाधिकार।

२. उत्पलाचार्य लिखित तद्विषयक व्याख्या 'विवृति'।

३. अभिनवगुप्त लिखित तद्विषयक दो व्याख्याएं—विमर्शिनी, और विवृतिविमर्शिनी। जैसा कि नाम से स्पष्ट है ग्रन्थ के इस अधिकरण में शैवमत का उल्लेख संक्षिप्त रूप में किया गया है। आरम्भ में व्यक्तिरूप प्रमाता के सुख-दुःख के अनुभव की अथवा भोग की उपाधियों के संबंध में परतत्त्व की व्याख्या की गई है। इसमें निम्नलिखित विषयों की व्याख्या की गई है—

१. व्यक्ति प्रमाता का उद्भव, २. उसके विशिष्टगुण और ३. भोग—अपूर्णता के परिणामस्वरूप सुख-दुःख आदि के अनुभव। इनमें से प्रत्येक की व्याख्या हम करेंगे।

भोग के संबंध में परतत्त्व का स्वरूप

भोग के संबंध में परतत्त्व को शास्त्रीय भाषा में 'महेश्वर' कहते हैं। वह एक है। वह सब चेतन प्राणियों की आत्मचेतना (Self-consciousness) है। इस रूप में वह विशिष्ट आत्मचेतनाओं का योगफल मात्र नहीं है। इसके प्रतिकूल वह एक अखण्ड आत्मचेतना है जो अपने में प्रतिबिंबित उन विशिष्ट वस्तुओं के सभी रूपों का अनुभव करता है जो उससे तादात्म्य संबंध से सम्बन्धित प्रकाशित होती हैं। वह सभी अनेकताओं और विविधताओं का अनुभव अपने से तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बन्धित रूप में करता है। उसका अनुभव 'अहंमिदम्' (मैं यह हूँ) के रूप में होता है। वह इदन्ता का अनुभव अपने से बाहर विषयरूप में न कर अपनी ही अभिव्यक्ति के रूप में करता है। वह भेद में अभेद, अनेकता में एकता तथा विशेष में सामान्य है। वह ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र में व्यक्त रूपों को व्यक्त करने वाला है। जिस प्रकार से व्यक्ति के अन्तःकरण में विचार निवास करते हैं उसी प्रकार से सभी अनेकताएं उसमें निवास करती हैं।

'वह सभी जीवधारियों की आत्मचेतना है'—इसको निम्नलिखित रूप से सिद्ध किया गया है—

यह अनुभवसिद्ध सत्य है कि निर्जीव वस्तुएं स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित नहीं होतीं। यह मानना कि वे स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित होती हैं अनुभव से असिद्ध है इसलिए उसको माना नहीं जा सकता है। जब कभी भी और जहां कहीं भी निर्जीव वस्तुएं प्रकाशित होती हैं उनका सम्बन्ध आत्मचेतना के साथ अवश्य रहता है—प्रकाशित होने के लिए वे उस पर निर्भर होती हैं। इसलिए निर्जीव वस्तुओं में आत्मचेतना नहीं होती यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। यह आत्मचेतना केवल जीवधारियों में ही होती है। इस रूप में यह आत्मचेतना सामान्य चेतना होती है और देश एवं काल की सीमाएं उसका स्पर्श नहीं करतीं, क्योंकि प्रकृति के क्षेत्र में जो विषयभूत है वही देश-काल से आबद्ध होता है, जैसे शरीर और प्राण अपान वायु आदि। और जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, ये शरीरादि तथा काल आदि स्वतन्त्ररूप में स्वयं प्रकाशित नहीं होते। जिनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है वे उसको कैसे सीमाबद्ध कर सकते हैं जो उनके अस्तित्व का आधार है। इसलिए वह परतत्त्व अथवा सर्वव्यापी आत्मचेतना जिसको शास्त्र की भाषा में 'महेश्वर' कहा गया है सभी प्राणियों की आत्मचेतना है। वह स्वतन्त्र है। वह सभी विशिष्टरूप अनेकताओं को अपने अन्दर ही व्यक्त करता

है और इसलिए वह पूर्ण है, क्योंकि सम्पूर्ण विषयभूत विशिष्टरूप जगत् उसमें निवास करता है और उससे पृथक् रूप में प्रकाशित न होकर उससे[1] तादात्म्य-रूप हो कर प्रकाशित होता है।

व्यक्तिप्रमाता—पशु

शैवमत में व्यक्ति रूप प्रमाताओं अथवा कर्त्ताओं को शास्त्रीय भाषा में 'पशु' कहा गया है। इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है—

यदि महेश्वर (परतत्त्व) सभी प्राणधारी जीवों की आत्मचेतना है और सभी पाशों से रहित है तो व्यक्तिरूप प्रमाताओं के उन पाशों से बद्ध होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता जिनसे व्यक्तिरूप प्रमाताओं को मुक्त करना शैवमत का लक्ष्य है। इसका उत्तर यह है।

अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का अर्थ है सामान्य के विशेषीकरण (Concretisation) की प्रक्रिया। और विशेषीकरण का अर्थ है भेद, विविधिता, तथा अवच्छेदकों की उत्पत्ति। इसका अर्थ है एकता का अनेकता के रूपों में विभाजन, विषयभूत 'एक' का 'अनेक' वस्तुओं के रूप में प्रकटीकरण। इन अनेक विषयभूत वस्तुओं में शरीर, बुद्धि तथा प्राणवायु भी हैं। सर्वव्यापी आत्मचेतना के विशेषीकरण का अर्थ है उसका शरीर बुद्धि आदि की अनेकता की प्रत्येक विषयभूत वस्तु के साथ अलग-अलग तादात्म्य और उसके परिणाम स्वरूप उन आत्मचेतनाओं की अनेकता की उत्पत्ति जो विभिन्न शरीरों, बुद्धियों तथा प्राणों से परिसीमित हैं। इस अवस्था में आत्मचेतना के मूल स्वरूप के विषय में अज्ञान उत्पन्न होता है। शास्त्र की भाषा में इसको स्वरूपाख्याति कहते हैं। व्यक्ति प्रमाता के दो महत्त्वपूर्ण विधायक तत्त्व हैं, एक तो आत्मचेतना के मूलस्वभाव के विषय में अज्ञान और दूसरे शरीर आदि के साथ तादात्म्य। जिस प्रकार से वे विषय जिनके साथ तादात्म्य होता है अनेक हैं उसी प्रकार से व्यक्ति प्रमाता भी अनेक हैं। आत्मचेतना के विषय में अज्ञानी होने के कारण वे व्यक्ति प्रमाता पाशबद्ध होते हैं। अतएव इन्हीं पाशों से मुक्त होने के लिए शैवमत का प्रतिपादन किया गया है।

व्यक्ति प्रमाता के गुण

शैवमत के अनुसार परतत्त्व (महेश्वर) का व्याख्यान जब ज्ञान और क्रिया के प्रसंग में किया जाता है तब उसमें तीन शक्तियां मानी जाती हैं—

[1] ई० प्र० वि० भाग २–२५०–१

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं मायाशक्ति। अतएव जब सामान्य का विशेषीकरण (Concretisation of the universal) होता है, जैसा कि हम गत उपप्रकरण में स्पष्टरूप से लिख आए हैं, तो सामान्य की ये शक्तियां भी परिसीमित हो जाती हैं—उस दशा में इनको शक्ति न कह कर गुण कहने लगते हैं। ये गुण तीन हैं—सत्त्व, रजस् एवं तमस्।

शक्ति और गुण में भेद

यदि सत्त्व, रजस् एवं तमस् महेश्वर की शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं और उन दोनों में भेद केवल इतना है कि व्यक्ति प्रमाताओं से सम्बन्धित होने के कारण ये शक्तियाँ भी परिसीमित हो जाती हैं तो प्रश्न यह उठता है—'इन गुणों को व्यक्ति प्रमाताओं से भिन्न क्यों माना जाता है—और इनको शक्तियाँ न कह कर गुण[1] क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

न्यायमत के अनुयायी यह मानते हैं कि शक्ति और शक्तिमान् मूलरूप से परस्पर भिन्न होते हैं, परन्तु शैवमत में शक्ति और शक्तिमान् के अभेद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है (शक्तिशक्तिमतोरभेदः)। और ज्ञान एवं क्रियाशक्तियों की विशेषता यह है कि उनकी अभिव्यक्तियां उनसे अभिन्न एवं एकात्म रूप होती हैं। विना किसी विच्छेद अथवा विराम के निज विषयों को अपने से अभिन्न रूप में अभिव्यक्त करना इन शक्तियों का मूल स्वभाव है। अतएव यदि सत्त्व, रजस् एवं तमस् को व्यक्ति प्रमाता के गुण न मान कर शक्तियां मान लिया जाय तो परिणाम यह होगा कि (१) व्यक्ति प्रमाता के ज्ञान एवं क्रिया को भी शाश्वत और विच्छेदहीन मानना होगा परन्तु वे व्यक्तिप्रमाता में शाश्वत तथा विच्छेदहीन नहीं हैं। (२) व्यक्तिप्रमाता का उनसे स्वतन्त्र होना असंभव मानना पड़ेगा क्योंकि शैवमत के अनुसार शक्ति और शक्तिमान् में एकात्मता तथा अभिन्नता होती है। (३) शैवमत में प्रतिपादित अन्तिम तेइस पदार्थ (मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियां, पाँच तन्मात्राएँ पाँच महाभूत) सत्त्व आदि के कार्य अथवा अभिव्यक्तियाँ हैं। परन्तु यदि सत्त्व आदि को व्यक्ति प्रमाता की शक्तियाँ मान लें और इसलिए उससे एकात्म स्वीकार कर लें तो प्रकृति-जगत को व्यक्तिप्रमाता से की गई अभिव्यक्ति मानना पड़ेगा और यह स्वीकार करना होगा कि प्रकृति-संसार व्यक्ति-

[1] ई० प्र० वि० भाग २, २५५-६

प्रमाता से विलग नहीं है वरन् एकात्म है। ऐसी दशा में व्यक्ति प्रमाता व्यक्ति न रहकर स्वयं महेश्वर हो जाएगा। इसी लिए शैवमत के शास्त्रकार सत्त्वादि को व्यक्ति प्रमाता की शक्तियां न मान कर गुण ही मानते हैं। गुण और शक्ति में भेद यह है कि शक्ति तो शक्तिमान् से एकात्म होती है पर गुण गुणवान् से भिन्न, बाह्य और केवल उपकरण रूप होते हैं इसलिए उन व्यक्ति प्रमाताओं की व्याख्या के प्रसंग में जिनकी विशिष्टता का कारण आत्मस्वरूप के यथार्थ रूप का अज्ञान है, सत्त्वादि को शक्तियां न मान कर गुण ही मानना चाहिए।

सत्त्व, रजस्, तमस् एवं सुख, दुःख तथा मोह

एक गत उपप्रकरण में हम यह कह आए हैं कि महेश्वर (परतत्त्व) की ज्ञान, क्रिया एवं माया की शक्तियां व्यक्ति प्रमाताओं (पशुओं) में सत्त्व, रजस्, एवं तमस् के गुणों के रूपों में प्रकट होती हैं। इस सिद्धान्त को एक दूसरे अनुवर्ती श्लोक में निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया गया है :—

महेश्वर 'होने में'[1] स्वतन्त्र है (भवने स्वतन्त्रः)। इस होने की स्वतन्त्रता को शास्त्रीय भाषा में 'सत्ता' तथा 'स्फुरत्ता' कहते हैं। यह सत्ता उस विमर्श से अभिन्न है जो 'होने' की इस स्वतन्त्रता को संकेतित करता है और इसीलिए जिसको 'क्रिया' कहा जा सकता है। इस प्रसंग में क्रिया का अर्थ ज्ञानरूपी क्रिया भी है। क्योंकि ज्ञान एवं क्रिया में भेद यह है कि क्रिया में ज्ञान से अधिक विषय-भूत जगत की प्रधानता होती है। इस विमर्श को ही आनन्द इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसका संबंध किसी भी इससे बाह्य विषयभूत वस्तु के साथ नहीं होता और इसकी विलक्षणता यह है कि अपने से अविभाज्य आत्मरूप—प्रकाश में विश्रान्त रहता है।

व्यक्ति प्रमाता के सम्बन्ध में 'सत्ता' एवं आनन्द, गुण के रूप में प्रकट होते हैं क्योंकि माया उनको आच्छादित कर देती है जिससे 'सत्ता' और आनन्द का पूर्ण अस्तित्व प्रकट नहीं होता। व्यक्ति प्रमाता में सत्ता और आनन्द का जो अंश प्रकट होता है वही सत्त्वगुण है। यह ज्ञान की अपूर्ण ज्योति है। इसका सम्बन्ध विषयभूत संसार के किसी अंशमात्र से होता है। यह गुण कुछ वस्तुओं को (ज्ञान के) प्रकाश में लाता है परन्तु शेष अन्य वस्तुएं (अज्ञान के) अंधकार में रखता है। इस परिच्छिन्न प्रकाशकता का कारण आत्मा की प्रकाशकता की परिच्छिन्नता है। परन्तु प्रकाश की विमर्श

[1] ई० प्र० वि० भाग २, २५७–८

से पृथक् स्थिति नहीं होती और प्रकाश में विश्रान्त विमर्श आनन्द है। इसलिए इसका दूसरा रूप व्यक्ति के चित् रूप का अपनी सीमित प्रकाशरूप आत्मा में विश्रान्ति की दशा में प्रकट होता है। यह आत्मविश्रान्ति महेश्वर की उस आत्म-विश्रान्ति से भिन्न है जिसको शास्त्र की भाषा में 'आनन्द' कहते हैं। आनन्द से भिन्नता प्रकट करने के लिए व्यक्ति प्रमाता की आत्मविश्रान्ति को सुख कहते हैं। इस प्रकार से यह सत्त्व विषयभूत जगत् की प्रकाशक सीमित एवं स्वप्रकाश ज्योति है। प्रकाश और सुख स्वरूप होने के कारण यह 'आनन्द' का ही आंशिक रूप है।

सत्ता और आनन्द के सीमित व्यक्त रूपों को जो पूर्णतया आवृत कर लेता है वह 'तमस्' गुण है। अतएव तमस् गुण की विशेषता यह है कि इसमें ज्ञान का सीमित प्रकाश और सुख नहीं होते। यह पूर्णरूप से अन्धकार है, सम्पूर्ण अज्ञान रूप है। यह एक नकारात्मक गुण है। इसमें सुख-दुःख दोनों नहीं होते। यह पूर्ण मोह की दशा है।

सत्त्व और तमस् गुणों का मिश्रित रूप रजस् है। यह प्रकाश तथा अन्धकार का मिश्रित रूप है। यह सत् और असत् दोनों है। जिस प्रकार से एक चित्र में प्रकाश और छाया साथ-साथ प्रकाशित होते हैं अथवा एक मयूर के पंख में अनेक रंग एक साथ ज्योतित होते हैं उसी प्रकार से इस गुण में सत्त्व और मोह, सत् और असत्, एक साथ प्रकाशित होते हैं। इसकी विशेषता यह है कि यह विश्रामहीन अथवा सदैव चलायमान रहता है और इसलिए दुःख इसका मूलस्वभाव है। क्योंकि दुःख विश्रामहीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह पूर्णरूप से अभावात्मक नहीं है। इसमें भावात्मक तत्त्व भी होता है। सत् और असत् का मिश्रित रूप होने के कारण यह 'क्रिया' रूप भी है, इसलिए इसमें सक्रमता भी होती है जो 'क्रिया' का विशेष लक्षण है।

सुख और दुःख विषयभूत संसार से सम्बन्धित रहते हैं। सुख की दशा वह है जिसमें विषयवस्तु उन सब रूपों में उपस्थित होती है जिनकी इच्छा व्यक्तिप्रमाता करता है। इस प्रकार से हमें उस समय सुख होता है जब हम अपनी सन्तानों को उन स्ववाञ्छित गुणों से सम्पन्न देखते हैं जिनकी इच्छा हम करते हैं। परन्तु जब हम अपनी सन्तानों को किसी रोग से पीड़ित देखते हैं और उनको पूर्ण स्वस्थ नहीं पाते तो हमें दुःख होता है। उपर्युक्त सुख की दशा में केवल 'सत्ता' का ही ज्ञान रहता है। परन्तु दूसरी दुःख की दशा में 'सत्ता' का ज्ञान 'असत्' से मिश्रित रूप में रहता है।

व्यक्ति-प्रमाता के गुण तथा भोग

अतएव भोग उन सुख, दुःख एवं मोह के अनुभव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो सत्त्व, रजस् और तमस् के क्रमशः रूप हैं। इस भोग का कारण व्यक्तिप्रमाता का अपने मूल स्वभाव के विषय में अर्थात् महेश्वर के साथ उसका तादात्म्य है इस विषय में अज्ञान ही है। शैवमत के अनुसार 'भोग' और 'परमभोग' की दशाओं में भेद है। भोग व्यक्ति प्रमाता का अनुभव है और इसमें सुख, दुःख तथा मोह होते हैं। परमभोग सर्वव्यापी आत्मा का अनुभव है। परमभोग का विषयवस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं होता। यह सर्वव्यापी आत्मा की पूर्ण आत्मविश्रान्ति की दशा है।

उपसंहार

शैवमत में प्रतिपादित परतत्त्व एवं उसके प्रथम दो व्यक्त रूपों अर्थात् शिव एवं शक्ति नामक तत्त्वों की व्याख्या करने का हमारा प्रयोजन यह था कि हम उस आध्यात्मिक तल के स्वरूप का निर्धारण कर सकें जिस पर अभिनवगुप्त के मतानुसार रस का अनुभव होता है। उपर्युक्त व्याख्याओं से हमारा यह मत न्यायसंगत सिद्ध होता है कि अभिनवगुप्त ने अपने रस-सिद्धान्त की स्थापना वेदान्तमत के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं वरन् शैवमत के सिद्धान्तों के अनुकूल की थी। और शैवमत के अनुसार सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के अर्थों की व्याख्या करने का हमारा प्रयोजन यह सिद्ध करना था कि भट्टनायक ने रस के मूलस्वरूप को न जान कर ही रस के अनुभव को सत्त्व की प्रधानता स्वरूप कहा था और उसको 'आनन्द' से एकात्मरूप स्वीकार किया था। क्योंकि यदि उनसे प्रतिपादित रस-सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो हमें यह मानना पड़ेगा कि रस का अनुभव माया के क्षेत्र में होता है। क्योंकि उनसे स्वीकृत वेदान्तमत के अनुसार सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण मायाविधायक तत्व हैं।

अभिनवगुप्त के मतानुसार रसास्वादन एक लोकोत्तर अनुभव है। माया अथवा व्यवहारिक जगत के अनुभवस्तर पर यह अनुभव संभव नहीं होता। व्यक्ति प्रमाता के गुणों के आधार पर रसानुभव की व्याख्या नहीं की जा सकती। सत्त्वगुण अथवा सत्त्वगुण की प्रधानता से परे इसका अस्तित्व होता है। रस का अनुभव सभी गुणों से स्वतन्त्र है। यह सर्वात्मा का आत्मानुभव है। यह परतत्त्व के एक स्वरूप की अपने दूसरे स्वरूप पर

विश्रान्ति है। सभी प्रकार के बाह्य संबंधों से रहित यह वह प्रतीति अथवा चेतना है जो अपने से अभिन्न रूप 'आत्मा' में विश्रान्त रहती है और इस प्रकार से वह 'आनन्द' है।

व्यक्ति प्रमाता के अवच्छेदक पदार्थ

इसी अध्याय के एक गत उपप्रकरण में हम यह कह आए हैं कि विशिष्टता का कारण सर्वात्मा का शरीर, प्राण बुद्धि आदि अवच्छिन्न विषयरूप अभिव्यक्तियों (manifestations) के साथ तादात्म्य है। और इस दशा में सर्वात्मा की शक्तियों को माया आवृत कर लेती है। अतएव प्रश्न यह उठता है कि यदि ज्ञान और क्रिया की शक्तियां पूर्णरूप से आवृत हैं तो परिमित प्रमाता किस प्रकार से जानता है और किस प्रकार से कार्य करता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए शैवमत में व्यक्ति प्रमाता के पांच अवच्छेदकों का प्रतिपादन किया गया है। ये कला, विद्या, राग, नियति एवं काल हैं।

१ कला (परिमित क्रियाशक्ति)

प्रमाता के मूलस्वभाव को माया आवृत कर लेती है। माया के आवरण के कारण प्रमाता स्वप्नशून्य गम्भीर निद्रा की दशा में हो सा जाता है। अतएव इस आवरण के प्रभाव के कारण उसकी ज्ञान और क्रिया की शक्तियां अस्तित्वहीन सी हो जाती हैं। परन्तु यदि ऐसा हो जाय तो प्रमाता एक निर्जीव जड़ पदार्थ हो जाएगा और इसलिए सम्पूर्ण जगत् में केवल अन्धकार की ही प्रधानता हो जाएगी। इसलिए शैवमत में पांच पदार्थों को प्रतिपादित किया गया है जिनका उल्लेख हमने गत उपप्रकरण में किया है। ये व्यक्तिप्रमाता की परिमित शक्तियां हैं और उसके अवच्छेदक तत्त्व हैं। उनमें कला प्रथम पदार्थ है। यह प्रमाता की कार्य करने की परिमित शक्ति है। व्यक्ति-प्रमाता और उसकी कार्य-शक्ति में परस्पर अछेद्य सम्बन्ध नहीं है। उनमें परस्पर संयोग सम्बन्ध ही है। अतएव जब आध्यात्मिक साधना से व्यक्ति प्रमाता उच्चस्तर पर पहुँचता है तो उसका यह संयोग नष्ट हो जाता है और वह उससे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार से कला व्यक्ति प्रमाता से संयुक्त हो कर ही ठीक उसी प्रकार से क्रियाशील हो सकती है जिस प्रकार से पृथ्वी, वायु और पानी से संयुक्त होने पर ही एक बीज का विकास होता है। कला की उत्पत्ति व्यक्तिप्रमाता और माया इन दोनों से न होकर केवल माया से

हुई है। क्योंकि व्यक्ति प्रमाता अपने मूल स्वभाव में अपरिवर्तनशील है और उपादानकारण[1] अपने को परिणत करके ही किसी कार्य को उत्पन्न कर सकता है। कलारूपी कारण ही व्यक्ति प्रमाता को विशिष्ट कार्य करने में प्रवृत्त करता है। जब व्यक्ति प्रमाता को परिमित प्रमाता तथा इस अवच्छेदक पदार्थ कला के भेद का ज्ञान हो जाता है तो व्यक्ति प्रमाता मायालोक का अतिक्रमण करके कर्म के बन्धनों से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सांख्य मत में प्रतिपादित बुद्धि एवं पुरुष के भेद का जो ज्ञान है उससे[2] कला एवं व्यक्ति प्रमाता के भेद का ज्ञान भिन्न है। शैवमत के अनुसार सांख्यमत में प्रतिपादित भेद का ज्ञान व्यक्ति प्रमाता को न तो कर्मबन्धनों से मुक्त करता है और न माया के लोक से परे आध्यात्मिक स्तर पर ही उसको पहुँचाता है।

शैवमत के प्रतिपादकों ने जिस रूप में 'कला' को स्वीकार किया है वह मनुष्य की परिमित कार्य करने की शक्ति की दार्शनिक स्वीकृति एवं उसकी तात्त्विक व्याख्या है। व्यक्ति चाहे जितना महान् हो फिर भी वह सभी कार्यों को नहीं वरन् कुछ ही कार्यों को पूरा कर सकता है। शैवमत की शास्त्रीय भाषा में इसका कारण कार्य करने की वह परिमित शक्ति है जिसका कारण अवच्छेदक पदार्थ कला है। यह कला व्यक्तिप्रमाता को वह कार्य करने की शक्ति आंशिक रूप में प्रदान करती है जो पूर्व समय में माया से पूर्णतया आवृत थी। संस्कृत भाषा में कला शब्द का अर्थ 'एक अंश' है। उदाहरण के लिये इसका प्रयोग चन्द्रमा की सम्पूर्ण ज्योति के सोलहवें अंश के लिए किया जाता है। शैवमत के सिद्धान्तकारों ने इस शब्द का प्रयोग उस सम्पूर्ण क्रियाशक्ति के अंश के लिए किया है जो मानव जाति में क्रियाशील है।

२ विद्या (परिमित ज्ञानशक्ति)

परन्तु कार्य करना विषयरूप संसार से संबंधित होता है। बिना उस विषय रूप वस्तु के सविकल्प ज्ञान के जिसकी ओर क्रियाशक्ति उन्मुख होती है कार्य करना असंभव है। अतएव शैवमत के प्रतिपादक व्यक्ति प्रमाता के अवच्छेदक रूप में दूसरे पदार्थ की स्थापना करते हैं जो व्यक्ति प्रमाता को ज्ञान की परिमित शक्ति फिर से प्रदान करता है। इस अवच्छेदक को शास्त्र की भाषा में 'विद्या' कहा जाता है। ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए शैवमत के

---

[1] तं० लो० आह्निक ९–१३८ [2] तं० लो० आह्निक ९–१४०–१

प्रतिपादकों ने जिस साधनविधि को अपनाया है वह तद्विषयक सांख्य मत की साधन विधि से भिन्न है। इस भेद को निम्नरूप में कहा गया है—

सांख्य मत के अनुसार 'ज्ञान' प्रक्रिया के आवश्यक विधायक तत्त्व १. पुरुष, २. बुद्धि, ३. ज्ञानेन्द्रियां और ४. विषयभूत वस्तुएं हैं।

१. पुरुष का अर्थ चेतन-प्रमाता है। यह शुद्ध चित् तत्त्व है। बुद्धिगत विषयरूपों से यह अप्रभावित रहता है। यह क्रियाशक्ति हीन पदार्थ है। यह केवल प्रकाशमय है।

२. बुद्धि की रचना तीन गुणों से हुई है। ये गुण सत्त्व, रजस् एवं तमस् हैं। यह उस दर्पण के समान है जिसके दोनों ओर प्रतिबिम्ब इस प्रकार से पड़ता हो कि एक ओर का प्रतिबिम्ब दूसरी ओर के प्रतिबिम्ब से मिल सकता हो। इस प्रकार से बुद्धि एक ओर से आते हुए पुरुष[1] की ज्योति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है और दूसरी ओर से विषय वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है और इन दोनों प्रतिबिम्बों के परस्पर मिलन का स्थान है। परन्तु विषयभूत वस्तु का प्रतिबिम्ब केवल क्रमशः ही पड़ता है क्योंकि बुद्धि तमस् गुण के अन्धकार से ढँकी रहती है। और रजस् गुण तमस् के इस आवरण को किंचित् रूप में ही हटा सकता है जिससे कि सत्त्वगुण अपने में पूर्णतया प्रकाशमय होते हुए भी विषय वस्तुओं के प्रतिबिम्बों को उस क्रम के अनुसार ही ग्रहण कर सकता है जिस क्रम से विषय वस्तुएँ प्रतिबिम्बग्राहक बुद्धि-भाग के सामने आती हैं। इसलिए सांख्यमत के अनुसार बाह्य विषय वस्तु का प्रतिबिम्ब जब अभ्यन्तर से आई हुई पुरुष की ज्योति से प्रकाशित बुद्धि पर पड़ता हुआ प्रकाशमान होता है तो उसको ही ज्ञान कहते हैं।

परन्तु शैवमत के अनुयायी विद्या तत्त्व की स्थापना इसलिए करते हैं क्योंकि सांख्य मत की साधन विधि के अनुसार सविकल्प ज्ञान अथवा एक बुद्धिगत प्रतिबिम्ब की दूसरे प्रतिबिम्ब से भिन्नता के ज्ञान की व्याख्या नहीं की जा सकती। क्योंकि जब तक अतीत कालीन प्रतिबिम्ब की तुलना वर्तमान कालीन प्रतिबिम्ब से नहीं की जाती तब तक भेद प्रतीति उत्पन्न नहीं हो सकती। जड़ होने के कारण बुद्धि में तुलना करने की क्षमता नहीं है। इस पर जो पुरुष के प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है उससे इसमें सजीवता उसी प्रकार से नहीं आ जाती जिस प्रकार से दर्पण में पड़ता हुआ अग्नि का प्रतिबिम्ब दर्पण

---

[1] ई० प्र० वि० भाग १–७२–६

१० स्व० शा०

को दाहक शक्ति नहीं प्रदान कर सकता। यह चेतन स्वरूप विद्या तत्त्व है जो परिमित ज्ञान का साधन है। इसके कारण ही सविकल्पता एवं भेद के ज्ञान की स्पष्ट व्याख्या करना संभव होता है। यह एक क्रियाशील तत्त्व है—बुद्धिरूप दर्पण के समान जड़ पदार्थ नहीं है। बुद्धि पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसको यह समझता है। इसकी क्रियाशीलता के कारण अतीतकाल गत समान अनुभवों के संस्कार जागृत होते हैं, वर्तमान[1] अनुभव से उसकी तुलना की जाती है, एक दूसरे का भेद स्पष्ट होता है और इस प्रकार से ज्ञान को सविकल्पता और स्पष्टरूपता प्राप्त होती है। बुद्धिगत प्रतिबिम्बों का विवेचन एवं विकल्पीकरण करने का यह प्रमातृगत साधन है।

३ राग (सामान्यरूप विषय की इच्छा)

हमने गत उपप्रकरण में यह स्पष्ट किया है कि अवच्छिन्न प्रमाता की अवच्छेदक तत्त्व के रूप में विद्या को इसलिए स्वीकार किया गया है कि परिमित प्रमाता की क्रिया के लिए आवश्यक सविकल्पविषयज्ञान की व्याख्या समुचित रूप से की जा सके। परन्तु विशिष्ट क्रिया का सम्बन्ध विशिष्ट विषय वस्तु के साथ होता है। इसमें अन्य सब वस्तुओं को त्याग कर एक को चुनने की क्रिया वर्तमान रहती है। इसको स्पष्ट करने के लिए शैवमत के अनुयायी एक तीसरे अवच्छेदक की स्थापना करते हैं जिसको 'राग' कहते हैं। विषय से सम्बन्ध के प्रति उन्मुख होने की यह जन्मजात प्रवृत्ति है। इसकी व्याख्या और भी अधिक स्पष्ट रूप से करने के लिए हम शैवमत में प्रतिपादित राग[2] की तुलना सांख्य मत में प्रतिपादित 'राग' से करेंगे।

१. शैवमत के अनुसार जिस राग तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है उसका अर्थ वह इच्छा है जिसका सम्बन्ध सामान्य रूप विषय से होता है—एवं किसी विशिष्ट विषय वस्तु के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता। यह सामान्य रूप से इच्छा के विशिष्ट विषय के अभाव की संवेदना मात्र ही है। यह अपने को इस रूप में प्रकट करती है 'मुझे कुछ हो जावे' (किंचिन् मे भूयात्)।

२. परन्तु सांख्य मत में जिस राग का प्रतिपादन किया गया है उसका अर्थ वह राग है जो बुद्धि का केवल धर्म मात्र है। विषयभूत जगत के प्रति

---

[1] तं० लो० आह्निक ९-१५१

[2] तं० लो० अह्निक ९-१५७-८

आसक्ति से स्वतंत्र न होने की यह दशा मात्र है। यह विशेष वस्तुओं के प्रति आसक्ति है। विशेष विषय वस्तुओं के साथ इसका अव्यवहित सम्बन्ध होता है और उससे विशेष इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, जैसे भोजन, पानी, मदिरा, रमणी आदि की इच्छा।

इस प्रकार से सांख्यमत में जिस "राग" की स्थापना की गई है वह शैव-मत में प्रतिपादित उस राग तत्त्व के विकासक्रम में एक उन्नत दशा है जो स्वयं इच्छा मल से उत्पन्न होता है। इच्छामल, शैवमत में प्रतिपादित राग तत्त्व और सांख्य मत में प्रतिपादित राग में परस्पर वही भेद है जो एक बीज, अंकुर और वृक्ष में है। यदि इच्छामल बीजरूप है तो शैवमत में प्रतिपादित अवच्छेदक रूप राग अंकुर रूप है और सांख्यमत में प्रतिपादित राग वृक्ष रूप है।

शैवमत में प्रतिपादित यह राग तत्त्व उसी मत में प्रतिपादित परम मोक्ष के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। शैवमत के अनुसार विषय रूप संसार से वैराग्य भी प्रमाता की एक उन्मुखता (Attitude) है अतएव वह भी मूलतः राग है और यथार्थ वैराग्य नहीं है। इस प्रकार की उन्मुखता अथवा 'प्रवृत्ति' रूप वैराग्य का फल यथार्थ और पूर्ण मोक्ष न होकर आंशिक मोक्ष ही है। यह वैराग्य विशिष्ट प्रमाता को प्रकृति के तल से तो ऊपर पहुँचा देता है परन्तु इसका अर्थ सब प्रकार के पाशों से मुक्त होना नहीं है। यथार्थ मोक्ष तभी प्राप्त होता है जब विशिष्ट प्रमाता इच्छामल से भी मुक्त होता है। इसकी विशद व्याख्या हमने अपने पूर्व रचित ग्रन्थ अभिनवगुप्त—एक ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन में की है।

सभी प्रकार के भाव जिनका उल्लेख भरतमुनि ने किया है चाहे वे स्थायी हों या व्यभिचारी हों, विषयरूप संसार के प्रति स्वाभाविक उन्मुखता अथवा प्रवृत्तिरूप राग से[१] उत्पन्न होते हैं।

४ नियति (कार्यकारणभावनियमपरतंत्रता)

मनुष्य जाति की प्रत्येक क्रिया का प्रयोजन सदैव एक कार्य को उत्पन्न करना होता है। परन्तु इष्ट कार्य को उत्पन्न करने में मनुष्य जाति स्वतंत्र नहीं है। मनुष्य किसी भी कारण से किसी भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। कार्यकारणभाव के नियम का उल्लंघन वह नहीं कर सकता। कार्य-

[१] ई० प्र० वि० वि० भाग ३–२९१

कारणभाव के नियम की अनतिक्रमणीयता को शास्त्रीय भाषा में नियति कहते हैं और इस रूप में वह व्यक्तिप्रमाता के लिए अवच्छेदक तत्त्व होता है। इस प्रकार से यदि कोई व्यक्ति आम खाना चाहता है तो पहले उसे आम का बीज खोजना पड़ेगा, फिर कार्य कारणता के नियम के अधीन रह कर उसके वृत्त को उगाना होगा तभी उसको इष्ट फल की प्राप्ति हो सकेगी।

५ काल

शैवमत में 'काल' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है १. परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का एक रूप, २. व्यक्तिप्रमाता के लिए एक अवच्छेदक तत्त्व एवं ३. एक मापक मान। परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता के एक रूप में यह वह शक्ति है जो सृष्टि में क्रमशीलता अथवा यौगपद्य उत्पन्न करती है। इस रूप में इसको काल शक्ति कहते हैं। हिन्दू धर्म में इस दार्शनिक मान्यता को काली देवी के रूप में मूर्तमान किया गया है। व्यक्तिप्रमाता के अवच्छेदक के रूप में यह वह परिमित शक्ति है जो क्रम[1] का अनुभव करती है। सर्वप्रथम उसको यह अनुभव उन वस्तुओं में होता है जिनके साथ यह तादात्म्य स्थापित करता है, जैसे प्राणवायु, बुद्धि आदि। और फिर विषयरूप अनुभवगम्य वस्तुओं में क्रम का अनुभव तब होता है जब प्रमातृरूप चेतना की श्रृङ्खला की किसी कड़ी के साथ-साथ बाह्य विषय का अनुभव होने के कारण प्रमाता में अनुभूत क्रम विषय पर आरोपित किया जाता है। जर्मन दार्शनिक कांट के मत के अनुसार भी 'काल' संवेदना (sensibility) का एक प्रकार का आकार (form) है।

यह एक प्रकार का सूक्ष्म सविकल्पताजनक तत्त्व अथवा सम्बन्ध है जो सहज निर्विकल्प बोध के आकार (form of intuition) में व्याप्त रहता है और इसलिए हमारे प्रमातृ स्वरूप में भी व्याप्त रहता है। इसके न होने पर कोई भी वस्तु काल विशिष्ट नहीं कही जा सकती। इसका स्वतंत्र विषयभूत अस्तित्व नहीं होता। यह काल वस्तुओं का कोई ऐसा सम्बन्ध अथवा ऐसा विशेषण नहीं है जिसका अस्तित्व उस समय भी हो जब कि उनका प्रत्यक्ष न किया जा रहा हो।

मापकमान के रूप में काल

मापक मान (standard of measure) के रूप में काल एक प्रत्यय (concept) मात्र है जो एक एकानेक रूप वस्तु पर आधारित है। हम किन्हीं

[1] तं० लो०-अह्निक ६-६

घटनाओं को नियमित रूप से घटित होता हुआ देखते हैं। उनको हम मापक मान बना लेते हैं। इस जगत में अन्य घटनाएँ भी होती हैं जो नियमित रूप में नहीं होतीं। इन अनियमित रूप घटनाओं को हम नियमित रूप से घटने वाली घटनाओं से मापते हैं। इसके परिणामस्वरूप प्रतीति का रूप यह होता है—'राम की आयु छः वर्ष की है'। इसको और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझाने के लिए हम निम्नलिखित सामान्य उदाहरण का प्रयोग करेंगे :—

'क' व्यक्ति सूर्य को एक विशेष स्थान पर उदय होते हुए एवं दूसरे विशेष स्थान पर अस्त होते देखता है। ये घटनाएँ पूर्ण नियमित रूप से घटित होती हैं। व्यावहारिक लोक में वह अन्य घटनाओं को भी देखता है जिनमें इस प्रकार की नियमबद्धता नहीं है। जैसे कि वह एक विद्यार्थी को पाठशाला जाते हुए देखता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह विद्यार्थी को अनेक विभिन्न स्थानों से संबंधित देखता है। इसमें नियमबद्धता का अभाव रहता है। परन्तु विद्यार्थी की इस गति की अनियमित क्रिया के विषय में दर्शक की जिज्ञासा जागृत होती है। वह यथार्थ रूप में उसके स्वरूप को समझना चाहता है। अतएव वह अपने मानस चक्षु से सूर्य की नियमित गति एवं विद्यार्थी की अनियमित गति को एक साथ देखता है। और सूर्य की नियमित गति के क्रम से विद्यार्थी की गति का माप करता है और कहता है—'यह विद्यार्थी दो घण्टों में पाठशाला पहुँचता है।' इस प्रकार से हम यह देखते हैं कि काल के प्रत्यय का आधार एक घटना क्रम है जो अनेकता में एकता है। अनेकता का अस्तित्व एक ओर अनेक स्थल विन्दुओं से सम्बन्धित सूर्य के क्रमागत रूपों में होता है और दूसरी ओर उसका अस्तित्व जानेवाले व्यक्ति के विभिन्न स्थान विन्दुओं से सम्बन्ध रूपों में प्रकट होता है। एकता का अस्तित्व इस रूप में होता है कि पूर्ण परिस्थिति एक ही ज्ञेयवस्तु होती है। इस प्रकार से काल के सम्बन्ध में हम यह देखते हैं कि अनेकता बाह्यरूपों पर और एकता अन्तःकरण की वृत्ति पर आधारित होती है।

हम काल का वर्णन अनेक रूपों में करते हैं। जैसे हम घंटे, दिन, सप्ताह आदि की बातें करते हैं। हम काल के विषय में शीघ्रता और मन्दता, पूर्व कालीनता तथा उत्तर कालीनता एवं वर्तमान, भूत, भविष्य आदि की भी चर्चा करते हैं। काल के सामान्य प्रत्यय की भाँति ये उपप्रत्यय भी उसी के समान मानसिक संगठनों (mental constructs) पर आधारित हैं। जैसे कि जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'क' दो घण्टे पढ़ता है' तो वह 'क' की

क्रिया को सूर्य की क्रिया से नापता है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि दीर्घकाल से स्थापित लोक परम्परा के कारण एक निश्चित दूरी को सूर्य जब पार करता है तो उसे घण्टा कहते हैं। इसी प्रकार से जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'क जाएगा' तो उस समय वह स्वयं अपनी ही प्राणवायु की सम्भावित क्रिया के साथ 'क' को सम्भावित गति को सम्बन्धित कर देता है। इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि काल की सभी प्रतीतियों में दो वस्तुओं की क्रियाएँ सम्बन्धित रहती हैं।

अनुभव के तल

हम यह कह आए हैं कि अभिनवगुप्त के मतानुसार रस का अनुभव आध्यात्मिक अनुभव के दूसरे तल पर अर्थात् शक्ति के तल पर होता है जिसको शैवमत में आनन्द, विमर्श अथवा स्पंद कहते हैं। अन्य अनुभवों की तुलना में रसानुभव की विलक्षणता को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि संक्षेप में अभिनवगुप्त से स्वीकृत अनुभवों के तलों का वर्णन किया जाय। अनुभव के ये तल सामान्य रूप से संख्या में पांच हैं—१. जाग्रत २. स्वप्न ३. सुषुप्ति ४. तुरीय एवं ५. तुरीयातीत। एक तल के अनुभव की दूसरे तल के अनुभव से भिन्नता मूल रूप से प्रमाता पर आधारित है। अनुभव के उपर्युक्त पाँच तलों अथवा दशाओं में से अन्तिम दो तलों का सम्बन्ध साधारणीकृत प्रमाता से है और प्रथम तीन का सम्बन्ध व्यक्तिप्रमाता से है।

हम यह स्पष्ट कह चुके हैं कि (१) व्यक्तिप्रमाता अपने मूल रूप में सर्वव्यापक प्रमाता है। परन्तु अपने अज्ञान के कारण वह अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्वरूप शक्तियों को खो बैठता है और इसलिए उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता भी नष्ट हो जाती है। (२) परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह जड़रूप हो जाता है। ज्ञान क्रिया तथा माया की अपरिच्छिन्न शक्तियाँ उस व्यक्ति-प्रमाता में परिमित रूप में सत्त्व, रजस् एवं तमस् के रूपों में प्रकट होती हैं जिनके कारण उसमें सुख, दुःख तथा मोह उत्पन्न होते हैं। (३) विशिष्टता विधायक पाँच अवच्छेदक तत्त्व होते हैं जो आवरण रूप अथवा खड्ग की म्यान के रूप में होते हैं। ये तत्त्व कला, विद्या, राग, नियति एवं काल हैं। इनके कारण व्यक्तिप्रमाता में परिमित क्रियाशक्ति, अनुभव की विकल्पता, विषयों में आसक्ति, कार्य कारण भाव की प्रतीति और उसकी अनुगामिता एवं काल संबंधी क्रमों की प्रतीति क्रमशः उत्पन्न होती हैं।

शून्य प्रमाता

प्रतीति के विभिन्न तलों पर प्रमाता का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। व्यक्तिप्रमाता का सबसे अधिक साधारण अनुभव गम्भीर निद्रा अथवा सुषुप्ति का अनुभव है। इस अनुभव को किसी भी प्रकार से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तुरीया अवस्था एवं सुषुप्ति की दशा में केवल एक अन्तर है। इसलिए हम सुषुप्ति की दशा में व्यक्ति प्रमाता के स्वरूप की व्याख्या करेंगे।

इतना तो हम जानते ही हैं कि जब कोई व्यक्ति स्वप्न शून्य निद्रा से जागता है तो वह अपने अनुभव को याद करके यह कहता है 'मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था—मैं सुख से सोया हुआ था।'

'न किंचिद्वेदिषम् सुखम् अहम् अस्वाप्सम्।'

इसमें दो भिन्न रूप अनुभव हैं अतएव उनका सम्बन्ध उन दो व्यक्तियों से है जो एकात्मरूप हो गए हैं। इस तथ्य की सत्यता तुरन्त सिद्ध हो जाएगी यदि हम सुषुप्ति और मूर्च्छा के अनुभवों के भेद की ओर अपनी दृष्टि फेरें। मूर्छा की दशा के बाद कोई भी प्रमाता यह नहीं कहता कि 'मैं सुख से मूर्च्छित था'। व्यक्ति के द्वैत के आधार पर सुषुप्ति के अनुभव की द्वैत रूपता को स्वीकार किया गया है[1]—(१) विषय के अनुभव का पूर्ण अभाव और (२) सुख का अनुभव। व्यक्तित्व विधायक तत्त्वों से सम्बन्धित अभावात्मक अनुभव की व्याख्या हम पहले करेंगे।

सुषुप्ति में जो अभाव का अनुभव करता है वह परिमित प्रमाता है। इस परिमितत्व की उत्पत्ति एक विशेष प्रकार के मल से होती है जिसको शास्त्रीय भाषा में आणव मल कहते हैं। इसके दो रूप हैं—(१) इच्छाशक्ति की स्वतंत्रता की व्यपगमोन्मुखता (स्वातंत्र्यहानि) एवं (२) इस स्वातंत्र्यहीनता का अज्ञान। इन दोनों रूपों में से प्रत्येक एक भिन्न व्यक्तित्व को उत्पन्न करता है। हम कह आए हैं कि काल्पनिक विश्लेषण दृष्टि से परतत्त्व के दो स्वरूप हैं (१) आत्मा (२) चेतना अथवा इच्छाशक्ति की स्वतंत्रता (प्रकाश और विमर्श अथवा स्वातंत्र्य)। वह पूर्णरूप परतत्त्व संबंधी स्वतंत्र इच्छाशक्ति जिसको द्वैतलोक में शास्त्रीय भाषा में 'माया' कहते हैं जब अपने चित् रूप को आवृत कर लेती है तो केवल 'आत्मा' शेष रह जाती है। केवल आत्मा को ही 'प्रकाश' कहते हैं। परतत्त्व का यह रूप आत्म-ज्ञान से रहित होता है और विमर्श से हीन होता

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग ३-३०७

है—अथवा यह कहें कि स्वतंत्र इच्छा से शून्य होता है। इस प्रकार की आत्माएं अनेक हैं। वे विश्वात्माएँ न होकर परिमित प्रमाता ही हैं। बौद्ध मत में शास्त्रीय भाषा में जिनको 'आलय विज्ञान' कहते हैं वे इसी प्रकार की आत्मायें हैं। और क्यों कि ये आत्मायें विमर्शहीन प्रकाश हैं अतएव इनको शास्त्रीय भाषा में विज्ञानकेवल कहते हैं। इस दशा में स्वतंत्र इच्छाशक्ति के आवृत होने का अथवा उसके नष्ट होने का ज्ञान नहीं रहता है। बौद्धमत के अनुयायी इस दशा की प्राप्ति को मोक्ष अथवा कैवल्य कहते हैं।

परन्तु जब आणव मल का दूसरा रूप—'इच्छाशक्ति की स्वतंत्रता का अज्ञान' क्रियाशील होता है तो एक दूसरे प्रकार की व्यक्ति उत्पन्न होती है जिसका अज्ञान अथवा अबोध विशेष गुण होता है। यह व्यक्ति विषय रूप संसार से सर्वथा असंबन्धित होता है और इसलिए यह पूर्णरूप से विषय हीन, रिक्त अथवा शून्य होता है। इसी रूप में इसको शून्य-प्रमाता कहते हैं। आत्मा जब अज्ञान से अपना तादात्म्य कर लेती है तभी शून्य प्रमाता का आविर्भाव होता है।

पाश्चात्य दर्शन शास्त्र के विद्यार्थियों को 'शून्य-प्रमाता' का स्पष्टज्ञान तभी होगा जब हम इस शून्य प्रमाता की तुलना प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगेल से प्रतिपादित 'मूलआत्मा' (natural soul) के स्वरूप से करते हुए उसकी विवेचना करें। हीगेल का मत निम्नलिखित रूप में है :—

हीगेल का दार्शनिक मत त्रिक दर्शन (system of triads) है। परन्तु उनका समग्र दर्शन जिस मूल त्रयी पर आधारित है वह १. ज्ञप्ति २. प्रकृति एवं ३. चित्तत्त्व (1) idea, (2) nature and (3) spirit) की त्रयी है। यह त्रयी परम आत्मा (Mind) के विकास के तीन क्रमों को प्रकट करती है।

१. आद्य आत्मा (Primal Mind) : विश्व की सृष्टि के पूर्व आत्मा जिस मूल रूप में वर्तमान रहता है, वह पूर्णरूप से सामान्यरूप आत्मा उनके तर्कशास्त्र का विषय है।

२. प्रकृति आत्मा का स्वविरोधी रूप है जिसमें आत्मा आविर्भूत होता है। प्रकृति चैतन्य रहित है, तर्कशक्ति शून्य अथवा निर्विमर्श (irrational) है एवं अनभिव्यक्त विषयभूत संसार है। यह उनके 'प्रकृति दर्शन' का विषय है।

३. चित्तत्त्व (spirit) की तीन क्रमिक दशायें (अ) प्रमातृरूप (आ) विषयरूप (इ) परतत्त्वरूप। इसकी व्याख्या उन्होंने अपने 'फेनोमेनोलाजी आफ माइन्ड' नामक ग्रंथ में की है।

इस ग्रंथ में उन्होंने 'जीवात्मा' (soul) की व्याख्या की है। हीगेल के मतानुसार जीवात्मा चित्तत्त्व (spirit) का प्रथम प्रकटरूप है। यह प्रमातृ रूप चित् (subjective spirit) के क्रमिक विकास की प्रथम दशा है। प्रमातृ रूप चित् का अर्थ मानव-जीवात्मा है जो प्रमाता के दृष्टिकोण से व्यक्तिप्रमाता का जीवात्मा है। यह ऐसी क्रमिक दशा है जो चेतना (consciousness) और मन दोनों के पूर्व होती है। यह चितत्त्व का वह रूप है जिसके स्वरूप का ज्ञान कम से कम हो सकता है। यह क्रमिक दशा अपने को तीन रूपों में प्रकट करती है ? १. मूल आत्मा (natural soul) २. संवेदनमय आत्मा (feeling soul) और ३. यथार्थरूप आत्मा (actual soul)। यह आत्मा का इतना प्रारम्भिक सूक्ष्म रूप है कि इसमें किसी भी प्रकार का इन्द्रियजन्य बोध भी नहीं होता। इसको कठिनता से मानव जाति से सम्बन्धित कहा जा सकता है। पशु दशा (animality) के तल से कुछ ऊपर यह दशा होती है यह भी कहना सर्वथा युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है।

ऐसा ज्ञात होता है कि हीगेल मानव के जीवात्मा का विश्लेषण उस दशा से आरम्भ करते हैं जहां पर वह प्रथम बार मानव के शरीर में मां के गर्भ में जीव प्रकट होता है। यह आत्मा की वह क्रमिक दशा है जो पशु दशा (animality) से कुछ अधिक विकसित एवं इन्द्रियबोध युक्त क्रमिक दशा से थोड़ा कम विकसित है। हम अभी यह कह आए हैं कि आत्मा के क्रमिक विकास में तीन दशायें होती हैं। फेनोमेनोलाजी आफ माइन्ड में इस आत्मा का वही स्थान है जो उनके तर्क शास्त्र में 'अस्तित्व' का और प्रकृति दर्शन में 'दिक्' का है। चित्तत्त्व के क्रमिक विकास का आरम्भ विन्दु मूल आत्मा है। यह निर्विकल्प रूप है। विकल्प हीन अस्तित्व ही इसका एक मात्र विशेष गुण है। अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ भी इसके विषय में नहीं कहा जा सकता है। आत्मा के विकास की दूसरी क्रम दशा को स्पष्ट करने के लिए हीगेल ने मां के गर्भस्थ शिशु की उस दशा का दृष्टान्त दिया है जिसमें शिशु के पास कोई अपनी संवेदना नहीं होती वरन् मां की संवेदनाओं का ही वह अनुभव करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा की प्रथम क्रमिक विकास दशा का वर्णन हीगेल ने गर्भस्थ शिशु की उस दशा के दृष्टान्त के अनुसार किया होगा जो इस संवेदना से भी पूर्व होती है। विकास की प्रथम क्रमिक दशा में आत्मा पूर्ण रूप से रिक्त और भेद-हीन होती है। किसी भी प्रकार की भिन्नता, अथवा विषमता इसमें नहीं होती। यह एक भेदहीन रिक्तता मात्र ही है। इसके अन्तर में किसी भी प्रकार

का भेद नहीं होता है। किसी भी विषय के साथ इसका कोई चेतन सम्बन्ध नहीं होता है। यह एक भेदहीन एकरूपता है। अस्तित्व के अतिरिक्त और किसी पदार्थ में इसकी गणना नहीं की जा सकती है। इस दशा में किसी भी विषय का अनुभव इसको नहीं होता है। यह अपने लिए सभी अस्तित्वों की सम्पूर्णता है।

अपने विकास की दूसरी क्रमिक दशा में आत्मा के अन्तर में किंचित् भेद का आविर्भाव होता है। वातावरण से जिस प्रकार से यह प्रभावित होता है वह प्रकार उसे अपने अस्तित्व के प्रकार में दिखाई देता है अथवा यह कहें कि वह उसके गुण के रूप में प्रकट होता है।

परन्तु प्रभाव के ये प्रकार परिवर्तित हो सकते हैं। प्रभाव के प्रकार के परिवर्तन का ज्ञान विकास की तीसरी क्रमिक दशा को प्रकट करता है। यह शारीरिक परिवर्तनों की क्रमिक दशा है। आत्मा के प्रथम क्रमिक विकास दशा की तुलना हीगेल उसकी दो अन्य क्रमिक विकास की दशाओं से करते हैं। क्रमिक विकास की प्रथम दशा में आत्मा पूर्ण रूप से रिक्त होती है—शून्य मात्र ही होती है। परन्तु विकास की दूसरी क्रमिक दशा में शून्य रूप आत्मा और वातावरण के प्रभावों के बीच अस्पष्ट भेद उत्पन्न हो जाता है। वातावरण के ये प्रभाव पहले तो शारीरिक गुण (physical qualities) के रूप में प्रकट होते हैं और बाद में उसके अन्दर शारीरिक परिवर्तनों (physical alterations) का रूप ले लेते हैं। विकास की प्रथम क्रम दशा सुषुप्ति की अवस्था है और विकास की अन्य क्रमिक दशाएं जाग्रतावस्था के समान हैं। जैसे जैसे रिक्त अथवा शून्य आत्मा और वातावरण के प्रभावों का भेद बढ़ता जाता है वैसे वैसे संवेदनाओं और भावों की उत्पत्ति होती जाती है। यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रसंग में 'संवेदना' और 'भाव' शब्दों का प्रयोग साधारण प्रयोग से भिन्नरूप में किया गया है।

इस प्रकार से आत्मा के दो स्पष्ट रूपों का प्रतिपादन किया गया है—
१. निर्विकल्प अस्तित्व जो शून्य रूप है और भेदहीन एकरूप सामान्यता (undifferentiated homogeneous universality) के रूप में है एवं
२. तदन्तर्गत पदार्थ (content) जिसमें संवेदनाएं और भावनाएं 'विविध विशिष्ट रूपों की अनेकताएं' होती हैं। इन दोनों के संयुक्त रूप को यथार्थ आत्मा (actual soul) कहते हैं। आत्मा जिस समय अपने और वातावरण-जनित प्रभावों के बीच भेद का साक्षात्कार कर लेती है और अवच्छेदकों को आत्मविरोधी न मानकर स्वात्मरूप मानने लगती है तो इस यथार्थ आत्मा का आविर्भाव होता है।

अएतव हीगेल के मत के अनुसार निर्विकल्प रूप आत्मा शून्य मात्र है—एक भेदरहित एकरूप सामान्यता भर है। इसलिए इसके विषय में अनेकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इस रूप में यह सब में बिना किसी भेदभाव के विद्यमान है। बाह्य रूप में दिखाई देने वाली आत्माओं की अनेकता का कारण शून्य रूप आत्मा का अवच्छेदकों के साथ अपना तादात्म्य करना है।

हीगेल के सिद्धान्त में असंगति

आत्मा के क्रमिक विकास की प्रथम दशा का जो निरूपण हीगेल ने किया है उसमें असंगति दोष है—ऐसा प्रतीत होता है। इस क्रमिक विकास की प्रथम दशा के विषय में एक ओर हीगेल यह कहते हैं कि यह निर्विकल्प रूप है—और इसलिए अस्तित्व को छोड़ कर इसकी और कोई विशिष्टता नहीं है। इसमें किसी भी भेद का अस्तित्व नहीं है, किसी भी बाहरी विषय के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है—इसलिए वह सब सम्बन्धों से रहित है। और दूसरी ओर वे इसके विषय में यह कहते हैं कि यह रिक्त रूप है। 'अस्तित्व' और रिक्तरूपता अथवा शून्यरूपता परस्पर विरोधी अर्थ प्रकट करते हैं। अस्तित्व भाव रूप है एवं रिक्तता अथवा शून्यता अभाव रूप है। अस्तित्व निर्विकल्परूप होता है—शून्यता विकल्प रूप होती है। जिस अभाव का सम्बन्ध उस भाव से नहीं है जिसका निषेध किया गया है वह अर्थहीन है और बुद्धि की विचार-शक्ति से परे है। जो अभावधर्मी है उसका एक अधिकरण होता है और साथ ही साथ वह उस भावधर्मी का प्रतिरूप (Counterpart) भी होता है जिसका निषेध किया जाता है।

इसके अतिरिक्त आक्षेप रूप में यह भी कह सकते हैं कि यदि 'मूलआत्मा' (natural soul) निर्विकल्प रूप है तो परतत्त्व से वह किस प्रकार से भिन्न है ? और यदि परतत्त्व से वह भिन्न नहीं है तो वे विविध प्रकार के वातावरण के प्रभाव जोकि उस पर पड़ते हैं वे उसके गुणों के रूप में कैसे प्रकट हो सकते हैं ? वातावरण के प्रभाव के एक रूप की दूसरे रूप से भिन्नता किस प्रकार से ज्ञात होती है जिससे कि परवर्ती समय में शारीरिक परिवर्तनों का ज्ञान उत्पन्न हो सके ? इसके विपरीत सब के साथ उसको पूर्ण तादात्म्य का ज्ञान होना आवश्यक हो जाता है।

इस प्रसंग में निम्नलिखित दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

१- 'मूल आत्मा' के प्रसंग में हीगेल जीवात्मा (Mind) की एक अमूर्त सूक्ष्म

(abstract) अवस्था का ही वर्णन करते हैं। यह उसी प्रकार का अमूर्तीकरण (abstraction) है जैसा कि मनोवैज्ञानिकों का प्रमाताहीन इन्द्रियबोध (bare sensation)। यह 'प्रमाताहीन इन्द्रियबोध' से भी अधिक सूक्ष्म अमूर्तीकरण है। मानव जाति में इसका कोई अस्तित्व नहीं है।

२. हीगेल ने जिस यौक्तिक साध्यसाधन विधि (dialectical method) का प्रतिपादन किया था उसके अनुसार उन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना की थी कि क्रमिक विकास की उन्नत दशाएं निम्नतम क्रमिक दशा में सम्भावना रूप से वर्तमान रहती हैं। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि मूल आत्मा में आत्मा के विकास की सभी परवर्ती क्रमिक दशाएं—यहां तक कि सर्वोपरि क्रमिक विकास की दशा भी—संभावना रूप से वर्तमान रहती हैं। इस प्रकार से आत्मा की भावी सभी विकास दशाएँ, जैसे इन्द्रियबोध, संवेदना, ज्ञान, बुद्धि, आत्मचेतना, क्षुधा, भाव प्रकटन, स्मरण आदि, मूल आत्मा में सम्भावना रूप से वर्तमान रहती हैं।

'मूल आत्मा' के विषय में हीगेल का यह मत तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से भी असंगतिपूर्ण है। एक वस्तु एक समय में ही निर्विकल्प रूप तथा रिक्त अथवा शून्य नहीं हो सकती। और यह मान्यता कि क्रमिक विकास की प्रथम दशा में सभी भावी क्रमभाविनी दशाएं सम्भावना रूप में वर्तमान रहती हैं यह प्रमाणित नहीं कर सकती कि वह पूर्ण शून्यरूप या रिक्त रूप है। रिक्तता अथवा शून्यता बिना द्वैत के सम्भव नहीं हैं—निषेधनीय एवं निषेध का अधिकरण उसके लिए आवश्यक हैं।

अभिनवगुप्त के मतानुसार शून्य प्रमाता का अर्थ

अभिनवगुप्त भी परब्रह्म की क्रमिक आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की एक ऐसी दशा का उल्लेख करते हैं जिसको वे रिक्त, अथवा शून्य मानते हैं। परन्तु उनके मत के अनुसार यह परतत्त्व की न तो प्रथम दशा है और न यह निर्विकल्प रूप है। इसके विपरीत यह परब्रह्म के विकास की सातवीं क्रमिकदशा है और विकल्परूप है। शून्य की निर्विकल्पता[1] के विषय में सन्देह को नष्ट करने के लिए ही वे इस क्रमिकदशा को संशयरहित होकर दृढ़ स्वर में विकल्परूप कहते हैं।

शून्य प्रमाता का अनुभव एक अभावधर्मी अनुभव है और इसलिए वह

[1] ई० प्र० वि० भाग १–२४६–७

विकल्पात्मक अनुभव है। क्योंकि अभाव द्वयनिष्ठ होता है। यह अभाव किसी न किसी वस्तु से सम्बन्धित होता है। इसलिए इस प्रसंग में शून्य शब्द का अर्थ पूर्ण अभाव न होकर सापेक्ष अभाव है। अपवेद्य सुषुप्ति में जिस अभाव का ज्ञान होता है उसका निषेधात्मक सम्बन्ध उन सब वस्तुओं से है जिनका ज्ञान अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियों से सम्भव होता है। इस दशा में 'अहं' अथवा आत्मा का संबंध अथवा तादात्म्य न तो 'प्राण' सुख आदि अन्तःकरण से ज्ञेय विषयों के साथ और न शरीर एवं अन्य भौतिक ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञेय विषयों के साथ होता है। इस दशा में यह 'अहं' अपना तादात्म्य केवल आणव मल से, ज्ञानशक्ति की क्रियाहीनता से, स्थापित करता है और इसलिए उसमें ज्ञान का अभाव हो जाता है। (संकोचमात्रम् एव चिद्रूपं शून्यम्। ई० प्र० वि० वि० भाग २–२९७)।

इस प्रसंग में 'शून्य' शब्द का प्रयोग 'आकाश' के उपमान के आधार पर किया गया है। जिस प्रकार से आकाश पूर्ण अभाव रूप नहीं होता फिर भी उसको शून्य कहते हैं वैसे ही शून्य प्रमाता के विषय में भी शून्य शब्द का प्रयोग होता है। एक दूसरे प्रकार से भी आकाश के साथ उसकी सदृशता उचित ठहरती है। आकाश सर्वव्याप्त है। जिस प्रकार से ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसके साथ आकाश का सम्बन्ध न हो उसी प्रकार से विषय रूप ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका सम्बन्ध इस आणवमल अथवा अज्ञान के साथ नहीं है।

अब प्रश्न यह है—'क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसका सम्बन्ध ज्ञान शक्ति की क्रियाहीनता से है ?' शैवमत के प्रतिपादक इसका उत्तर निम्नलिखित रूप में देते हैं।

अपवेद्य सुषुप्ति की दशा में प्रमाता विषय सम्बन्ध रहित होता है क्योंकि उस दशा में उस सबका अभाव होता है जिसको जाग्रतावस्था में विषयभूत वस्तु कहते हैं। इस दशा में सामान्य व्यावहारिक दशाओं का अभाव होता है। परन्तु अभाव की प्रतीति सदैव उस वस्तु के आधार पर होती है जो विषय रूप में ज्ञेय है। अभाव की प्रतीति विकल्प रूप है और इसका सम्बन्ध दो वस्तुओं से होता है (१) वह वस्तु जिसका अस्तित्व नहीं है एवं (२) वह वस्तु जहाँ पर उसका अस्तित्व नहीं है। अतएव शैवमत के अनुयायी यह मानते हैं कि अपवेद्य सुषुप्ति की दशा में सामान्य रूप में उस समस्त विषय के संस्कार का किंचित् ज्ञान बना रहता है जिसका अनुभव जाग्रत दशा में

किया जा चुका है। इस दशा में जिसके अभाव की प्रतीति होती है वह जाग्रत दशा में अनुभवगत स्थूल अथवा व्यावहारिक विषयरूप वस्तुओं का अभाव है। अतएव अपवेद्य सुषुप्ति में विषयभूत वस्तु के ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता, वरन् उस ज्ञान का अभाव होता है, जिसका विषय स्पष्ट विविध रूप व्यवहारिक वस्तुएँ हैं। अतएव विज्ञानाकल एवं शून्य प्रमाता के अनुभव में भेद यह है कि विज्ञानाकल के अनुभव में 'अहं' अथवा आत्मचेतना प्रधान तथा अभाव प्रतीति गौणरूप होती है जब कि शून्य प्रमाता के अनुभव में 'अहं' अथवा आत्मचेतना की प्रतीति गौण एवं अभाव की प्रतीति प्रधान होती है।

अतएव अपवेद्य सुषुप्ति दशा में व्यक्तित्व का विधायक परतत्त्व का प्रकाश स्वरूप होता है। उस दशा में परतत्त्व के विमर्शस्वरूप को माया आवृत कर लेती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस दशा में विमर्श का सर्वथा अभाव होता है। प्रमाता में आंशिक रूप से विमर्श उस विद्या के रूप में रह जाता है जो परिमित विषयज्ञान का कारण है। इस दशा में यद्यपि व्यक्ति को माया जन्य पाँच अवच्छेदक तत्त्व आवृत किए रहते हैं फिर भी इसमें कला, नियति और राग क्रियाहीन होते हैं क्योंकि बिना विकल्परूप उस विषय के वे क्रियावान हो ही नहीं सकते जिनका सुषुप्ति दशा में सर्वथा अभाव होता है। इसलिए इस दशा में व्यक्तिप्रमाता के पास केवल दो परिमित शक्तियां ही रह जाती हैं—(१) विद्या और (२) काल। ये शक्तियाँ सुषुप्ति दशा में क्रियाशील रहती हैं। प्रथम शक्ति के कारण विषयरूप जगत के अभाव का ज्ञान होता है और काल शक्ति के क्रियाशील रहने के कारण समय का ज्ञान बना रहता है जिसके कारण अपवेद्य सुषुप्ति दशा में अभाव के अनुभव का संबंध भूत काल से उस समय जोड़ा जाता है जब जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति दशा का स्मरण किया जाता है।

यह अभाव का अनुभव तीन प्रकार के अनुभवों की विशेषता है—१. सर्वव्यापी ध्वंस (प्रलय) २. अभाव पर ध्यान शक्ति का केन्द्रीकरण (न इति अभावसमाधि) एवं ३. विषय रूप वस्तुओं की सर्वथा अज्ञान की दशा रूप गम्भीर निद्रा (अपवेद्य सुषुप्ति)।

स्थूल तत्त्वों की विषयरूपता के अभाव में इन प्रकारों के अनुभव उत्पन्न होते हैं क्योंकि क्रमशः १. विषयरूप संसार का अभी तक उदय नहीं हुआ है, २. दृढ़ ध्यान शक्ति ने उसका[1] निषेध किया है, एवं ३. उसकी उपेक्षा की गई

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग ३–३३१–२

है। जिस समय विषयि-ज्ञानरूप अहं (Subjective consciousness) का सम्बन्ध विषयनिष्ठ सामान्य अभाव के साथ होता है तो इसको शून्य कहते हैं। विषय का यह अभाव अपने में भेदहीन होता है—इसमें उन विषयभूत वस्तुओं के कोई रूप नहीं होते जिनको हम विषयरूप जगत में जानते हैं। यह विषय प्रमाता के अन्तःकरण में संस्काररूप मात्र होता है और इसलिए विषय के सामान्य तल का स्पर्श भी नहीं करता।

अपवेद्य सुषुप्ति और तुरीय में भेद

परन्तु यदि स्थूल विषय का अभाव शून्यप्रमाता के उस अनुभव[1] का सामान्य लक्षण है जो १. प्रलय २. अपवेद्य सुषुप्ति एवं ३. समाधि में होता है तो अपवेद्य सुषुप्ति दशा एवं तुरीय दशा में क्या भेद है? तुरीय दशा और सुषुप्ति दशा में जो भेद है उसका उल्लेख इस प्रकार से किया जा सकता है—अपवेद्य सुषुप्ति दशा में 'अहं' अथवा 'आत्मा' का तादात्म्य शून्य के साथ होता है। इसलिए यह परिमित है, जिसके परिणाम स्वरूप यह अपने लोकोत्तर प्रकाश में प्रकाशित नहीं होता। तुरीय दशा में यह तादात्म्य नहीं होता। अतएव तुरीय दशा में आत्मा अपने यथार्थ प्रकाश में प्रकाशित होती है। गुणों के अनुसार भी इस भेद का उल्लेख किया गया है। सुषुप्ति दशा में 'अहं' तमस् से आवृत होता है। परन्तु तुरीय में तमस् का आवरणपट हट जाता है और सत्त्व के प्रकाश में आत्मा प्रकाशित होती है।

अपवेद्य सुषुप्ति एवं तुरीय[2] दशा के भेद का आधार विषय की प्रधानता और प्रमातृ रूप की गौणता है जो अपवेद्य सुषुप्तिदशा का मुख्य लक्षण है। तुरीय दशा में विषयभूत जगत गौण अवस्था में हो जाता है और 'प्रमाता' प्रधान हो जाता है। सुषुप्ति दशा में आणव मल बना रहता है। परन्तु तुरीय दशा में यह मल कुछ समय के लिए नष्ट हो जाता है।

तुरीय तथा तुरीयातीत में भेद

गत उपप्रकरण में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि तुरीय दशा में विषय गौण और प्रमाता प्रधान होता है। इस दशा में प्रमाता को अपने मूल स्वरूपगत अमरत्व स्वप्रकाशता एवं पूर्णता का ज्ञान होता है। परन्तु तुरीयातीत दशा में

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग ३–३०७–८

[2] ई० प्र० वि० वि० भाग ३–३२७–८

प्रमातृता केवल प्रधान रूप ही नहीं होती है वरन् विषयता से परे ऐसी हो जाती है। तुरीयातीत दशा दो प्रकार की होती है (१) वह दशा जिसमें विषय उपचेतन (subconscious) में वर्तमान रहता है। और (२) वह दशा जिसमें विषय का पूर्ण अभाव रहता है। प्रथम दशा को व्यतिरेक तुरीयातीत और दूसरी दशा को अव्यतिरेक तुरीयातीत कहते हैं। अव्यतिरेक तुरीयातीत चरम दशा है जिससे अवरोह नहीं होता।

तुरीय एवं तुरीयातीत दशाओं के भेद को स्पष्ट करने की चेष्टा उस रसायन प्रक्रिया के दृष्टान्त से की गई है जिससे स्वर्ण को पिघलाया जाता है। हमें यह भली भांति ज्ञात है कि जब स्वर्ण को किसी दूसरी धातु जैसे चाँदी के साथ अग्निताप से पिघलाया जाता है तो एक ऐसी क्रमदशा उत्पन्न होती है कि दूसरी धातु की द्रवरेखा स्वर्ण के द्रव में प्रवेश करती हुई सी दिखाई देती है। अपने अन्तिम रूप में यह द्रव एकरूप हो जाता है और दूसरी धातु किंचित् प्रभाव रूप मात्र रह जाती है। तुरीय दशा की समता उस रासायनिक क्रमदशा से की जाती है जिसमें चाँदी की द्रवरेखा स्वर्णद्रव से भिन्न रूप रहती है और दोनों धातुओं का भेद बना रहता है। क्योंकि तुरीय दशा में प्रमाता और विषयभूत प्रमेय का अन्तर बना रहता है। परन्तु तुरीयातीत दशा की तुलना रासायनिक क्रिया की उस क्रमदशा से की जा सकती है जिसमें दोनों धातुएं मिल कर एक रूप हो जाती हैं और दूसरी धातु किंचित प्रभाव रूप रह जाती है। दृष्टान्त व्यतिरेक तुरीयातीत को स्पष्ट करता है जिसमें विषय उपचेतनगत प्रभाव के रूप में विद्यमान रहता है।

सवेद्य सुषुप्ति और प्राण प्रमाता

गत पृष्ठों में हमने अपवेद्य सुषुप्ति के स्वरूप की व्याख्या की है और यह स्पष्ट किया है कि सभी ज्ञान का अभाव उस दशा में किस प्रकार से संभव होता है ? परन्तु सुषुप्ति दशा के दो भेद होते हैं १. अपवेद्य एवं २. सवेद्य। अब हम सवेद्य सुषुप्ति की व्यख्या करेंगे।

सवेद्य सुषुप्ति का अनुभव अपने को इन शब्दों में प्रकट करता है 'मैं सुख पूर्वक सोया था।' (सुखम् अहम् अस्वाप्सम्) इस अनुभव का शून्य प्रमाता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। शून्य—प्रमाता का अर्थ जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, अहं का अभाव के साथ तादात्म्य है। शून्य प्रमाता के विधायक तत्त्व के रूप में जो शुद्ध प्रमाता होता है वह अपनी शुद्ध प्रमातृता के कारण प्राण बुद्धि और देह से

परे होता है। यह शुद्ध प्रमाता शारीरिक तल पर उतर आता है और अपने को साधारणी आंतरी वृत्ति के रूप में प्रकट करता है। यह आन्तरिक शक्ति अथवा वृत्ति उन ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की शक्तियों से भिन्न होती है जो क्रमशः विषयभूत वस्तुओं का प्रत्यक्षबोध करतीं हैं और व्यक्ति की इच्छा के अनुकूल उनके रूपों का निर्माण करतीं हैं। इस आन्तरिक शक्ति के कारण ही शरीरस्थ वायु पांच प्रकारों—प्राण, अपान आदि—में विभाजित हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियां अपने में जड़ अथवा जीवन हीन हैं। यही आन्तरिक शक्ति इन ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों में आन्तरिक वायु की सहायता से जीवन का संचार करती है। इस प्रकार से शून्य प्रमाता का शुद्ध प्रमातृ रूप जो शरीर में साधारण आन्तरिक शक्ति अथवा वृत्ति के रूप में प्रकट होता[1] है 'जीव' कहा जाता है।

अतएव जब 'अहम्'[1] अपना तादात्म्य उस साधरणी आन्तरी वृत्ति के साथ कर लेता है जिस के कारण शरीर में 'जीवनक्रिया'[2] की उत्पत्ति होती है जिसे साधारण भाषा में 'प्राण' कहा जाता है तो उसे 'प्राण-प्रमाता' कहते हैं।

कभी-कभी प्राण-प्रमाता की सत्ता का आधार प्राण वायु के साथ आत्मा का तादात्म्य माना जाता है। इस प्राण वायु की प्रतीति आन्तरिक स्पर्श ज्ञान जनक प्रमातृ शक्ति अथवा शारीरिक संवेदना शक्ति से होती है (स्पर्शनेन्द्रिय गम्ये)। यह शक्ति उस साधरणी आन्तरी शक्ति का विशिष्टीकरण मात्र ही है जिसका उल्लेख हमने इसी उपप्रकरण में किया है। यह सभी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के केन्द्रों में व्याप्त रहती है एवं विशिष्ट[3] ज्ञान एवं क्रिया की उत्पादिका होती है। इसी के द्वारा रीढ़ की हड्डी में उस पीड़ा का अनुभव होता है जो शरीर में घूमती हुई वायु के आघात के कारण उत्पन्न होती है।

आन्तर स्पर्शेन्द्रिय का तादात्म्य जब उस वायु के साथ होता है जो हृदय में क्रियाशील रहती है और आत्मा का तादात्म्य हृदय के साथ होता है तो उसको शास्त्र की भाषा में प्राण-प्रमाता कहते हैं। इस प्रकार से जब स्वप्न-रहित गम्भीर निद्रा में यह संवेदनाशक्ति यह अनुभव करती है कि सर्वांगीण शारीरिक संगठन परम शान्त[4] रूप से क्रियाशील है तो सवेद्य सुपुप्त दशा

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग ३–१३४

[2] ई० प्र० वि० भाग २–२३६

[3] ई० प्र० वि० वि० भाग २–३९५–६

[4] ई० प्र० वि० भाग २–२३८

उत्पन्न होती है। अतएव दूसरे प्रकार की सुषुप्ति उपर्युक्त दूसरे प्रकार के प्राण प्रमाता के कारण उत्पन्न होती है।

स्वप्न और जाग्रत दशाएं अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इस कारण उनकी व्याख्या करना अनावश्यक है। अतएव अब हम उन अनुभवों के विविध तलों का उल्लेख करेंगे जिनसे होते हुए हम रसानुभव के चरम बिन्दु पर पहुँचते हैं और यह स्पष्ट करेंगे कि उन तलों में से किस तल पर जिनका उल्लेख हमने गतपृष्ठों में किया है उत्कृष्ट रसानुभव होता है।

रसानुभव के विविध तल

अभिनवगुप्त ने रसानुभव की समस्याओं का समाधान सर्वांगीण रूप में किया है। वे रसानुभव का विश्लेषण उन अनेक अनुभव के तलों के अनुसार करते हैं जिनमें पहला दूसरे के लिये एक सीढ़ी के पाये के समान होता है। और वे रसविषयक विविध प्रत्ययों को अनुभव के विविध तलों से सम्बन्धित करते हैं। रस के अनुभव का विश्लेषण वे इन्द्रियबोध के तल से आरम्भ करते हैं। वे यह मानते हैं कि नेत्रों और कानों को सुखदायी वस्तुओं के प्रदर्शन के प्रत्यक्षज्ञान से रस के अनुभव का आरम्भ हो जाता है। वे नेत्रों और कानों को ही रसानुभव सम्बन्धी इन्द्रियां मानते हैं। परन्तु वे प्रदर्शन को रसानुभव का विषय न मानकर साधन रूप मात्र ही मानते हैं। क्योंकि किसी अनुभव कर्ता की रसानुभव सम्बन्धित इन्द्रियों के विषयों के वे मानसिक चित्र मात्र ही रसानुभव नहीं है जिनका मूल्यांकन वह, अपने सुख अथवा दुःख के आधार पर करता है। एक साधारण व्यक्ति ऐन्द्रिय सुखानुभव से सन्तुष्ट होकर उसको रसानुभव मान सकता है, परन्तु एक सच्चा सहृदय व्यक्ति किसी वस्तु को केवल इसलिए 'सुन्दर' नहीं मान लेगा क्योंकि वह केवल इन्द्रियों को सुख देती है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी अनुभव को उत्पन्न नहीं करती।

एक यथार्थरसानुभवजनक प्रदर्शन केवल रसानुभवसम्बन्धी इन्द्रियों को ही उत्प्रेरित मात्र नहीं करता है। प्रधान रूप से यह कल्पना शक्ति को उत्प्रेरित करता है। यह कहना ठीक है कि कल्पना शक्ति की यह उत्प्रेरणा इन्द्रियों के साधन से होती है। प्रदर्शन में केवल किसी चित्र की स्थूल रूपरेखा मात्र ही प्रकट की जाती है—दर्शक की कल्पना शक्ति को इस चित्र को सभी आवश्यक अंग प्रत्यङ्गों से संयुक्तकर पूर्णरूप करना होता है। इसलिए रस के अनुभव का दूसरा तल कल्पना है।

जैसे ही सहृदय व्यक्ति इन्द्रिय प्रत्यक्ष बोध के तल से कल्पना के तल पर पहुँचता है उसका व्यक्तित्व बदल जाता है। इस दशा में उसका सम्बन्ध इन्द्रियग्राह्य विषय से न होकर कल्पनाशक्ति से ग्रहीत वस्तु के साथ होता है। इस दशा में उसका अस्तित्व स्थूल जगत से भिन्न एक लोक में होता है। यह लोक स्वयं सहृदय की अपनी सृष्टि होती है। इसमें उसकी भेंट उस नाटकीय व्यक्ति से होती है जो पूर्ण परिस्थिति का नायकत्व करती है। इस व्यक्ति में उसको कुछ भी उपेक्षणीय नहीं लगता। इसमें वह आदर्श का साक्षात्कार करता है। इसलिए वह सहृदय शनैः शनैः क्रमशः अपना तादात्म्य उस नायक के साथ स्थापित करता है। उसके व्यक्तित्व का स्थान नायक का व्यक्तित्व ले लेता है। वह नायक की दृष्टि से ही सभी वस्तुओं को देखने लगता है। ठीक नायक के समान ही परिस्थितियों के प्रति प्राथमिक रूप में (Incipiently) उसकी प्रतिक्रिया होती है। वह विविध परिस्थितियों में नायक के कार्यकलाप को अपना ही कार्यकलाप मान लेता है और उनसे उसी सन्तोष को प्राप्त करता है जो नायक को मिलता है। अतएव जिस समय एक नायक ऐसी किसी परिस्थिति में नैतिक सिद्धान्त के अनुसार दृढ़ता के साथ आचरण करता है, जिसमें साधारण संकल्प शक्ति का व्यक्ति सुपथ से भ्रष्ट अथवा विचलित हो जाता है, और यद्यपि ऐसा आचरण करने में नायक को कठोर यातनाएं सहनी पड़ती हैं—एवं अपने प्रिय जनों का बलिदान करना पड़ता है फिर भी उन यातनाओं और आपत्तियों में उसको एक आन्तरिक सन्तोष का अनुभव होता है तो उस समय दर्शक को भी वैसा ही अनुभव होता है। एक आदर्शनायक के साथ तादात्म्य के तल पर नैतिक (moral) सन्तोष की प्राप्ति होती है। अतएव नाटक दर्शक का नैतिक उत्थान भी करता है। यह नैतिक उत्थान धर्मोपदेश के द्वारा न होकर नैतिकसन्तोष के उस अनुभव के द्वारा होता है जिसमें प्रेक्षक को नैतिक आचरण के श्रेष्ठतर महत्व का साक्षात्कार होता है।

परन्तु वह परिस्थिति जिसमें नायक को आचरण करना होता है भाव जनक होती है। यह भावजनक परिस्थिति उसमें एक भाव उत्पन्न करती है और उसको पराकाष्ठा तक विकसित करती है। सहृदय दर्शक का नायक के साथ तादात्म्य होने के कारण नायक और दर्शक के भावों में एकरूपता होती है। यह रसानुभव का 'भाव-तल' है। इस तल पर सहृदय भाव की उत्कृष्ट अवस्था का अनुभव करता है।

परन्तु इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उत्कृष्ट भाव, भाव से

प्रभावित व्यक्ति में पूर्ण रूप से आत्मविस्मृति उत्पन्न कर देता है। यह भाव विशिष्ट दर्शक का साधारणीकरण कर देता है। यह उसको विशिष्टता विधायक तत्त्वों से स्वतंत्र करता है। यह भाव उसको साधारणीभाव के स्तर तक ले जाता है। इस तल को एरिसटाटिल के मत के अनुसार तो नहीं वरन् हीगेल के मतानुसार साधारणीकरण का तल कह सकते हैं। इस तल पर 'भावरूप' (emotive) अनुभव सभी प्रकार के स्वातिरिक्त विषयों के सम्बन्धों से रहित होता है। और इसके साथ साथ वह उन सभी काल सम्बन्धी और दिक्सम्बन्धी सम्बन्धों से भी स्वतंत्र होता है जो आत्मा को परिमित करने वाले अवच्छेदकों की सत्ता के कारण उत्पन्न होते हैं। इस तल पर भावरूप अनुभव एक साधारणीकृत भाव के अनुभव से अधिक और कुछ नहीं होता। परन्तु यह भाव विभावादि के साथ में पानक की तरह एकात्म होने के कारण शुद्ध भाव से भिन्न वस्त्वन्तर रूप में बदल जाता है। इसका अनुभव करते समय साधारणीकृत सहृदय के हृदय और बुद्धि अथवा मन एक साधारण लौकिक अनुभव की दशा से विलक्षण दशा में होते हैं।

धनञ्जय अपने दशरूपक में रसानुभव के इस तल का उल्लेख निम्नरूप में करते हैं:—

'जिस प्रकार से कथित[1] अथवा अकथित क्रिया कर्ता आदि से सम्बन्धित होकर वाक्य का प्रधानांश बनती है उसी प्रकार से स्थायीभाव विभावादि से संयुक्त होकर नाटक का प्रधानांश बनता है। आस्वादनीय होने के कारण ही[2] यह स्थायी भाव ही रस कहा जाता है। यह रसास्वादन विशिष्टताविधायक तत्त्वों से स्वतंत्र प्रमातागत आनन्द का अनुभव है। रसास्वादन का उद्गम प्रदर्शन के अर्थ के पूर्ण साक्षात्कार से होता है चाहे वह अर्थ प्रकट किया गया हो, चाहे लक्षित किया गया हो अथवा चाहे अभिप्रेत हो। सामान्यरूप आत्मानन्द[3] के अनेक रूप नहीं होते अतएव रस भी एक होता है, फिर भी अन्तःकरण के भावप्रभावित रूपों की विविधता के कारण एवं तदनुरूप हृदय की विविध अवस्थाओं के कारण इसका वर्गीकरण चार प्रकार के प्रमुख रसों में किया गया है। इस प्रकार से आत्मानन्द की दशा में साधारणी कृत प्रमाता के हृदय की उत्फुल्लता अथवा 'विकाश' शृङ्गार रस में होता है, वीर रस में

[1] द० रू०–९५
[2] द० रू०–९६
[3] द० रू०–९७

हृदय का 'विस्तार' होता है, वीभत्स में क्षोभ होता है और रौद्र रस में भयंकर कम्पन अथवा विक्षेप होता है।'

धनंजय के मतानुसार रस का अनुभव उस साधारणीकृत प्रमाता के आत्मानन्द का अनुभव है जो साधारणीकृत स्थायी भाव से प्रभावित है और स्थायी भाव के अनुरूप जिसके हृदय की दशायें हैं। इस प्रकार से वे भट्टनायक के मत का अनुसरण करते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ ने[1] भी अपने रसगंगाधर नामक ग्रंथ में उस स्थल पर रसानुभव को मूलतः भावरूप प्रतिपादित किया है जहां पर उन्होंने अभिनव गुप्त के मत से अपने मत की भिन्नता का उल्लेख किया है। पंडितराज जगन्नाथ के मतानुसार अभिनवगुप्त ने रसानुभव के विषय में इस मत को स्थापित किया था कि 'रसानुभव रति आदि उन स्थायी भावों का अनुभव है जिनसे साधारणीकृत आत्मा (भग्नावरणा चित्) विशेषण या गौण रूप में सम्बन्धित होती है। पंडितराज जगन्नाथ का मत यह है कि आत्मा का स्थायी भाव के साथ सम्बन्ध गुण रूप में नहीं है वरन् आत्मा द्रव्यरूप है और स्थायी भाव उसका गुण है।

रसास्वादन के विषय में अभिनवगुप्त का सिद्धान्त सर्वोत्कृष्ट है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उसका उल्लेख यथार्थरूप में नहीं किया है। अभिनवगुप्त यह नहीं मानते कि रस का अनुभव उस स्थायी भाव का अनुभव है जिससे चिदात्मा गुण रूप में सम्बन्धित है। 'चिद्विशिष्टः स्थाय्येव रसः।' वे यह मानते हैं कि आत्मा के विषय में द्रव्य-गुण सम्बन्ध की चर्चा नहीं हो सकती[2]। (विशेषणविशेष्यभावमुखेन यो व्यवहारः स आत्मनि नोपपद्यते)। वे इसको निम्नरूप से सिद्ध करते हैं :—

शैव मत के अनुसार आत्मा वहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है। बौद्धमत के अनुसार आत्मा वहिर्मुख भी है और अन्तर्मुख भी है। स्वप्रकाश रूप होने के कारण यह अन्तर्मुख है और विषय को प्रकाशित करने के कारण यह बहिर्मुख है। शैवमत के सिद्धान्तकार इस बौद्धमत को इसलिए अस्वीकार करते हैं क्योंकि ऐसा मानने पर विषय की विषयरूपता तथा प्रमाता से इसकी वाह्यता का कारण वतलाना मुश्किल है। अतएव यह केवल अन्तर्मुखी ही है। न तो यह विषय

---

[1] र० गं० २२-३

[2] ई० प्र० वि० वि०-भाग १-१४७

रूप है और न बाह्य रूप है। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी समानता इसके साथ की जा सके। और प्रधानता एवं गौणता, विशेषण और विशेष्य तथा द्रव्य एवं गुण के सम्बन्ध समान तल पर दो वस्तुओं की प्रतीति से होते हैं। अतएव जब हम यह कहते हैं कि 'यह वस्त्र सफेद है' तब हम यह कहना चाहते हैं कि 'सफेद' 'वस्त्र' का विशेषण अथवा गुण है क्योंकि दोनों की प्रतीति विषय-रूपता के समान तल पर होती है। इसलिए आत्मा के प्रसंग में द्रव्य गुण के सम्बन्ध की बात करना न्याय संगत नहीं है क्योंकि यह आत्मा न तो किसी का गुण है और न कोई इसका ही गुण है। वस्तुतः इस मत का उल्लेख वे नैयायिकों के आत्माविषयक मत से अपना मतभेद प्रकट करने के लिए करते हैं।

स्पष्ट रूप से यह कहते हुए कि हमारा मत यह है अभिनवगुप्त अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

अस्मन्मते तु संवेदनम् एवानन्दघनम् आस्वाद्यते।

(अभि भा० भाग १-२९२)।

वे यह मानते हैं कि अपने चरम स्तर पर रस का अनुभव स्वयं शुद्ध आत्मानन्द का अनुभव है। और स्थायी भाव के विषय में वे यह कहते हैं कि यह संस्कार रूप में निवास करता है। और विविधरूप स्थायियों के संस्कारों के आधार पर इसको श्रृङ्गार, वीर आदि अनेक रूपों में विभाजित किया गया है। नाटक का लक्ष्य केवल इस 'भाव' संस्कार को जाग्रत करना है।

अभिनवगुप्त यह मानते हैं[1] कि रस के अनुभव की प्रक्रिया में एक ऐसी क्रमिकदशा आती है जहाँ पर स्थायी भाव से प्रभावित स्वात्म का अनुभव आत्मा करती है, परन्तु वे यह मानते हैं कि यह रस के चरम रूप का अनुभव नहीं है। उस चमत्कार की व्याख्या के प्रसंग में जिसका संक्षिप्त उल्लेख हमने गत उपप्रकरण में किया है वे सन्देह हीन रूप में यह कहते हैं कि एक नाट्य प्रदर्शन को देखने से अथवा एक सुकाव्य पढ़ने से रस का जो अनुभव उत्पन्न होता है वह उस अनुभव से भिन्न है जो एक सुखप्रद वस्तु के प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है क्योंकि रस के अनुभव की विशेषता यह है कि इसमें व्यक्तित्व के विधायक तत्त्व नहीं होते हैं। यह वह अनुभव है जिसमें साधरणीकृत प्रमाता

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग २-१७८-९

का स्वप्रकाश रूप अंश अप्रधान हो जाता है। इसलिए रस का अनुभव आनन्द, विमर्श अथवा स्वात्मविश्रान्ति का अनुभव है।

इस प्रसंग में रसानुभव के दो तलों का उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है और यह बताया है कि अभिनवभारती में उनकी विशदरूप से व्याख्या उन्होंने की है।

१. रसानुभव का प्रथम तल वह है जहां पर साधारणीकृत स्थायी भाव का साक्षात्कार मानों विषय रूप में होता है। यह विषयरूप साक्षात्कार नायक के अन्तःकरण में स्थायी भाव के अनुमान के कारण नहीं होता वरन् नाट्य प्रदर्शन से स्थायीभाव के संस्कार के उपचेतन से जाग्रत होने के कारण होता है। यह इसलिए जागता है क्योंकि सहृदय ने नायक के साथ अपना पूर्ण रूप से तादात्म्य कर लिया है।

२. उसका दूसरा तल वह है जहाँ पर प्रकृष्ट अन्तर्मुखता एवं स्थायी भाव की पूर्ण उपेक्षा के कारण प्रमाता और प्रमेय का द्वैत लुप्त हो जाता है। अनुभव के इस तल पर स्थायी भाव उपचेतन अथवा संस्कार में लीन हो जाता है। इस प्रकार से अभिनवगुप्त के मतानुसार रस का अनुभव अपनी अन्तिम विकास क्रमदशा में परमानन्द का अनुभव है जिसमें नाट्य प्रदर्शन से जाग्रत स्थायी भाव उपचेतन में लीन हो जाता है। अतएव अभिनवगुप्त के मतानुसार अपने चरम तल पर रस का अनुभव व्यतिरेक तुरीयातीत के तल का अनुभव है जिसमें सम्पूर्ण विषय उपचेतन में लीन हो जाता है और प्रमाता अथवा आत्मा अपने आनन्द रूप में प्रकट होती है।

रस शब्द का अर्थ

रस के अनुभव के विषय में जिन दो तलों का उल्लेख हमने गत उपप्रकरण में किया है उनमें से प्रथम तल की व्याख्या अभिनवगुप्त ने अत्यन्त विशदरूप में की है और दूसरे तल की व्याख्या कहीं कहीं पर प्रसंगवश इतने अधिक संक्षिप्त रूप में की है कि यदि पाठक अत्यन्त सावधान न हो तो उसके विषय में उसे कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रसंग में निम्न लिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए :—

१. दोनों तलों के प्रसंग में उन्होंने 'रस' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु उसका अर्थ भिन्न भिन्न है। उस प्रथम तल के प्रसंग में जिसमें साधरणीकृत प्रमाता मानों साधारणीकृत स्थायी भाव का विषय रूप साक्षात्कार करता है 'रस' शब्द का अर्थ 'स्वाद की विषय वस्तु' है (रस्यते इति रसः) क्योंकि इस तल

पर जिसका आस्वादन किया जाता है वह स्थायी भाव है और इसलिए वह रस है। दूसरे तल के प्रसंग में जिसमें स्थायी भाव उपचेतन में लीन हो जाता है और आत्मा उस आत्मानन्द का अनुभव करता है जिसका स्वरूप अन्तर्मुखता एवं स्वात्मविश्रान्ति है, (निरवच्छिन्न स्वात्मपरामर्श, स्वात्मविश्रान्ति) 'रस' शब्द का अर्थ 'आस्वादन की क्रिया' है, (रसनम् रसः)

२. यद्यपि प्रथम तल पर स्थायी भाव का अनुभव प्रधानरूप में होता है फिर भी अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि यह कहना मिथ्या है कि स्थायी भाव का अनुभव विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के अनुभव से प्रथक रूप में होता है। अतएव अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि श्री शंकुक से प्रतिपादित यह सिद्धान्त[1] ठीक नहीं है कि 'विभाव आदि से अनुमानित स्थायी भाव ही आस्वादनीय होने के कारण रस है।' वे निश्चय पूर्वक यह कहते हैं कि रस स्थायी भाव से भिन्न है (स्थायिविलक्षणो रसः)। स्थायी भाव से रस की भिन्नता का कारण यह है कि रसानुभव में स्थायी भाव मात्र ही अनुभव का विषय नहीं होता वरन् उस स्थायी भाव का अनुभव होता है जो विभावादि से उस सामंजस्यपूर्ण रीति से मिश्रित है जिस रीति से उस पानक रस में विविध वस्तुएं मिली रहती हैं जिसका स्वाद अलग अलग रूप में उन विविध सामग्रियों के स्वाद से भिन्न होता है जिनसे उसकी रचना की जाती है।

अभिनवगुप्त के रस सिद्धान्त की दार्शनिक आधारभूमि की व्याख्या करते हुए अभी तक हमने उन मूलतत्त्व विषयक सिद्धान्तों का उल्लेख किया है जो पराकाष्ठागत रस के अनुभव की स्पष्ट व्याख्या करने में सहायक सिद्ध होते हैं। परन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं अभिनवगुप्त के मतानुसार रसानुभूति का आरम्भिक तल इन्द्रिय बोध होता है और कल्पना, भाव, एवं साधारणीकरण के तलों से होता हुआ सहृदय प्रेक्षक क्रमशः लोकोत्तर तल तक पहुंचता है। जिस पूरी प्रक्रिया के बिना रस के चरम स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता उसको समझने के लिए आभासवाद की प्रमाणमीमांसा की विधि का उल्लेख करना आवश्यक है।

आभासवादी मत के अनुसार ज्ञान के स्वरूप को प्रमाणमीमांसा के दृष्टिकोण से समझने के लिए उसका विश्लेषण उसके विधायक तत्त्वों में किया गया है। इस विश्लेषण ने निम्नलिखित चार विधायक तत्त्वों को निर्धारित किया है :—

[1] अभि० भा० भाग १–२८५

१. प्रमाण—ज्ञान के साधन।

२. प्रमाता—ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति।

३. प्रमिति—स्वयं ज्ञान।

४. प्रमेय—ज्ञान का विषय।

आभासवाद में इन तत्वों का अर्थ अन्य दार्शनिक मतों में प्रतिपादित अर्थों से भिन्न है। अतएव शैवमत में जो इनका विशिष्ट अर्थ निर्धारित किया गया है उसका उल्लेख हम संक्षिप्त रूप से करेगें।

आभासवाद की प्रमाणमीमांसा की विधि

१. प्रमाण[1]—सांख्य मत में इसका जो अर्थ निर्धारित किया गया है उससे भिन्न अर्थ शैव मत में प्रतिपादित किया गया है। सांख्य मत के अनुसार जो यह प्रतिपादित किया गया है कि उस जड़ पदार्थ बुद्धि पर जो चित् अथवा पुरुष से भिन्न है, दो प्रतिबिम्ब—पुरुष का प्रतिबिम्ब भीतर से और ज्ञेय वस्तु का बाहर से आकार—पड़ते हुए परस्पर मिल कर ज्ञान को उत्पन्न करते हैं—वह मत माननीय नहीं है। स्वयं आभासवादियों के मत के अनुसार प्रमाण स्वप्रकाशता से हीन नहीं होता। क्योंकि जो स्वयं प्रकाशशून्य है वह अन्य वस्तुओं को कैसे प्रकाशित करेगा? यह प्रमाण चिद्रूप है। विश्वव्यापी चेतना का यह परिमित प्रकटरूप है—यह स्वयं चित् का प्रकाश है। यह ज्योति विषय की ओर उन्मुख होती है और उसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है।

२. प्रमाता[2]—चित् के दो रूप होते हैं—(१) यह अपने प्रकाश को ज्ञेय वस्तु की ओर भेजती है और इस रूप में यह प्रमाण होती है। (२) परन्तु यह चित् आत्मज्ञानी भी होती है और अपने इस रूप में यह प्रमाता है। ज्ञानक्रिया के न जागरूक रहने पर भी अर्थात् उस समय भी जब प्रतिबिंब डालने के लिए विषयभूत जगत नहीं होता इसका अस्तित्व बना रहता है। अपने स्वरूप में यह स्वप्रकाशमय है। यह ज्योति की उस शिखा के समान है जो सर्वदा ज्योतिर्मान रहती है, चाहे कोई प्रकाशनीय वस्तु हो अथवा न हो। कला, नियति, राग, विद्या और काल इसके अवच्छेदक तत्व हैं।

३. प्रमिति[3]—जब यह निष्कम्प ज्योति विषयभूत वस्तु के प्रतिबिंब पर

---

[1] ई० प्र० वि० भाग २—६४

[2] ई० प्र० वि० भाग २—६७

[3] ई० प्र० वि० भाग २,—६८

प्रतिक्रिया करती है, जब इसमें एक आन्तरिक शब्द का प्रादुर्भाव होता है और चित् विषय से संकुचित भान होती है तो इसको प्रमिति अथवा ज्ञान कहते हैं।

४. प्रमेय—मूलतत्त्व चिन्तन के दृष्टिकोण से आभासवाद की प्रमाण-सीमांसाविधि का निहितार्थ यह है कि अनुत्तर को छोड़कर शेष सब आभास है। सभी आभास परतत्त्व की अभिव्यक्ति रूप हैं। इस प्रकार से प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और स्वयं प्रमिति भी आभास ही है। प्रत्येक आभास एक विलगरूप[1] अभिव्यक्ति है जिसके लिए व्यवहारिक जगत में एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त मूलतत्त्व चिन्तन के दृष्टिकोण से प्रमाण सीमांसा विधि के निहितार्थ के अनुसार हम यह जानने की चेष्टा करेंगें कि ज्ञानक्रिया का विषय क्या है। ज्ञानक्रिया दो प्रकार की होती है १. प्रधान एवं २. गौण।

१. प्रधान—प्रधान ज्ञानक्रिया का आरम्भ परिमित आत्मा के प्रकाश के विषयभूत एक आभास की ओर आगे बढ़ने से होता है। प्रकाश प्रतिबिंब को ग्रहण करता है इस क्रिया का अन्त उस मानसिक प्रतिक्रिया में होता है जो आन्तर शब्द की अभिव्यक्ति है। "प्रत्याभासम् प्रमाणव्यापारः"। इस प्रकार से प्रमेय बहुत कुछ उस सामान्य की भांति होता है जिसको वैयाकरण किसी शब्द का अर्थ कहते हैं। इस रूप में यह काल और देशरूप अवच्छेदकों से स्वतंत्र होता है। विषयभूत देश और काल से संबन्धित रूप में इसका अस्तित्व नहीं होता है। वह आभासान्तरसंबंधशून्य आभास जो प्रधान ज्ञानक्रिया का प्रमेय है यथार्थ है १. क्योंकि यह मूल ज्ञानक्रिया का ही विषय है २. क्योंकि यह मानसिक प्रतिक्रिया का ही केवल विषय है एवं ३. क्योंकि व्यवहारिक जीवन में विषयरूप वस्तु का अर्थक्रियाकारित्व इसी पर निर्भर रहता है।

२. गौण—ज्ञानक्रिया का गौणरूप[2] उन विभिन्न आभासों के केवल समीकरण अथवा एकीकरण करने में प्रकट होता है जिनको अलग अलग रूपों में ज्ञानक्रिया के प्रधान रूप से समझा जाता है। इस क्रिया के कारण ही आभासों के उस मिश्रितरूप समुदाय की उत्पत्ति होती है जो किसी शारीरिक क्रिया (केवल ज्ञान मात्र से भिन्न) का विषय होता है। यह क्रिया प्रमाता के व्यवहारिक प्रयोजन से उत्प्रेरित होती है। इस क्रिया का विषय कोई विलग रूप

---

[1] ई० प्र० वि० भाग २-७०-१

[2] ई० प्र० वि० भाग २-७२-३

आभास नहीं है। यह असंख्य आभासों का मिश्रितरूप है। इसकी रचना संख्या में उतने आभासों से की जाती है जितनी संख्या में विभिन्न प्रमाता विभिन्न दृष्टिकोणों से इसके विषय में विभिन्न शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं।

अर्थक्रियाकारित्व[1] अथवा किसी वस्तु की व्यवहारिक उपयोगिता किसी वस्तु के विधायक कुछ आभासों के पूर्णरूप से एकीकरण करने पर निर्भर होता है। इस आभाससमूह को उस एक शब्द से अभिहित किया जाता है जिसका अभिधेय सर्वाधिक आवश्यक अथवा इष्ट आभास होता है।

प्रत्येक वस्तु के विधायक तत्त्व[2] प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान नहीं होते। वे व्यक्ति की (अ) रूचि (आ) प्रयोजन एवं (इ) जानने की शक्ति (व्युत्पत्ति) के अनुसार पृथक् पृथक् होते हैं।

दिक् एवं काल[3] प्रमेय वस्तु के आवश्यक रूप से सदैव विधायक तत्त्व नहीं होते। आवश्यक रूप से प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सदैव दिक् एवं काल के सम्बन्ध में नहीं होता। (अ) उदाहरण के लिए उस समय अग्नि और धूम का संबंध बाह्य रूप काल से नहीं होता जिस समय उनके परस्पर व्याप्ति संबंध का ज्ञान प्राप्त किया जाता है एवं (आ) अभिधेयार्थ प्रकट करने वाले शब्दों को जानने के समय अभिधेय वस्तु का संबंध देश और काल से नहीं होता है। वह वस्तु जो अभिधेयार्थ प्रदायक शब्द का अर्थ है सामान्य होती है।

प्रधान ज्ञानजनकक्रिया के विषय के रूप में 'आभास'[4] 'सामान्य' के समान ही होता है (सामान्यायसाने प्रमाणव्यापारः)। परन्तु मिश्रीकृत आभासों के समुदायरूप विषयवस्तु का देश और काल से सम्बन्ध उस समय होता है जब उसको व्यावहारिक प्रयोजन को सिद्ध करने वाली वस्तु बनाने की इच्छा प्रमाता में होती है। अतएव प्रमाता में जब ऐसी कोई इच्छा नहीं होती तो ज्ञेय विषयरूप वस्तु दिक् और काल से स्वतंत्र होती है।

आभासवाद मत के अनुयायी यह मानते हैं कि व्यवहारिक जीवन में 'घट' जैसे शब्द का प्रयोग ऐसी विषयरूप वस्तु के लिए किया जाता है जो अनेक आभासों के एकीकरण से उत्पन्न होती है। यह अनेकता में एकता है। इसकी

---

[1] ई० प्र० वि० वि० भाग १–१५९

[2] ई० प्र० वि० भाग २, १६–१७

[3] ई० प्र० वि० वि० भाग ३–११८

[4] ई० प्र० वि० वि० भाग ३–१०८

मिश्रीकरणजन्य एकता का ज्ञान बिना अनेकता के प्रत्यक्ष के नहीं हो सकता। और इस एकरूपता के ज्ञान का कारण उन सभी आभासों का एक आधार पर प्रकट होना है जिनको पृथक् रूप में जान लिया गया है। अनेक आभासों के एकीकरण से रचित इस विषयभूत वस्तु को उसी विधायकतत्त्वरूप आभास के नाम से पुकारा जाता है जो प्रमाता की रूचि अथवा दृष्टिकोण से सर्वप्रमुख होता है।

अतएव आभासवाद मत के अनुसार व्यवहारिक जगत की सामान्य विषय-भूत वस्तुएं एक समुदाय स्वरूप होती हैं। परन्तु यह समुदाय ऐसा है जिसका विश्लेषण किया जा सकता है। परन्तु विश्लेषण से जो प्रकट होता है वह समुदाय में समुदाय स्वरूप अथवा आभास में आभास है। और इस विश्लेषण से जो प्रमेय वस्तु के विधायक तत्त्व प्रकट होते हैं वे प्रमाता की प्रवृत्ति, रुचि, अथवा ज्ञान शक्ति के अनुसार विभिन्न होते हैं।

उदाहरण के रूप में यदि हम घट के विषय में अपने ज्ञान का विश्लेषण करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि सामान्य रूप में इसको यद्यपि एक आभास अथवा ज्ञेय वस्तु माना जाता है फिर भी इस एक 'घट' में उतने ही आभास वर्तमान होते हैं जितने वे शब्द हैं जिनका प्रयोग विविध दृष्टिकोणों से विभिन्न विश्लेषक व्यक्ति उस घट के संबंध में कर सकते हैं। साधारण प्रत्यक्षकर्ता की दृष्टि में घट वृत्ताकाररूपता, भौतिकता, वाह्यता, कालिमा, अस्तित्व आदि आभासों का मिश्रित समुदायरूप है। परन्तु यदि कोई वैज्ञानिक घट का विश्ले-षण परमाणु अथवा विद्युताणुओं में करे तो कितनी प्रत्यक्ष सम्बन्धी क्रियाओं को उसे करना होगा और कितने अधिक शब्दों का प्रयोग उसे अपने विश्लेषण के परिणामों का वर्णन करने में करना होगा? क्या कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि साधारण दृष्टि से देखने पर जिसको हम एक वस्तु के रूप में जानते हैं उसके विधायक तत्त्व परमाणु अथवा विद्युताणु नहीं हैं? इसलिए आभासवादी मत के अनुयायी यह मानते हैं कि सामान्य प्रमेय वस्तु बहुसंख्य आभासों का एक मिश्रित समुदाय रूप है। इस समुदाय के प्रत्येक आभास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक पृथक् मानसिक प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। और इसका अर्थक्रियाकारित्व उसके विकल्पात्मक ज्ञान पर निर्भर होता है, और यह ज्ञान भी प्रमाता की रूचि, तात्कालिक आवश्यकता एवं ज्ञानशक्ति पर निर्भर करता है। आभासवादी यह मानते हैं कि मनुष्य की बुद्धि की रचना इस प्रकार से हुई है कि जिससे ज्ञानक्रिया का आरम्भ उपस्थित वस्तु के एक प्रथक् रूप विधायक तत्त्व के ज्ञान और उसके प्रति प्रतिक्रिया के रूप में होता है।

अपने पृथक रूप में समझा हुआ प्रत्येक विधायक तत्त्व एक आभास है, वह सामान्य रूप है एवं ज्ञान क्रिया की सबसे अन्तिम सीमा है।

परन्तु व्यवहारिक जीवन[1] सम्पूर्ण रूप से आभासों के एकीकरण पर निर्भर करता है। पृथक रूप आभास का कोई व्यवहारिक उपयोग नहीं होता। वह केवल प्रारम्भिक अथवा प्रमुखरूप ज्ञानक्रिया का विषय ही बन सकता है। व्यवहारिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए उस प्रमेय वस्तु के साथ में कुछ अन्य आभासों का योग परमावश्यक है—कम से कम देश और काल के आभासों को उस विषय भूत वस्तु के साथ मिलाना परमावश्यक होता है।

आभास की अपरिवर्तनशीलता

अन्य आभासों से संयुक्त होने पर भी कोई आभास[2] परिवर्तित नहीं होता। यह आभास सामान्य रूप होता है। उदाहरण के लिए उस आभास से जिसके लिए 'घट' शब्द का प्रयोग किया जाता है किसी भौतिक उपादान का बोध नहीं होता जैसे कि मिट्टी अथवा चांदी का ज्ञान नहीं होता जिससे घट की रचना की जा सकती है। अतएव उस समय भी, जब इसका संयोग अन्य आभासों से होता है, जैसे कि लालिमा, मिट्टी, ऊँचाई आदि, और अपने सामान्य रूप से भिन्न दिखाई देता है क्योंकि उसको 'लाल' आदि विशेषणों के विशेष्य के रूप में देखा जाता है, तब भी इसके अपने सामान्यरूप मूल स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता।

विशेषता के आधार के रूप में दिक् एवं काल

जिस समय किसी वस्तु को उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखा जाता है उस समय वह आधार जिस पर उसके अनेक रूपों वाले विधायक तत्त्वों का परस्पर मिश्रण होता है वाह्य विषयरूप देश और काल हैं। यह आधार स्वतंत्र उल्लेख एवं अभिधेयार्थ मात्र की प्रमाओं (यथारूचि, यथाव्युत्पत्ति) में नहीं होता। केवल व्यबहारिक प्रयोजन युक्त ज्ञान में इन देश और काल के तत्त्वों का अस्तित्व रहता है। देश और काल का अस्तित्व उस वस्तु से भी संबंधित नहीं होता जो अभिधेयार्थ प्रदायक शब्द के वाच्यार्थ के रूप में होती है, क्योंकि

---

[1] ई० प्र० वि० भाग २–९०

[2] ई० प्र० वि० वि० भाग ३–११९

व्याकरण दर्शन के मतानुसार शब्द केवल 'सामान्यरूप वस्तु' को ही प्रकट करता है यहाँ तक कि 'अयम्' (यह) शब्द भी सामान्यरूप अर्थ को ही प्रकट करता है जो सभी प्रकार के 'विषयों में' सामान्य रूप से विद्यमान 'इदन्ता' व्यक्त करता है। (सर्वभावगतेदन्तासामान्य)। यह 'अर्थ' किसी विशेष रूप 'इदन्ता' को प्रकट नहीं करता। और बाह्य देश एवं काल से अवच्छिन्न होने पर स्वतंत्र उल्लेख की स्वतंत्रता ही नष्ट हो जाती है।

आभासवाद के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ

गत उपप्रकरण में विशेष और सामान्य (जाति) के मूल स्वरूपों की व्याख्या हमने की है। आभास जब देश और काल से सम्बन्धित होता है, तब वह विशेष रूप होता है। और सामान्यरूप अथवा पृथग्भूत आभास इस प्रकार के देश एवं काल के सम्बन्धों से मुक्त रहता है। विशेष (particular) मिश्रित समुदाय रूप अथवा अनेकता में एकता रूप होता है (एकानेकरूपोर्थः)। आभास की सामान्यरूपता का अर्थ यह नहीं है कि वह अनेक वस्तुओं में व्याप्त कोई निरन्तर प्रत्यक्ष होने वाला तत्त्व है वरन् उसका अर्थ वह तत्त्व है जो अन्य तत्त्वों से संयुक्त होने पर किसी विशेष वस्तु का एक विधायक अंश होता है।

परन्तु गत उपप्रकरण में हम यह स्पष्ट रूप से कह आए हैं कि प्रमाता के प्रयोजनमय दृष्टिकोण के कारण ही कोई आभास देश और काल रूप आभासों से संयुक्त होता है। अतएव यदि प्रमाता इस दृष्टिकोण से रहित है तो उसकी ज्ञानरूपी क्रिया का अन्त आरम्भिक क्रम पर ही हो जाएगा और वह ज्ञात वस्तु का सम्बन्ध देश और काल से नहीं जोड़ेगा। इस प्रकार से विषयरूप रस अर्थात् विभावादि का संयुक्त रूप जो रंग मंच पर प्रदर्शित किया जाता है, सहृदय व्यक्ति के अन्तःकरण में सामान्य रूप से प्रतीत होता है क्योंकि वह उसको किसी व्यवहारिक प्रयोजन के दृष्टिकोण से नहीं देखता। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उस समय वह व्यवहारिक वृत्ति से रहित होता है।

आभासवाद के प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्त के अनुसार साधारणीकरण का तल

आभासवाद मत के प्रतिपादक भाषा की उन दो शक्तियों को स्वीकार नहीं करते जिनको भट्टनायक ने प्रमाता एवं प्रमेय गत साधारणीकरण को स्पष्ट

करने के लिए रसानुभव के सम्बन्ध में स्वीकार किया है। आभासवादी की प्रमाण-मीमांसा-विधि इस प्रकार की है कि बिना इन शक्तियों की सहायता के वह साधारणीकरण को स्पष्ट कर सकता है। उसके मत के अनुसार प्रमाता और प्रमेय के विधायक तत्त्व सदैव एक समान ही नहीं होते। प्रत्येक प्रकार के विलग रूप अनुभव में ये तत्त्व भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार से रस के अनुभव में प्रमाता एवं प्रमेय साधारण लौकिक व्यवहार के प्रमाता तथा प्रमेय से भिन्न होते हैं। और इस कारण प्रमाता की मानसिक प्रतिक्रिया एवं तत्परिणामस्वरूप अनुभव भी भिन्न होता है। इस भिन्नता को संक्षिप्त रूप से हम निम्न प्रकार से लिख सकते हैं :—

१. प्रमाता किसी व्यावहारिक प्रयोजन की सिद्धि की इच्छा से रहित होता है। उसकी मानसिक उन्मुखता प्रयोजन सिद्धि के प्रति न होकर रसानुभाव के प्रति होती है। प्रदर्शन के उन अंशों में उसकी कोई अभिरुचि नहीं होती जो उसको व्यवहारिक रूप से उपयोगी बनाते हों। अतएव वह सहृदय विशिष्ट व्यक्तित्व के विधायक उन अंशों से मुक्त रहता है जो व्यावहारिक जीवन में क्रियाशील रहते हैं। वह व्यक्तित्व विधायक अवच्छेदकों से भी स्वतन्त्र रहता है।

२. रसास्वादोत्पादक विषय की भी अपनी निजी विशेषतायें होती हैं। यह केवल देश तथा काल रूपी अवच्छेदक तत्त्वों से ही रहित नहीं होता वरन् विशिष्टता विधायक सभी तत्त्वों से हीन होता है।

३. प्रदर्शन के प्रति सहृदय की जो मानसिक प्रतिक्रिया होती है वह भी भिन्न रूप इसलिए होती है क्योंकि प्रमाता के अवच्छेदक काल आदि तत्त्वों से इस प्रतिक्रिया का रूप विशेषित नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्रमाता सभी आवरणों से रहित होता है।

४. अतएव परिणाम स्वरूप जो अनुभव होता है वह भी सामान्य व्यावहारिक जीवन के अनुभवों से भिन्न होता है। हम अगले अध्याय में इन बातों का उल्लेख विशद रूप से करेंगे।

अध्याय—४

अभिनवगुप्त का रस सिद्धान्त

रस के अनुभव का पराकाष्ठागत स्वरूप क्या है ? इसके विषय में अभिनव गुप्त का यह मत है कि यह रस आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसको हम गत अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं। रस के विषय में अभिनवगुप्त का यह मत तैत्तरीय उपनिषद् में कहे गये रस के स्वरूप के अनुकूल है। उसमें (२।७) 'रसो वै सः' कह कर रस के स्वरूप को प्रकट किया गया है। रस के अनुभव में आत्मा अपने को आनन्द, विमर्श अथवा स्फुरत्ता के रूप में प्रकट करती है। साधारणीभूत स्थायी भाव का कोई प्रभाव तक इसमें अवशेष नहीं रह जाता है। साधारणीभूत विभावादि के पारस्परिक संयोगमय विषयरूपी रस भी इस अनुभव के समय में उपचेतन में लीन हो जाता है। रसानुभव के पराकाष्ठा गत स्वरूप को रस इसलिये नहीं मानते क्योंकि अभिनीत विभावादि का संयुक्त रूप आत्मा में प्रतिविम्बित होता है वरन् इसलिये मानते हैं क्योंकि यह उस तल से उद्भूत होता है जहाँ पर इन विभावादिकों के संयुक्त रूप से आत्मा प्रतिविम्बित होती है।

साधारणीभाव का तल

वह तल जिस पर स्थायीभाव आत्मा को प्रतिविम्बित करता है आनन्द के तल से नीचा है। इस तल को हमने साधारणी भाव का तल कहा है क्योंकि यद्यपि अनुभव के इस तल पर द्वैतता की स्थिति बनी रहती है—यद्यपि प्रमाता और प्रमेय परस्पर विलग रूप में प्रकट होते हैं फिर भी दोनों (प्रमाता और प्रमेय) विशिष्टता विधायक अवच्छेदकों से रहित होते हैं अर्थात् दोनों ही साधारणीभूत होते हैं। इस तल पर साधारणीभूत प्रमाता साधारणीभूत प्रमेय का अनुभव करता है। अनुभव के इस तल पर प्रमाता और प्रमेय को साधारणीभूत करने की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। इस तल पर ज्ञेय का बोध तो होता है परन्तु उसका विकल्परूप नहीं होता। यहाँ पर प्रमाता को 'यह वह नहीं है' ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता है। अतएव अनुभव के विषयांश के दृष्टिकोण से यह तल निर्विकल्प बोध का तल है क्योंकि इस विषय का ज्ञान किसी

अन्य विषय से विलग एवं भिन्न रूप से नहीं होता। परन्तु यह तल पूर्णतया निर्विकल्प बोध का भी तल नहीं है क्योंकि यद्यपि प्रमेय वस्तु पूर्ण रूप से साधारणीभूत हो जाती है फिर भी साधारणीभूत प्रमाता से यह पूर्णतया एकात्म नहीं हो जाती अर्थात् यह उससे विलग रहती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि प्रमेय अन्य प्रमेयों से विलग रूप नहीं होता फिर भी वह प्रमाता से विलग होता है।

अतएव यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि 'इस तल तक किस प्रकार से पहुँचा जाता है?' अभिनवगुप्त एक युक्तिवादी अध्यात्मवादी थे इसलिये उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर भट्टनायक की भाँति भाषा की नई शक्तियों की अनुकल्पना के आधार पर न देकर युक्तिवादी अध्यात्मवाद की साधनाविधि के आधार पर दिया है।

अभिनवगुप्त से मान्य अध्यात्मवाद में 'मलशोधन' मलों से आत्मा को शुद्ध करना—साधना की एक स्वीकृत विधि थी। स्वयं उन्होंने स्वरचित ग्रन्थ तन्त्रालोक में अनेक मलों से शुद्ध होने की साधनाविधि जैसे देशाध्वा, तत्त्वाध्वा आदि का प्रतिपादन किया है। शैव मत के अनुयायी यह मानते थे कि पाशों से मुक्ति अथवा परमोच्च शुद्धीकरण से प्राप्त हो सकता है। उत्पलाचार्य ने स्वरचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका में यह लिखा है कि जिस समय मनुष्य बाह्य जगत् के ज्ञान से विकल्पांशों को क्रमशः हटा कर उसका अनुभव केवल 'निर्विकल्प' 'यह' के रूप में ही करता है उस समय उसे ईश्वर की अवस्था का अनुभव होता है जिसकी विशेषता यह है कि उसमें सामान्यरूप 'अहम्' रूप प्रमाता को सामान्यरूप विषयभूत जगत् का 'यह' रूप में अनुभव होता है। उन्होंने यह माना है कि ज्ञान के इस तल को पाने के लिए किसी विषयरूप वस्तु पर अत्यन्त गम्भीर ध्यान लगाना चाहिये।

क्योंकि अभिनवगुप्त युक्तिवादी अध्यात्मवादी थे इसलिए रस के अनुभव को साधारणीभाव के तल पर स्पष्ट करने के लिए उन्होंने उस शुद्धीकरण एवं पाशमुक्तीकरण के सिद्धान्त का प्रयोग किया है जो शैव अध्यात्मवादियों के बीच में पहले से ही मान्य हो चुका था। अनुभव के इस तल पर एक ओर 'यह' के रूप में साधारणीभूत प्रमेय[1] होता है और दूसरी ओर साधारणीभूत प्रमाता 'अहम्' के रूप में होता है। क्योंकि उन्होंने यह देखा कि इस तल पर

[1] ई० प्र० वि० भाग २–२६५–६

रस का जो अनुभव होता है वह बहुत कुछ उस अनुभव के समान है जिसको उत्पलाचार्य ने 'ईश्वर' के विलक्षण अनुभव का तल कहा है।

फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया था कि वह उपाय जिससे रसानुभव के प्रमाता और प्रमेय का साधारणीकरण के तल पर सामान्यीकरण होता है उस उपाय से भिन्न है जिससे 'ईश्वर' के अनुभवतल पर इसी प्रकार का प्रमाता और प्रमेय का साधारणीकरण होता है। उन्होंने इस बात का पता लगाया कि नाटक की रचनाविधि इस प्रकार की होती है कि दर्शक को साधारणीभूत होने के लिए कोई सजग प्रयास नहीं करना पड़ता है। वे अध्यात्मवादी और रसवादी शुद्धीकरणों के भेदों को भलीभाँति जानते थे। वे यह मानते थे कि अध्यात्म सम्बन्धी शुद्धीकरण कष्टसाध्य एवं दुःखदायी है जब कि रसानुभव सम्बन्धी शुद्धीकरण सहज और सुखमय है। वे रसानुभव सम्बन्धी शुद्धीकरण को अध्यात्मवादी योगियों की शुद्धिकारी साधनाओं से श्रेष्ठतर समझते हैं।[1] अतएव भरत मुनि से रचित नाट्यशास्त्र की व्याख्या उन्होंने यह स्पष्ट करने के लिए की है कि किस प्रकार से नाट्य रचना विधि प्रमाता एवं प्रमेय को तद्गत सभी मलों से रहित करते हुए उनकी शुद्धीकरण से उनका साधारणीकरण करती है। अभिनवगुप्त ने अपने रस सिद्धान्त की रचना उत्कृष्ट नाटकों के अनुभव के आधार पर की है।

त्रयीसम्बन्ध

अपनी अध्यात्मवादी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर अभिनवगुप्त वस्तुद्वयनिष्ठ एवं वस्तुत्रयनिष्ठ सम्बन्धों के भेद के आधार पर सामान्य व्यवहारिक लोक के अनुभव एवं रसानुभव में भेद को स्थापित करते हैं। वे यह कहते हैं कि सामान्य व्यवहारिक लोक के अनुभव प्रमाता और प्रमेय सम्बन्ध के कारण उत्पन्न होते हैं। इस अनुभव में व्यक्तिगत रुचि आवश्यकता एवं बोधशक्ति के आधार पर प्रमाता को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह प्रत्यक्ष किये जाने वाले विषय में से किसी विशेष समय पर कुछ वस्तुओं को चुनकर ग्रहण कर ले। अतएव व्यवहारिक जीवन में एक प्रमेय के विषय में दो व्यक्तियों का अनुभव प्रायः एक प्रकार का नहीं होता। इस प्रकार से सामान्य व्यवहारिक लोक में अनुभव की उत्पत्ति प्रमाता एवं प्रमेय दोनों के सम्बन्ध के कारण होती है। रसानुभव इससे सर्वथा भिन्न होता है। यह एक ऐसा अनुभव

---

[1] ध्व० लो० २९

है जिसकी प्राप्ति प्रदर्शित वस्तु के विषयरूप प्रत्यक्ष से नहीं होती वरन् कलात्मक साधन की सहायता से अभिव्यक्त भाव के अपने आप में अनुभव से होती है।

यह प्रसिद्ध है कि धर्म सम्बन्धी ध्यान में, जैसे कि जब कोई भक्त विष्णु का ध्यान करता है, जो रूप ध्यानी के अन्तःकरण में प्रतिविम्बित होता है वह केवल सम्मुख रखी हुई मूर्ति अथवा चित्र की प्रतिकृति मात्र ही नहीं होता वरन् उससे मूलतः भिन्न होता है। यह कोई ऐसा रूप होता है जिसकी रचना मन मूर्ति अथवा चित्र के साधन से करता है, यह कोई ऐसा रूप[1] होता है जिसके विकल्पात्मक बोध का साधन मूर्त्ति अथवा चित्र का रूप है। इसी प्रकार से रस के अनुभव में रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित विभावादि का प्रदर्शन उस रूप में दर्शक के अन्तःकरण में प्रतिबिंबित नहीं होता जैसा कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात होता है वरन् उस रूप में दर्शक के मन में प्रतिबिंबित होता है जो इससे मूलतः भिन्न है। दर्शक के अन्तःकरण में जो रूप प्रतिबिंबित होता है उसकी रचना प्रदर्शित विभावादि से उत्प्रेरित दर्शक की कल्पना शक्ति करती है। रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित विभावादि एक साधन मात्र है जो कल्पक के मन को कल्पनालोक में स्वतन्त्रता से क्रीड़ा करने में सहायक होता है।

नाट्य प्रदर्शन के विषय में इसी अभिमत को भरत मुनि ने भी प्रकट किया है—इसको हम दूसरे अध्याय में लिख आये हैं। प्रदर्शित विभावादिरूप रस के विधायक तत्त्वों का समुदाय स्थायीभाव को जागृत करने का साधन है—इस सिद्धान्त की स्वीकृति के आधार पर ही रस के विधायक तत्त्वों को विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहा गया है।

हम यह कह चुके हैं कि अभिनवगुप्त के मतानुसार नाटक की रचना-विधि ही ऐसी होती है कि उससे प्रदर्शन और सहृदय दोनों का साधारणीकरण हो जाता है। इसलिए अब हम यह स्पष्ट करेंगे कि रसानुभव काल में सहृदय दर्शक एवं विषयरूप रस के विधायक तत्त्व कौन-कौन से होते हैं और विषयरूप रस के प्रदर्शन की वह कौन सी विशेष विधि है जो इनको साधारणीभाव की ओर ले जाती है।

रसास्वाद-जनक समुदाय के विधायक तत्त्व

विषयरूप रस के विषय में भरत मुनि के मत का उल्लेख हम कर चुके हैं। अभिनवगुप्त ने उनके मत को और भी अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली

[1] अभि० भा० भाग १—२८८

अथवा परिमार्जित रूप में प्रकट किया है। विषयरूप रस के अभिनवगुप्त से परिमार्जित विधायक तत्त्वों का उल्लेख निम्नरूप में किया जा सकता है।

अ

१. विषयरूप रस आवश्यक रूप से एक भावपूर्ण परिस्थिति होती है जिसमें एक अथवा अनेक व्यक्ति भाग लेते हैं।

२. यद्यपि एक अनासक्त सम्पूर्ण भाव–परिस्थिति (emotive situation) के दर्शक के दृष्टिकोण से एक भाव परिस्थिति सामान्य रूप से सभी इन्द्रियों की उत्प्रेरक होती है फिर भी इस भाव-परिस्थिति से संलग्न व्यक्तियों के दृष्टिकोण से, कलाकार की प्रदर्शन–रचना की निपुणता के कारण, यह भाव-परिस्थिति केवल आँखों और कानों को ही प्रभावित करती है। क्योंकि स्पर्श तथा अन्य इन्द्रियों के बोध तुरन्त ही क्रियोन्मुखता उत्पन्न करने लगते हैं जो प्रदर्श्यमान रस का वह साधारणीकरण असंभव कर देती है जिसके आधार पर मुख्यरूप से रस का अनुभव होता है।

३. अधिकांशतः उत्प्रेरक भाव–परिस्थिति में अभिधेयार्थ और लाक्षणिकार्थ के साथ-साथ ध्वन्यर्थ भी होता है।

४. प्रत्येक भाव–परिस्थिति का एक केन्द्र अथवा नायक होता है जिससे सभी घटनाएँ सम्बन्धित होती हैं।

वह पूर्णरूप भाव–परिस्थिति जो नायक में विभिन्न व्यभिचारिभावों तथा स्थायीभाव को जाग्रत करती है शास्त्रीय भाषा में 'विभाव' कही जाती है।

आ

५. जब किसी भाव–परिस्थिति से एक से अधिक व्यक्ति संबंधित होते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का उत्प्रेरक होता है। सम्पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से मानवीय व्यक्ति सामाजिक बोध (social consciousness) को उत्पन्न करती है। इसी कारण सम्पूर्ण परिस्थिति के भावरूप प्रभाव अनुभावों की सहायता से प्रकट किये जाते हैं। ये अनुभाव अन्य व्यक्तियों को उत्प्रेरित करते हैं और व्यक्तियों में परस्पर इस प्रकार का मानसिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं कि सभी व्यक्ति एक भाव-परिस्थिति के अंश बन जाते हैं। भाव–प्रकटनकारी शारीरिक परिचालन आदि को शास्त्र की भाषा में अनुभाव कहते हैं।

इ

६. अनुभावों से जब भाव–परिस्थिति का विकास होने लगता है तो व्यभिचारीभाव उत्पन्न होते हैं और अपने को विशिष्ट कार्यों तथा प्रत्यक्षरूप सात्त्विक भावों में प्रकट करते हैं। इन अचिरस्थायी भावों को शास्त्रीय भाषा में व्यभिचारीभाव कहते हैं।

ई

७. प्रत्येक भाव–परिस्थिति में प्रतिक्रिया के लिए एक स्वभावसिद्ध भाव होता है। परिस्थिति के परवर्ती परिवर्तनों के अनुकूल मानसिक-शारीरिक प्रतिक्रियाएँ इसी भाव से सञ्चालित एवं नियन्त्रित होती हैं। इसको शास्त्रीय भाषा में स्थायी भाव कहते हैं।

इस प्रकार से मिश्रित समुदाय रूप में प्रदर्श्यमान रस के चार विधायक तत्त्व हैं—१. विभाव जिसका केन्द्रबिन्दु नायक होता है, २. अनुभाव, ३. व्यभिचारीभाव एवं, ४. स्थायीभाव।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार विषयरूप रस का मूल स्वभाव

यदि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की सहायता से हम नाट्य प्रदर्शन के मूल स्वभाव को जानना चाहते हैं तो हमें प्रदर्शन को या तो कलाकार के दृष्टिकोण से देखना चाहिये या सहृदय दर्शक के दृष्टिकोण से देखना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि कलाकार के दृष्टिकोण से प्रदर्शन के मूल स्वभाव को निर्धारित करने की चेष्टा की जाय तो प्रदर्शन के बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों का पर्यवेक्षण करना होगा। क्योंकि प्रदर्शन के विधायक तत्त्व केवल विभाव एवं अनुभाव ही नहीं हैं जो आँखों और कानों को रमणीय लगते हैं—वरन् अनुभावों को उत्पन्न करने वाले व्यभिचारीभाव और वह स्थायीभाव भी हैं जो भावरूप परिस्थिति से उद्भूत सभी मानसिक–शारीरिक प्रतिक्रियाओं के नियामक एवं सञ्चालक होते हैं। वस्तुतः विषयरूप रस का आन्तरिक रूप अर्थात् व्यभिचारीभाव एवं स्थायीभाव उसके बाह्यरूप (विभाव एवं अनुभाव) से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि अधिकांश रूप में रस का अनुभव साधारणीभाव से उत्पन्न प्रतिक्रिया (empathic reaction) की सहायता से व्यभिचारी एवं स्थायी भावों के अनुभव पर जिस मात्रा में निर्भर करता है उतना विभाव तथा अनुभाव के प्रत्यक्ष पर निर्भर नहीं करता।

नाट्य रचना शास्त्र के भारतीय लेखकों ने यह प्रतिपादित किया है कि

वही नाट्य प्रदर्शन उत्कृष्ट है जो अति प्रसिद्ध घटना को प्रदर्शित करता है। इसलिए हम इस विषय में विचार करेंगे कि प्रदर्शन का आधार क्या है—जब एक अभिनेता किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का अभिनय करता है तो वह क्या करता है? क्या वह उसका अनुकरण करता है? क्या नाट्य प्रदर्शन किसी यथार्थ की अनुकृति रूप होता है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम इस बात की व्याख्या करेंगे कि 'अनुकृति' का मूल स्वभाव क्या है और उसके विधायक तत्त्व कौन-कौन से होते हैं।

१. मूल व्यक्ति का ज्ञान हुए बिना उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता।

२. अनुकरण मूल व्यक्ति का आंशिक प्रदर्शन होता है अर्थात् अनुकृति में मूल व्यक्ति का आवश्यक आध्यात्मिक तत्त्व नहीं होता।

३. सबसे अधिक सफल उत्कृष्ट अनुकृति एक भ्रान्तिमात्र की जनयित्री होती है अतएव प्रथम दृष्टि से देखने पर जो ज्ञान हमको होता है वह परवर्ती अथवा निकटस्थ पर्यवेक्षण से खण्डित हो जाता है।

४. जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का अनुकरण करता है तो अनुकरणकारी व्यक्ति को इस बात का ज्ञान रहता है कि जिस व्यक्ति का अनुकरण वह कर रहा है वह उससे सर्वथा भिन्न है।—अतएव अनुकरणकारी व्यक्ति सम्पूर्ण सफलता से मूल व्यक्ति के भावों को अपने में उद्बोधित कर उनका अभिनय नहीं कर सकता।

यदि अनुकरण के विषय में उपर्युक्त मत निर्दोष मान लिया जाय तो हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि नाट्य प्रदर्शन एक अनुकरण है[1]। इस न मानने का प्रथम कारण यह है कि समय की दूरी के कारण अभिनेता को उस ऐतिहासिक व्यक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान कभी नहीं हो सकता जिसका अनुकरण उसको करना है। उसका सबसे अधिक सफल और उत्कृष्ट अभिनय स्वयं पूर्व-प्रदर्शनों अथवा अपने पूर्ववर्तियों के अभिनयों पर आधारित होता है। इसको न मानने का दूसरा कारण यह है कि प्रदर्शनरूप रस भावात्मक जीवन के आवश्यक मूल तत्त्वों, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं स्थायी भाव का मिश्रित समुदाय होता है। परन्तु अनुकृति में आन्तरिक भाव का अभाव होता है। क्योंकि वह व्यक्ति जो अनुकरण करता है केवल इसी कारण से अनुकरणकारी माना जाता है क्योंकि उसमें उस मूल नायक का मूल स्वभाव नहीं होता जिसकी वेश-भूषा वह धारण करता है। अतएव किसी अभिनेता के

---

[1] अभि० भा० भाग १–३

विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक ऐतिहासिक मूल व्यक्ति का अनुकरण करता है क्योंकि उसमें मूल व्यक्ति के मूल स्वभाव का अभाव नहीं होता। इसको न मानने का तीसरा कारण यह है कि नाट्य प्रदर्शन को देखने से जो भाव-बोध उत्पन्न होता है वह परवर्ती पर्यवेक्षण से खण्डित नहीं होता। इसको न मानने का चौथा और अन्तिम कारण यह है कि अभिनेता को इस बात का बोध नहीं होता कि मूल अनुकार्य व्यक्ति उससे भिन्न है। क्योंकि यदि अभिनेता अपने को मूल ऐतिहासिक व्यक्ति से भिन्न मान ले तो वह उसके उस मानसिक भाव को अपने में जागृत नहीं कर सकता जो रसविधायक मिश्रित समुदाय का सर्वाधिक आवश्यक विधायक तत्त्व है।

नाट्य-प्रदर्शन भ्रान्तिरूप नहीं होता

भ्रान्ति उस वस्तु के विषय में उत्पन्न होती है जिसमें उससे अधिक मूल्य वाली वस्तु का कोई गुण प्रत्यक्ष वर्तमान है। इसी समान गुण की सत्ता के कारण कोई लोभी व्यक्ति अपनी लोभवृत्ति के कारण उसको अधिक मूल्यवान वस्तु के रूप में देखता है। प्रत्येक विकल्पात्मक बोध की रचना प्रमेय एवं प्रमातागत तत्त्वों से होती है, अर्थात् उस बोध में एक अंश प्रमेयरूप वस्तु का होता है जो उत्प्रेरक के रूप में वर्तमान रहता है और दूसरा अंश प्रमाता की स्मृतिनिधि (stock of memory) से लिया हुआ होता है। इसलिए प्रमा एवं अप्रमा अथवा भ्रान्ति में भेद यह है कि प्रमा में प्रमेयगत तत्त्व प्रधानतर होता है जब कि भ्रान्ति में प्रमातागत तत्त्व प्रधानतर होता है। अतएव परवर्ती अथवा निकटस्थ पर्यवेक्षण से भ्रान्ति अथवा मिथ्यामति खण्डित हो जाती है, जैसे कि सीपी को चांदी समझने में होता है। अतएव जब यह प्रश्न किया जाता है कि क्या नाट्य-प्रदर्शन भ्रान्ति रूप है उस समय विचारणीय यह है कि क्या नाट्य-प्रदर्शन कोई ऐसी वस्तु है जो ऐतिहासिक व्यक्ति को वेषभूषा अथवा ऐतिहासिक घटना के दृश्यों की समानता एवं उनके समान गुण से युक्त होने के कारण ठीक जिस प्रकार से सीपी चांदी की भ्रान्ति उत्पन्न करती है उसी प्रकार से मूल ऐतिहासिक व्यक्ति अथवा घटना भ्रान्त बोध उत्पन्न करता है ? कोई भी सहृदय रसिक व्यक्ति इसको स्वीकार नहीं करेगा। क्योंकि रसात्मक बोध के अधिकांश भाग की रचना वह सहृदय व्यक्ति अपनी स्मृति निधि से संग्रहीत सामग्री से नहीं करता। प्रधानतः दर्शक निष्क्रिय रूप से उन सब वस्तुओं को अपने अन्तःकरण में ग्रहण करता है जो उसकी

बोधशक्ति के संसर्ग में आती हैं। इसके अतिरिक्त नाट्य-प्रदर्शन से जो बोध अथवा अनुभव उत्पन्न होता है वह किसी परवर्ती पर्यवेक्षण अथवा चिन्तन से खण्डित नहीं होता।

क्या नाट्य-प्रदर्शन प्रतिबिम्बरूप है?

इस प्रसंग में हमने 'प्रतिबिंब' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग उस प्रतिच्छाया के अर्थ में किया जाता है जो दर्पण अथवा किसी स्वच्छ तल पर किसी वस्तु के कारण पड़ती है। परन्तु इस प्रसंग में हमने इस शब्द का प्रयोग किसी ऐतिहासिक व्यक्ति की पूर्ण रूप प्रतिकृति के अर्थ में किया है जिसमें उसके परिच्छद, वाणी, परिस्थिति, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं स्थायिभाव वर्तमान रहते हैं। अतएव प्रश्न यह है कि क्या नाट्य-प्रदर्शन ऐतिहासिक घटना का सर्वांगीण यथार्थ प्रतिरूप (representation) है? चाहे हम अभिनेता के दृष्टिकोण से देखें अथवा दर्शक के दृष्टिकोण से विचार करें इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही होगा। इसका कारण स्पष्ट है। नाटक के नायक जैसे राम का अभिनय करने वाला अभिनेता न तो रंगमंचस्थ नायिका सीता को ऐतिहासिक सीता मान सकता है और न दर्शक ही प्रदर्शन को मूल यथार्थ का प्रतिबिंब मान सकता है। क्योंकि यदि दर्शक नाट्य-प्रदर्शन को प्रतिबिंबरूप मान ले तो उसको प्रतिबिंबित मूल और प्रतिबिंबरूप प्रदर्शन के भेदज्ञान के कारण प्रदर्शन अयथार्थ ज्ञात होता रहेगा और इसलिए उसका प्रदर्शित के साथ तादात्म्य एवं तज्जनित भावात्मक प्रतिक्रिया असंभव हो जायगी।

नाट्य-प्रदर्शन आंशिक प्रतिरूप भी नहीं

यह कहने की कोई आवश्यकता ज्ञात नहीं होती कि नाट्य-प्रदर्शन आंशिक प्रतिरूप नहीं है। उदाहरण के रूप में यह नाट्य-प्रदर्शन चित्र अथवा मूर्तिगत आकृति के समान केवल बाह्यरूप का प्रतिरूपमात्र ही नहीं है, और न तो पाठ करने की भांति संगठित शब्दों की ध्वनियों का केवल पुनरुच्चारण मात्र ही है। इसका वर्गीकरण हम मंत्रशक्तिजनित एवं ऐन्द्रजालिक प्रदर्शनों के अन्तर्गत भी नहीं कर सकते हैं।

दर्शक के दृष्टिकोण से नाट्य-प्रदर्शन का स्वरूप

दर्शक के दृष्टिकोण से विचार करने पर नाट्य-प्रदर्शन की समानता संसार की किसी दूसरी वस्तु के साथ करने में हम कठिनता का अनुभव करते हैं।

दर्शक के अनुभव के मूल स्वरूप का विश्लेषण करने पर ही दर्शक के दृष्टिकोण के अनुसार नाट्य–प्रदर्शन के मूल स्वभाव का ज्ञान हमको हो सकता है। अतएव हम यह मान कर कि एक सहृदय उस नाट्य-प्रदर्शन को देख रहा है जिसके नायक राम हैं यह जानने की चेष्टा करेंगे कि राम के प्रदर्शन से उसमें कौन से अनुभव उत्पन्न होते हैं ?

१. जिस व्यक्ति का बोध उसको होता है वह अपने पूर्णरूप में न तो ऐतिहासिक राम है और न देवदत्त आदि नामक अभिनेता ही। क्योंकि ऐतिहासिक राम सुदूर अतीतकालीन होने के कारण प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं आ सकता और अभिनेता बाह्य रूप, वेषभूषा और परिच्छद के वर्तमान होने के कारण ज्ञात नहीं हो सकता। अतएव जिस व्यक्ति का बोध होता है वह दोनों व्यक्तियों के कुछ तत्त्वों का मिश्रित समुदायरूप होता है।

२. 'राम के भेष में अभिनेता है' ऐसा अनुभव भी सहृदय को नहीं होता क्योंकि ऐसा ज्ञान होने पर न तो वह अपना तादात्म्य नायक के साथ कर सकेगा और न भावरूप प्रतिक्रिया एवं रस का अनुभव ही कर सकेगा। क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान का आश्रय प्रदर्शन का प्रमेयरूप में प्रत्यक्षीकरण ही है।

३. जिस प्रकार से शेक्सपियर के नाटक ट्वेल्थ नाइट में समान रूप के दो जुड़ुओं में से एक दूसरे के मिथ्याज्ञान का कारण होता है उस प्रकार से ऐतिहासिक यथार्थ की बाह्यरूप समानता के कारण नाट्य-प्रदर्शन दर्शक की दृष्टि में भ्रान्ति का कारण नहीं होता। क्योंकि दर्शक के उपचेतन में इस विचार के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि 'एक अभिनेता किसी मूल व्यक्ति का अभिनय कर रहा है।'

४. दर्शक के मानस चक्षुओं के सामने उपस्थित 'आकृति' की उत्पत्ति के लिये अभिनेता पर ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ गुणात्मक समानता के कारण अध्यारोप भी नहीं किया जाता जैसे कि उस समय किया जाता है जब हम किसी व्यक्ति को उसकी मूर्खता के कारण गधा कहते हैं।

५. जिस प्रकार से एक कवि चन्द्रमा के समान आनन्द प्रदान करने के कारण सुन्दर मुख को चन्द्रमा मानता है उसी प्रकार से समान भाव के उत्पादक होने के कारण अभिनेता को मूल ऐतिहासिक व्यक्ति भी नहीं कल्पित किया जा सकता। प्रदर्शन का जो बोध दर्शक को होता है उसका वर्गीकरण अन्तिम

दो प्रकार के बोधों के अन्तर्गत इसलिए नहीं किया जा सकता क्योंकि इन बोधों का उद्गम प्रदर्शन के प्रमेयरूप में प्रत्यक्ष करने से ही हो सकता है।

नाट्य-प्रदर्शन का लोकोत्तर स्वभाव

अब प्रश्न यह है कि यदि नाट्य-प्रदर्शन का वर्गीकरण सामान्य लौकिक अनुभव के यथार्थ अथवा अयथार्थ विषय की किसी कोटि में नहीं किया जा सकता है तो नाट्य-प्रदर्शन किस प्रकार का विषय है। कलाशास्त्र के प्रतिपादकों का बहुमत यह रहा है कि यह विषय अलौकिक है। 'अलौकिक' शब्द का इस प्रसंग में यह अर्थ नहीं है कि नाट्य-प्रदर्शन कोई लोकातीत, दिव्य अथवा अवस्तुरूप शून्यमात्र है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि नाट्य-प्रदर्शन का मूल स्वभाव ऐसा है जिससे कि उसका वर्गीकरण सामान्य व्यवहारिक संसार की किसी भी प्रकार के ज्ञेय विषय की स्वीकृत कोटि के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। यह नाट्य-प्रदर्शन स्वतंत्र-कला लोक का एक ज्ञेय विषय है और इसलिए इसकी एक कलात्मक सत्यता है। वह कलात्मक यथार्थ भी सबके अनुभव का विषय नहीं है। केवल उन्हीं व्यक्तियों की दृष्टि में इसकी यथार्थता प्रतीत होती है जो स्वतंत्र-कला लोक के निवासी हैं और उसी में सांस लेते हैं। कला का यह लोक ऐसा है जिसकी रचना काव्य-प्रतिभा ही कर सकती है। इस लोक के मिश्रित समुदाय रूप प्रमाता और प्रमेय सामान्य व्यवहारिक लोक के प्रमाताओं और प्रमेयों से अत्यन्त भिन्न होते हैं। कला लोक के विषय न तो केवल मानसिक सृष्टियां मात्र ही हैं और न ऐतिहासिक घटनाओं के प्रतिरूप मात्र ही हैं। उनमें इन दोनों का स्वाभाविक मिश्रण होता है। इसी प्रकार से इस कला लोक के प्रमाता भी ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी रुचि इन प्रकारों के विषयों की ओर होती है जिनको निजी विलक्षण यथार्थ रूप में प्रदर्शित किया जाता है। यह यथार्थ सामान्य व्यवहारिक जगत के यथार्थ से कम वास्तविक केवल इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह केवल कलात्मक अथवा रसात्मक यथार्थ ही है।

सहृदय व्यक्ति के विधायक तत्व

१. रसिकत्व

रसिकत्व एक जन्मजात शक्ति है जो प्रदर्शन के रसात्मक तत्वों का ग्रहण करती है और रसात्मक चर्वणा से अत्यंत तृप्ति का अनुभव करती है।

२. सहृदयत्व

भाव के तल पर रस का अनुभव नाट्य-प्रदर्शन के नायक के साथ तादात्म्य होने के कारण पराकाष्ठागत स्थायीभाव का साक्षात्कार है। अतएव दर्शक के लिए रंगमंच पर प्रदर्शित भाव–परिस्थितियों के समानरूप व्यवहारिक जगत में भावपरिस्थितियों का बोध परमावश्यक है जिससे रस का अनुभव किसी नाट्य-प्रदर्शन को देख कर उसको हो सके। लोक के सामान्य जीवन में यदि इन भावपरिस्थितियों का अनुभव नहीं किया गया है तो नाट्य-प्रदर्शन उसको उसी मात्रा में सार्थक होगा जिस मात्रा में एक दर्शक को उस अत्यंत स्वादिष्ट फल का दर्शन सार्थक होता है जिसको उसने प्रथम बार देखा है और जिसके स्वाद से वह दर्शक सर्वथा अनभिज्ञ है। उदाहरण के लिए आबाल ब्रह्मचारी नाट्य-प्रदर्शन के रति-विषयक दृश्य को बिल्कुल ही नहीं समझ सकेगा। नाट्य-प्रदर्शन में प्रकट किए गए भावों के समान भावों का व्यवहारिक लोक में अनुभव किस प्रकार से रस के अनुभव में सहायक होता है यह निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होगा।

इन्द्रिय जन्य संवेदनाओं का प्रत्येक समुदाय[१] उस अचिरस्थायी तत्कालिक प्रभाव को उत्पन्न तो करता ही है जो किसी अनुभव की ओर प्रमाता को ले जाता है—परन्तु इसके अतिरिक्त वह समुदाय एक अधिक चिरस्थायी प्रभाव प्रमाता में उत्पन्न करता है जो उसकी प्राणशक्ति अथवा प्रतिक्रिया की शक्ति को प्रभावित करता है और उसको भविष्य में की जाने वाली समान उत्प्रेरक के प्रति प्रतिक्रिया के लिए अधिक योग्य अथवा निपुण बनाता है। इसीलिए प्रशिक्षित सैनिकों के समुदाय की भांति, समानरूप कुछ अनुभवों को प्राप्त करने के पश्चात् ज्ञानतन्तु मण्डल पूर्ण परिस्थिति के किसी अंश की उत्प्रेरणा से ही उपयुक्त संपूर्ण प्रतिक्रियाओं के लिए सजग हो उठता है। यह हमें स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए कि यह प्रतिक्रिया हमारी इच्छाशक्ति पर निर्भर नहीं होती वरन् बहुत कुछ यंत्रक्रिया के समान (Mechanical) होती है, क्योंकि इसके उद्गम के लिये कोई पूर्वभावी मानसिक क्रिया आवश्यक नहीं होती। जिस समय प्राणशक्तियाँ व्यवहारिक अनुभवों की श्रृंखला से इस प्रकार से प्रभावित हो जाती हैं उस समय एक भाव-परिस्थिति के किसी अंश मात्र की उत्प्रेरणा से ही ऐसी पूर्णरूप प्रतिक्रिया उनमें उत्पन्न हो जाती है

---

[१] प० वि० ४७–९

मानो कि पूर्णरूप उत्प्रेरणा ने उसको प्रभावित किया हो। व्यक्ति के उन विधायक तत्वों को शास्त्रीय भाषा में सहृदयत्व कहते हैं जिनके कारण इस प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनुभव में नायक के साथ दर्शक की तन्मयता[1] होती है। नाटक और काव्य का प्रायः गम्भीर अध्ययन एवं नाट्य-शाला में प्रदर्शनों को बहुधा देखना इस सहृदयत्व को शक्तिवान बनाने के आवश्यक साधन हैं।

३. प्रतिभा शक्ति

परन्तु सहृदयत्व के कारण सम्पूर्ण भाव दशा के एक पक्ष का ही निर्माण होता है। यह पक्ष शारीरिक है। इसके कारण उत्प्रेरक परिस्थिति से शारीरिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। परन्तु अनुभव मूलरूप से मानसिक—शारीरिक होता है। अतएव रस के अनुभव के लिए एक मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है जिसको साक्षात्कार की शक्ति अथवा प्रतिभा की शक्ति कहते हैं। रसानुभावक विषय का सहृदय मनोगत चित्र केवल उन्हीं वस्तुओं का प्रतिच्छाया मात्र नहीं होता जिनको प्रदर्शित किया जाता है। सम्पूर्ण चित्र का एक तिहाई अंश ही प्रदर्शित का प्रतिच्छाया होता है। साक्षात्कार करने की यह शक्ति व्यंग्य वस्तु और ध्वन्यर्थ रस भावादि को जो प्रत्यक्ष रूप से प्रकट नहीं होते, व्यक्त करती है। यह शक्ति आंशिक रूप से उस अस्थिर एवं अपारदर्शक (opaque) भिति को हटा देती है जो चेतनांश (Conscious) को उपचेतनांश (unconscious) से पृथक् करती है और उपचेतनांश से उद्भूत तत्वों और ध्वन्यर्थ को प्रकट तत्वों से एकात्म करते हुए रसानुभावक विषय के मनोगत चित्र को पूर्णरूप कर देती है। यह चित्र उससे भिन्न होता है जो विकल्पात्मक ज्ञान में रचा जाता है क्योंकि विकल्पात्मक बोध प्रमाता के व्यावहारिक प्रयोजन पर निर्भर तथा उससे नियमित होता है। परन्तु रसात्मक चित्र की रचना में दर्शक की व्यवहारिक प्रयोजनरहित रसोन्मुखता नियामक होती है। यही उसकी अपनी विलक्षणता है। अतएव रसानुभावक मानस चित्र में एक ऐसी सजीवता होती है जिसका केवल सविकल्प बोधात्मक चित्र में सर्वथा अभाव होता है। स्पष्टरूप में रसानुभावक विषय के मनोगत चित्र के पूर्णरूप एवं सजीवरूप को साक्षात्कार करने की शक्ति को शास्त्रीय भाषा में 'प्रतिभा'[2] कहते हैं।

---

[1] ध्व० लो० ११

[2] ध्व० लो० २९ तथा ई० प्र० वि० वि० भाग ३–१९७

४. बौद्धिक आधार भूमि

परन्तु साक्षात्कार करने की शक्ति अथवा प्रतिभाशक्ति क्रियाशील होकर रसानुभावक विषय के मनोगत चित्र को पूर्ण रूप बना सके इसके लिए उपचेतन का होना परमावश्यक है। पूर्वकालीन संचित अनुभवों के अतिरिक्त यह उपचेतन कुछ और नहीं है। अतएव रस का अनुभव उस प्रेक्षक को नहीं हो सकता जिसको उन सब तत्त्वों का पूर्वानुभव नहीं है जो रसानुभावक विषय के मनोगत चित्र को किसी न किसी रूप में पूर्ण रूप बनाने के लिए परमावश्यक हैं।

५. भावना अथवा चर्वणा

जिस प्रक्रिया से रस का अनुभव प्राप्त होता है वह बहुत कुछ ध्यानशक्ति से प्राप्य आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने की प्रक्रिया के समान होती है। ध्यान शक्ति से उत्पन्न आध्यात्मिक अनुभव के विधायक तत्त्व केवलतः अथवा पूर्णरूप से वे नहीं हैं जो ध्यान के विषय के विधायक तत्त्व हैं वरन् यह विधायक तत्त्व अधिकांशतः प्रमातृगत (subjective) होते हैं, परन्तु ध्यान शक्ति की दृढ़ता के कारण प्रमेय रूप में दिखाई देते हैं। रसानुभव के विधायक तत्त्व भी इसी स्वरूप के होते हैं और इसी प्रकार से प्रमातृगत होने पर भी प्रमेय के समान दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार से एक अथवा दो दिन के ध्यान शक्ति के प्रयोग से किसी व्यक्ति को अध्यात्म सम्बन्धी अनुभव नहीं प्राप्त हो जाता उसी प्रकार से रसात्मक विषय पर ध्यानशक्ति की प्रथम क्रियाशीलता से ही रस का अनुभव प्राप्त नहीं हो जाता।

रस का अनुभव ध्यानशक्ति की जिस प्रक्रिया से प्राप्त होता है उसकी अनुकल्पना किसी भी पशु की रोमन्थ क्रिया के आधार पर की गई है। उदाहरण के लिए गाय रोमन्थ करती है। इस चर्वणरूप क्रिया का स्वरूप यह है। प्रदर्शन[1] से सहृदय के अन्तःकरण में उद्भूत उन अनुभवों का पुनर्चिन्तन जो क्रमानुसार उठ कर उपचेतन में लीन हो जाते हैं। यह चर्वणाक्रिया उन अनुभवों का प्रतिचिन्तन है जिनको इस प्रकार से उपचेतनांश के तल से चेतनांश के तल पर लाया जाता है, मानसिक दृष्टि के सामने इन अनुभवों को विलग रूप में रखा जाता है और उनके यथार्थ स्वरूप को जान कर उस पूर्णरूप

---

[1] ध्व० लो०–३०

को साक्षात्कार किया जाता है जो इन अनुभवों के परस्पर प्रतिबिंबित होने के कारण विलगरूप असंबंधित प्रत्येक अनुभव से भिन्न होता है।

६. मानसिक-शारीरिक अवस्था

प्रत्येक प्रकार के अनुभव के लिए एक विशेष मानसिक-शारीरिक अवस्था परमावश्यक होती है। हृदय जब दुःख से व्याप्त हो तो सामान्य दशा में सुखी करने वाला चित्तहारी संगीत दुःखदायी हो जाता है। उसी प्रकार से किसी नवयौवना सुन्दरी की क्रीड़ामयी गतियां एक वृद्ध के मन में वह अनुभव उत्पन्न नहीं करतीं जो एक नवयुवक के अन्तःकरण में उत्पन्न करतीं हैं। क्योंकि रस का अनुभव चर्वणा से उत्पन्न होता है और नायक के साथ तन्मयता के अनन्तर होता है इसलिए आवश्यकता इस बात की होती है कि अन्तःकरण के उन सब सुखदायी अथवा दुःखदायी दृढ़ विचारों का उन्मूलन किया जाय जिनको प्रदर्शनगत आरम्भिक संगीत नष्ट नहीं कर सकता है। उदाहरणतः वह व्यक्ति जिसका कोई सम्बन्धी निकट अतीत में कालकवलित हुआ हो अथवा वह व्यक्ति जो अपनी प्रेयसी का हाथ अपने हाथों में लिए हो रस का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के रस का अनुभव जीवन की प्रत्येक अवस्था में नहीं हो सकता। सामान्यतः युवावस्था में शान्त-रस का और वृद्धावस्था में श्रृंगाररस का अनुभव दुर्लभ है। अतएव उपर्युक्त मानसिक-शारीरिक दशाएँ रस के अनुभव के लिए परमावश्यक हैं।

७. तन्मय होने की शक्ति

तन्मयता का अर्थ यह है कि दर्शक की आत्मविस्मृत आत्मा का उस नायक के साथ में एकात्म होना जो काल, देश एवं व्यक्ति विधायक सभी तत्त्वों से स्वतंत्र होकर कुछ मानसिक-शारीरिक दशाओं का समुदाय मात्र होता है। इस विषय का विशद वर्णन हम अगले एक उप-प्रकरण में करेंगे।

गत पृष्ठों में रसानुभव के दोनों पक्षों अर्थात् प्रमातृ और प्रमेय पक्षों को हमने स्पष्ट किया है। अब हम इस बात का उल्लेख करेंगे कि ये दोनों पक्ष साधारणीभाव के तल पर रसानुभव की उत्पत्ति में किस प्रकार से सहायक होते हैं। अभिनवगुप्त रस के अनुभव के इस तल को 'ईश्वर' के तल के सदृश मानते हैं। 'ईश्वर' के तल के अनुभव का विशेष लक्षण सामान्यरूप विषय का सामान्यरूप प्रमाता से अनुभूत होना है जिसको संस्कृत भाषा में 'अहम् इदम्' रूप

में प्रकट करते हैं। अनुभव के इस तल पर पूर्णरूप अनुभव में विषय–इदम्–की प्रधानता रहती है। लौकिक अनुभव तल पर इस प्रकार का प्रमाता–प्रमेय सम्बन्ध उस तन्मयता में होता है जिसमें प्रमाता प्रमेय में लीन अथवा निमज्जित हो जाता है और स्वयं प्रमेय बन जाता है। साधारणीभाव के तल पर रसानुभव का विशेष लक्षण यह है कि साधारणीभूत प्रमाता का साधारणीभूत प्रमेय से ऐसा सम्बन्ध होता है कि साधारणीभूत प्रमाता साधारणीभूत प्रमेय के रूप में प्रकट होता है। अतएव हम यह जानने की चेष्टा करेंगे कि इन्द्रिय बोध के तल से ऊपर की ओर इस तल तक किस प्रकार से उठते हैं? इन दो तलों के बीच में अन्य कौन से तल हैं?

हम यह कह चुके हैं कि अभिनवगुप्त रसानुभव के संबंध में पाँच तलों को स्वीकार करते हैं :—

१. इन्द्रिय बोध।
२. कल्पना।
३. भाव।
४. साधारणीभाव।
५. अतीन्द्रिय बोध।

अभिनवगुप्त ने मनोवैज्ञानिक ढंग से इस बात का वर्णन किया है कि सामान्य इन्द्रिय बोध के तल से हम रसानुभव के तल पर किस प्रकार से पहुँचते हैं। हम इसका विशद उल्लेख आगामी उप-प्रकरणों में करेगें।

१. रसानुभवोन्मुखता

नाट्य-प्रदर्शन से रस का जो अनुभव उद्भूत होता है उसकी मानसिक प्रक्रिया का आरम्भ रङ्गशाला को जाने के संकल्प के समय क्रीडा की ओर उन्मुख होने से होता है। यह उन्मुखता सामान्य लौकिक जीवन की व्यवहारिक उन्मुखता से इस बात में भिन्न है कि इसमें व्यक्ति को यह आशा पूर्णरूप से नहीं रहती कि उसको किसी सामान्य व्यावहारिक जगत् में क्रियाशील होना पड़ेगा। उस समय आशा उसको इस बात की होती है कि उसके जीवन का कुछ समय अभिराम दृश्यों एवं मनोहारी संगीत के उत्कृष्ट भाव लोक में व्यतीत हो सकेगा। इसी उन्मुखता के कारण सङ्गीत के आरम्भ होते ही दर्शक के मन में आत्मविस्मृति उत्पन्न हो जाती है। अतएव सामान्य व्यावहारिक जगत् से सम्बन्धित सभी प्रकार के विचारों और भावों का उसके

अन्तःकरण में प्रवेश नहीं हो सकता है। नाटक की प्रस्तावना का दृश्य उसकी इस उन्मुखता में एक विशिष्टता को उत्पन्न करता है। इस उन्मुखता की विशिष्टता के विधायक दो तत्त्व हैं—१. उस स्थायीभाव का उद्गम जिससे वह पूरे नाट्य-प्रदर्शन को देखता है, २. प्रदर्शन के नायक के साथ में तन्मय होने की प्रवृत्ति एवं नायक की आँखों तथा कानों द्वारा प्रदर्शन को देखने और सुनने की प्रवृत्ति। इस प्रकार से जब नाटक के इतिवृत्त का आरम्भ होता है तब देश और काल के तत्त्व, प्रदर्शन के विषय में यथार्थता अथवा अयथार्थता के विचार, एवं वे सब मानसिक प्रक्रियाएँ जिनसे सत्य, मिथ्या तथा संशय कोटि के बोध उत्पन्न होते हैं, दर्शक के अन्तःकरण में प्रदर्शन[1] से उत्पन्न बौद्धिक ज्ञान में प्रवेश नहीं कर सकते।

२. इन्द्रिय बोध के तल से आत्मविस्मृति के तल तक

प्रमोद की ओर उन्मुख होकर सहृदय दर्शक रङ्गशाला में पहुँचता है। फिर भी उसके मन को सांसारिक विचार किसी न किसी मात्रा में प्रभावित करते ही रहते हैं। जिस समय वह बैठकर रङ्गमञ्च के बाहरी रूप अथवा अन्य किसी वस्तु को देखता हुआ नाट्य-प्रदर्शन के आरम्भ की प्रतीक्षा करता है उसी समय सङ्गीत का आरम्भ हो जाता है। उसका ध्यान एकाग्र हो जाता है और उसके मन के अन्य विचार अपने आप तिरोहित होने लगते हैं। जैसे ही सङ्गीत रुकता है वैसे ही सूत्रधार अपनी पत्नी तथा अनुचरों के साथ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है और अभिनीत किये जाने वाले नाटक का परिचय देता है, गीत, नृत्य एवं सङ्गीत का आरम्भ करता है जिससे दर्शकों में आत्मविस्मृति की दशा उत्पन्न हो जाती है और दर्शकों को नायक अथवा अन्य किसी पात्र के आगमन की सूचना देकर नेपथ्य में चला जाता है। नाटक की प्रस्तावना के दृश्य में जो संगीत होता है वह दर्शक को सामान्य व्यवहारिक लोक से हटा कर कला के लोक में पहुँचा देता है यह कालिदास के समान उत्कृष्ट नाटककार का अभिमत है। उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से यह कहलवाया है—

"तुम्हारे हृदयहारी गीत से मेरा मन उसी प्रकार से बलात् आकृष्ट हो गया है जिस प्रकार से ये राजा दुष्यन्त वेगगामी हरिण की ओर आकृष्ट हो गये हैं।"

[1] अभि० भा० भाग १–३६–७

इस प्रकार की आरम्भिक कार्यविधि का मानसिक प्रभाव क्या होगा यह स्पष्ट है। प्रस्तावनागत संगीत दर्शक के अस्थिर ध्यान को रङ्गमञ्च की ओर आकृष्ट करते हुए उसको एकाग्र बनाये रखता है। सूत्रधार का रङ्गमञ्च पर प्रवेश दर्शक को कलाकृति के रूप में भावी प्रदर्शन को देखने के लिए चार प्रकारों से तैयार करता है :—१. वह स्थायिभावोद्बोधजन्य आवश्यक उन्मुखता को जाग्रत करता है। २. दिखाई जाने वाली परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने के लिए वह स्वभाविक मानसिक-शारीरिक संयोजना को तैयार करता है। ३. वह दर्शकों को प्रदर्शन के मूल स्वभाव का परिचय देता है अर्थात् वह यह अवगत कराता है कि प्रदर्शन सामान्य व्यवहारिक लोक की वस्तु न होकर एक कलाकृति है एवं ४. एक चित्ताकर्षक संगीत की सहायता से दर्शक की बोधशक्ति के सभी संभावित प्रभावों को नष्ट कर देता है।

३. आत्मविस्मृति के तल से लेकर तन्मयता के तल तक

साधारणीभाव के तल पर रस का अनुभव मूल रूप से एक उस स्थायी भाव का अनुभव है जो विभावादि को अपने में प्रतिबिंबित करने के कारण अपने शुद्ध रूप से भिन्न रूप में प्रकट होता है। तन्मयता से उत्पन्न भावात्मक प्रतिक्रिया से यह उद्भूत होता है। परन्तु तन्मयता का अर्थ है अपने व्यक्तित्व को किसी दूसरे व्यक्ति में लय कर देना और इस प्रकार से दूसरे व्यक्ति के भावात्मक अनुभवों का अनुभव करना। अतएव हम तन्मयता की प्रक्रिया का विश्लेषण करेंगे।

तन्मयता की प्रक्रिया

संगीत एवं दृश्यपटों से रसानुभावक इन्द्रियाँ जब मुग्ध हो जाती हैं तो दर्शक में आत्मविस्मृति की दशा उत्पन्न होती है। जब दर्शक आत्मविस्मृति के तल पर होता है उसी समय नाटक के इत्तिवृत्त के प्रदर्शन का आरम्भ होता है। मुग्धकारी दृश्य और श्रव्य काव्य एवं संगीत को देखता-सुनता हुआ सहृदय दर्शक मुग्धचित्त हो जाता है। इस प्रकार से जब अत्यन्त मनोहारी परिस्थिति के बीच नायक रङ्गमंच पर प्रवेश करता है उस समय उसकी शारीरिक वेश-भूषा कलापूर्ण होती है। उसका परिच्छद नाटकीय होता है। वह अपनी मानसिक दशा को सात्त्विकभावों एवं अनुभावों में प्रकट करता है। ऐसी दशा में अभिनेता के निजी व्यक्तित्व का कोई अंश स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर नहीं

होता। अतएव प्रदर्शित रूप में अभिनेता को हम पहचान नहीं सकते। उस समय उसकी आकृति सभी उद्देश्यों और प्रयोजनों की दृष्टि से एक ऐतिहासिक आकृति होती है। परन्तु समय एवं कुछ अन्य बातें ऐसी होती हैं जो उस अभिनेता को पूर्णरूप से ऐतिहासिक व्यक्ति भी नहीं मानने देतीं। इस प्रकार से नाट्य-प्रदर्शन की रचना परस्पर विरोधी तत्त्वों से होती है।

इतना होने के बाद जो होता है वह यह है। अपने स्वभाव से मनुष्य का मन कुछ इस प्रकार का बना हुआ है कि एक बार जब यह किसी सुखद दृश्य की ओर आकर्षित हो जाता है तो वह उस दृश्यमान परिस्थिति से उन सब तत्त्वों की उपेक्षा कर देता है जो नीरस और आत्मविरोधी होने के कारण उसके सुख के बाधक होते हैं। एक प्रसिद्ध कहावत है 'ऐसा कोई गुलाब नहीं है जो अपने कंटक से रहित हो।' क्या इसका अर्थ यह है कि प्रकृति में कोई सौन्दर्य है ही नहीं? नहीं। यह कहना सच नहीं हो सकता। वह मन जो प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेम करता है गुलाब की ओर तो आकृष्ट होता है परन्तु कंटक की उपेक्षा कर देता है यद्यपि दोनों का प्रत्यक्ष एक ही समय में साथ-साथ होता है। इसलिए रसानुभावक परिस्थिति जब रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित की जाती है तो दर्शक की रसास्वादन की ओर उन्मुखता के कारण मन प्रदर्शनगत परस्पर विरोधी तत्त्वों की उपेक्षा करते हुए शेषांश के सुखदायी रूप का अनुभव करता है।

इसलिए प्रदर्शन में—समय, देश और व्यक्ति, तीन विरोधी तत्त्वों की दर्शक उपेक्षा करता है, जैसा कि हम कह चुके हैं, और प्रदर्शन का शेषांश दर्शक की बोधशक्ति में प्रतिबिंबित होता है। संक्षिप्त रूप में यह कहा जा सकता है कि सहृदय के मन में उस नायक की मानसिक–शारीरिक दशा प्रतिबिंबित होती है जो सभी व्यक्तित्व विधायक तत्त्वों, काल और देश से रहित है। प्रदर्शित वस्तु का उपर्युक्त तीन तत्त्वों से रहित होना शास्त्रीय भाषा में प्रमेय पक्ष का साधारणीभाव कहा जाता है।

परन्तु तन्मयता का अर्थ सहृदय के आत्म-विस्मृत अन्तःकरण के साथ नायक की मानसिक-शारीरिक दशाओं का एकात्म होना है। यह समझाना कठिन नहीं है कि सहृदय दर्शक में यह तन्मयता किस प्रकार से उत्पन्न होती है। हम यह कह चुके हैं कि सहृदय दर्शक के मन में आत्म-विस्मृति की दशा प्रस्तावनागत दृश्य के मुग्धकारी संगीत के कारण उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो कहना होगा कि दर्शक की बोधशक्ति व्यक्तित्व विधायक तत्त्वों से

रहित हो जाती है। हम यह भी समझा चुके हैं कि किन कारणों से प्रदर्शन के व्यक्तित्व विधायक देश एवं काल के तत्त्व दर्शक की बोधशक्ति में प्रवेश नहीं कर सकते। इस प्रकार से प्रमातृ पक्ष के आत्मविस्मृत अन्तःकरण और प्रमेय पक्ष के नायक की मानसिक-शारीरिक दशाएँ परस्पर एकात्म होकर ऐसी तन्मयता की दशा को उत्पन्न करती हैं जिसको शास्त्रीय भाषा में तादात्म्य कहते हैं।

परन्तु यह तन्मयता मन्दगति प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। यह एकाएक अपने आप नहीं हो जाती। तन्मयता की प्रक्रिया का आरम्भ उस क्षण से होता है जब दर्शक का अन्तःकरण उन सब तत्त्वों से रहित हो जाता है जो व्यक्तित्व की रचना करते हैं। उस क्षण पर उसका अन्तःकरण सब प्रकार के प्रयोजनों से रहित होता है, उसमें कोई मानसिक-शारीरिक उन्मुखता नहीं होती, उसमें निजी स्वभाव के कोई प्रबल संस्कार जागरूक नहीं होते और इनके परिणामस्वरूप उसका अन्तःकरण और शरीर सभी प्रकार की मानसिक-शारीरिक प्रतिक्रियाओं से रहित होता है। ऐसी दशा में जब नाटक का नायक आकर्षक परिस्थितियों के बीच कुछ मानसिक–शारीरिक दशाओं को लेकर प्रवेश करता है तो सबसे पहले जो काम वह करता है वह यह है कि दर्शक के सम्पूर्ण ध्यान को वह अपनी ओर खींच लेता है। फिर वह दर्शक में अपने प्रयोजन को जागरूक बनाता है। इस का परिणाम यह होता है कि दर्शक के अन्तःकरण में वह मानसिक–शारीरिक उन्मुखता एवं तज्जनित प्रवृत्ति की प्रबलता उत्पन्न होती है जिससे कि वह बिल्कुल नायक के समान नाटक के शेषांश को देखता है। इसके उपरान्त सहृदय दर्शक रंगमंच पर जो कुछ होता है उसको जैसे नायक की दृष्टि से देखता और उसके कानों से सुनता है। इस प्रकार से सहृदय तन्मयता के तल पर उस समय पहुँचता है जब वह सम्पूर्ण परिस्थिति का मूल्यांकन बिल्कुल नायक की ही भांति करता है। इस प्रसंग में निम्नलिखित दो बातों को याद रखना परमावश्यक है।

१. तन्मयता द्वैत में अद्वैत की दशा है। यह अद्वैत की दशा इसलिए है क्योंकि दोनों अनुभविताओं—सहृदय एवं नायक–के विधायक तत्त्व एक समान ही होते हैं। परन्तु द्वैत तब भी बना रहता है। यदि ऐसा न हो तो तन्मयता के कारण जिस अनुभव को व्यक्ति प्राप्त करता है उसका उसके अन्तःकरण में संस्काररूप में बना रहना और परवर्ती समय में भी रस के अनुभव की संस्कारजन्य स्मृति, दोनों का संभव नहीं हो सकता।

२. केवल रस के अनुभव के सम्बन्ध में ही हम अभिनेता के साथ दर्शक

की तन्मयता की बात करते हैं। परन्तु अभिनेता दर्शक के ही समान केवल सहृदय मात्र ही नहीं होता। अतएव अनुभवकर्ता के रूप में दोनों जब एक समान होते हैं तब भी उन दोनों का भेद इस रूप में बना रहता है कि जो एक है वह दूसरा नहीं है। इस भेद के विधायक अभिनेता के अन्तःकरण में किसी कार्यसिद्धि का संकल्प एवं तज्जनित उसकी कार्योन्मुखता हैं। अतएव उपर्युक्त सभी संकल्पादि अभिनेता के अनुभव में तो पूर्णरूप से जागरूक होते हैं परन्तु दर्शक में वे प्रारम्भिक रूप में ही जागृत होते हैं। इसका पहला कारण यह है कि दर्शक के अन्तःकरण में ये प्रक्रियाएँ बिना किसी तैयारी के उत्पन्न होती हैं और इसका दूसरा कारण यह है कि ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ अभिनेता अपना तादात्म्य शारीरिक संवेदनाओं कार्योन्मुखताओं आदि साधनों से करता है परन्तु दर्शक अपना तादात्म्य नेत्रजन्य एवं श्रोत्रजन्य उन अनुभवों के साधन से करता है जो शारीरिक उन्मुखता को उत्पन्न करते हैं।

काल आदि तत्वों के निराकरण की दार्शनिक व्याख्या

हम यह कह चुके हैं कि अभिनवगुप्त के मतानुसार प्रत्येक वस्तु एकानेक रूप है। इसकी रचना अनेक आभासों अथवा 'सामान्यों' से होती है। एक विशेष प्रमाता की बोधशक्ति में जो भी आभास प्रतिबिंबित होता है उसका अन्य प्रमाताओं की ज्ञान शक्ति में प्रतिबिंबित होना आवश्यक नहीं है। प्रमेय के प्रति प्रमाता की उन्मुखता की विभिन्नता के अनुसार अनुभव के प्रमेय पक्ष के विधायक तत्त्व भी भिन्न-भिन्न होते है। अनुभव के प्रमेयांश के विधायक तत्वों को अवगत करने के लिए प्रमाता की उन्मुखता का प्रकार अत्यन्त प्रधान वस्तु है। विषयभूत काल अर्थात् सूर्यादि–संचार–ज्ञेय काल का बोध प्रत्येक विषयानुभव में आवश्यक रूप से वर्तमान नहीं रहता।

मीमांसक मत के अनुयायी भी कुछ अनुभवों में सूर्यादि–संचार–ज्ञेय काल के निराकरण (elimination) को स्वीकार करते हैं। साधारणीभाव की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने स्वयं इस मत का उल्लेख किया है। मीमांसा मतावलम्बी[1] यह मानते हैं कि 'ताम्र अग्नौ प्रादात्' एवं 'रात्रिम् आसत' के समान वाक्यों को सुनने वाला व्यक्ति अपनी किसी उन्मुखता एवं प्रवृत्ति को लेकर अन्त में ऐसा अनुभव करता है जिसमें वाक्य कथित समय का निराकरण हो जाता है। उपर्युक्त वाक्यों में 'आसत' अथवा 'प्रादात्' भूतकाल के बोधक

[1] अभि० भा० भाग १–२८०

हैं। परन्तु श्रोता के अन्तिम बोध में 'अतीतकाल' प्रविष्ट नहीं होता। इसके विपरीत उसके बोध में वर्तमान काल आता है जो कि 'प्रददामि' आदि शब्दों से उत्पन्न होता है। इन वाक्यों से जो अन्तिम ज्ञान उत्पन्न होता है वह वर्तमान काल को प्रकट करता है। मीमांसक केवल 'समय' के निराकरण को ही स्वीकार नहीं करते वरन् वाक्य में कथित 'पुरुष' के निराकरण को भी मानते हैं। उदाहरण के लिए उपर्युक्त वाक्यों में क्रिया का प्रयोग प्रथम पुरुष में किया गया है। परन्तु विशिष्ट उन्मुखता एवं प्रवृत्ति के कारण श्रोता के अन्तिम बोध में प्रथम पुरुष का निराकरण हो जाता है और उसके स्थान पर उत्तम पुरुष का ज्ञान होता है जो 'आसे' और 'प्रददामि' शब्दों से प्रकट होता है।

अतएव अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि समुपस्थित विषयभूत तत्त्वों के निराकरण अथवा प्रतिनिधान (Substitution) का सिद्धान्त केवल आभासवादियों को ही मान्य नहीं है वरन् अन्य मतावलम्बी भी इसको मानते हैं। अतएव जिस प्रकार से मीमांसा मत के अनुयायी यह मानते हैं कि 'ताम् अग्नौ प्रादात्' आदि वाक्यों के उस अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है जो शब्दों से प्रकट होता है उसी प्रकार से काव्यात्मक वाक्यों से उस भिन्न अर्थ का बोध रसोन्मुख श्रोता को होता है जिसमें काल आदि तत्त्वों का निराकरण, अन्य तत्त्वों का प्रतिनिधान एवं कुछ अन्य तत्त्वों का संमिश्रण हो जाता है।

४. तादात्म्य से लेकर कल्पना तक

गत पृष्ठों में हमने उस प्रक्रिया का उल्लेख किया है जो रसानुभव के उस तल तक पहुँचने के लिये आवश्यक होती है जहाँ पर नाटक के नायक के साथ सहृदय का तादात्म्य होता है। यह भी हम बता चुके हैं कि इस तादात्म्य का स्वरूप दर्शक के स्वात्म-विस्मृत आत्मा का नाटक के उस नायक के साथ तन्मय होना है जो देश, काल एवं व्यक्तित्व विधायक सभी अन्य अवच्छेदकों से रहित होकर कुछ मानसिक-शारीरिक भावों एवं क्रियाओं का पुञ्ज मात्र है। अतएव अब हम इस पुञ्ज के विधायक तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि रसानुभव के विचित्र स्वभाव का कारण ये तत्त्व किस प्रकार से होते हैं।

नियमतः रंगमंच पर नायक सर्वदा एक स्पष्ट प्रयोजन को लेकर ही प्रवेश करता है। और क्योंकि प्रत्येक प्रयोजन का सम्बन्ध विषयभूत परिस्थिति से होता है इसलिए उसमें स्वाभाविक रूप से कोई न कोई मानसिक-शारीरिक

उन्मुखता अवश्य होती है। अतः जिस समय नायक से तन्मय होकर दर्शक परिस्थिति का सामना करता है तो उसकी रसिकता जागृत हो जाती है और निम्नलिखित रसानुभव जनक तत्व प्रकट होते हैं :—

१. रसिकत्व दर्शक के ध्यान को केवल प्रदर्शन में एकाग्र ही नहीं रखता है वरन् दर्शक के अन्तःकरण में उन विचारों को भी उठ कर प्रधान बनने से रोकता है जो व्यक्तित्व के बोध को उत्पन्न करते हैं।

२. प्रतिभा शक्ति (१) आंशिक रूप से उस अस्थिर घने पर्दे को हटा देती है जो उपचेतनांश से चेतनांश को विलग करता है (२) उपचेतनांश से चेतनांश में आये हुए विचारों को प्रत्यक्षीक्रियमाण वस्तु से संमिलित करती है, एवं (३) इस प्रकार से रचित मानसिक प्रतिच्छाया को बुद्धि विरचित पृष्ठभूमि से सम्बन्धित करते हुए कल्पना के लोक का सृजन करती है।

रसानुभावक मनोगत प्रतिच्छाया का विकास

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि नाव्य-प्रदर्शन किसी ऐतिहासिक अथवा अन्य किसी प्रकार की घटनाओं का आदर्शीकृत प्रतिरूप है। अतएव जैसा कि इतिहास के प्रसंग में होता है वैसे ही नाटक में भी प्रधान घटना की ओर ले जाने वाली परिस्थिति का विकास भी मन्दगति से क्रमशः होता है। अतएव रसानुभावक मनोगत प्रतिच्छाया की पूर्णता मन्दगति प्रक्रिया से होती है। नाव्य-प्रदर्शन की गति के साथ इसका विकास होता जाता है। जिस समय नाटक के प्रस्तावनागत अत्यन्त मुग्धकारी संगीत एवं दृश्यों के कारण दर्शक में आत्मविस्मृति हो जाती है और रंगमंच पर नायक के प्रवेश करने पर दर्शक का तादात्म्य उसके साथ हो जाता है उस समय नायक के समान ही परिस्थिति दर्शक को भी प्रभावित करती है। प्रदर्शन से दर्शक के इस रूप में प्रभावित होने को आलंकारिक भाषा में यदि कहें तो यह कहना होगा कि रसानुभावक मनोगत प्रतिच्छाया[1] का निर्माण करने वाले ये आरम्भिक बिन्दु हैं। इसके उपरान्त संवेदनात्मक एवं भावात्मक प्रतिक्रियाओं के रूप में परवर्ती चेष्टाओं से रसानुभावक मनोगत प्रतिच्छाया पूर्णरूप से उस समय विकसित होती है जब नाटकीय पराकाष्ठा (dramatic climax) का आगमन होता है। अतएव रस का अनुभव नाटक के प्रदर्शन के आदि से लेकर अन्त तक नहीं होता रहता है—क्योंकि जिस मनोगत प्रतिच्छाया पर यह अनुभव निर्भर है

[1] ध्व० लो० ५७

वह क्रमशः मन्दगति से पूर्णरूप होती है। अतएव रस का अनुभव पराकाष्ठागत नाट्य-प्रदर्शन जनित अनुभव है। यह अनुभव उसी समय उत्पन्न होता है जब रसानुभावक मनोगत प्रतिच्छाया पूर्णरूपता को प्राप्त करती है, जब स्थायीभाव पराकाष्ठा पर पहुँच कर आस्वादित होता है।

५. कल्पना से भावतल तक

भारतीय रस सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्यों के मत के अनुसार कवि, अभिनेता एवं दर्शक का अनुभव समानरूप ही होता है (समानोनुभवः)। अतएव रसानुभूति के उद्भव की प्रक्रिया को एवं इस अनुभूति के प्रमाता एवं प्रमेय पक्षीय विधायक तत्त्वों को भी अधिकांश रूप में समान ही होना चाहिए। हम यह कह चुके हैं कि नाटक के नायक के साथ में दर्शक की तन्मयता के कारण रस का अनुभव होता है। रसास्वादन में सहृदय की शारीरिक–मानसिक दशा अभिनेता के ही समान होती है। अभिनेता स्वयं दर्शक में प्रयोजनों, शारीरिक-मानसिक उन्मुखताओं एवं प्रवृत्तियों को उत्प्रेरित करता है और इन्द्रियग्राह्य वस्तु का बोध नायक के माध्यम से दर्शक को होता है।

इस प्रकार से रसिकत्व, उपचेतनगत बोध (intellectual background) एवं प्रतिभाशक्ति की सहायता से सहृदय जब अपनी इन्द्रियजन्य संवेदनाओं को व्यवस्थित करता है और उनको एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है, इन्द्रियगृहीत अंशों को अपने उपचेतनगत आवश्यक अंशों के साथ मिलाता है और इस प्रकार से एक ऐसे कल्पना लोक का सृजन करता है जिसमें वह निवास करता है और अपने अस्तित्व को स्थापित करता है उस समय प्रमाता की एक अन्य शक्ति जिसको शास्त्रीय भाषा में सहृदयत्व कहते हैं जागृत हो जाती है और उपयोग में आती है। प्रमातागत अन्य अंशों के साथ इसके संयोग एवं सामंजस्य-पूर्ण क्रियाशीलता से रसानुभावक मनोगत प्रतिच्छाया का पूर्णरूप में निर्माण होता है। इसके पूर्ण हो जाने पर वे उपयुक्त प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे एक भाव दशा उद्भूत होती है।

६. भाव के तल से पूर्ण साधारणी भाव के तल तक

शारीरिक तल पर जिस समय दर्शक का अनुभव प्रदर्शन के नायक के समान ही होता है क्योंकि अपनी सहृदयता के कारण दर्शक के हृदय का स्पन्दन नायक के समान होता है जिससे उसका ज्ञानतन्तु मण्डल नायक के समान ही

प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है, और इसी प्रकार से जब वह बौद्धिक शक्ति के तल पर नायक के समान अनुभव प्राप्त करता है क्योंकि प्रतिभा शक्ति बौद्धिक सामग्री की सहायता से कल्पना के क्षेत्र को अधिकांश रूप में उन आकृतियों से भरा-पूरा कर देती है जो कि नायक द्वारा अनुभूयमान आकृतियों के समान होती हैं—उस समय रसानुभव का दूसरा सर्वाधिक प्रधान अंश भी आध्यात्मिक तल पर उसी गतिरेखा पर उसी पराकाष्ठा तक विकसित होता है।

अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती में इस बात का उल्लेख किया है कि प्रदर्शित विभाव, नायक एवं सात्त्विक भाव परस्पर मिल कर आध्यात्मिक तल पर ध्वन्यर्थ को किस प्रकार से प्रकट करते हैं। वे कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' से एक श्लोक को दृष्टान्त रूप में लेकर इसको स्पष्ट करते हैं।

ध्वन्यर्थ का विकास जिस प्रक्रिया से होता है वह इस प्रकार है :—

प्रस्तावनागत दृश्य एवं संगीत सहृदय दर्शक को प्रदर्शन से रसास्वाद प्राप्त करने के योग्य बना देते हैं। प्रारम्भिक संगीत दर्शक को व्यक्तित्व विधायक तत्त्वों से रहित कर देता है। दर्शक में एक आत्मविस्मृति की दशा उत्पन्न हो जाती है। इस दशा में प्रदर्शन के इतिवृत्त का आरम्भ होता है।

कण्व ऋषि के आश्रम के निकट पवित्र तपोवन के एक भाग का दृश्य है। एक आश्रम का मृग रंगमंच पर प्रवेश करता है। रथ पर आरूढ़ राजा दुष्यन्त उसका पीछा कर रहा है। राजा के वाण से अपने प्राणों की रक्षा करता हुआ मृग भागा जा रहा है। मृग अत्यन्त भयभीत है। इस रूप में मृग को राजा दुष्यन्त के अन्तःकरण में ध्वन्यर्थ 'भयानक' के विकास का कारण कहा गया है। नायक के साथ में तादात्म्य होने के कारण दर्शक को भी नायक के समान ही 'भयानक' का अनुभव होता है।

प्रक्रिया का आरम्भ प्रदर्शन के बौद्धिक बोध से होता है। कालिदास ने अनुभूयमान विषयों को अत्यन्त मार्मिक सुन्दरता के साथ नीचे लिखे श्लोक में प्रकट किया है :—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविततमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।

दर्शक जब इस श्लोक को सुनता है तो भाषा की अभिधा तथा तात्पर्य शक्ति के कारण उसको इसके अर्थ का बोध होता है। तदनन्तर उसको पूर्णरूप का मानस साक्षात्कार होता है। काल देश आदि तत्त्वों का निराकरण हो जाता है। प्रत्येक वस्तु का व्यक्तित्व[1] एवं अर्थक्रियाकारित्व उसके काल के साथ सम्बन्ध पर प्रधानतया निर्भर होता है। उसके अभाव में स्वाभाविक रूप से उसकी विशिष्टता का निराकरण हो जाता है। इस क्रमदशा में मृगदर्शनजन्य अनुभव को "भीतः" (डरा हुआ है) इस भाषा में कहा जाता है। भय के कारण के अभाव में कोई भीत नहीं हो सकता। इस उपर्युक्त प्रसंग में भय का कारण कोई विषयभूत यथार्थ वस्तु नहीं होती, इसलिए सभी प्रकारों के विषयरूप सम्बन्ध से रहित होने के कारण 'भीतः' इस स्वरूप में जो अनुभव हुआ था उसमें से केवल भय मात्र ही रह जाता है। यह 'भय' जो साधारणीभूत दर्शक के अन्तःकरण में प्रकट होकर उसके हृदय में प्रवेश सा करता हुआ तथा साक्षात्क्रियमाण ऐसा दृष्टि के सामने नृत्य करता हुआ सा दिखाई देता है श्लोक का ध्वन्यर्थ है। शास्त्रीय भाषा में इसको भयानक रस कहते हैं जो आध्यात्मिक तल[2] पर प्रकट होता है।

भय का उद्गम स्थान

इस प्रसंग में स्वभावतया यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'भय' कहाँ से उत्पन्न होता है ? अभिनवगुप्त इस प्रश्न के उत्तर में यह कहते हैं कि यह 'भय' कहीं बाहर से नहीं आता। यह अपनी आत्मा के अन्दर से उत्पन्न होता है। आत्मा अनादि है और रति, भय आदि की वासनायें उसमें स्वाभाविक रूप में वर्तमान रहती हैं। ये वासनायें अपने को इस प्रकार से प्रकट करती हैं जिससे कि वे स्पष्टरूप से अन्तःकरण में उस समय प्रत्यक्ष हो उठती हैं जब नेत्रों और कानों को सुखद लगने वाली परिस्थिति में कोई सहृदय दर्शक होता है। जब प्रेक्षक किसी रसानुभावक परिस्थिति में होता है तो यह रसानुभावक परिस्थिति से जागृत किया गया भाव ध्वन्यर्थ कहा जाता है। अपने इस मत को वे कालिदास के समान महाकवि की एक उक्ति[3] की सहायता से सिद्ध करते हैं। वह इस प्रकार है :—

[1] अभि० भा० भाग १–३६

[2] अभि० भा० भाग १–२८१

[3] अभि० भा० भाग १–२८१

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीभाव के तल पर साधारणीकरण की प्रक्रिया पूरी हो जाती है और इस तल पर रस का अनुभव साधारणीभूत प्रदर्शन का साधारणीभूत सहृदय के अनुभव के रूप में होता है। परन्तु आभासवाद के चौथे आध्यात्मिक पदार्थ 'ईश्वर' के तल के अनुभव की भाँति इसमें प्रमेय पक्ष की प्रबलता रहती है। इस तल पर अनुभव का रूप 'अहम् इदम्' के रूप में होता है।

अतीन्द्रिय अनुभव के तल पर रस के अनुभव का क्या स्वरूप होता है? इसकी व्याख्या हम गत अध्याय में कर चुके हैं।

रसानुभव के विघ्न

इस रसास्वादन के सात विघ्न हैं[1]। दर्शक के प्रमातृत्वविधायक अंशों का सहयोग जब नाट्य-प्रदर्शन के विलक्षण स्वरूप के साथ होता है तो ये सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं। इनका उल्लेख निम्नरूप में किया जा सकता है।

१. अर्थ-बोध की असमर्थता

(प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहः)

यह विघ्न उस समय उत्पन्न होता है जब दर्शक को विषयभूत प्रदर्शन असम्भव प्रतीत होता है। इसका परिहार करने के लिए दो बातों की आवश्यकता है :—

१. प्रमातृ पक्ष में सहृदयत्व।

२. प्रदर्शनरूप विषय पक्ष में सामाजिक नाटक के प्रसङ्ग में अत्यन्त प्रसिद्ध घटना का प्रदर्शन और लोकोत्तर विषय के नाटक में ऐसे नायक का नाम जिसकी ऐतिहासिक सत्यता का संस्कार परम्परा की दृढ़ता के कारण स्पष्टतया दर्शक के अन्तःकरण में पहले से वर्तमान है। इस प्रकार के नाम में एक ऐसी शक्ति होती है जो तत्सम्बन्धी असंख्य संस्कारगत विचारों को सजीव कर देती है जिससे कि प्रदर्शित विषय में असम्भावना की प्रतीति नष्ट हो जाती है।

---

[1] अभि० भा० भाग १–२८१–५

२, ३. देश और काल से प्रमाता एवं प्रमेय की अवच्छिन्नता

(स्वगत-परगतत्व-नियमेन देशकालविशेषावेशः)

प्रमाता एवं प्रमेय पक्षों के अवच्छेदक तत्त्वों का निराकरण दो साधनों से किया जा सकता है :—

१. नाटक की रचनाविधि (नाटक की प्रस्तावना के प्रदर्शन में कुछ नियमों का पालन करना परमावश्यक है। इसमें पहले अभिनेता का निजी परिचय दिया जाता है फिर उसके स्वरूप को ऐतिहासिक नायक के नाम से सम्बन्धित उपयुक्त वेशभूषा, परिच्छद, प्रसाधन, बोलने की विशिष्ट शैली एवं स्वर विवर्णता आदि से प्रच्छन्न कर दिया जाता है) प्रदर्शन के साधारणीकरण का साधन है।

२. इसी प्रकार से संगीत आदि जो दर्शक में आत्मविस्मृति की दशा को उत्पन्न करने वाले कारणों में प्रसिद्ध हैं प्रमाता के साधारणीकरण के साधन हैं।

४. निजी सुख-दुःखों का प्रभाव

(निजसुखदुःखादिविवशीभावः)

संगीत आदि के कारण जो आत्मविस्मृति उत्पन्न होती है उससे यह विघ्न नष्ट हो जाता है।

५. प्रतीतिसाधन की दुर्बलता के कारण स्पष्टता का अभाव

(प्रतीत्युपाय-वैकल्य-स्फुटत्वाभावः)

अनुमानजनक लिङ्गों एवं शब्दों के साधनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उससे मनमें ऐसा सन्तोष नहीं होता जिससे कि वह अनुमित वस्तु के विषय में प्रमाणान्तर द्वारा जानने की चेष्टा न करे। नाट्य-प्रदर्शन के रूप में जो प्रतीति का विषय है उसको सबल बनाने के लिए अभिनय की सहायता ली जाती है। इससे प्रदर्शित वस्तु से जो प्रभाव उत्पन्न होता है वह वस्तुतः प्रत्यक्ष वस्तु से उत्पन्न प्रभाव की ही भाँति स्पष्टरूप और शक्तिशाली होता है।

६. प्रधान की अप्रधानता

(अप्रधानता)

जो अप्रधानरूप है उसके अनुभव में मन आत्मविश्रान्ति प्राप्त नहीं करता। अप्रधान को देखकर प्रेक्षक का मन स्वभावतः 'प्रधान' की ओर दौड़ता है अथवा उसकी खोज करता है।

अतएव आत्म-विश्रान्ति को उत्पन्न करने के लिए अप्रधान विभावादि के बीच में स्थायीभाव को प्रधान रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

७. प्रदर्शन की संशयात्मकता

(संशययोगः)

नाट्य-प्रदर्शन के विभावादि विधायक तत्त्वों का कोई स्पष्ट एवं निश्चित अर्थ उस दशा में नहीं ज्ञात होता जब उनका प्रदर्शन नाटक के अन्य विधायक तत्त्वों से पृथक रूप में किया जाता है। इस अर्थ विषयक संशय को नष्ट करने के लिए विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों को परस्पर सम्बन्धित रूप में साथ-साथ प्रकट किया जाता है।

उपसंहार

साधारणीभाव के तल पर आभासवाद के मतानुसार रस का अनुभव नायक में वर्तमान स्थायीभाव का अनुभव विषय रूप में न होकर उस आत्मा के आत्मानुभव के रूप में होता है जो सभी अवच्छेदकों से स्वतन्त्र है। इस अनुभव की क्रमदशा में यह आत्मानुभव आत्मा का उस स्थायीभाव से तन्मयता के कारण होता है जो कि वासना रूप में सदा विद्यमान रहता है और नायक के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण उद्बुद्ध हो जाता है।

नाट्य-प्रदर्शन का प्रयोजन

योरुप के नाटककारों की भाँति भारतीय नाटककारों का प्रयोजन कार्य-(action) प्रदर्शन न होकर भावरूप अनुभव का प्रदर्शन करना है। यह अनुभव व्यवहारिक संसार के सामान्य प्राणियों का साधारण अनुभव न होकर अनुकरणीय व्यक्ति का असाधारण परिस्थितियों में किया गया असाधारण अनुभव है। और क्योंकि अनुभव आत्मा की आभ्यन्तरिक दशा है इसलिए इसको प्रत्यक्ष रूप में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। अतएव विभावों, अनुभावों, सात्त्विक भावों आदि का प्रदर्शन ही आन्तरिक दशा को व्यक्त करने का एकमात्र साधन है। इसके अतिरिक्त नाटककार जिस अनुभव का प्रदर्शन करना चाहता है वह भावरूप होने के कारण विभाव के बिना प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। और यदि किया भी जाय तो वह आंशिक ही रह जायगा। अतएव नाटक में विभावों को प्रधान रूप से ध्यान-केन्द्र के रूप में न प्रदर्शित

कर भावरूप अनुभव के साक्षात्कार करने के साधन के रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

अतएव भारतीय नाटक का सम्पूर्ण रसास्वादन, विभावों तथा अनुभावों के विषयरूप प्रत्यक्ष से इसलिए उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वे एक प्रयोजन की सिद्धि के साधन हैं। और 'अनुभव' का विषयरूप प्रत्यक्ष मनोवैज्ञानिक असम्भावना है—क्योंकि अनुभव कभी भी विषयरूप नहीं होता—यह मूलतः प्रमातृ-वृत्तिरूप (Subjective) होता है। अनुभव उस तन्मयता के साधन से अतिरिक्त जिसका वर्णन हमने एक गत उपप्रकरण में किया है और किस उपाय से जाना जा सकता है ? अतएव भारतीय नाट्यशास्त्र के जिस सम्प्रदाय का प्रतिपादन हम ग्रन्थ के इस भाग में कर रहे हैं वह योरुपीय नाट्यशास्त्र के कुछ सिद्धान्तों से मूलतः भिन्न है। इन सिद्धान्तों में जो भेद है उसको दर्शक के दृष्टिकोण के महत्त्व को प्रदर्शित कर स्पष्ट किया जा सकता है।

योरुपीय प्रेक्षक नायक एवं सम्पूर्ण प्रदर्शन को दुराग्रहहीन एवं निष्पक्ष दृष्टि से विषयरूप में देखता है। और इसलिए नायक को संकटों और वेदनाओं में पड़े हुए देखकर उसमें करुणा एवं सहानुभूति के भाव जाग्रत होते हैं। भारतीय दर्शक उस नायक के साथ में अपना तादात्म्य स्थापित करता है जिससे प्रत्येक नाटकीय वस्तु सम्बन्धित होती है और प्रदर्शन के अवशिष्टांश को नायक की दृष्टि से देखता हुआ नायक के समान ही अनुभव करता है। अतएव योरुपीय नाट्य-प्रदर्शन जन्य अनुभव की विलक्षणता जिन संवेदनाओं से होती है वे एक भारतीय नाटक से जनित संवेदनाओं से भिन्न होती हैं।

रसास्वादन वास्तविक भाव का अनुभव नहीं

यहाँ पर जिस साधारणीभाव के तल पर रसास्वादन की व्याख्या हम कर रहे हैं उसे भावरूप (emotive) अनुभव कहना थोड़ा भ्रान्तिजनक है। क्योंकि जिसको भावरूप माना जाता है उसमें मानसिक पक्ष की अपेक्षा शारीरिक पक्ष को अधिक प्रमुखता प्रदान की जाती है। उसमें शारीरिक विक्रियाएँ अधिक होती हैं। परन्तु साधारणीभाव के तल पर जो रसास्वादन होता है उसमें शारीरिक पक्ष की अपेक्षा मानसिक पक्ष की अधिक प्रबलता होती है। इसके अतिरिक्त भावरूप अनुभव में जो प्रत्यक्ष ग्राह्य है वही उस अनुभव का उत्प्रेरक होता है। परन्तु रसानुभव में जो प्रत्यक्ष रूप प्रदर्शन होता है वह केवल एक साधन रूप है जिसके माध्यम से अनुभव के वास्तविक विषय की उपलब्धि उसी प्रकार से

होती है जिस प्रकार से एक प्रतिमा अथवा उसी के समान किसी अन्य वस्तु के साधन से एक भक्त की मानसिक दृष्टि के सामने आध्यात्मिक अनुभव का विषय प्रकट होता है।

यह रसास्वादन सामान्य व्यवहारिक भावरूप अनुभव से ही भिन्न नहीं होता वरन् साधना के आरम्भिक तल पर एक योगी को जो दूसरे व्यक्ति के मनोभावों का ज्ञान होता है उससे भी यह अनुभव भिन्न होता है। (प्रत्यक्षज-तटस्थपरसंवित्तिज्ञान[1])।

पतञ्जलि के मतानुसार एक आत्मसाधना ऐसी है जिसकी सिद्धि से योगी दूसरे व्यक्तियों[2] के चित्तगत भावों एवं विचारों को जान लेता है। इन्द्रियग्राह्य चिह्नों से ज्ञात किसी मानसिक दशा का ध्यान एवं मनन करने से तथा अपने को उसमें निमज्जित करने से यह शक्ति योगी प्राप्त करता है। और इसका उल्लेख हम गत पृष्ठों में कर चुके हैं कि साधारणीभाव के तल पर नाटक के नायक की मानसिक दशा का अनुभव होता है। अतएव कोई भी व्यक्ति यह प्रश्न कर सकता है कि 'क्या दर्शक को नायक की मानसिक दशाओं का ज्ञान उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का योगी को किसी दूसरे व्यक्ति के अन्तःकरण में वर्तमान मनोभावों का ज्ञान होता है ?' नहीं। दर्शक को नायक के अन्तःकरण में वर्तमान मनोभावों का ज्ञान उसी प्रकार का नहीं होता जिस प्रकार का योगी को दूसरे व्यक्ति के मनोभावों का ज्ञान होता है—यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीभाव के तल पर रसानुभव साधारणीभूत मानसिक दशा का साधारणीभूत प्रमाता से किया गया ज्ञान है। अतएव यह बोध अथवा अनुभव योगी के परचित्त में वर्तमान मनोभावों के बोध से भिन्न है। योगी के ज्ञान से सम्बन्धित प्रमाता और प्रमेय दोनों विशेष रूप होते हैं। रसानुभव के सम्बन्ध में प्रमाता और प्रमेय दोनों साधारणीकृत होते हैं। योगी के ज्ञान के प्रसंग में ज्ञेय मानसिक दशा का सम्बन्ध निश्चित रूप से एक व्यक्ति के साथ होता है। रसानुभव के प्रसंग में मानसिक दशा किसी व्यक्तिविशेष से सम्बन्धित नहीं होती। योगी के ज्ञान के प्रसंग में मानसिक दशा का ज्ञान अपने कारण[3] से सभी प्रकार के सम्बन्धों से स्वतन्त्र होता है। रसानुभव के प्रसंग में मानसिक दशा का बोध उसी रूप में नहीं होता जिस

[1] अभि० भा० भाग १–२८६

[2] यो० सू० ३–१९

[3] यो० सू० ३–२०

रूप में वह होती है वरन् अपने स्वरूप से भिन्न स्वरूप में उसका बोध होता है क्योंकि विभावादि के सम्बन्ध से वह एक अन्य स्वरूप में ही बदल जाती है। रसास्वादन में हम स्थायीभाव का नहीं वरन् रस का अनुभव करते हैं जो स्थायीभाव[1] से सर्वथा भिन्न है।

भरतमुनि के रस विषयक परिभाषा सूत्र में 'स्थायी' शब्द के न प्रयोग होने का अभिनवगुप्त के मतानुसार कारण

अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि रस का अनुभव विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव से पृथक् रूप में स्थायीभाव का अनुभव न होकर उनके मिश्रित समुदायरूप का ठीक वैसा ही अनुभव है जैसा कि उस पानक रस के स्वाद का अनुभव होता है जिसकी सदृशता के आधार पर रस के अनुभव के स्वरूप को माना गया है। पानक रस का यह स्वाद उसके किसी एक विधायक तत्त्व का स्वाद न होकर एक विशिष्ट स्वाद होता है जो उन विविध तत्त्वों के सामञ्जस्यपूर्ण ढंग से मिलने के कारण विलक्षण स्वरूप में प्रकट होता है। अतएव उनके मतानुसार श्री शंकुक तथा अन्य विद्वान् जो यह प्रतिपादित करते हैं कि विभावादि से ज्ञात स्थायीभाव का अनुभव ही रसास्वादन है ठीक नहीं है।

उनके मत का उल्लेख विशद रूप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है:—

'भरतमुनि ने अपने रसपरिभाषा विषयक सूत्र में 'स्थायी' शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया है?' इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा अभिनवगुप्त ने दो स्थलों पर की है—

१. भरतमुनि के रसपरिभाषा विषयक सूत्र की अभिनव भारती में व्याख्या करने के प्रसंग में।

२. ध्वन्यालोक के अध्याय १–२१ की व्याख्या के प्रसंग में।

अभिनवगुप्त के मतानुसार रसानुभव के विधायक तत्त्वों में सबसे अधिक प्रधान तत्त्व स्थायीभाव का बोध किसी भी स्वीकृत प्रमाण की सहायता से नहीं हो सकता। मानसिक होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से यह ज्ञात नहीं हो सकता। और इसका बोध अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अनुमान प्रमाण से ज्ञात होने पर इसका सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति के साथ आवश्यक रूप

[1] अभि भा० भाग १–३८५

से होगा और इसलिए आस्वादनीय नहीं हो सकेगा। अतएव अभिनवगुप्त यह प्रतिपादित करते हैं कि नाटक के नायक के साथ में तादात्म्य होने के कारण यह उपचेतनांश से आकर चेतनांश पर उद्भूत होता है। वे यह भी कहते हैं कि इसी मत का समर्थन भरत मुनि भी करते हैं क्योंकि अपने रस विषयक परिभाषा-सूत्र में 'स्थायिन्' शब्द का प्रयोग वे केवल इसीलिए नहीं करते हैं क्योंकि वे यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि स्थायीभाव का विषयरूप में ज्ञान किसी भी प्रमाण से नहीं किया जा सकता है। यदि उन्होंने स्थायिन् शब्द का प्रयोग अपने सूत्र में कर दिया होता तो वह सजीव शरीर में घुसे हुए बाण की ही भाँति कष्टदायी होता। 'शल्यभूतं स्यात्'[1]।

परन्तु इस प्रसंग में यह आक्षेप किया जा सकता है कि भरत मुनि एक दूसरे प्रसंग में स्वयं यह कहते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से संयुक्त होकर स्थायीभाव रस[2] हो जाता है। एवं स्थायीभाव प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट होकर (प्रत्यक्षकल्पतां गताः) रस हो जाते हैं (रसत्वम् आप्नुवन्ति)[3]। अतएव इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि भरत मुनि के इन कथनों की संगति अभिनवगुप्त के इस कथन से किस प्रकार से संभव होती है कि रस का अनुभव स्थायीभाव की अनुभूति न होकर उससे सर्वथा भिन्न रूप है? अभिनवगुप्त इस प्रश्न का उत्तर यह कहते हुए देते हैं कि औचित्य के कारण ही इन प्रकारों के वाक्य लिखे गये हैं (औचित्याद् एवमुच्यते)। क्योंकि रस के सभी विधायक तत्त्वों में स्थायीभाव सब से अधिक इसलिए प्रधान है क्योंकि अन्य विधायक तत्त्वों का रस संबंधी महत्व केवल स्थायीभाव से संयुक्त होने पर[4] ही होता है।

नाटक और काव्य से रसास्वादन

रस का अनुभव काव्य की अपेक्षा नाट्य-प्रदर्शन से अधिक सरलता से होता है क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन से नेत्र तथा कान दोनों इन्द्रियां मुग्ध होती हैं जब कि काव्य केवल कानों को ही रमणीय लगता है। रसास्वादन तभी होता है जबकि प्रेक्षक के मानस चक्षुओं के सामने वह चित्र संपूर्ण रूप में उपस्थित हो जाता

[1] ध्व० लो० (नि०) ५७
[2] अभि० भा० भाग १–३८५
[3] अभि० भा० भाग १–२८९
[4] अभि० भा० भाग १–२८५

है जिसकी रचना कवि अपने कल्पना-लोक में करता है परन्तु अपनी कृति में केवल आंशिक रूप से ही दृश्य और श्रव्य अंशों को प्रकट कर सकता है। अतएव काव्य से रस का अनुभव केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकता है जो ऐसी कल्पनाशक्ति से युक्त हैं जो काव्य में अपूर्णरूप से चित्रित कवि मनोगत चित्र को ऐसा पूर्ण रूप बना सके जैसा कि नाट्य-प्रदर्शन उपस्थित करता है।[1] अभिनवगुप्त के गुरुओं ने इसी मत का प्रतिपादन किया था।

अन्य आचार्यों का यह मत है कि गुणों एवं अलंकारों के प्राचुर्य के कारण काव्य से रसानुभव उत्पन्न होता है।

इस विषय में अभिनवगुप्त का मत निम्नलिखित है :—

नाटक सर्वोत्कृष्ट काव्य है। क्योंकि उपयुक्त भाषा का प्रयोग करते हुए अन्य प्रकार के काव्यों की अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप में रसानुभावक सामग्री के समुदाय को नाटक में प्रदर्शित किया जाता है। रसानुभावक सामग्री को काव्य की अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप में प्रदर्शित करने के लिए कार्यों के विविध रूपों, विभिन्न भावों से प्रभावित होने के कारण स्वर विवर्णताओं (काकु), प्रसाधनों, वेश भूषाओं और दृश्यों का उपयोग साधन रूपों में किया जाता है। काव्य के अन्य प्रकारों में काव्यात्मक भाव (poetic idea) को प्रकट करने का केवल एक ही साधन है और वह भी बहुत दोषपूर्ण है क्योंकि उस साधन के अनुसार सभी व्यक्ति अपने भावों को एक ही प्रकार की भाषा में प्रकट करते हैं। यद्यपि उन विभिन्न व्यक्तियों का एक प्रकार की भाषा में बोलना उचित नहीं ज्ञात होता जो समाज के विभिन्न तलों, देशों और जलवायुओं के निवासी हैं। काव्यात्मक भाव के प्रदर्शन में स्वाभाविकता का अभाव होता है। इन्हीं प्रकारों के कारणों से दण्डी एवं अन्य काव्यलक्षणकार आचार्यों ने नाटक को काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप माना था[2]।

नाटक के पाठ को सुनने से रसास्वादन की सम्भावना

दर्शक अथवा पाठक की सहृदयता पर रसानुभूति अवलम्बित होती है। अतएव यदि दर्शक में असाधारणरूप से स्वाभाविक सहृदयत्व वर्तमान है और वह संगीत आदि के बिना भी आत्मविस्मृति की दशा को अपने में उत्पन्न कर सकता है, यदि उसका अन्तःकरण स्वाभाविक रूप से मलिनता के धब्बे से

---

[1] अभि० भा० भाग १-२९१

[2] अभि० भा० भाग १-२९२

रहित दर्पण के समान ऐसा स्वच्छ है कि वह निजी सुख दुःखों से रहित है और नाटक के पाठ को सुनते हुए क्रोध, इच्छा आदि सांसारिक मनोविकारों से प्रभावित नहीं होता है और यदि उसके पास कल्पना की वह शक्ति है जो उस काव्य रूप साधन से नाटककार के उस कल्पित मनोगत चित्र को पर्याप्त रूप से पूर्ण रूप बना सकती है जो केवल कुछ सशक्त रूपरेखाओं में प्रकट किया जाता है तो नाटक के पाठ मात्र को सुनकर ही सहृदय को रस का अनुभव प्राप्त हो सकता है। जिन व्यक्तियों में उपर्युक्त शक्तियों का अभाव है उन्हीं में रसानुभूति को उत्पन्न करने के लिए नाट्य-प्रदर्शन के विविध अंशों को रंगमंच पर दिखाया जाता है। उपयुक्त चित्रपटों तथा अभिनेता रूप साधन से कार्य एवं घटनाओं का जो यथार्थ रूप प्रदर्शित किया जाता है वह नाटककार की कल्पना से जनित मनोगत चित्र का यथासम्भव पूर्णरूप होता है। इसका प्रयोजन कल्पना की मन्द शक्ति वाले सहृदयों को रसास्वादन करने में सहायता प्रदान करना है। प्रस्तावनागत दृश्य में संगीत आदि का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि उन व्यक्तियों में आत्मविस्मृति की दशा उत्पन्न हो सके जो अपने व्यक्तिगत भावों से इस मात्रा में प्रभावित रहते हैं कि स्वयमेव उनको कभी नहीं भूल सकते।

वस्तुतः यह माना गया है कि एक उस मुक्तक श्लोक से भी रसास्वादन हो सकता है जिसमें सम्पूर्णरूप रसानुभावक सामग्री के समुदाय का एक अंश ही प्रकट किया गया है। परन्तु इस प्रकार की रसानुभूति केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है जिनमें असाधारण सहृदयत्व एवं साक्षात्कार की शक्ति अथवा प्रतिभाशक्ति है जिससे कि वे प्रदर्शित अंश[१] की सहायता से अपने कल्पना लोक में रसानुभावक सामग्री के समुदाय की पूर्ण रचना कर सकते हैं।

---

[१] अभि० भा० भाग १–२८३

अध्याय—५

रस के भेद

रस के भेद के विषय में विभिन्न मत

रस के भेद के विषय में अनेक मत हैं। परन्तु हमें स्मरण यह रखना चाहिये कि प्रस्तुत प्रसंग में स्वयं 'रस' शब्द का प्रयोग भी एक ही अर्थ में नहीं किया गया है। कहीं पर इस शब्द का प्रयोग रसास्वादन के अर्थ में, कहीं पर इसका प्रयोग रसानुभावक मिश्रित समुदायरूप सामग्री के अर्थ में और कहीं पर इसका प्रयोग दोनों अर्थों में किया गया है। विभिन्न मतों के अनुसार रस के भेद एक, आठ, नौ, दस, बारह अथवा असंख्य हैं। (१) लोकोत्तर अतीन्द्रिय तल पर जो रसास्वादन होता है वह अभिनवगुप्त के मतानुसार एक ही है। (२) भोज ने भी शृङ्गारप्रकाश में शृङ्गार को ही एक रस माना है तथा अन्य रसों को उसका ही विवर्तरूप स्वीकार करते हुए उनके अस्तित्व को अस्वीकार किया है और यह कहा है कि परम्परा के अन्धानुसरण के कारण ही रस के अनेक भेदों में विश्वास किया जाता है। रस के आठ भेद वे मानते हैं जो शान्तरस के विरोधी हैं। और जो शान्तरस के समर्थक हैं वे रस के नौ भेद मानते हैं। अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज रस के दस भेदों का उल्लेख करते हैं। साधारणीभाव के तल पर अभिनवगुप्त रस के नौ भेद स्वीकार करते हैं। अन्य शास्त्रकार इन नौ भेदों में वात्सल्य, लौल्य एवं भक्ति को मिला कर रस के बारह भेदों का निरूपण करते हैं। भट्टलोल्लट के मतानुसार रस के असंख्य[1] भेद हैं। यद्यपि रंगमंच पर केवल उन्हीं रसों को प्रदर्शित करना चाहिए जिनका उल्लेख भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है क्योंकि नाटक के दर्शकों को वे अत्यंत प्रिय लगते हैं। उपर्युक्त अनेक मतों में से हम इस अध्याय में केवल पाँच मतों की व्याख्या विशदरूप में करेंगे—ये मत भवभूति, भानुदत्त, भोज, धनंजय एवं अभिनवगुप्त से प्रतिपादित किए गए हैं।

क्या भवभूति 'करुण' को ही केवल रस मानते हैं ?

भवभूतिकृत 'उत्तररामचरित' में एक श्लोक है जिसका भाषान्तर निम्नरूप में किया जा सकता है :—

---

[1] अभि० भा० भाग १–२९९

'रस केवल एक है। और वह करुण है। यही एक रस विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कारणों से विभिन्न रूपों (शृङ्गार आदि) में उसी प्रकार से दिखाई देता है जैसे जल भंवर, बुद्बुद् एवं लहरों के रूप में दिखाई देता है यद्यपि वे सब जल स्वरूप हैं[1]।

उपर्युक्त श्लोक को प्रसंग से विलग देखने के कारण कुछ लोगों ने यह समझा है कि भवभूति के मतानुसार रस केवल एक ही है—और वह करुण रस है। अन्य रस इस करुण रस के विवर्त मात्र हैं। विवर्त का कारण एक कारण-समुदाय का प्रभाव मात्र होता है। जैसे कि माया के प्रभाव के कारण ब्रह्म सांसारिक पदार्थों के रूप में भासमान होता है। उपमिति के शब्दों में कहें तो कहना होगा—कि अन्य रस करुण रस के उसी प्रकार से विवर्त रूप हैं जैसे भंवर, बुद्बुद् तथा लहरें जल के विभिन्न रूप हैं।

परन्तु यदि हम श्लोक के प्रसंग पर विचार करें और तदनुकूल सीता की एकमात्र सखी तमसा की उक्ति के रूप में इसकी व्याख्या करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि सामान्य 'करुण रस' से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है वरन् इस श्लोक में 'करुण' शब्द का प्रयोग उस विशिष्टरूप करुण रस के लिए किया गया है जो कि उत्तररामचरित में और विशेषतया उसके तीसरे अंक में दर्शाया गया है।

निम्नलिखित बातों से हमारी यह मान्यता पुष्ट होती है।

१. नाटककार ने अपनी इस कृति में उस करुण रस को प्रकट किया है जिसका स्थायीभाव शोक है। इस शोक का कारण नायक की सबसे अधिक प्रिय वस्तु का अप्राप्य रूप से खो जाना है।

२. उत्तररामचरित में नायक राम सीता का परित्याग करते हैं। लोकमत को अपने पक्ष में बनाये रखने के लिए सीता को बन में एकाकिनी ही भिजवा देते हैं। उनको यह निश्चित विश्वास हो गया है कि वन्य पशुओं ने सीता को खा लिया है[2]। और इसलिए उनसे मिलना असम्भव है। यह भाव राम के निम्नलिखित कथन में स्पष्ट रूप से स्वयं प्रकट होता है—

"सुनेत्रा सीता से जो प्रथम वियोग हुआ था उसका अन्त शत्रु को नष्ट करने से हुआ था। परन्तु इस अघोर वियोग को मौन रह कर किस प्रकार से सहा जा सकता है[3] ?"

---

[1] उ० रा० च अंक ३–४७

[2] उ० रा० च० अंक ३–२८।

[3] उ० रा० च० अंक ३–४४।

यद्यपि नाटककार कुशलतापूर्वक नाटकीय कार्य के विकसित होने के साथ साथ चणिक मिलनों को अनेक बार कराता है परन्तु राम उसको यथार्थ न मान कर केवल स्वप्न ही मानते हैं।

३. पृथ्वी पर चलती हुई सीता को कोई वनदेवता तक नहीं देख सकता था। अतएव मृत्युलोक के किसी व्यक्ति के देखने की कोई सम्भावना ही नहीं उठ सकती थी। इसलिये राम उनको उस समय भी नहीं देख सके जिस समय वे उनके बिलकुल निकट थीं और उन्होंने राम का स्पर्श भी किया था। अतएव वह चणिक पुनर्मिलन राम की दृष्टि में एक स्वप्न ही था।

४. नाटक के अन्तिम दृश्य में कवि राम और सीता के मिलन को प्रदर्शित करता है। अतएव शास्त्रीय मतानुसार नाटक की अन्तिम घटना को ध्यान में रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि इस नाटक का व्यापक रस करुण है। क्योंकि इस पुनर्मिलन के कारण 'करुण' रस विप्रलम्भ 'शृङ्गार' में परिणत हो जाता है। अतएव कुछ आचार्यों का मत यह है कि इस नाटक में करुण रस का विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ मिश्रण हुआ है। इसलिये जो 'रस' इस नाटक में व्यक्त किया गया है वह 'करुण विप्रलम्भ शृङ्गार' है। जैसे कि :—

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदेकस्तदा भवेत् करुण-विप्रलम्भाख्यः।

५. तृतीय अंक के आरम्भ में मुरला के कथनानुसार नाटककार ने राम में करुण रस प्रदर्शित किया है।

बधूत्यागात् प्रभृति········।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः। अंक ३–१

यह करुण रस, दण्डक बन के उन स्थानों को देखने से जहाँ पर वे बनवास के समय में पहले सीता के साथ रह चुके थे, इतना अधिक व्यथाकारी हो जाता है कि वे बार-बार मूर्च्छित हो जाते हैं।

६. चिरकाल से निरन्तर वियोग व्यथा को सहने के कारण शोकाकुल सीता को भी करुण रस की प्रतिमा के अथवा विरह व्यथा के शरीर के रूप में चित्रित किया गया है[1]।

७. यद्यपि सीता करुण रस की मूर्ति हैं फिर भी उनके हृदय में दूसरे भाव भी जाग्रत होते हैं। इन भावों को नाटककार ने तमसा की उन

[1] उ० रा० च० अंक ३–४।

उक्तियों में अत्यन्त सुन्दरता से व्यक्त किया है जो सीता के अन्तःकरण का वर्णन करती हैं।

तमसा सीता से कहती है :—

ऐसा लगता है कि जैसे तुम्हारा वह हृदय जो (राम को देख कर भी) उनके प्रेम-भाव से इसलिए उदासीन रहा क्योंकि उनसे पुनर्मिलन की कोई आशा नहीं रह गई थी, जो उस अन्याय के कारण (बिना पर्य्याप्त प्रमाण के तुम्हें बन में त्याग देना) क्रोध से क्षुभित हो उठा, जो आकस्मिक घटना के कारण (इस स्थान पर राम का दर्शन) आश्चर्य से स्तम्भित रह गया, जो (राम से प्रकट किये गये) अपने प्रति सहृदयता के भावों से प्रसन्न हो उठा और जो अपनी प्रिय वस्तु को अत्यन्त कठिन करुणामय दशा में देखकर कठोर व्यथा से भर गया, इस समय प्रेम के कारण द्रवीभूत हो गया है[1]।

८. यह देखकर कि मूलभूत शोक से विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न भाव जैसे प्रेम एवं उत्साह प्रकट होते हैं तमसा कहती है :—

'केवल एक ही रस है—और वह करुण है'—आदि।

९. भवभूति ने केवल उत्तररामचरित नाटक ही नहीं लिखा है वरन् उन्होंने दो अन्य नाटकों की भी रचना की है—१ मालती माधव, जिसका प्रधान रस श्रृङ्गार है और २ महावीर चरित, जिसका प्रधान रस वीर है।

१०. नाटक के सातवें अंक में जो उपरूपक है उसमें सूत्रधार यह कहता है कि यह नाटक करुण एवं अद्भुत रसों[2] को व्यक्त करता है।

उपर्युक्त तथ्यों के कारण यह कहना ठीक नहीं है कि भवभूति के मतानुसार रस केवल एक है—और वह करुण है।

रसभेद के विषय में भानुदत्त का अभिमत

अपनी कृति रसतरंगिणी में भानुदत्त रस के नौ भेद स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका अभिमत यह है कि शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है और शान्त रस को उसके स्थायी भाव निर्वेद के आधार पर रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। उन्होंने चार अन्य रसों, (१) वात्सल्य, (२) लौल्य, (३) भक्ति एवं (४) कार्पण्य का भी उल्लेख किया है जिनको वे पूर्वपक्ष के

[1] उ० रा० च० अंक ३-१३।

[2] उ० रा० च० अंक ७-१।

रूप में स्वीकार करते हैं। इन रसों की स्वतंत्र सत्ता को वे स्वीकार नहीं करते। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि (१) आर्द्रता (२) अभिलाषा, (३) श्रद्धा एवं (४) स्पृहा क्रमानुसार उपर्युक्त रसों के जो स्थायी भाव माने गए हैं वे स्वतंत्र नहीं है : वरन् वे उस समय की रति से अभिन्न हैं जिस समय श्रृङ्गार के अतिरिक्त अन्य किसी रस के व्यभिचारी भाव के रूप में यह प्रदर्शित की जाती है। वे यह मानते हैं कि (१) रति को उस समय वात्सल्य कहते हैं जब वह व्यभिचारी के रूप में आती है और करुण रस के प्रसंग में अपने को कोमलता में प्रकट करती है। (२) रति को उस समय भक्ति कहते हैं जब वह व्यभिचारी के रूप में आती है और अपने को शान्त रस के प्रसंग में श्रद्धा के रूप में प्रकट करती है। (३) रति को ही उस समय लौल्य कहते हैं जब वह हास्य रस के व्यभिचारी के रूप में आती है और अपने को इच्छित अप्राप्त वस्तु को पाने की चेष्टा में प्रकट करती है। (४) परन्तु यदि रति हास्य रस के व्यभिचारी भाव के रूप में व्यक्त होकर अपने को स्वाधिकारस्थ वस्तु की सुरक्षा की उत्कट इच्छा में प्रकट करती है तो उसको कार्पण्य कहते हैं।[1]

शान्त रस के विषय में उनके अभिमत को निम्नरूप में लिखा जा सकता है :—

भानुदत्त यह मानते हैं कि शान्तरस को भी रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है परन्तु ऐसा करने में इसके विभावादि भिन्न रूप होते हैं। रंगमंच पर शान्त रस को दर्शाने में मिथ्या ज्ञान का जागरण (प्रबुद्धमिथ्याज्ञान) स्थायी भाव होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि शान्त रस को प्रकट करने वाला नायक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो अतीन्द्रिय लोकोत्तर तल तक पहुँच चुका हो परन्तु कर्म संस्कारों के कारण प्रबुद्ध मिथ्याज्ञान के वशीभूत होकर कुछ समय के लिए इन्द्रियजन्य बोध के तल पर उतर आया हो। इसका विभाव कोई भी सांसारिक परिस्थिति हो सकती है जिसमें नायक किसी भी सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि प्राप्त करने के लिए—बिना यह विचार किए हुए चेष्टावान होता है कि उससे उसके पुण्यों की वृद्धि अथवा उनका ह्रास होगा।

परन्तु काव्य रूप में जब शान्त रस को प्रकट किया जाता है तो इसका स्थायी भाव निर्वेद होता है, इसका विभाव निकटस्थ वातावरण के दूषित प्रभाव से स्वतन्त्रता होती है एवं इसके अनुभाव आनन्दाश्रु, रोमांच आदि होते हैं।[2]

---

[1] र० त० ८३

[2] र० त० ४९

क्या भोज श्रृंगार को ही केवल रस मानते हैं ?

निजकृति श्रृंगारप्रकाश में राजा भोज श्रृंगार को ही केवल रस मानते हैं। यह श्रृङ्गारप्रकाश की प्रस्तावना में लिखे गये ग्रन्थ के संक्षिप्त परिचय में दिये हुए प्रथम अध्याय के एक अंश के उद्धरण से ज्ञात होता है। इसी प्रसंग में अन्य शास्त्रकारों[1] से निरूपित वे रस के उन दश भेदों का उल्लेख करते हैं जिनमें 'वत्सल' और 'शान्त' रस की गणना की गई है।

परन्तु सरस्वती कण्ठाभरण में वे रस के बारह भेदों को स्वीकार करते हैं। इस ग्रन्थ में सामान्य रूप से स्वीकृत रस के आठ भेदों में चार भेद और जोड़ दिए गए हैं—(१) प्रेयस् (२) शान्त (३) उदात्त[2] एवं (४) उद्धत—क्रमानुसार इनके स्थायी भाव (१) स्नेह (२) धृति (३) तत्वाभिनिवेशिनी मति एवं (४) गर्व हैं। उनका अभिमत यह है कि वह 'शम' जिसको कुछ शास्त्रकार शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं केवल 'धृति'[3] का ही एक रूप है।

अतएव प्रश्न यह उठता है—क्या राजा भोज श्रृङ्गार को ही एक मात्र रस मानते हैं ? श्रृङ्गार रस के प्रति उनका पक्षपात सरस्वतीकण्ठाभरण से भी ज्ञात है। क्योंकि इस ग्रन्थ में वे केवल श्रृङ्गार रस की ही विशेष रूप से विशद व्याख्या और अन्य रसों की संक्षिप्त रूप व्याख्या ही नहीं करते वरन् संक्षेप में अपने इस मत का भी उल्लेख करते हैं कि रस को, अभिमान, अहंकार और श्रृङ्गार[4] कहते हैं अतएव ऐसा ज्ञात होता है कि 'श्रृङ्गार ही एक मात्र रस है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन संकेत रूप में वे करते हैं।

परन्तु जैसा कि शीर्षक से प्रकट होता है, निजकृति श्रृङ्गारप्रकाश में वे केवल श्रृङ्गार रस की ही व्याख्या करते हैं। इस ग्रन्थ में वे यह कहते हैं कि जिस प्रकार से वाणी में तात्पर्यार्थ, काव्य में ध्वनि, प्रिय के गुण राशि में सौभाग्य एवं नारी के शरीर में लावण्य का ही आस्वादन होता है उसी प्रकार से सहृदय के अन्तःकरण में श्रृंगार का ही आस्वादन होता है। वे यह कहते हैं कि यद्यपि विद्वान शास्त्रकारों ने रस के दस भेदों अर्थात् १ श्रृङ्गार, २ वीर,

---

[1] श्रृं० प्र० (प्रस्ता०) ६

[2] स० कं–५९५

[3] स० कं–५९८–९

[4] स० कं–५५५

३ करुण, ४ अद्भुत, ५ रौद्र, ६ हास्य, ७ वीभत्स, ८ वत्सल, ९ भयानक एवं १० शान्त का प्रतिपादन किया है फिर भी हम यह विश्वास करते हैं कि श्रृङ्गार ही केवल रस है क्योंकि इसका आस्वादन किया जाता है। वे यह भी कहते हैं कि वीर अद्भुत आदि को जो लोकप्रसिद्ध रूप में रस माना जाता है वह उसी प्रकार से तथ्यहीन विश्वास है जैसे कि यह विश्वास करना कि अमुक बटवृक्ष पर यक्ष निवास करता है। इस प्रकार के विश्वास का कारण लोक का प्राचीन सतों के विषय में अन्धविश्वासी होना है[1]। इस निर्मूल विश्वास को खण्डित करने के लिए ही उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा है।

श्रृंगार के विषय में उनका अभिमत

अपने मत का प्रतिपादन करते हुए भोज ने एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया है जिसका प्रयोग किसी भी दार्शनिक मत में नहीं किया गया है। यह शब्द 'अहंकृत' है। क्या इस शब्द का वही अर्थ है जो सामान्यरूप से अहंकार अथवा अहंकृति का होता है? अहंकृत से उनका तात्पर्य अहंकार से है यह सरस्वतीकण्ठाभरण के पांचवें अध्याय की प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त किए गये 'अहंकार' शब्द से स्पष्ट होता हुआ सा ज्ञात होता है। व्याख्याधीन श्लोक पर स्वयं उनसे लिखी गई टीका से उपर्युक्त 'अर्थ' की पुष्टि उस स्थल से होती है जहाँ पर उन्होंने अहंकृत के स्थान पर अहंकार शब्द का प्रयोग किया है (अहंकारगुणविशेषस्य श्रृं० प्र० (रा०) ५१५) अतएव यदि हम यह मान लें कि 'अहंकृत' शब्द से उनका तात्पर्य वह अहंकार है जिसके विषय में उन्होंने उस तत्त्वप्रकाशिका नामक ग्रन्थ में लिखा है जिसमें वे संक्षिप्तरूप में उस द्वैतमत का प्रतिपादन करते हैं जो शैवसिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है तो अहंकृत के विषय में उनके अभिमत को निम्नरूप में लिखा जा सकता है :—

अहंकार प्रयत्नात्मक (संरम्भरूप)[2] है। प्राण वायु का संचालन करता है इसलिए जीवन का कारण रूप है। (प्राणादिवायुप्रवृत्तिहेतुत्वेन जीवनमपि तद्धेतुकमेव)। जिस प्रकार से बुद्धि प्रमेय के विकल्पात्मक ज्ञान का कारण होती है उसी प्रकार से यह परिच्छिन्नात्मा में अहन्ताभिमान का कारण होता है।

यह सर्वसम्मत है कि तीन गुण सत्त्व, रजस् एवं तमस् अहंकार के आवश्यक विधायक तत्त्व हैं। शैवद्वैतमत के प्रतिपादक यह मानते हैं कि केवल प्रकाश,

---

[1] श्रृं० प्र० (प्रस्ता०) ६

[2] त० प्र०—४४—५

क्रिया और मोह ही नहीं वरन् विभिन्न भाव भी उपर्युक्त गुणों के व्यापार अथवा परिणाम हैं[१]। यह ज्ञात होता है कि इस मत के प्रभावाधीन होकर वे यह प्रतिपादित करते हैं कि रति आदि भाव श्रृंगार अथवा अभिमान से उद्भूत होते हैं (यद्यपि श्रृंगार एव एको रसः तथापि तत्प्रभवा एव रत्यादयः...अभिमानः रत्यादीनाम् निमित्तम् । श्रृं० प्र० (रा०) ५३२)

इस प्रसंग में यह और जान लेना चाहिए कि जिस दार्शनिक मत का प्रतिपादन राजा भोज करते हैं वह द्वैतवादी शैवसिद्धान्त मत यद्यपि अधिकांश-रूप में सांख्य मत के सदृश है जैसे कि विकासवाद और सत्कार्यवाद[२] दोनों मतों में समान रूप से मान्य हैं फिर भी दोनों मतों में आंशिक रूप से मतभेद भी है। शैवसिद्धान्त मत में सांख्य मत में प्रतिपादित पच्चीस तत्त्वों के स्थान पर छत्तीस तत्त्व प्रतिपादित किये गए हैं। उनमें से एक तत्त्व 'गुण' भी है जो प्रकृति के विकास क्रम का प्रथम रूप[३] है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि भोज इस तत्त्व को स्वीकार करते हैं—अन्य कुछ प्रतिपादक इसको कोई भिन्न तत्त्व नहीं मानते।

स्वयं श्रृङ्गारप्रकाश में भोज एक स्थल पर श्रृङ्गार को अहंकार, अभिमान एवं रस[४] का समानार्थक शब्द मानते हैं। अन्य स्थल पर वे श्रृङ्गार को अहंकार[५] का एक विचित्र गुण, स्वभाव अथवा विशेष प्रतिपादित करते हैं। इस दूसरे प्रसंग में वे यह कहते हैं कि स्वयं अहंकार का यह विशेष गुण है फिर भी आत्मा पर इसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह काम का स्वयं जीवन सा है। इसको रस कहते हैं क्योंकि विषयरूप रस की आस्वादनीयता इसकी अपनी मूल शक्ति पर अवलम्बित होती है। ("आत्मशक्तिरसनीयतया" का विग्रह आत्मशक्त्या रसनीयतया करना चाहिये)। इस शक्ति से युक्त होने के कारण ही व्यक्ति को 'रसिक' कहते हैं।

इसके पश्चात् अपने इसी ग्रन्थ में वे यह कहते हैं कि वह अहंकार रस है जो सुखादि भावों के अनुभव का कारण है (उस समय भी जब पीड़ा जनक वस्तुओं की उपस्थिति होती है) क्योंकि मन के साथ में उनका सामंजस्य

---

[१] मृ० २७६

[२] भा० भाग ३ (प्रस्ता०) ६६

[३] भा० भाग ३ (प्रस्ता०) १०४

[४] श्रृं० प्र० (रा०) ५१९

[५] श्रृं० प्र० (प्रस्ता०) ६

(harmony) होता है, अथवा मनको वे सुखद प्रतीत होते हैं। क्योंकि अपनी स्वाभाविक शक्ति के कारण यह अहंकार आस्वादनीय होता है, अतः रति आदि भावों[1] को आस्वादनीय मानना उचित नहीं है।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए वे सामान्य रूप अहंकार का उल्लेख न कर एक विशेष प्रकार के अहंकार का उल्लेख करते हुए यह कहते हैं कि एक सहृदय (सचेतस्) जब इसका अनुभव करता है तो यह रस कहा जाता है।[2]

अतएव समस्या यह उठती है कि क्या वे उस समय विभिन्न विचारों को प्रकट करते हैं जिस समय वे श्रृङ्गार को (१) अहङ्कार का एक विशेष गुण मानते हैं (गुणविशेषमहंङ्कतस्य) अथवा (२) अहङ्कार का एक विशेष भेद मानते हैं अथवा (३) अहङ्कार मात्र मानते हैं। प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि वे इन कथनों में भेद को प्रकट करते हैं परन्तु वे विस्तारपूर्वक इसकी व्याख्या नहीं करते हैं।

वस्तुतः अहङ्कार जिसको वे रस का समानार्थक मानते हैं एक विशेष प्रकार का अहङ्कार है क्योंकि इसकी उत्पत्ति सत्त्वप्रधान प्राणियों के शुद्ध पुण्य कर्मों से होती है। पूर्व जन्मों के अनुभवों के संस्कारों से यह उत्पन्न होता है। इसके कारण आत्मा में सभी उत्कृष्ट गुण जन्म लेते हैं और विकसित होते हैं। यह सहृदय के हृदय में जाग्रत होता है। यह मूल रूप में अहङ्कार है।

इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि ऐसी कौन-सी वस्तु है जो इस अहङ्कार को विशेषरूपता प्रदान करती है। भोज इस प्रश्न का उत्तर निम्न प्रकार से देते हैं :—

भोज इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करते हैं :—'इसका क्या कारण है कि केवल कुछ ही लोगों को रस का अनुभव होता है—सबको नहीं होता ?' उनका उत्तर यह है कि कुछ ही व्यक्तियों को रसानुभूति होने का कारण प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि हम इन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं। यह कारण परोक्ष है और कुछ ही व्यक्तियों के पास यह शक्ति के रूप में होता है—सबके पास नहीं। क्योंकि यदि यह मान लिया जाय कि सभी व्यक्तियों के पास यह कारण होता है तो उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देना असम्भव हो जायगा। यह परोक्ष कारण अन्तःकरणगत पूर्व जन्मों के पुण्य कर्मों के संस्काररूप

[1] शृं० प्र० (प्रस्ता) ७।
[2] शृं० प्र० (रा०) ५१७।

प्रभावों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वे यह कहते हैं कि यही कारण अहङ्कार का विशेष गुण है : यह शृङ्गार है : यह अभिमान है : यह रस है[1]।

अतएव भोज के मतानुसार शृङ्गार अहङ्कार को विशिष्टता प्रदान करता है। इसी शृंगार के कारण सहृदय में रति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं—पूर्ण रूप में विकसित होते हैं अथवा उपचेतनांश से चेतनांश पर आकर प्रकट होते हैं। जिनके पास यह होता है वे ही व्यक्ति रस का आस्वादन करते हैं।

इसमें कोई शङ्का नहीं है कि राजा भोज बहुधा शृङ्गार, अहङ्कार अथवा अभिमान को समानार्थक ही प्रतिपादित करते हैं—परन्तु इसका कारण गुण एवं गुणवान् के भेद की उपेक्षा करना ही है।

'शृङ्गार ही केवल रस है' अपने इस सिद्धान्त के प्रसंग में शृङ्गार प्रकाश में राजा भोज ने शृंगार शब्द का प्रयोग किया है। जब वे यह प्रतिपादित करते हैं कि शृंगार ही केवल रस है तो वे इस शब्द का सामान्य रूप अर्थ में प्रयोग नहीं करते। शृङ्गार शब्द का सामान्य रूप अर्थ उस रसानुभावक सामग्री का मिश्रितरूप समुदाय है जिसका प्रधानांश रति है। राजा भोज इस प्रसंग में शृङ्गार का अर्थ एक विशेष प्रकार का स्वात्मानुभव बताते हैं। इसका कारण सत्त्वप्रधान व्यक्तियों के शुद्ध धार्मिक पुण्य कर्म हैं। इसकी उत्पत्ति अथवा इसकी पुष्टि पूर्व जन्मों के अनुभवों के संस्कारों से होती है और यह व्यक्ति को संस्कृति के शिखर तल तक ले जाता है (येन शृंगम् उच्चयो रीयते। शृं० प्र० (रा०) ४२०)।

रस और भाव में भेद

राजा भोज के मतानुसार भाव के उन्चास भेद हैं। आठ स्थायी भाव, तेंतीस व्यभिचारी भाव एवं आठ अनुभाव। रसानुभव करनेवाला व्यक्ति इनका मनन एवं चिन्तन सब बाधाओं से रहित होकर उस समय तक करता है जब तक वह पूर्ण रूप से अन्य सभी वस्तुओं का त्याग कर उनमें निमज्जित और उनसे प्रतिबिंबित नहीं हो जाता है। परन्तु रस वह है जो भाव[2] के चिन्तन तल से परे है और उस अन्तः करण से आस्वादित होता है जो अहंकार अथवा अहंकृति से परिव्याप्त है।

---

[1] शृं० प्र० (रा०) ५१८।
[2] शृं० प्र० (प्रस्ता०) ७

वे इस मत को नहीं मानते कि स्थायी भाव पराकाष्ठा तक विकसित होकर स्वयं रस हो जाता है। वे स्थायी एवं व्यभिचारी भावों में पारस्परिक भेद को नहीं मानते। वे यह मानते हैं कि सभी भाव समान रूप से स्थायी अथवा व्यभिचारी हैं[1]। अतएव वे यह भी नहीं मानते कि रस के आठ अथवा नौ भेद हैं।

रसानुभूति

ऐसा ज्ञात होता है कि राजा भोज श्रृङ्गार को केवल रसास्वादन का कारण अथवा निमित्त ही नहीं मानते वरन् रसानुभव का विषय भी मानते हैं। निम्नलिखित दो गद्यांशों की तुलना करने से इस विषय में संशय के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता :—

१. किमेते रत्यादयः स्वेभ्यः स्वेभ्यः आलम्बनेभ्यः उत्पद्यमानाः सर्वस्याप्युत्पद्यन्ते उत कस्यचिदेव'''अथ कस्यचिदेव तत्र निमित्तम् अभिधानीयम्'''

तच्चात्मनो गुणविशेषम् ब्रूमः, एष श्रृंगार : (श्रृं० प्र० (रा०) ५१८)
२. श्रृंगारो हि नाम'''आत्मनोहंकारविशेषः
सचेतसा रस्यमानो रस इत्युच्यते (श्रृं० प्र० (रा०) ५१७)

इस प्रकार से भोज के मतानुसार श्रृङ्गार जोकि अहंकार का विशेषगुण है जो इस अहंकार को विशेषता प्रदान करता है, यह श्रृङ्गार रति आदि भाव के जागृत होने का कारण उस समय होता है जब कि उचित विभावादि के कलात्मक प्रदर्शन का प्रत्यत्न होता है। श्रृङ्गार से जागृत किया गया यह भाव विभावादि के विकास के साथ साथ विकसित होता है और पराकाष्ठा पर पहुँच कर चेतनांश में प्रधानरूप से श्रृङ्गार को प्रकट करता है।

अतएव उनके मतानुसार पराकाष्ठा के तल पर रस का अनुभव विलक्षणरूप श्रृङ्गारविशिष्ट परिच्छिन्न स्वात्म का अनुभव है। यह श्रृङ्गार रति आदि किन्हीं स्वीकृत भावों से उपचेतनांश से चेतनांश पर प्रकट अथवा व्यक्त किया जाता है जबकि ये रत्यादि विभावादि[2] के कारण पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं।

वे यह मानते हैं कि नाटक अथवा काव्य से प्रकट किए गए भावों का अनुभव केवल वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जिनमें अहंकार का एक विशिष्ट गुण,

---

[1] श्रृं० प्र० (प्रस्ता०) ७
[2] श्रृं० प्र० (रा०) ५१८

शृङ्गार वर्तमान है अर्थात् जो रसिक हैं। अतएव रस का अनुभव कोई सामान्य अनुभव नहीं है।

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि शृङ्गार को भावोत्पत्ति का कारण अथवा रसानुभूति का विषय बतलाते हुए जो कुछ भोज ने कहा है अर्थात् 'पूर्व जन्मों के पुण्य कर्मों के कारण यह शृङ्गार उत्पन्न होता है' आदि, वही अभिनवगुप्त भी सहृदयत्व के विषय में कहते हैं। उदाहरण के लिए उनका यह कथन ध्यान देने के योग्य है :—

तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादि-हेतुबलाद् अतिसहृदयाः (अ० भा० भाग १–२८८)

और इस कथन की तुलना भोज के इस कथन से करने के योग्य है :—

सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा (शृं० प्र० (प्रस्तावना) ६)

इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि भोज और अभिनवगुप्त दोनों रसास्वादन का एक कारण, साधन अथवा आवश्यक परिस्थिति मानते हैं। भोज इसको शृङ्गार तथा अभिनवगुप्त इसको सहृदयत्व कहते हैं।

भोज के मतानुसार स्वयं शृङ्गार काव्यजनित भाव से जब पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है तो पराकाष्ठागत रस के अनुभव का विषय होता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि उनके मतानुसार पराकाष्ठा पर रस का अनुभव सहृदयत्व का अनुभव है।

प्रक्रिया

ध्यान—भोज के मतानुसार रसानुभव का आवश्यक साधन अपने ध्यान को प्रत्येक वस्तु से हटा कर प्रदर्शन पर पूर्णतया केन्द्रित करना है।

मनन—प्रदर्शन पर ध्यान स्थित हो जाने के उपरान्त प्रदर्शित भाव का मनन करना आवश्यक होता है जिससे कि निरन्तर एक ही भाव के उठने से अन्तःकरण पूर्णतया उस भाव से अनुरञ्जित हो जाए और उस भाव को अन्तःकरण में बनाये रखने के लिए मनन शक्ति की चेष्टा की आवश्यकता न रह जाय।

परोक्ष का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण—विभावादि की सहायता से पराकाष्ठा तक विकसित भाव अनभिव्यक्त शृङ्गार को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कराता है। अनभिव्यक्त शृंगार तथा अभिव्यक्त शृंगार में वही संबंध हैं जो अग्नि[1] का अग्निशिखा के साथ होता है।

---

[1] शृं० प्र० (प्रस्ता०) ७

शृंगार की तीन क्रमदशाएँ

शृंगार की प्रथम क्रम दशा वह है जो काव्य अथवा कलात्मक नाट्यप्रदर्शन से रसात्मक भाव को उत्पन्न करने के लिए केवल एक अव्यक्त शक्ति रूप मात्र होती है।

शृङ्गार की दूसरी क्रमदशा वह है जिसमें यह शृङ्गार अपने को स्वीकृतभावों में से किसी भी एक भाव जैसे रति आदि के रूप में प्रकट करता है—यह भाव विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारी भावों[1] की सहायता से अपने को पराकाष्ठा की सीमा तक विकासित करता है।

शृङ्गार की तीसरी क्रमदशा वह है जिसमें वह भाव जिसमें शृङ्गार अपने आप को प्रकट अथवा व्यक्त करता है प्रेम के रूप में बदल जाता है और इस प्रकार से शृङ्गार, रस एवं अहंकार के मूल रूप में लौट जाता है। भोज यह मानते हैं कि प्रत्येक भाव पराकाष्ठा तक विकसित होने पर प्रेम[2] में परिणत हो जाता है।

उत्तर

'क्या राजा भोज रस का एक भेद अथवा उसके अनेक भेद मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रसानुभूति के पराकाष्ठातल पर वे केवल शृङ्गार को ही एक मात्र रस मानते हैं। परन्तु बीच की क्रमदशाओं में वे केवल रस के उन बारह भेदों को ही नहीं स्वीकार करते हैं जिनका उल्लेख उन्होंने सरस्वतीकण्ठाभरण में किया है वरन् वे रस के उन्चास भेद मानते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं कि उन्चास भावों में से कोई भी एक भाव समुचित विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से सम्बन्धित होने के कारण पराकाष्ठा के तल तक पहुँच सकता है अतएव उसको रस[3] कहा जा सकता है।

धनंजय का दृष्टिकोण

दशरूपक के लेखक धनंजय और उनके भ्राता तथा दशरूपक के टीकाकार धनिक शान्त रस के सहित रस के नौ भेद स्वीकार करते हैं। एक भिन्न उप-

---

[1] शृं० प्र० (रा०) ५१९

[2] स० कं० ७०५

[3] शृं० प्र० (रा०) ४५०

प्रकरण में विशद रूप से इस बात का उल्लेख हम करेंगे कि शान्त रस के विषय में अभिनवगुप्त तथा धनंजय के मत में क्या अन्तर है ?

रस भेद की समस्या का अभिनवगुप्त कृत समाधान

हम कह चुके हैं कि अभिनवगुप्त रसास्वादन के विभिन्न तलों को मानते हैं। उनके मत के अनुसार लोकोत्तर तल पर रसास्वादन केवल एक प्रकार का ही होता है क्योंकि यह दुःखरहित शुद्ध आनन्द के रूप में आत्मानुभव है—इस अनुभव के समय उपचेतनांश से चेतनांश पर प्रकट हुआ स्थायी भाव फिर से उपचेतनांश में निमज्जित हो जाता है। इस प्रकार से वे लोकोत्तर तल के दृष्टिकोण से रस का केवल एक ही प्रकार स्वीकर करते हैं। परन्तु भाव अथवा साधारणीभाव के तल के दृष्टिकोण से जिस पर साधारणीभूत प्रमाता की मानसिक दृष्टि के सामने अपनी स्पष्टता के कारण स्थायी भाव जैसे नृत्य करता हुआ सा प्रतीत होता है, वे यह मानते हैं कि रस के केवल नौ भेद हैं। इनमें से चार रस प्रधान हैं और पांच रस अप्रधान हैं। प्रधान वे रस हैं जिनका अस्तित्व सर्वमान्य चार पुरुषार्थों की सिद्धि के साधनरूप स्थायी भावों पर निर्भर है। इस प्रकार से श्रृंगार रस का स्थायी भाव वह रति है जो काम पुरुषार्थ की सिद्धि एवं तत्परिणाम स्वरूप धर्म और अर्थ की सिद्धि में सहायक होता है। रौद्र रस की उत्पत्ति उस क्रोध से होती है जो 'अर्थ' की प्राप्ति में सहायक होता है। वीर रस की उत्पत्ति उस उत्साह से होती है जो धर्म एवं अर्थ की सिद्धि में सहायक होता है, शान्त रस का आधार तत्त्वज्ञान है और वह मोक्ष का साधन है। अतएव ये ही चार प्रधान रस हैं। कुछ नाटकों में इन रसों को भी अप्रधान रूप में प्रकट किया गया है फिर भी यह निर्विवाद है कि इस प्रकार के नाटक हैं जिनमें इनको प्रधान रूप में ही प्रकट किया गया है। हास आदि स्थायीभाव स्वतंत्र रूप से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि में सहायक नहीं होते और यदि सहायक होते भी हैं तो रति आदि के अंश बन कर ही हो सकते हैं। अतएव हास्य आदि को अप्रधान[1] रस माना है।

अभिनवगुप्त केवल आठ स्थायी भाव मानते हैं। क्योंकि ये इतने अधिक स्वाभाविक एवं सर्वगत भाव हैं कि मनुष्य जाति का कोई भी व्यक्ति इनसे रहित नहीं है। ये मूल भाव हैं—अन्य किन्हीं भावों पर ये निर्भर नहीं होते।

---

[1] अभि० भा० भाग १ २८३–४

ये भाव प्राकृतिक हैं। उनके विषय में हम यह प्रश्न नहीं कर सकते कि उनकी उत्पत्ति क्यों होती है। उदाहरण के रूप में हम यह प्रश्न तो कर सकते हैं कि 'अमुक व्यक्ति क्यों थका हुआ है ?' परन्तु उसी रूप में क्या हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि 'अमुक व्यक्ति क्यों उत्साहपूर्ण है ?'

संशयहीन रूप में अभिनवगुप्त यह कहते हैं कि नौ से अधिक रस के भेद नहीं हैं। इन्हीं रसों को प्रकट करना चाहिए क्योंकि मनुष्य जाति के पुरुषार्थों के साथ ये ही रस साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं और मनुष्यजाति के व्यक्तियों को अत्यंत प्रिय हैं। वे रस के नौ भेद इसलिए नहीं मानते क्योंकि उनसे मान्य साहित्यिक परिषद[1] में यही मत प्रतिष्ठित था वरन् इसलिए मानते हैं क्योंकि इनके अतिरिक्त और किसी भाव का प्रकटन इतना अधिक अनुरञ्जनकारी नहीं होता और न वह मानव जाति के पुरुषार्थ के साथ में इतनी अधिक घनिष्ठता से सम्बन्धित ही होता है।

वे इस मत का खण्डन करते हैं कि वात्सल्य, लौल्य, भक्ति आदि स्वतंत्र रस हैं। उनके इस खण्डन का आधार उनका रतिविषयक अभिमत है। वे स्पष्टरूप से व्यावहारिक जगत की 'रति' को कला से प्रकटित 'रति' से भिन्न मानते हैं।

लोक के व्यावहारिक जीवन में रति के तीन विशेष लक्षण हैं—

१. यह रति नर और नारी के बीच होती है, परस्पर एक दूसरे की अभिलषित वस्तु होने के कारण दोनों परस्पर एक दूसरे का उपयोग करते हुए सुखी होते हैं।

२. युग्म के विषय में लोगों की प्रमिति इस रूप में होती है—'वह उसकी भार्या है।' अतएव दर्शक के मन में इस प्रकार की रति के ज्ञान से परिणामतः उस सुख की लालसा उत्पन्न होती है जिसको वह युग्म के अनुभव का विषय मानता है।

३. यह रति चिरस्थायी नहीं होती। इसका अस्तित्व उसी समय तक रहता है जब तक कामोन्माद की दशा वर्तमान रहती है। और उसके विषय में मिति यह होती है "यह अनुभव एक क्षणिक मानसिक दशा है।"

काव्य में 'रति' का स्वरूप इससे भिन्न है। उसके विशेष लक्षणों का उल्लेख निम्नरूप में किया जा सकता है—

---

[1] अभि० भा० भाग १–३४१

१. यह रति रूपी भाव काव्य अथवा नाटक में दर्शाई गई सभी दशाओं में तब तक व्याप्त रहता है जब तक फलप्राप्ति नहीं हो जाती।

२. इसकी चरम फल प्राप्ति की दशा पूर्ण रूप से सुख दुःख के सभी अंशों से रहित होती है। पूर्ण आनन्द के रूप में यह फलित होती है।

३. इसका फलागम रसात्मक अनुभव के रूप में होता है। इस अनुभव को शास्त्रीय भाषा में श्रृङ्गार कहते हैं। व्यावहारिक लोकगत रति का सर्वप्रधान विधायक अंश विषयभूत बाह्य वस्तु है, परन्तु रति के रसात्मक अनुभव का विशेष लक्षण इस प्रकार की वस्तु से सर्वथा रहित होना है। यह शुद्ध रूप में प्रमातृस्वरूप (subjective) है।

निम्नरूप में इसका विशद रूप से स्पष्टीकरण किया जा सकता है :—

व्यावहारिक लोक में रति-क्रीड़ा नर और नारी के बीच में कामोन्माद की अवस्था में संभव होती है। सुखकारी अनुभवों की धारा के चरम विन्दु को यह प्रकट करती है। कविसृष्ठ लोक व्यावहारिक लोक की सत्यता से रहित होता है क्योंकि यह केवल काल्पनिक है। व्यावहारिक संसार की भांति कल्पना के इस लोक में आनन्ददायक कोई जड़ वस्तु नहीं होती। काव्य लोक में सुख के प्रवाह की चरम परिणति परस्परासक्त दो व्यक्तियों का परस्पर शारीरिक मिलन न होकर भावों के दो समुदायों की आध्यात्मिक एकता होती है अथवा यों कहें कि दोनों व्यक्तियों के परस्पर[1] एक दूसरे में निमज्जित होने के कारण द्वैतभाव नष्ट हो जाता है। यह प्रेम इस प्रकार का है कि एक दूसरे को अपना जीवन ही मानते हैं। सीता के वियोग में राम यही कहते हैं "मेरी सांस लेने की चेष्टा विडम्बना मात्र है—सीता मेरी जीवन शक्ति है।" काव्य लोक का यह प्रेम अपनी प्रिय वस्तु के प्रति अपने पूर्ण अस्तित्व के समर्पण में प्रकट होता है।

यदि रति के इस स्वरूप को हम ध्यान में रखें तो स्पष्ट रूप से हम यह समझ सकते हैं कि वह वात्सल्य रस, जिसको कुछ शास्त्रकार एक स्वतंत्र रस मानते हैं, जिसका स्थायी भाव मृदुता है, श्रृङ्गार के अतिरिक्त एवं वह मृदुता रति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि अपने अस्तित्व को दूसरे के अस्तित्व के साथ पूर्णतया एकात्म करना ही स्नेह है अतएव अपने मूल में यह रति ही है। उदाहरण के रूप में यदि कोई पिता अपने पुत्र के प्रति मृदुता का भाव रखता है और यदि यह सत्य है तो वह उस भाव को अन्त में अपने पुत्र को अपने

[1] अभि० भा० भाग १-३०३

प्राणों के ही समान मानने में प्रकट करेगा अर्थात् वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को पुत्र के अस्तित्व में विलीन कर देगा।

यही दशा भक्ति और लौल्य रस की भी है। क्योंकि उनके स्थायीभाव भी रति, हास अथवा अन्य किसी स्थायीभाव[1] के प्रकार ही होते हैं। उनके परस्पर भेद का कारण उनकी मानसिक-शारीरिक क्रिया के नियत विषयों की भिन्नता है। इस प्रकार से अधिक सूक्ष्म विश्लेषण से हमें यह ज्ञात होता है कि हास्य के प्रसंग में लौल्य केवल रति का एक वह रूप है जो अपने को किसी वस्तु की प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा के रूप में व्यक्त करता है। इसी प्रकार से भक्ति भी उस वस्तु के प्रति अपार श्रद्धा के भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो परमादरणीय होती है और जिसको अपना सम्पूर्ण अस्तित्व समर्पित कर दिया जाता है। जो शास्त्रकार रस के नौ से अधिक भेद मानते हैं उनके मत का संक्षिप्त रूप से खण्डन करके वे उनकी उपेक्षा कर देते हैं। उनके मत का खण्डन वे केवल एक गद्यखण्ड में ही करते हैं। प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों का विशदरूप वर्णन इसलिए न करते हुए क्योंकि अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण इस स्थान पर उनकी व्याख्या अनावश्यक है, हम नौ रसों में से प्रत्येक के उस स्वरूप का उल्लेख करेंगे जिसका प्रतिपादन उन्होंने किया है।

श्रृंगार

श्रृङ्गार शब्द का अर्थ—श्रृङ्गार शब्द का मूल अर्थ रति का रसात्मक अनुभव है। क्योंकि वे लोग जिनमें रति के अनुभव की चसता होती है उस व्यक्ति को जो रति के रसात्मक अनुभव के प्रति अधिक आकर्षित होता है श्रृङ्गारी कहते हैं। इसी प्रकार से वे उस व्यक्ति को व्यसनी कहते हैं जो स्वभावतः अपने को भड़कीले वस्त्रों से सजाता है। परन्तु श्रृङ्गार-रसानुभूति की सहायक उस सभी सामग्री को, जो विभावादि के रूप में उपस्थित की जाती है, केवल औपचारिक अर्थ में ही श्रृङ्गार कहते हैं यदि वह शास्त्रीय आदेशों के अनुसार होने के कारण अनिन्दनीय है तथा सुस्फुट और मनोहर[2] है।

श्रृङ्गार शब्द की व्युत्पत्ति—रति[3] की रसात्मक अनुभूति के लिए "श्रृङ्गार"

[1] अभि० भा० भाग १-३४१-२

[2] अभि० भा० भाग १-३०१

[3] अभि० भा० भाग १ ३०२

एक सांकेतिक शब्द है। उणादि सूत्र के 'शृङ्गारभृंगारौ' (४२२) सूत्र के अनुसार हिंसार्थक शॄ धातु 'शॄ हिंसायाम्' के आगे आरक् प्रत्यय लगाकर, ङ् एवं ग् को इसमें जोड़ कर और ऋ के स्थान पर ऋ आदेश करके शृङ्गार शब्द सिद्ध होता है (शृणाति हिंसति इति शृङ्गारः)। नष्ट करने के कारण—अर्थात् जो इसका अनुभव करता है उसके व्यक्तित्व को नष्ट करने के कारण ही इसको शृङ्गार कहा जाता है।

अभिनवगुप्त शृङ्गार शब्द की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ के विषय में अपने पूर्ववर्ती एक प्रामाणिक मत का खण्डन करते हैं। इस मत के अनुसार यह माना जाता था कि (१) शृङ्गार शब्द की रचना 'शृङ्ग' में, आरक प्रत्यय को जोड़ कर हुई है, (२) इस प्रत्यय का प्रयोग कात्यायन के वार्तिक 'शृङ्ग-वृन्दाभ्याम् आरकन्' (सि० कौ० २९३) के अनुसार है और (३) इस शब्द का अर्थ 'कामवृत्ति को उत्तेजित' करने वाली वस्तु है।

> 'शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदः तदागमनहेतुकः
> उत्तम—प्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते'। (श० चि० ६०३)

यह शब्द-साधना स्पष्ट रूप से दोषपूर्ण है क्योंकि उल्लिखित वार्तिक के अनुसार जोड़ा हुआ प्रत्यय 'आरक्' न होकर 'आरकन्' है। अतएव इस प्रत्यय को जोड़ने से शृङ्गार शब्द की नहीं वरन् शृङ्गारक शब्द की सिद्धि होती है।[1]

शृङ्गार रस का स्थायीभाव—रति

रसानुभूति के सम्बन्ध में 'रति' का भाव उस 'रतिभाव' से सर्वथा भिन्न है जिसका अनुभव व्यावहारिक लोक में सामान्य इन्द्रियजन्य बोध के तल पर किया जाता है। साधारण सांसारिक रति का अनुभव एक नर और एक नारी की परस्पर एक दूसरे के प्रति उत्कट अभिलाषा एवं परस्पर एक दूसरे के उपयोग के रूपों में होती है। दो व्यक्तियों में पति-पत्नी भाव की सामाजिक स्वीकृति का यह रति आधार है। यह अल्पकालीन है। जब तक कामोन्माद की दशा रहती है तब तक यह सजीव रहती है। परन्तु वह भावरूप रति जिसको नाटक के नायक में दर्शाया जाता है, और जो रसास्वादन का कारण है निरंतर सजीव बनी रहती है। यह आरम्भ से लेकर पूर्ण फल प्राप्ति तक सतत् रूप से, विना

---

[1] अभि० भा० भाग १ ३०३

किसी प्रकार से खण्डित हुए, बनी रहती है। इसमें दुःख का एक अणु भी नहीं होता है। यह पूर्ण रूप में आनन्दमय मानसिक दशा है।

लौकिक रति का अनुभव और उसके संस्कारों का कवि तथा सहृदय दोनों में होना परमावश्यक है। कवि के लिए इसलिये आवश्यक है कि वह विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों को इस रूप में प्रकट कर सके कि सहृदय को शृङ्गार रस की अनुभूति हो सके। और सहृदय के लिए इसलिए आवश्यक है कि आरम्भिक क्रमावस्था में वह प्रदर्शन के प्रति आवश्यक उन्मुखता कर सके।

इन्द्रियानुभव के तल पर होने वाली रति का अनुभव रसानुभावक रति से इस बात में भिन्न है कि इन्द्रियानुभव के तल पर रति के अनुभव में दोनों व्यक्तियों का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से स्थिर रहता है। क्योंकि कामोन्माद की दशा में पृथक्‌रूप व्यक्तित्व का अस्तित्व उस रति-क्रीड़ा के भोग के लिए परमावश्यक है जो रति से उत्पन्न आनन्द की धारा का चरमबिन्दु है। प्रधान रूप से शारीरिक होने के कारण इसके उत्कर्ष के लिए उस सब सामग्री का भौतिक अस्तित्व आवश्यक है जो इस रति को उत्तेजित करती है और जिस की सत्ता के कारण इसके भोग का संभव हो सकता है। इस प्रकार की रति में केवल इन्द्रियजनित सुख प्राप्त होता है।

रसानुभावक रति–भाव इस शारीरिक अथवा भौतिक तल का अतिक्रमण करता है। इस रति से सम्बन्धित सभी सामग्री, चाहे वह रमणीक उद्दीपक विभाव हो और चाहे रति का आधारभूत आलम्बन विभाव हो, काल्पनिक ही होती है। सहृदय व्यक्ति में इस रति की जागृति नाटकान्तर्गत काव्यात्मक उस वर्णन के श्रवण से होती है जो कि विभावादि के स्पष्ट चित्रण के कारण सभी अंशों में पूर्ण होता है। क्योंकि यह नाटकीय प्रदर्शन प्रकृति-लोक में प्राप्त वस्तुओं का अनुकृतिरूप न होकर प्रतिभा–उत्प्रेरित कवि के कल्पनालोक में प्राप्य वस्तुओं का अभिव्यंजक है। प्रेमी और प्रेमपात्र की दो आत्माओं का परस्पर में निमज्जन इसमें दर्शाया जाता है। और रति का रसास्वादन परस्पर दोनों प्राणियों की आत्माओं के एक दूसरे में लीन हो जाने के परिणामस्वरूप एकात्मता के अनुभव के रूप में होता है। शुद्ध रूप से जो शारीरिक है उसके साथ इस रति का कोई सम्बन्ध नहीं है। सीता से विरह की अवस्था में राम के अधरों से जो शब्द निकले हैं वे इसी प्रकार की रति को प्रकट करते हैं—

'सीता मेरी जीवन शक्ति है।'

इस प्रकार से रसानुभावक रति का अनुभव एक एकात्मता का अनुभव है यद्यपि इसको पुरुष और नारी दो व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रकट किया जाता है। क्योंकि आध्यात्मिक रूप से दोनों इस प्रकार से अभिन्नरूप में एकात्म हो जाते हैं कि दोनों का द्वैतभाव अद्वैतरूप में निमज्जित हो जाता है।

इसका अनुभव दो अवस्थाओं में किया जा सकता है—

(१) सम्भोग एवं (२) विप्रलम्भ। अतएव यह कहना कि शृङ्गार रस दो प्रकार का होता है गलत है। शृङ्गार केवल एक ही प्रकार का है।[1]

दर्शक के मन को मुग्ध करने के लिए यह परमावश्यक है कि शृङ्गार के सम्भोग पक्ष को वियोग पक्ष के साथ प्रदर्शित किया जाय। क्योंकि सतत रूप से सम्भोग पक्ष का प्रदर्शन उसी प्रकार से अरुचिकारी होता है जैसे वह भोज जिसमें केवल मिष्टान्न[2] ही परोसा गया है।

शृङ्गार के अनुभव की प्रक्रिया

रसानुभूति के लिए भारतीय रससिद्धान्तकारों ने जिन चीजों को आवश्यक निर्धारित किया है उनमें साधारणीकरण अथवा व्यक्तित्वविधायक तत्त्वों के निराकरण का अत्यन्त महत्त्व है। व्यक्तित्व के विधायक तत्त्वों में से देश और काल अत्यंत आवश्यक हैं। व्यक्तित्व के साधारणीकरण के लिए इन तत्त्वों का निराकरण परमावश्यक है। जैसा कि हम कह आए हैं इनके निराकरण के लिए नाट्य-रचना विधि का उपयोग किया जाता है। प्रदर्शन से और विशेषरूप में नायक से इन तत्त्वों का निराकरण एक मनोवैज्ञानिक नियम के कारण होता है। वह नियम यह है :—जब द्रष्टा को एक विषय में दो परस्पर विरुद्ध ज्ञान होते हैं तब एक ज्ञान दूसरे को द्रष्टा की बुद्धि से हटा देता है। इसका विवरण इस प्रकार से किया जा सकता है—

नाट्य-प्रदर्शन को देखते समय सहृदय के अन्तःकरण में अभिनेता के यथार्थ रूप के विषय में कोई बोध न हो इसलिए अभिनेता के निजी रूप को वस्त्रों और प्रसाधनों से प्रच्छन्न कर दिया जाता है। परन्तु वेश भूषा एवं काव्यात्मक वर्णनों से जिस ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक व्यक्ति को दर्शक के मानस चक्षुओं के सामने उपस्थित करने का प्रयास किया जाता है वह दर्शक के अन्तःकरण में इतनी दृढ़ता से जम नहीं पाता जिससे कि अभिनेता विषयक सभी विचार

[1] अभि० भा० भाग १–३०३
[2] अभि० भा० भाग १–२८७

दर्शक के अन्तःकरण से हट जावें, क्योंकि ये विचार उसके अन्तःकरण में दृढ़ रूप से जमे हुए होते हैं। परिणाम यह होता है कि ये विचार परस्पर विरोधी होने के कारण एक दूसरे का निराकरण कर देते हैं। इनमें से देश और काल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—जिनका निराकरण हो जाता है। अतएव नायक में रति के बाह्य चिह्न जो दृष्टिगोचर होते हैं और जो स्थायी भाव से अविना-भाव सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं इस प्रकार के शृङ्गार का अनुभव जाग्रत करते हैं जो किसी भी रूप में किसी भी व्यक्ति से सम्बन्धित नहीं होता। यहां तक कि पूर्व समय से साधारणीभूत दर्शक की व्यक्ति का भी इससे सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि इसमें भी उपचेतनांश से चेतनांश पर रति का भाव नायक के साथ तादात्म्य करने के कारण उद्भूत होता है। इस प्रकार से जिस रति का अनुभव होता है वह विषय रूप नायक में वर्तमान विषयभूत रति नहीं होती। किसी भी नियत बाह्य कारण से भी इस रति का अनुभव नहीं होता जिससे कि उसको प्राप्त करने का विचार दर्शक में जाग्रत हो जाए। किसी दूसरे व्यक्ति में वर्तमान रति का भी अनुभव नहीं होता जिससे कि दर्शक में शत्रुता तथा ईर्ष्या के भाव उदित हो सकें। अतएव शृङ्गार रस का अनुभव सहृदय के साधा-रणीभूत आत्मा में साधारणीभूत रति का प्रतिबिंबित होना ही है।

रौद्ररस—क्रोध का रसात्मक अनुभव

अभिनवगुप्त रस के भेदों को दो वर्गों में विभाजित करते हैं। इस वर्गीकरण का आधार नायक के साथ में दर्शक का पूर्ण रूप से तादात्म्य का आवश्यक होना अथवा न होना है। यह तादात्म्य किन्हीं स्थायी भावों की अनुभूति के लिए आवश्यक होता है। और स्थायी भाव रस विधायक तत्त्वों में एक आवश्यक तत्त्व है। उदाहरणतः रति और शोक के रसात्मक अनुभव में नायक के साथ पूर्ण तादात्म्य आवश्यक होता है। इसका कारण यह है कि रति और शोक रूप भावों के विषय इस प्रकार के होते हैं कि वे प्रत्येक दर्शक के अन्तः-करण में इन भावों को उत्तेजित करने के लिए साधारण कारण नहीं बन सकते। दूसरे स्थायीभावों के प्रसंग में इस प्रकार के पूर्णरूप तादात्म्य की कोई आव-श्यकता नहीं पड़ती। इसका कारण यह है कि उनके विषय इस प्रकार के होते हैं कि वे प्रत्येक समान प्रवृत्ति वाले दर्शक के अन्तःकरण में इन भावों को जागृत कर सकते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक दर्शक में इन भावों को जागृत करने के साधारण कारण बन सकते हैं।[1]

[1] अभि भा० भाग १–२८७

रौद्र रस के स्थायी भाव 'क्रोध' के अनुभव से यह बात अत्यन्त स्पष्ट होती है। नैतिकता के सिद्धान्तों अथवा सामाजिक नियमों के विरोध में किया गया आचरण सभी नैतिकता पन्थी व्यक्तियों में क्रोध के भाव को जागृत करता है—और वे उस व्यक्ति के शरीर का रक्त पी लेना चाहते हैं जो इन सिद्धान्तों एवं नियमों की अवहेलना करता है। अतएव इस प्रकार का व्यक्ति समान रूप से अनेक व्यक्तियों के क्रोध का पात्र हो सकता है। इसलिए इस प्रकार के व्यक्ति को देखकर क्रोध के भाव को जागृत करने के लिए नायक के साथ में तादात्म्य होना अनावश्यक है। अतएव क्रोधोत्पादक प्रदर्शन के रसात्मक अनुभव के प्रसंग में आत्मा को प्रभावित करने वाला भाव मूल रूप में वैसा ही होता है जैसा कि इन्द्रिय बोध के लोक[1] में होता है। शृङ्गार रस के अनुभव में रति के अनुभव के समान रौद्ररस में क्रोध का अनुभव सामान्य इन्द्रिय बोध के तल में होने वाले अनुभव से भिन्न नहीं होता है। शृंगार रस के अनुभव में रति का अनुभव सामान्य इन्द्रिय बोध के तल में होने वाले तद्विषयक रति के अनुभव से भिन्न होता है।

रौद्र रस का अनुभव रंगमंच पर प्रदर्शित उस पात्र को देखने से उत्पन्न होता है जो थोड़ी सी भी उत्तेजना से किसी व्यक्ति को मार डाल सकता हो।

इस विषय में मतभेद है। एक पूर्ववर्ती आचार्य का मत यह है कि रौद्र रस के अनुभव का कारण नायक के युद्धोत्पन्न क्रोध का प्रदर्शन है जो अपने को शत्रु के रक्त पीने के कार्य में प्रकट करता है जैसे कि दुःशासन का रक्त पीते हुए भीम का प्रदर्शन।

परन्तु यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि भीम का वह क्रोध जो अपने को रक्त पीने के कार्य में प्रकट करता है महायुद्ध के कारण उत्पन्न नहीं होता। इसके प्रतिकूल इसका कारण भीम का सहज उत्तेजित हो जाने का स्वभाव है जिसके कारण उन्होंने दुःशासन के रक्त पीने जैसी अनुचित प्रतिज्ञा पूर्व समय में की थी। भीम के इस प्रकार के कार्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए कवि ने उनको राक्षस प्रेरित होने के रूप में प्रदर्शित किया है।

अतएव अभिनवगुप्त का यह मत है कि पूर्ववर्ती आचार्य रौद्र रस के प्रसंग में जो उस मनुष्य में जिसका क्रोध युद्ध के कारण उमड़ता है (युद्धहेतुकोद्धत मनुष्य) और उसमें जो स्वभाव से ही क्रोधी है (स्वभावक्रोधी) जो भेद

---

[1] अभि० भा० भाग १–३२०

किया है वह उचित नहीं है। उनका यह कथन है कि रौद्र—रस—प्रधान नाटकों के सभी नायक शीघ्र उत्तेजित होने वाले स्वभाव के होते हैं। स्वभाव की इस विशेषता[1] को प्रदर्शित करने वाले अभिनेता के विषय में चर्वणा करने से क्रोध का रसात्मक अनुभव होता है।

वे भाव जिनका रसात्मक अनुभव किया जाता है सामान्य रूप होते हैं क्योंकि वे सभी में वर्तमान होते हैं, उदाहरणरूप में क्रोध को ले सकते हैं। इसलिए समान रूप से राक्षसों और मनुष्यों में इन भावों का रसात्मक प्रदर्शन उन परिस्थितियों में संभव है जो इन भावों को जागृत करने में पर्याप्त रूप में शक्तिवान हैं। इसलिए हम यह देखते हैं कि क्रोध के रसात्मक अनुभव को जागृत करने के लिए इसको केवल राक्षसों में ही प्रदर्शित नहीं किया जाता वरन्, अश्वत्थामा, परशुराम एवं भीम जैसे महान यशस्वी व्यक्तियों में भी प्रदर्शित किया जाता है। इसी प्रकार से हास्य और करुण रसों के अनुभवों को सामाजिक में उत्पन्न करने के लिए राक्षसों में हास और शोक रूपी भावों को ऐसी परिस्थितियों में दिखाया जाता है जो कि इन भावों को जागृत करने में तथा प्रधान क्रोधी स्वभाव को दबाने में पूर्णतया समर्थ हों।

उत्साह की रसात्मक अनुभूति—वीर रस

श्रेष्ठतर नाटकों में प्रदर्शित उत्साह की रसात्मक अनुभूति केवल भद्र पुरुषों को ही होती है। क्योंकि इस प्रकार के पुरुष ही उचित प्रकार के उत्साह का अनुभव करते हैं। और इसका अनुभव तब उत्पन्न होता है जब इसको किसी भद्र व्यक्ति में अथवा भद्र व्यक्ति के साधन से रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाय। चारों प्रकार के नायकों का यह सामान्य गुण होता है। क्योंकि प्रत्येक प्रकार के नायक को चाहे युद्ध के प्रसंग में हो और चाहे रति के प्रसंग में हो यह गुण आकर्षक बनाता है। मनुष्य की सामाजिक परिस्थिति तथा प्रतिष्ठा की अपेक्षा न करते हुए उत्साह अकेला ही मनुष्य को आकर्षक बना देता है, निरपेक्ष एक आकर्षण शक्ति प्रदान करता है। यही एक ऐसा गुण है जो ऐसे व्यक्तियों को जिनका चरित्र अनुकरणीय नहीं होता निम्न कोटि के नाटकों के नायक बनने के योग्य बना देता है। उत्साह का औचित्य उत्प्रेरक वस्तु के औचित्य पर निर्भर होता है।

---

[1] अभि० भा० भाग १ ३२०-१

बीभत्सता की रसानुभूति—बीभत्स

बीभत्स रस की अनुभूति का कारण रंगमंच पर प्रदर्शित जुगुप्सा उत्पादक वस्तुओं का देखना अथवा उनका वर्णन सुनना है। जुगुप्सा के भाव की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है जो विषयिगत, विषयगत अथवा उभयगत होते हैं। इसकी उत्पत्ति का कारण किसी वस्तु के प्रति जुगुप्सा के भाव को जागृत करने वाली किसी मनुष्य की सांस्कृतिक विलक्षणता भी होती है। इस प्रकार से अपनी आध्यात्मिक संस्कृति के कारण ब्राह्मणों में लहसुन जुगुप्सा का भाव उत्पन्न करता है। वात, पित्त और कफ की विषमता के कारण सामान्य रूप से सुखदायी वस्तुएं भी जुगुप्सा के भाव को उत्तेजित करती हैं। जैसे कि कफ विकार से पीड़ित व्यक्ति को दूध जुगुप्सित वस्तु लगता है। अपने में भली होने पर भी कोई वस्तु इसलिए जुगुप्सा के भाव को उत्पन्न करती है क्योंकि वह निर्मल नहीं है अथवा आवश्यकता से अधिक उसका उपयोग कर लिया गया है। वेणीसंहार नाटक में वसागन्धा एवं रुधिरप्रिय का संलाप बीभत्स रस का प्रसिद्ध दृष्टान्त है। विभावादि[1] की एकता के कारण बीभत्स के साथ साथ भयानक भी उत्पन्न होता है।

मोक्ष के प्रसंग में बीभत्स

केवल उन्हीं शास्त्रकारों ने बीभत्स को दो प्रकार का माना है जिन्होंने भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में इस प्रसंग में प्रयुक्त 'द्वितीयकः' शब्द के निहितार्थ को ठीक रूप में नहीं समझा है। उन आचार्यों के मत के अनुसार बीभत्स रस के दो भेद हैं—१ शुद्ध एवं २ अशुद्ध। जिस समय जुगुप्सा का भाव रक्त तथा आंतों के समान वस्तुओं के प्रदर्शन से जाग्रत किया जाता है जो मन को क्षुभित (क्षोभणत्वात्) करते हैं तब शुद्ध बीभत्स होता है। परन्तु जब मन को पीड़ित अथवा संकुचित करने वाले दुर्गन्धमय विष्ठा आदि के प्रदर्शन द्वारा इसको जाग्रत किया जाता है तो वह अशुद्ध बीभत्स होता है।

परन्तु अभिनवगुप्त के शिक्षक आचार्यों ने बीभत्स के तीन भेदों का प्रतिपादन किया है—१. क्षोभण—जो मन को क्षुभित करता है। २. उद्वेगी—जो मन को पीड़ित अथवा संकुचित करता है। एवं ३. शुद्ध। वे यह सिद्ध करते हैं कि उद्वेगी बीभत्स विरले ही मिलता है और 'द्वितीयक' शब्द का प्रयोग इसी उद्वेगी बीभत्स के सम्बन्ध में इसलिए किया गया है कि उसके 'विरलेपन' का

[1] अभि० भा० भाग १–२९९

बोध हो जाय। इस शब्द का यह अर्थ नहीं है कि बीभत्स रस के केवल दो भेद हैं।

उन आचार्यों ने यह प्रतिपादित किया था कि जुगुप्सा उत्पादक वस्तु का प्रदर्शन ऐसे रूप में भी किया जा सकता है कि उसकी चर्वणा के द्वारा मनुष्य की इच्छाओं की निस्सारता का बोध अथवा साक्षात्कार उत्पन्न हो और इस प्रकार से मनुष्य के परम पुरुषार्थ, परम मोक्ष, को प्राप्त करने में वह सहायक हो। उनके मत के अनुसार बीभत्स का वह प्रदर्शन जो इस प्रकार के लक्ष्य की पूर्ति करता है शुद्ध[1] बीभत्स है।

हास की रसात्मक अनुभूति–हास्य

हास के भाव की रसात्मक अनुभूति मूल रूप में इन्द्रिय बोध के लोक में होने वाली हास की अनुभूति के समान ही होती है। इसका कारण किसी अन्य व्यक्ति की वेशभूषा, अलंकार, भाषा आदि का वह विकृतरूप अनुकरण है जो देश, काल, आयु, आचार, व्यवहार आदि के अनुकूल नहीं है।

हास्य रस के दो भेद हैं—(१) आत्मस्थ एवं (२) परस्थ। इस विषय में मतभेद है। पूर्ववर्ती एक आचार्य का यह मत है कि यह उस समय आत्मस्थ होता है जिस समय कोई व्यक्ति स्वयं अपनी हास्यजनक वेशभूषा एवं अलंकार पर हँसता है जैसे कि विदूषक अपनी ही हास्यजनक वेशभूषा तथा चेष्टाओं पर हँसता है। हास्य परस्थ उस समय कहा जाता है जब किसी दूसरे व्यक्ति को इस प्रकार की हास्योत्पादक वेशभूषा आदि से हँसाया जाता है। जैसे विदूषक अपनी वेशभूषा आदि से नाटक की नायिका को हँसाता है।

यह मत इसलिए न्यायसंगत नहीं है क्योंकि इसके अनुसार इन दोनों भेदों के हास्य का सम्बन्ध उसी एक हास्योत्पादक वेशभूषा से है जो या तो अपनी होती है अथवा दूसरे व्यक्ति की होती है, और इसी रूप में यह हास्य की उत्प्रेरक होती है। परन्तु यदि विपक्षी यह कहे कि उपर्युक्त दो हास्यों में पारस्परिक भेद इसलिए माना है क्योंकि परस्थ हास्य में एक व्यक्ति अपने हास्य से दूसरे व्यक्ति में हास्य को उत्पन्न करता है तो हम यह कहेंगे कि वह करुणरस जिसका स्थायी भाव शोक है तथा अन्य रसों को भी इसी आधार पर दो भेदों का माना जा सकता है। क्योंकि स्वामी को शोकाकुल देखकर दास में भी शोक का भाव उत्पन्न हो सकता है।

---

[1] अभि० भा० भाग १–३३२

अतएव अभिनवगुप्त हास्यरस के दो भेदों में वर्गीकरण का आधार निम्न-लिखित रूप में प्रतिपादित करते हैं।

हास्य एक संक्रामक भाव है। क्योंकि इसके प्रकटन से तत्समान भाव उसी प्रकार से अन्य व्यक्तियों में जागृत होता है जैसे किसी व्यक्ति को स्वादिष्ट फल खाते हुए देखकर दूसरे दर्शक के मुख में लार भरने लगती है। इस प्रकार से होता यह है कि जब हम किसी दूसरे व्यक्ति को किसी वस्तु पर हंसते देखते हैं तो स्वयं उस हँसी का कारण न देखते हुए भी हँसने लगते हैं। अतएव आत्मस्थ हास्य वह है जिसमें हास के भाव के अनुभव का कारण हास्योत्पादक वस्तु का प्रत्यक्ष बोध है। और परस्थ हास्य वह है जिसमें दूसरे व्यक्ति में हास भाव के प्रकटन से हासोत्पादक वस्तु का प्रत्यक्ष बोध किए हुए बिना ही, हास्य का अनुभव किया गया है।

शोक का रसात्मक अनुभव–करुणरस

करुण रस का स्थायी भाव शोक माना गया है। और स्वानुभव के आधार पर हम यह जानते हैं कि शोक मन की एक दुःखद दशा है। अतएव प्रश्न यह उठता है कि 'क्या करुण रस का अनुभव एक दुःखमय अनुभव है?' यदि ऐसा है तो लोग उस नाट्य-प्रदर्शन का परित्याग क्यों नहीं कर देते जिसमें करुण रस प्रदर्शित किया जाता है? यह प्रश्न वैसा ही है जैसा कि दुःखान्त नाटकों के विषय में उठाया जाता है।

रस के विषय में प्रतिपादित अथवा अनुसरित विभिन्न मतों के आधार पर विभिन्न शास्त्रकार आचार्यों ने विभिन्न उत्तर दिये हैं। अनुकरण-सिद्धान्त के समर्थकों ने यह प्रतिपादित किया है कि रंगमंच पर करुण रस के प्रदर्शन से शोक का जो भाव जागृत होता है वह केवल अनुकरण रूप होने के कारण यथार्थ शोक से भिन्न[1] है। अतएव यह दुःखदायी नहीं होता।

यह उत्तर ठीक नहीं है क्योंकि इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सभी दशाओं एवं परिस्थितियों में शोक आवश्यक रूप से दुखदायी होता है। क्योंकि यह एक अनुभव से असिद्ध बात है। क्योंकि जब हम अपने शत्रु को शोक की दशा में देखते हैं तो हमें सुख होता है। और जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को शोक की दशा में देखते हैं जो न हमारा मित्र है और न हमारा शत्रु है तो उसकी ओर से हम उदासीन हो जाते हैं। अतएव विशेषरूप से प्रामाणिक

[1] अभि० भा० भाग १–२९२

आचार्यों ने यह प्रतिपादित किया है कि भाव अपने में दुःखद अथवा सुखद नहीं होते हैं। भावों का सुखद अथवा दुःखद होना उनके अनुभविता की परिच्छिन्न आत्मा, मित्र अथवा शत्रु के साथ संबंध पर निर्भर है। भाव अपने विषयिगत एवं विषयगत व्यक्तित्व के कारण ही आवश्यक रूप से प्रेक्षक में सुख, दुःख अथवा उदासीनता को उत्पन्न करता है।

अतएव अभिनवगुप्त यह प्रतिपादित करते हैं कि उस करुण रस का अनुभव जिसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण विधायक तत्त्व शोक है दुःखद इसलिए नहीं है क्योंकि व्यक्तित्व विधायक सभी तत्त्वों से वह शून्य है। प्रत्येक अन्य रस के अनुभव की भांति करुण रस के अनुभव में भी सहृदय पूर्ण रूप से साधारणीभूत आत्मा का ही अनुभव करता है। और इसलिए इस आत्मा का आनन्दस्वरूप प्रधान भूत हो जाता है। करुणरसानुभव शुद्ध आनन्दस्वरूप आत्मा मात्र का अनुभव नहीं है। इसमें आत्मा उस शोक के भाव से प्रतिबिम्बित होती है जो उपचेतनांश से चेतनांश के तल पर प्रकट होता है और जिस का पूर्ण रूप से साधारणीकरण हो जाता है। करुण रस के अनुभव में शोक की उत्पत्ति रंगमंच[1] पर प्रदर्शित नायक के साथ तादात्म्य होने के कारण होती है।

करुण और विप्रलम्भ श्रृङ्गार में भेद

कामसूत्र में प्रतिपादित काम की दशाओं को भरत मुनि ने भी स्वीकार किया है। उनमें से अन्तिम अवस्था 'मृत्यु' है। अतएव मृत्यु के प्रसंग में श्रृङ्गार को प्रकट किया जा सकता है। परन्तु प्रेमपात्र की मृत्यु उस शोक को उत्पन्न करती है जो करुण रस का स्थायीभाव है। अतएव प्रश्न यह उठता है कि यदि विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस दोनों के विभावों का आवश्यक रूप प्रेमपात्र की मृत्यु है तो दोनों में अन्तर क्या है?

इसका उत्तर यह है कि स्थायी भाव का भेद ही उनके भेद का कारण है। विप्रलम्भ श्रृङ्गार का स्थायीभाव रति है। परन्तु करुण रस का स्थायीभाव शोक है। इन दोनों स्थायीभावों में मूल भेद यह है कि रति रूपी स्थायीभाव प्रेमपात्र के अस्तित्व को आवश्यक रूप से मान कर जागृत होता है और रतिभाव से प्रभावित व्यक्ति अपने प्रियको कहीं न कहीं और कभी न कभी पाने की आशा सदैव लिए रहता है—यह देश और काल चाहे जितना दूर

---

[1] अभि० भा० भाग १–२९३

हों। इस भाव को कालिदास ने अपने मेघदूत में (१-९) अत्यन्त मार्मिकरूप से प्रकट किया है—'वियोग की दशा में प्रायः आशा का वृन्त ही कुसुम के समान कोमल प्रेम से भरे हुए नारी के उस हृदय का एक सहारा होता है जिसका अत्यन्त शीघ्रता से भग्न हो जाना स्वाभाविक धर्म है।'

परन्तु करुण रस के प्रसंग में स्थायीभाव वह शोक है जिसका आधार प्रेमपात्र का ऐसे शाप आदि कारणों से नष्ट हो जाना है जिनका निराकरण नहीं किया जा सकता। शोक के स्थायीभाव में पुनर्मिलन[1] की सम्भावना पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है।

अतएव उस विप्रलम्भ शृंगार को प्रकट करने में जिसका 'मृत्यु' एक व्यभिचारी भाव स्वीकार किया गया है, मृत्यु को इहलोक के जीवन के अन्त और परलोक के जीवन के आरम्भ के बीच की अस्थायी दशा के रूप में रंगमंच पर प्रकट करना चाहिए और सावधानतया स्वर्गलोक में जीवन का आरम्भ मृत्यु के कुछ क्षणों के बाद प्रदर्शित करना चाहिए जिससे कि मृत्यु की दशा में अनुभव किया गया शोक व्यभिचारी भाव के रूप में ही रहे—स्थायी भाव का रूप न लेने पाए।

रघुवंश के आठवें सर्ग में कालिदास ने अत्यन्त सुन्दरता से इस तथ्य को प्रकट किया है। इस सर्ग में इन्दुमती की सहसा मृत्यु का वर्णन महाकवि ने किया है। आकाश से एक माला इन्दुमती के वक्षस्थल पर गिरती है। इसी से उनकी मृत्यु हो जाती है। अज के हृदय पर शोक का आघात इतना प्रबल है कि वे मृत्यु पर्यन्त अनशन की प्रतिज्ञा करते हैं। परन्तु महाकवि इस बात में सावधान रहे हैं कि अज का यह शोक स्थायी भाव बनने न पाए। इहलोक एवं परलोक के दीर्घतर सम्मिलित जीवन के क्षणस्थायी अंश के रूप में महाकवि ने मृत्यु को अंकित किया है। सर्ग के अन्त में कालिदास ने दोनों प्रेमियों के मिलने को उस स्वर्ग के सुंदर नन्दनवन में दिखाया है जो इस लोक से अधिक रमणीय तथा सुखकारी है।

अन्य कुछ आचार्यों का यह मत है कि विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रसंग में व्यभिचारी भाव रूप मृत्यु की दशा का अर्थ जीवन का अन्त नहीं है वरन् चेतना की वह दशा है जो मरणावस्था के तुरन्त पूर्व होती है और जो प्रेमियों[2] के मिलन के लिए अन्तिम अवसर प्रदान करती है।

[1] अभि० भा० भाग० १-३११

[2] अभि० भा० भाग १-३०८

श्री शंकुक के मत के अनुसार करुण रस का स्वरूप

श्री शंकुक के मतानुसार करुण (दया अथवा सहानुभूति जो इन्द्रियबोध के लोक में होती है) दया की वह हृदयगत अनुभूति है जो अन्य व्यक्ति की पीड़ा अथवा उसके संकट को देखकर उत्पन्न होती है। इसी भाव को उस समय करुणरस कहते हैं जब यह उस सहृदय के अन्तःकरण में जागृत होता है जो इसके विभावादि से नायक के अन्तःकरण में शोक के अस्तित्व का अनुमान करता है। ये विभावादि ही उस अनुमान[1] के हेतु रूप होते हैं।

इस मत का खंडन

यदि हमें श्रीशंकुक के शृङ्गार के प्रसंग में कहे हुए विचारों का स्मरण हो तो हमें यह तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि करुण रस के विषय में जो कुछ उन्होंने कहा है वह उससे असंगत है जो उन्होंने शृङ्गार रस के विषय में कहा है। उनके मत के अनुसार शृङ्गार रस वह है जो अनुकृति रूप उस रति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसको दर्शक विभावों, अनुभावों एवं सहचारीभावों के प्रत्यच के आधार पर अनुमानित करता है। अब यदि करुण रस के प्रसंग में भी इसी सिद्धान्त का उपयोग किया जाय तो करुण रस भी उस अनुकृत रूप शोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा जिसका अनुमान दर्शक विभावादि के प्रत्यच के आधार पर करते हैं। परन्तु स्वयं श्री शंकुक ही यह स्वीकार करते हैं कि करुण का भाव वह सहानुभूति अथवा दया है जिसमें उस अन्य व्यक्ति की सहायता करने का भी भाव वर्तमान रहता है जो पीड़ित अथवा संकटग्रस्त है। परन्तु इस प्रकार के भाव को शोक का अनुकरण किस भांति मान सकते हैं ?

अभिनवगुप्त के मतानुसार करुण रस का स्वभाव

अभिनवगुप्त का मत यह है कि जिस प्रकार से हम यह प्रश्न नहीं कर सकते कि कोई व्यक्ति किसी विशेष नाम से क्यों अभिहित होता है उसी प्रकार से यह प्रश्न भी नहीं किया जा सकता कि किसी रस को क्यों किसी विशेष नाम से अभिहित करते हैं। जिस प्रकार से शास्त्रीय आदेश के अनुसार माता पिता की इच्छा के अनुकूल किसी बालक का एक विशेष नाम रखा जाता है उसी प्रकार

---

[1] अभि० भा० १-३१८

से नाट्यकला के विज्ञान के आदि-प्रतिपादकों ने अपनी इच्छा के अनुकूल विभिन्न रसों[1] को विभिन्न नामों से अभिहित किया है।

अतएव स्वप्रतिपादित सामान्य रस सिद्धान्त के अनुकूल अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि करुण रस उस शोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसका साधारणीकरण हो गया है और जिसका अनुभव साधारणीभूत उस सहृदय से किया जाता है जो व्यक्तित्व[2] विधायक सभी तत्त्वों से रहित है। इसी लिए यह दुःखद नहीं होता है।

आश्चर्य की रसानुभूति—अद्भुत रस

अद्भुत रस का स्थायीभाव वह विस्मय है जिसका कारण किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यक्ष है जो सामान्य इन्द्रिय बोध के तल[3] पर असंभव प्रतीत होती है। उत्कृष्ट कोटि के नाटकों के अन्तिम दृश्यों में इसका प्रदर्शन आवश्यक रूप से करना चाहिए। स्वयं भवभूति के कथनानुसार उत्तररामचरित नाटक के अन्तिम दृश्य में अद्भुत रस का प्रदर्शन है। इसका प्रदर्शन नाटक के किसी भी अंश में किया जा सकता है। अतः हम 'रत्नावली' के प्रथम अंक में ही इसको प्रदर्शित किया गया देखते हैं। इस अंक में सागरिका राजा उदयन के असाधारण रूप को देखकर उनको काम-देव ही मान लेती है और विस्मित हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अद्भुत रस और भव्यता (sublime) के स्वरूप बहुत कुछ मिलते जुलते हैं।

भय की रसात्मक अनुभूति—भयानक रस

सामान्य रूप से नारियों, बालकों एवं निम्न कोटि के व्यक्तियों में ही राक्षस आदि भयंकर प्राणियों को देखकर भय की उत्पत्ति होती है। परन्तु कभी-कभी उच्चकोटि के व्यक्तियों में भी भय उत्पन्न हो जाता है परन्तु तब उसकी उत्पत्ति का कारण गुरु अथवा राजा होता है। उदाहरण के रूप में यौगन्धरायण को राजा उदयन से भयभीत होता हुआ व्यक्त किया गया है। इस प्रकार का भय उनकी प्रतिष्ठा को कम नहीं करता। प्रायः ऐसा भी होता है कि अन्य व्यक्तियों में भय एवं उत्तेजना के भाव उन व्यक्तियों में भय के भाव को उत्पन्न करते हैं

---

[1] अभि० भा० भाग १–३०२

[2] अभि० भा० भाग १–३१८–९

[3] अभि० भा० भाग १–३२०

जो उनको उन भावों[1] से युक्त देखते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इस प्रकार का भय वह भय है जिसका अनुभव भागते हुए मृग को देखकर दुष्यन्त करते हैं। भय दो प्रकार का होता है—मिथ्या तथा यथार्थ। उत्तम स्वभाव के लोगों में मिथ्या भय प्रदर्शित किया जाता है और नीच प्रकृति के लोगों में वास्तविक भय प्रदर्शित किया जाता है। उत्तम प्रकृति के लोगों में इसका प्रकटन दुर्बल होता है।

शान्तरस

अभिनवगुप्त के पूर्व समय में काव्य शास्त्रकारों में शान्तरस के विषय में मतभेद था और यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त विषय माना जाता था। अतएव अभिनवगुप्त ने इसके मूल स्वरूप की व्याख्या अत्यन्त विशद रूप में अपनी अभिनव भारती के एक पूरे उपप्रकरण में की है। और उन्होंने यह सिद्ध किया है कि शान्तरस सभी रसों में प्रधान और सभी रसों से अधिक स्वतन्त्र है। अभिनवगुप्त शान्तरस के विषय में प्रतिपादित एक मत का खण्डन करते हैं जो बहुत कुछ धनंजय से प्रतिपादित मत के समान है, परन्तु वे इस विषय में किसी के नाम का उल्लेख नहीं करते हैं। अतएव हम कुछ विशद रूप से शान्तरस के विषय में उनके अभिमत एवं धनंजय के समान प्रतिपादित मत के खंडन का उल्लेख करेंगे।

शान्तरस के विषय में धनंजय और अभिनवगुप्त के अभिमत

धनंजय और अभिनवगुप्त समकालीन थे। धनंजय अभिनवगुप्त से ज्येष्ठ थे। क्योंकि धनंजय और उनके भाई ने राजा मुंज (९७४–९९५ ई०) की राजसभा को सुशोभित किया था। अभिनवगुप्त लिखित सबसे प्राचीन जो ग्रन्थ उपलब्ध होता है वह 'क्रमस्तोत्र' ९९० ई० में लिखा गया था।

अभिनवगुप्त से प्रतिपादित रस सिद्धान्त का प्रभाव धनंजय पर नहीं पड़ा था। क्योंकि ध्वन्यालोक लोचन एवं अभिनव भारती की रचना उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के उत्तरार्ध में की थी अतएव ग्यारहवीं शताब्दि के आरम्भ के पूर्व इन ग्रन्थों की सत्ता नहीं थी।

धनंजय ने आंशिक रूप से भट्ट नायक का अनुसरण किया था। भट्ट नायक का जीवन समय नवीं शताब्दि का अन्तिम भाग तथा दसवीं शताब्दि

[1] अभि० भा० भाग १–३२७

का आरम्भ था। उन्हों ने भरत मुनि के नाट्य शास्त्र पर एक टीका लिखी थी। इस उपप्रकरण में हम इस बात का उल्लेख करेंगे कि धनंजय और अभिनवगुप्त में शान्तरस के मूलस्वरूप के विषय में कौन सी दो बातों के विषय में मतभेद है। इनमें से एक बात ऐसी है जिसका प्रतिपादन करते समय सन्देहहीन रूप से उन्होंने भट्टनायक का अनुसरण किया है।

धनंजय तथा अभिनवगुप्त दोनों ने ही रूपकों के विषय में लिखा है। दोनों ही भरत मुनि की प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं। धनंजय ने दशरूपक में भरत मुनि के मतों को संक्षिप्त रूप में ही केवल प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्त ने भरत मुनि के नाट्य शास्त्र पर एक विशद टीका लिखी है जो अभिनव भारती के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों ही नाट्य शास्त्र के पूर्व आचार्यों से भली भांति परिचित थे। यद्यपि धनंजय पूर्व मतों से परिचित थे इस विषय में कोई साक्षात् प्रमाण नहीं है तथापि पूर्व आचार्यों के इन मतों का उल्लेख उनके भाई धनिक ने दशरूपक की टीका में किया है। इस लिए धनंजय को पूर्व मताभिज्ञ मानना उचित है। धनंजय ध्वनि सिद्धान्त के विरोधी थे। अतएव ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था वे बहुधा उनका खंडन करते हैं।

शान्त रस के विषय में धनिक की व्याख्यानुसार धनंजय का मत दो मूल बातों में अभिनवगुप्त के सिद्धान्त से भिन्न है :—

१. धनंजय रस के केवल आठ भेद ही मानते हैं। वे शान्तरस को रस का नवां भेद स्वीकार नहीं करते और इस सिद्धान्त का खंडन करते हैं कि शान्तरस को रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है। इसके प्रतिकूल अभिनवगुप्त शान्त रस को स्वतंत्रतम एवं मूलतम रस प्रतिपादित करने के लिए विशेष कष्टसाध्य परिश्रम करते हैं और रसों के नौ भेद मानते हैं। उनके मत के अनुसार शान्त रस को रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है।

२. धनंजय ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते एवं भट्टनायक के मत को प्रामाणिक मानते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि दर्शक में स्थायी भाव का उदय भाषा की तात्पर्य शक्ति के कारण होता है (तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यंजकत्वस्य) और प्रदर्शन तथा सहृदय का साधारणीभाव काव्य अथवा नाट्य में प्रयुक्त शब्दों की दो शक्तियों के कारण होता है। भट्टनायक ने इन दो शक्तियों का प्रतिपादन सर्वप्रथम किया था। अभिनवगुप्त ध्वनिसिद्धान्त के सबल समर्थक थे।

अनेक सामान्य बातें ऐसी हैं जिनके विषय में दोनों में मतभेद है जैसे नाट्य, बिन्दु, प्रतिमुख आदि के स्वरूप के विषय में दोनों के मत भिन्न-भिन्न हैं।

नाट्य शास्त्र का मूल ग्रन्थ

अभिनव भारती के गम्भीर अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि नाट्य शास्त्र के दो संशोधित पाठ थे (१) पूर्ववर्ती एवं (२) परवर्ती। पूर्ववर्ती पाठ में शान्त रस के विषय में भरतमुनि के मत का उल्लेख था। परवर्ती संस्करण में इसका उल्लेख नहीं था। नाट्य शास्त्र के दो मुद्रित संस्करणों से इसके दो पाठों का होना स्पष्टरूप से सिद्ध है। (१) नाट्य शास्त्र का एक संस्करण अभिनव-भारती के साथ गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़ में मुद्रित हुआ है और इसका (२) दूसरा संस्करण चौखम्बा संस्कृत सिरीज़ में मुद्रित हुआ है। गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़ में मुद्रित संस्करण में 'शान्त रस' के विषय में उल्लेख है। चौखम्बा सिरीज़ में मुद्रित संस्करण में इसका उल्लेख नहीं है।

परन्तु इन दोनों संस्करणों में शान्त रस के विषय में कुछ विकीर्ण उल्लेख प्राप्त थे जैसा कि अभिनव भारती के प्रमाण से सिद्ध होता है। जैसे कि 'क्वचिच्छमः' एवं 'मोक्षे चापि विरागिणः'। परन्तु ये उल्लेख इतने कम तथा संक्षिप्तरूप हैं कि असावधान तथा असमीक्षक अध्ययनकर्ता विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट नहीं होता।

अभिनवभारती का प्रमाण

गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़ में मुद्रित अभिनव भारती के संस्करण में प्रत्येक पृष्ठ के पूर्वार्ध भाग में नाट्य शास्त्र का जो पाठ मुद्रित है वह उस पाठ से भिन्न है जिस पर अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या लिखी थी। इस मत को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित प्रमाण हैं :—

१—शान्तरस के विषय में लिखित अंश का प्रारम्भिक भाग—'शमस्थायि-भावात्मको मोक्षप्रवर्तकः' उस पाठ में नहीं था जिस पर अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या लिखी थी। क्योंकि पृ० ३४० (अभिनवभारती) पर वे कहते हैं :—

'तथा च चिरन्तनपुस्तकेषु स्थायिभावान् रसत्वम् उपनेष्यामः इत्यस्या-नन्तरम् शान्तोनाम शमस्थायिभावात्मक इत्यादि शान्तलक्षणम् पठ्यते।'

२—ग्रन्थ के इस पाठ में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव का जो

उल्लेख है वह अभिनवगुप्त से व्याख्यात पाठ में नहीं था, क्योंकि अभिनवगुप्त-कृत व्याख्या में जिन विभावादि का उल्लेख है वे उनसे भिन्न हैं जिनका उल्लेख मूल ग्रन्थ में है। इस विषय में नाट्य शास्त्र का पाठ इस प्रकार से है—

'स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिः विभावैः समुत्पद्यते व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद–स्मृति–धृति–सर्वाश्रमशौच–स्तम्भ–रोमांचादयः।'

अभिनवगुप्त शान्त रस के विभावादि निम्नलिखित बताते हैं—

'तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः
समस्तोयम् लौकिकालौकिकचित्तवृत्ति—
कलापो व्यभिचारितामेति।
विभावा अपि कथमीश्वरानुग्रहप्रभृतयः।'

गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़ में मुद्रित नाट्यशास्त्र में जो गद्यांश मुद्रित है यदि वह अभिनवगुप्त को उपलब्ध होता तो वे शम के उन विभावादिक का उल्लेख न करते जिनका उल्लेख मूल ग्रन्थ में नहीं है।

३—वे अपनी व्याख्या में दो संग्रह कारिकाओं को पूर्ण रूप में उद्धृत करते हैं यथा 'मोक्षाध्यात्मसमुत्थः' एवं 'स्वम् स्वम् निमित्तमादाय' जो गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़ संस्करण में पृष्ठ ३३४ संख्या १०४ एवं पृष्ठ ३३६ संख्या १०८ के रूप में क्रमशः मुद्रित हैं। यदि उनकी पाण्डुलिपि में इन कारिकाओं का उल्लेख होता तो पूर्ण रूप में वे उनको उद्धृत नहीं करते।

४—उस पाठ में जिसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने की है अन्तिम कारिका 'एवम् एते रसाः' वर्तमान थी। सांकेतिक रूप में इसको उद्धृत करते हुए उन्होंने इस कारिका की व्याख्या की है (अभि० भा० भाग १–३४२)

१. मूल ग्रन्थ के आधार पर शान्त रस की अस्वीकृति

भरतमुनि के परम्परानिष्ठ अनुयायी उन शास्त्रकार विद्वानों ने जिनको नाट्यशास्त्र का परवर्ती पाठ प्राप्त था इस आधार पर शान्त रस को अस्वीकार किया था कि भरतमुनि ने न तो शान्त रस की कोई परिभाषा ही लिखी है और न उसके उन विभावादि का ही उल्लेख किया है जिनके सम्बन्ध में शान्त रस को प्रदर्शित करना चाहिए। इस मत का उल्लेख लोचन पृष्ठ १७६ एवं दशरूपक पर लिखी गई टीका अवलोक पृष्ठ ९२ पर किया गया है।

इस मत का खंडन

दशरूपक की टीका 'अवलोक' में इस मत का केवल उल्लेख है—इसका खंडन नहीं है। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में इस मत की निस्सारता को दो आधारों पर सिद्ध किया है। १ अनुभव के आधार पर एवं २ ग्रन्थपाठ के आधार पर। मूल ग्रन्थ के सम्बन्ध में वे इस मत के अनुयायियों को यह विशेषाधिकार देते हैं कि वे परवर्ती संस्करण को ही अधिक प्रामाणिक मान लें। उनकी सर्वप्रथमयुक्ति यह है कि यदि भरतमुनि ने शान्त रस की परिभाषा एवं उसके विभावादि का उल्लेख नहीं किया तो इसमें हानि ही क्या है। हमें इस रस के अस्तित्व को स्वीकार इसलिये करना चाहिए क्योंकि इस रस का अनुभव हमें उस समय होता है जब हमारी ऐहिक तृष्णाएँ नष्ट हो जाती हैं। दूसरी युक्ति यह है कि भरतमुनि के ग्रन्थ से भी इस रस का अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि वे यह कहते हैं 'क्वचिच्छमः'।

२. नाट्य शास्त्र के पाठ के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के आधार पर शान्त रस के अस्तित्व की अस्वीकृति

दशरूपक की टीका 'अवलोक' में पृष्ठ ९२ पर एक ऐसे मत का उल्लेख है जो भरतमुनि के ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य प्रमाण के आधार पर शान्त रस को अस्वीकार करता है। अभिनवगुप्त ने इस मत का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया है। इस मत का कथन यह है कि इस प्रकार का कोई रसास्वादन नहीं होता जिसको कुछ लोग शान्त रस कहते हैं। इसका कारण यह है कि आत्मा से अनादि काल से सम्बन्धित राग और द्वेष का पूर्णतया निराकरण नहीं किया जा सकता है। यह कथन इतना संक्षिप्त है कि इसका तात्पर्यार्थ स्पष्ट नहीं होता है। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि इस कथन का प्रयोजनार्थ यह है कि किसी भी दशा में और किसी भी व्यक्ति में राग द्वेष के संस्कार नष्ट नहीं किए जा सकते तो मनुष्य जीवन का चौथा पुरुषार्थ 'मोक्ष' असंभव हो जाता है। इस मत को चार्वाक पंथी पूर्ण रूप में एवं मीमांसक मत के अनुयायी कुछ अंशों में ही केवल ठीक मानते हैं। अन्य परम्परानिष्ठ भारतीय दार्शनिक मत परममोक्ष के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकते। अभिनवगुप्त के समान शैव मतावलम्बी तो और भी इसको स्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु यदि उपर्युक्त मत का अर्थ यह हो कि दर्शक में राग एवं द्वेष से सर्वथा स्वतंत्र होने की दशा असंभव है

तो इसका अर्थ यह होगा कि किसी भी प्रकार का रसास्वादन नहीं हो पाएगा, क्योंकि सभी प्रकार के रसास्वादनों में इस प्रकार की राग–द्वेषहीन मानसिक दशा का होना परमावश्यक है। स्वयं शान्त रस के विरोधी भी इस तथ्य को आसानी से अस्वीकार नहीं कर सकते हैं।

३. भरतमुनि के परोक्ष-साक्ष्य के आधार पर शान्त रस की अस्वीकृति

नाटक के दश भेदों में से एक भेद डिम है। इसकी परिभाषा लिखते हुए भरतमुनि ने यह लिखा है कि इसमें केवल छ रसों का ही प्रदर्शन करना चाहिए। श्रृंगार और हास्य रस का प्रदर्शन इसमें सर्वथा निषिद्ध है। इस प्रसंग में भरतमुनि केवल रस के आठ भेदों का ही उल्लेख करते हैं, जिनमें से छ रसों का प्रदर्शन डिम में करना चाहिए और दो रसों का नहीं करना चाहिये। शान्त रस के अस्तित्व के विरोधी इस कथन के आधार पर यह मानते हैं कि स्वयं भरतमुनि शान्त रस के अस्तित्व को नहीं मानते थे। उनकी युक्ति यह है कि भरतमुनि यदि शान्तरस को रस का एक स्वतंत्र भेद मानते थे तो डिम के प्रसंग में वे उसका उल्लेख या तो प्रदर्शनीय रसों में करते या अप्रदर्शनीय रसों में करते। उन्होंने किसी भी रूप में इसका उल्लेख नहीं किया है अतएव शान्त रस जैसा रस का कोई भेद नहीं है।

इस मत का खंडन्

इस मत का खण्डन अभिनवगुप्त निम्नरूप से करते हैं। भरतमुनि ने डिम की जो परिभाषा लिखी है वह शान्तरस के अस्तित्व को असिद्ध करने के स्थान पर सिद्ध ही करती है। शान्त रस के अस्तित्व के विरोधियों ने इस प्रसंग में गलती यह की है कि उन्होंने परिभाषा के केवल एक ही अंश पर अपना ध्यान दिया है। परिभाषा के निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण अंशों की ओर वे दृष्टिनिक्षेप भी नहीं कर सके हैं :—

१. डिम की सत्ता दीप्तरस को चित्रित करने वाले काव्य पर निर्भर है। (दीप्तरसकाव्ययोनिः)।

२. इसकी रचना सात्वती एवं आरभटी (सात्वत्यारभटीवृत्तिसंयुक्तः) वृत्तियों में की जाती है। परिभाषा का प्रथम अंश डिम में शान्तरस के प्रदर्शन को असंभव प्रतिपादित करता है क्योंकि उसमें दीप्त रस प्रधान होता है। यदि

शान्त रस के अस्तित्व में उनका विश्वास न होता तो उसके प्रयोग को निषिद्ध करने का प्रयोजन ही क्या हो सकता था ? यदि दूसरी ओर शान्त रस के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय तभी इस कथन के उपरान्त कि डिम में श्रृंगार एवं हास्य रस को छोड़ कर अवशिष्ट छ रसों का प्रदर्शन करना चाहिए, यह प्रश्न उठ सकता है कि 'शान्तरस के विषय में उनका अभिमत क्या है ?' और परिभाषा का पूर्वार्ध भाग शान्त रस के प्रयोग को निषिद्ध करता है ।

इस प्रसंग में यह नहीं कहा जा सकता कि परिभाषा के पूर्व भाग के द्वारा करुण, वीभत्स और भयानक के प्रयोग को निषिद्ध किया गया है । क्योंकि परिभाषा के उत्तर भाग में इन रसों के प्रयोग को निषिद्ध किया गया है ।

४. मूल ग्रन्थ के आंशिक आधार पर शान्त रस के समर्थन का उसी प्रकार के आंशिक आधार पर खण्डन

यह कहना कठिन है कि अभिनवगुप्त को नाट्य शास्त्र का जो पूर्ववर्ती पाठ प्राप्त था उसमें शान्त रस की व्याख्या के अन्तर्गत कौन से विषयों का वर्णन किया गया था । फिर भी अभिनवगुप्त के कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) शान्त रस की अनुभावक सभी सामग्री का वर्णन भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में किया था या नहीं यह तो शंकास्पद हो सकता है परन्तु यह सन्देहहीन है कि उन्होंने शान्तरस के स्थायी भाव का उल्लेख किया था । (२) इस शान्तरस के स्थायी भाव का उल्लेख सभी रसों के प्रतिपादन के पूर्व किया गया था । अतएव यह कहना असंभव है कि अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में शान्त रस के प्रथम अथवा पूर्वतम प्रतिपादकों के जिस मत का उल्लेख किया है वह भरत मुनि के वाक्यों से किस सीमातक समर्थित था । परन्तु केवल एक बात स्पष्ट होती है कि शान्त रस के स्थायी भाव को 'शम' मानना भरतमुनि के मत के अनुकूल था । क्योंकि जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं परवर्ती पाठ में भी शान्त रस के स्थायीभाव का उल्लेख है ।

इस मत के अनुसार :—

१. शान्त रस का स्थायी भाव शम[1] है ।

२. इसका प्रदर्शन ऐसे विभावों के सम्बन्ध में करना चाहिए जैसे तपस्या की साधना, योगियों से संसर्ग आदि ।

---

[1] अभि० भा० भाग १–३३३

३. इसके कार्य (action) को रति, क्रोध आदि वासनाओं के अभावमात्र के प्रदर्शन द्वारा करना चाहिए।

४. धैर्य आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

अभिनवगुप्त के पूर्वकालीन आचार्यों से इस मत का खंडन

(अ) शम[1] को स्थायी भाव के रूप में स्वीकार करना भरतमुनि के मत के प्रतिकूल है। भरतमुनि के मतानुसार भावों की संख्या केवल उन्चास है। और यदि शम को भी स्थायी भाव के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो भावों की संख्या पचास हो जायगी।

(आ) श्रृङ्गार आदि स्वीकृत रसों के स्थायी भावों के विभावों का अनुभव परिसीमानुभव (Fringe experience) रूप होता है। परन्तु शान्त रस में तपस्या आदि विभावों का अनुभव इस रूप में नहीं होता।

यदि इस मत के प्रतिपादक यह कहें कि 'हम शम के कारण अथवा विभाव के रूप में तपस्या आदि को इसलिए नहीं मानते क्योंकि वे शम का प्रत्यक्ष कारण होते हैं वरन् इसलिए मानते हैं क्योंकि वे उस परतत्त्व के साक्षात्कार के कारणरूप हैं जो शान्त रस के अनुभव का एक मुख्य अंश है। इसका प्रतिवाद यह है कि इस रूप में तपस्या आदि विभावों को शम के असाक्षात् (Indirect) कारण होने के कारण शान्त के विभाव के रूप में उनका प्रदर्शन करना अयुक्त होगा।

(इ) रति एवं क्रोध जैसे भावों के अभाव को शान्तरस का अनुभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस शम से इसको (रत्यादि के अभाव को) भिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता जो रत्यादि के अभाव का कारण रूप है और इसलिये उस अनुभाव से भिन्न है जो कार्यरूप है। इसके अतिरिक्त अभावात्मकस्वरूप होने के कारण रति आदि के अभाव को प्रदर्शित नहीं किया जा सकता और इसी कारण से शम बोधोपयोगी चिह्न के रूप में भी इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। गम्भीर निद्रा एवं मूर्च्छा के प्रदर्शन तो गम्भीर श्वास-क्रिया, गिरने, भूमि पर लोटने आदि के रूपों में प्रदर्शित किये जा सकते हैं।

(ई) पूर्वपक्षिसम्मत शान्त रस के धृति आदि व्यभिचारी भावों का जिनका स्वरूप प्राप्त का उपयोग है, शान्तरस के प्रसंग में उठना असंभव है।

(उ) इसके अतिरिक्त नाटक का एक नैतिक लक्ष्य होता है। इसका

[1] अभि० भा० भाग १–३३३–४

लक्ष्य राजकुमारों जैसे दर्शकों को नैतिक शिक्षा देना है। परन्तु परतत्त्व के साक्षात्कार करने के उपायों एवं साधनों के प्रदर्शन से उनको किस प्रकार की नैतिक शिक्षा प्राप्त हो सकती है ? क्योंकि यदि वे उस प्रकार की मानसिक दशा में पहुँच जाएँ ज़ो परतत्त्व के साक्षात्कार करने से उत्पन्न होती है तो वे सामान्य इन्द्रियबोध के तल का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय लोकोत्तर तल पर पहुँच जाएंगे और इसलिए अन्य व्यक्तियों की वेदनाओं की ओर से विमुख हो जायेंगे। अतएव शान्त जैसे किसी रस का अस्तित्व नहीं है।

इस मत का खण्डन

शान्तरस के अस्तित्व एवं औचित्य की समस्या का समाधान अभिनवगुप्त इसी स्थल से प्रारम्भ करते हैं। उपर्युक्त (उ) भाग के विषय का प्रतिवाद वे निम्नरूप में करते हैं :—

नाटक का लक्ष्य दर्शक को धर्म, अर्थ एवं काम की पुरुषार्थत्रयी के समान सांसारिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ही उपदेश नहीं देना है वरन् चरम अथवा लोकोत्तर लक्ष्य अर्थात् परम मोक्ष की प्राप्ति के विषय में भी दर्शक को उपदिष्ट करना है। वस्तुतः यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि दर्शनशास्त्र के सभी सम्प्रदाय और उन्हीं के समान विभिन्न स्मृतियाँ और इतिहास प्रमुख रूप से परम पुरुषार्थ अथवा परमोक्ष के विषय में साधारण लोगों को उपदिष्ट करने का लक्ष्य पूरा करने की चेष्टा करते हैं। अतएव जिस प्रकार से प्रथम तीन पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम) की सिद्धि के लिए आवश्यक रति आदि स्थायी भावों को रंगमंच पर भलीभांति प्रदर्शित करने से श्रृंगार आदि प्रसिद्ध रसों का आस्वादन दर्शक करते हैं उसी प्रकार से यदि उस स्थायी भाव को जो परमपुरुषार्थ अथवा परमोक्ष की सिद्धि के लिये परमावश्यक है भलीभांति प्रदर्शित किया जाय तो उससे भी तदनुकूल रसानुभव उन दर्शकों में उत्पन्न हो सकता है जिनमें आवश्यक सहृदयत्व है।

इस प्रकार से शान्त को एक रस के रूप में स्थापित करने के उपरान्त वे इस प्रश्न को उठाते हैं कि 'इस शान्त रस का स्थायी भाव क्या है ?'

५. भरतमुनि के परोक्ष-साक्ष्य के आधार पर शान्त रस का प्रतिपादन

कुछ आचार्य 'शान्त रस का स्थायीभाव क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर भरतमुनि के परोक्ष-साक्ष्य के आधार पर देने की चेष्टा करते हैं। एक सम्प्रदाय

का यह मत है कि शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। दूसरे सम्प्रदाय का यह मत है कि आठ स्थायी भावों में से कोई भी स्थायीभाव शान्त रस का स्थायी भाव हो सकता है यदि उसको ऐसे विभाव से सम्बन्धित प्रदर्शित किया जावे जिसका उपयोग परतत्त्व के साक्षात्कार करने के लिए साधन के रूप में किया जा सकता है। और एक तीसरा भी सम्प्रदाय है जो भरतमुनि के मत से स्वतन्त्ररूप में यह स्वीकार करता है कि शान्त रस का स्थायी भाव आठों स्थायी भावों का सामंजस्यपूर्ण मिश्रण है। हम क्रमशः इन मतों की व्याख्या करेंगे।

(अ) शान्तरस के स्थायी भाव के रूप में निर्वेद

निम्नलिखित कारणों के आधार पर कुछ शास्त्रकार शान्त रस का स्थायी-भाव निर्वेद मानते हैं :—

वे[1] यह मानते हैं कि निर्धनता आदि से उत्पन्न निर्वेद उस निर्वेद से भिन्न है जो परब्रह्म के साक्षात्कार से उत्पन्न होता है। उनके मत के अनुसार इस भिन्नता का कारण कारणों की भिन्नता है। वे यह मानते हैं कि भरतमुनि यह चाहते थे कि निर्वेद को स्थायी भाव के रूप में ग्रहण किया जाय। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि उन्होंने व्यभिचारी भावों की गणना में सर्वप्रथम निर्वेद का उल्लेख किया है। यदि उनका अन्तर्हित प्रयोजन यह नहीं होता तो व्यभिचारी भावों का उल्लेख वे इस अमंगल सूचक शब्द से प्रारम्भ नहीं करते। इसके अतिरिक्त भरतमुनि यह नियम निर्धारित करते हैं कि विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रदर्शन में जुगुप्सा का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि भरतमुनि यह चाहते थे कि भावों का व्यवहार या तो स्थायी के रूप में करना चाहिए या व्यभिचारी के रूप में करना चाहिए। अतएव मूल ग्रन्थाश्रित ऐसी कोई आपत्ति नहीं है जिससे निर्वेद को स्थायी भाव के रूप में प्रदर्शित न किया जा सके।

परब्रह्म के साक्षात्कार से जो निर्वेद उत्पन्न होता है वह कण्ठतः कथित आठ स्थायी भावों से अधिक चिरस्थायी है क्योंकि इसमें सभी स्थायी भावों को दूर भगा देने की शक्ति है। यह निर्वेद किस प्रकार से उन सब भावों को दूर करने में सक्षम हो सकता है यदि, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, यह सभी स्वीकृत स्थायी भावों से अधिक चिरस्थायी नहीं है।

[1] अभि० भा० भाग १–३३४

इस मत का खण्डन

जो आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि शान्तरस का स्थायीभाव वह निर्वेद है जो परब्रह्म के साक्षात्कार से उत्पन्न होता है उनके मतानुसार परब्रह्म के साक्षात्कार को शान्त का विभाव होना चाहिए न कि वैराग्य के कारणों को, जैसा कि योग—सूत्र १-१५ में लिखा हुआ है—(दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्)। क्योंकि निर्वेद के प्रति वैराग्य-बीज की कारणता असाक्षात् अथवा पारम्परिक (indirect) है, और असाक्षात् कारण को विभाव के रूप में स्वीकार करने पर उसका स्वरूप अतिव्याप्त हो जाता है। और यदि परब्रह्म के साक्षात्कार को शान्त रस का विभाव स्वीकार भी कर लिया जाय तो यह शान्त रस अप्रदर्शनीय हो जाता है क्योंकि परब्रह्म का साक्षात्कार विभाव के रूप में अप्रदर्शनीय है।

इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षी ने निर्वेद एवं तत्वज्ञान के बीच कार्य कारण संबंध को पूर्णतया गलत समझा है। क्योंकि आखिरकार निर्वेद का स्वरूप क्या है? क्या सभी सांसारिक वस्तुओं से पूर्णतया उदासीन हो जाना इसका स्वरूप नहीं है? यदि ऐसा है तो यह निर्वेद उस तत्वज्ञान का अधिकांश रूप में कारण ही है जिसका विशेष लक्षण प्रत्येक प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होना है। क्योंकि सभी प्रकार की आसक्तियों से स्वतंत्र व्यक्ति ही ऐसी चेष्टायें करता है जिससे कि वह परब्रह्म का साक्षात्कार जो कि मोक्ष का स्वरूप है, हो सके। ऐसा कभी नहीं होता कि व्यक्ति पहले परब्रह्म का साक्षात्कार कर ले और उसके उपरान्त सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की उस व्यर्थता का साक्षात्कार करे जो अन्ततोगत्वा मोक्ष की ओर ले जाती है।

वैराग्य का दार्शनिक स्वरूप और तत्त्वज्ञान के साथ उसका संबंध

योगमत के अनुसार १ सत्त्व, २ रजस्, एवं ३ तमस् तीन गुणों में से एक की प्रधानता विषयभूत संसार के प्रति मानसिक उन्मुखताओं को विशिष्ट रूप प्रदान करती है।

(१) जिस समय रजस् एवं तमस् गुण सत्त्व की प्रधानता से अभिभूत होते हैं और रजस् तथा तमस् परस्पर समान मात्रा में वर्तमान होते हैं तो चित्त[1]

[1] यो० सू० (म० प्र०) ५

मधुर स्वर आदि लोकोत्तर शक्तियों को प्राप्त करने की ओर आकर्षित होता है।

(२) जिस समय सत्त्व एवं रजस् गुण तमस् की प्रधानता से अभिभूत होते हैं उस समय चित्त ऐसे कार्यों की ओर आकर्षित होता है जिनका आधार धार्मिक अविश्वास एवं अज्ञान है। उस समय चित्त सांसारिक विषयों में अत्यधिक आसक्त होता है (अवैराग्योपगम) और सर्वत्र निराशाओं का अनुभव करता है।

(३) परन्तु जिस समय तमस् गुण का अन्धकार नष्ट हो जाता है और सत्त्व गुण के साथ रजस् सहयोग करता है उस समय अवस्था विपरीत हो जाती है। चित्त ऐसे कर्मों की ओर आकृष्ट होता है जिनका आधार धार्मिक विश्वास एवं सांसारिक तथ्यों के विषय में यथार्थ बोध है। उस समय सांसारिक वस्तुओं के प्रति यह उदासीन रहता है—(वैराग्योपगम) और किसी भी प्रकार की निराशा का अनुभव नहीं करता है।

(४) परन्तु जिस समय रजस् एवं तमस् के संपर्क से सत्त्व गुण पूर्णतया रहित होता है तब बुद्धि एवं आत्मा के भेद का ज्ञान होता है।

(५) बुद्धि एवं पुरुष के भेद का बोध उस समय होता है जिस समय रजस् और तमस् के संपर्क से सत्त्वगुण सर्वथा रहित होता है और इसलिए यह बोध सत्त्वरूप ही होता है। परन्तु आत्मसाक्षात्कार इससे भिन्न है। क्योंकि पूर्णरूप आत्मसाक्षात्कार में बुद्धि का बोध भी नष्ट हो जाता है जो बुद्धि एवं आत्मा के भेद ज्ञान में होता है (विवेकख्याति), अतएव इस साक्षात्कार में बुद्धि तथा पुरुष का भेद भी हेय होता है। अतएव जिस समय एक योगी इस बुद्धि तथा पुरुष के भेद की ओर से भी उदासीन हो जाता है, अर्थात् उस तल से ऊपर पहुँच जाता है जिस तल पर बुद्धि पर बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, और गुणवैतृष्ण्य अथवा उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त कर लेता है तो उसको पूर्ण आत्म-साक्षात्कार की दशा की प्राप्ति होती है।

अतएव वैराग्य दो प्रकार का है (१) अपर एवं (२) पर अथवा उत्कृष्ट वैराग्य। अपर वैराग्य की दशा में योगी सांसारिक वस्तुओं के प्रति उस समय भी उदासीन रहता है जब वे वस्तुएं स्वयं अपने को उपभोग के लिए अर्पित करती हैं। इस उदासीनता का कारण तमस् गुण का तिरोहित होना तथा इसके परिणामस्वरूप सत्त्व और रजस् गुणों के सहयोग की दशा है। इस प्रकार का वैराग्य चित्त की वृत्तियों को स्ववश में करने एवं समाधि को प्राप्त करने के लिये ध्येय वस्तु पर मन को एकाग्र करने का साधन है। इस

साधन से जो समाधि प्राप्त होती है वह शास्त्रीय भाषा में सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है, क्योंकि इस प्रकार की समाधि में विषय से सम्बन्ध बना रहता है। इस प्रकार की समाधि में ध्येयवस्तु स्थूल भी हो सकती है और सूक्ष्म भी हो सकती है। उस सम्प्रज्ञात समाधि के, जिसमें विषय से सम्बन्ध बना रहता है, चार क्रम भावी रूप होते हैं—(१) सवितर्क (२) सविचार (३) सानन्द एवं (४) सास्मित। जिस समय ध्येय वस्तु स्थूल होती है और उससे जनित ऐन्द्रिय बोधों (Sensations) का संगठन किया जाता है एवं विभिन्न विधायक तत्त्वों के द्योतक शब्द एवं उनके अर्थों का ज्ञान होता है तो वह सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि होती है जैसे कि कोई भक्त जिस समय निश्चित रूप देवशक्ति जैसे चतुर्भुज विष्णु का ध्यान करता है तो वह शास्त्रीय भाषा के अनुसार सवितर्क समाधिगत होता है। परन्तु जिस समय ध्यान लगाने में न तो ऐन्द्रिय बोधों का संगठन किया जाता है और न शब्द तथा उनके अर्थों का ज्ञान ही होता है तो उसको निर्वितर्क समाधि कहते हैं।

(२) जिस समय ध्यान अन्तःकरण अथवा तन्मात्राओं के समान सूक्ष्म वस्तुओं पर किया जाता है जिसमें देश तथा काल का ज्ञान भी रहता है तो उसको शास्त्रीय भाषा में सविचारसमाधि कहते हैं। परन्तु जिस समय देश और काल का ज्ञान इसमें नहीं होता है तो उसको निर्विचार समाधि कहते हैं।

(३) जिस समय ध्येय वस्तु रजस् एवं तमस् से लेश मात्र मिश्रित हुई प्रधानभूत सत्त्व गुण होती है और आत्मा अप्रधानरूप हो जाती है उस समय जो समाधि होती है उसको शास्त्रीय भाषा में सानन्द समाधि[1] कहते हैं क्योंकि इसमें ध्येय वस्तु आनन्दरूप एवं प्रकाशरूप सत्त्व गुण होती है। (सुखप्रकाश-मयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानत्वात्)। वे व्यक्ति जो दृढ़ रूप से इस समाधि में चिपके रहते हैं उत्कृष्टकोटि की वस्तुओं अर्थात् प्रधान एवं पुरुष का साक्षात्कार नहीं करते। परन्तु वे अपने शरीरों के साथ आत्मा का तादात्म्य नहीं करते और इसलिए उनको विदेह कहा जाता है।

(४) जिस समय ध्येय वस्तु ऐसा सत्त्व गुण होता है जो रजस् और तमस् के मलों से सर्वथा रहित है उस समय आत्मतत्त्व प्रधान हो जाता है और सत्त्व अप्रधान हो जाता है। इस समाधि में केवल सत्तामात्र का ही बोध अवशिष्ट रह जाता है। अतएव शास्त्र की भाषा में इसको सास्मित कहते हैं। वह योगी जो इस समाधि में तुष्टि का अनुभव करता है आत्मा का साक्षात्कार नहीं

[1] यो० सू० (भो० वृ०) २०–१

कर सकता। परन्तु उसकी बुद्धि अपने उत्पत्तिस्थान प्रकृति में लीन हो जाती है। अतएव उसको प्रकृतिलय[1] कहते हैं।

अतएव सम्प्रज्ञात समाधि में किसी भी प्रकार का आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। इसका चरमरूप बुद्धि का अपने मूल तत्त्व में केवल लीन हो जाना ही है। अतएव अपर वैराग्य आत्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं है। यह साधक को केवल सम्प्रज्ञात समाधि तक ही ले जा सकता है।

अतएव शान्तरस के उन प्रतिपादकों का सिद्धान्त ठीक नहीं है जो यह प्रतिपादित करते हैं कि शान्त रस का स्थायीभाव वह निर्वेद है जिसका स्वरूप यह ज्ञान है कि सांसारिक वस्तुयें मानवीय प्रयत्नों के परमलक्ष्य होने के अयोग्य हैं और यह मानते हैं कि आत्मसाक्षात्कार के कारण यह निर्वेद उत्पन्न होता है। क्योंकि अन्ततोगत्वा निर्वेद का स्वरूप क्या है? क्या इसका स्वरूप इस सत्य का स्पष्ट ज्ञान नहीं है कि सांसारिक वस्तुयें मानवीय चेष्टाओं के परम लक्ष्य के योग्य नहीं हैं? यदि यह ठीक है तो इस प्रकार का ज्ञान (वैराग्य) तत्त्वज्ञान का कारण है, तत्त्वज्ञान का परिणाम नहीं है। क्योंकि वह व्यक्ति जो सांसारिक वस्तुओं की ओर से उदासीन हो गया है तत्त्वज्ञान की सिद्धि के लिए साधना कर सकता है। इसके अतिरिक्त अपर वैराग्य केवल प्रकृतिलय का ही कारण है। आत्म-साक्षात्कार का यह साक्षात् कारण किसी भी दशा में नहीं हो सकता है।

पर-वैराग्य

जिस समय एक योगी शास्त्र अथवा अनुमान की सहायता से आत्मतत्त्व के स्वरूप को जानकर सतत रूप से उस पर अपने ध्यान को केन्द्रित करने की चेष्टा करता है तो उसका सत्त्वगुण परिशुद्ध हो जाता है, रजस् एवं तमस् के मलों से सर्वथा रहित हो जाता है, और इसी लिए उसको बुद्धि एवं आत्मा के भेद का बोध हो जाता है। इस प्रकार से आत्मा से जब बुद्धि के भेद का ज्ञान उसको हो जाता है तो वह योगी बुद्धि को त्याग के योग्य समझ कर उससे उदासीन हो जाता है—तभी उसको परवैराग्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के वैराग्य में विषयभूत संसार के साथ साधक का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। चेतना की निर्मलता का यह एक उत्कृष्ट तल मात्र है।

---

[1] यो० सू० (म० प्र०) २४–५

अतएव जो शास्त्रकार यह प्रतिपादित करते हैं कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद (वैराग्य) शान्त रस का स्थायीभाव है और इस सिद्धान्त की पुष्टि में पतंजलि के इस सूत्र को उद्धृत करते हैं कि (तत्परंपुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्) वह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि इस सूत्र में सूत्रकार अपर वैराग्य की बात न कह कर उस पर वैराग्य के विषय में कह रहे हैं जिसका विषयभूत संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो चेतना की निर्मलता का केवल एक उत्कृष्ट तल मात्र है।

न्यायमत के अनुसार निर्वेद एवं तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध

निम्नलिखित दो युक्तियों के आधार पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति से स्वतंत्र होने की अवस्था, अर्थात् निर्वेद, का कारण तत्त्वज्ञान है—यह प्रमाणित करने के लिए गौतम के 'दुःखजन्म' आदि सूत्र का अवलम्ब प्राप्त करने की चेष्टा न्यायसंगत नहीं है[1] :—

(१) इस सूत्र में तत्त्वज्ञान (मिथ्याज्ञानापाय) को वैराग्य (दोषापाय) का कारण प्रतिपादित किया गया है।

(२) वैराग्य निर्वेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अतएव शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद है।—

क्योंकि भरतमुनि के मतानुसार निर्वेद अविच्छिन्न रूप से बहती हुई शोक की धारा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अतएव यह विशिष्टरूप से एक मानसिक दशा है। इसलिए इस रूप में वह उस वैराग्य से सर्वथा भिन्न है जिसमें राग एवं द्वेष के मानसिक विकारों का नाश हो जाता है।

और यदि निर्वेद को वैराग्य शब्द का समानार्थक शब्द स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी निर्वेद को परमोक्ष का कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि यद्यपि यह कहा जा सकता है कि निर्वेद तत्त्वज्ञान के उपरान्त उत्पन्न होता है फिर भी स्वयं गौतममुनि के मतानुसार यह परममोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है। स्वयं सूत्र में ही मोक्ष के अन्य कारणों का उल्लेख किया गया है। अतएव निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव कहना उचित नहीं है। इस प्रसंग में एक अन्य आपत्ति भी है कि प्रतिपक्षी ने 'तत्त्वज्ञान' शब्द

---

[1] अभि० भा० भाग १–३३६

के वेदान्तमत के अनुसार अर्थ को न्यायमत के अनुसार भी उचित मान लिया है—जब कि उपर्युक्त दोनों मतों में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। न्यायमत के अनुसार तत्त्वज्ञान का अर्थ आत्मसाक्षात्कार नहीं है वरन् विभिन्न वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान है। परन्तु यदि प्रतिपक्षी तत्त्वज्ञान का अर्थ वेदान्त मतानुसार स्वीकृत अर्थ अर्थात् आत्मज्ञान ही स्वीकार करता है तो उसका विवाद केवल 'शब्द' सम्बन्धी ही रह जाता है—वह 'शम' शब्द के स्थान पर समानार्थक 'निर्वेद' शब्द के प्रयोग करने का हठ मात्र करता है क्योंकि उसको यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि तत्त्वज्ञान अथवा आत्म-साक्षात्कार के कारण निर्वेद की उत्पत्ति होती है।

शान्त रस के स्थायी भाव के रूप में निर्वेद के विषय में धनंजय का मत

धनंजय निर्वेद को नवाँ स्थायीभाव नहीं मानते हैं। यह ज्ञात होता है कि ऐसा न मानते हुए उन्होंने परतत्त्व के साक्षात्कार को निर्वेद का कारण नहीं माना है। यह ज्ञात होता है कि उन्होंने निर्वेद शब्द का प्रयोग रूढ्यर्थ में ही किया है जिसके अनुसार इस शब्द का अर्थ आत्म–असन्तोष, आत्म–अपमान अथवा आत्म-निन्दा (स्वावमानना) हैं। क्योंकि धनिक अपनी टीका में चिन्ता आदि का इसके व्यभिचारी भावों के रूप में उल्लेख करते हैं। परतत्त्व के साक्षात्कार से उत्पन्न मानसिक दशा में इस प्रकार के व्यभिचारी भावों का होना असंभव है। निर्वेद को स्थायीभाव के रूप में न स्वीकार करने का कारण यह है कि स्थायी भाव की परिभाषा 'निर्वेद' के विषय में लागू नहीं हो सकती है। परिभाषा के अनुसार स्थायी भाव वह मानसिक दशा है जिसका प्रवाह अनुकूल एवं प्रतिकूल मानसिक दशाओं से किसी भी प्रकार से खण्डित नहीं होता है। निर्वेद की मानसिक दशा का प्रवाह चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों से खण्डित हो जाता है। अतएव यह स्थायीभाव नहीं हो सकता है। वे दृढ़ रूप से उस मत का खंडन करते हैं जिसके अनुसार निर्वेद को स्थायी भाव न मानने का कारण यह है कि किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि की ओर ले जाने की शक्ति निर्वेद में नहीं है। वे यह कहते हैं कि यदि हम यह मान लें तो 'हास' आदि भी स्थायी भाव नहीं रह जायेंगे क्योंकि वे भी साक्षात् किसी पुरुषार्थ की सिद्धि की ओर ले जाने में सहायक नहीं होते हैं।

(आ) शान्त रस का स्वीकृत आठ स्थायी भावों में से कोई एक स्थायीभाव

अन्य शास्त्रकार आचार्यों का यह मत है कि शान्त रस का स्थायीभाव स्वीकृत आठ स्थायी भावों में से कोई भी एक स्थायीभाव हो सकता है। यदि इनमें से कोई भी स्थायीभाव श्रृंगार आदि रसों का अनुभव उत्पन्न करने वाले विभावों से भिन्न किसी विभाव से सम्बद्ध प्रदर्शित किया जाता है (जैसे कि परतत्त्व के साक्षात्कार के साधन से संबद्ध, उदाहरणतः आत्मा के मूल स्वरूप के विषय में प्रवचन आदि के सुनने से संबद्ध रति स्थायी भाव) तो उससे एक भिन्न रसानुभव उत्पन्न होता है जिसको शान्त रस कहते हैं। इस प्रकार से अन्य सभी सांसारिक वस्तुओं के प्रति उदासीन रह कर परम आत्मा के प्रति अबाध भक्ति मोक्ष का साधन हो सकती है। अतएव रति को शान्त रस के स्थायीभाव के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। इसी प्रकार से उत्साह आदि स्थायीभावों को भी शान्तरस के स्थायीभाव के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। इस मत के प्रतिपादक यह मानते हैं कि उनके इस सिद्धान्त की पुष्टि गीता के इस श्लोक से होती है—'यश्चात्मरतिरेव स्यात्'। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक यह कहते हैं कि 'इस प्रकार के विभावों को रति आदि के प्रसंगों में प्रदर्शित किया जा सकता है' इस मत का प्रतिपादन स्वयं भरतमुनि करते हैं। उनके मत के अनुसार विभावों के उल्लेख करने के बाद भरतमुनि ने जो 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है उसका सांकेतिक अर्थ यही है।

अभिनवगुप्त निम्नलिखित रूप में इस मत का खण्डन करते हैं:—

इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का अर्थ यह है कि शान्त रस का कोई एक निश्चित स्थायीभाव नहीं है। स्थायीभावों की अनेकता के कारण रसों की भी अनेकता होगी। इन सब स्थायीभावों से उद्भूत परिणामों की एकरूपता उन सभी स्थायीभावों से उत्पन्न रसों की एकरूपता का कारण नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जाय तो अपने परिणामों की एकरूपता के कारण वीर और रौद्र रसों को एकरूप ही मानना पड़ेगा :—

(इ) शान्त रस का स्थायी भाव आठ स्थायीभावों का मिश्रित रूप

इनके अतिरिक्त कुछ शास्त्रकार आचार्य इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि जिस समय पानकरस विधायक विभिन्न सामग्री के मिश्रण की भांति

सभी स्थायी भाव परस्पर मिश्रित हो जाते हैं तो उनका मिश्रितरूप शान्त रस का स्थायी भाव होता है। यह सिद्धान्त भी आधारहीन है, क्योंकि निज स्वरूपों में मूल रूप से परस्पर विरोधी होने के कारण सभी स्थायीभाव एक साथ उद्भूत नहीं हो सकते हैं।

६ शान्त रस के विषय में अभिनवगुप्त से लेश मात्र भिन्न सिद्धान्त

कुछ शास्त्रकार आचार्यों का यह मत है कि शम अर्थात् अन्तःकरण की सभी वृत्तियों का अभाव, शान्तरस का स्थायी भाव है। परन्तु यह सिद्धान्त भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि वृत्तियों के पूर्ण अभाव को उचित रूप में भाव इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका स्वरूप पूर्ण रूप से अभावात्मक होता है। परन्तु यदि इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह कथन हो कि 'तृष्णा असद्भाव' का अर्थ वृत्तियों का पूर्ण अभाव नहीं है वरन् एक ऐसी मानसिक दशा है जो अपने स्वरूप में आसक्ति से विरुद्ध स्वभाव की होती है तो हमारा इस सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है।

शान्तरस के स्थायीभाव शम के विषय में धनंजय का अभिमत

धनंजय यह मानते हैं कि शान्तरस के स्थायीभाव के रूप में 'शम' को काव्य में तो प्रदर्शित किया जा सकता है परन्तु यह निश्चित है कि नाटक में इसको प्रदर्शित नहीं किया जा सकता क्योंकि घटनाओं का प्रदर्शन नाटक का मुख्य ध्येय है। परन्तु इस प्रकार का प्रदर्शन शम के प्रसंग में इस लिए संभव नहीं है क्योंकि इसमें सभी शारीरिक व्यापारों का अभाव होता है।

उनके मतानुसार ऐसा कोई भी नाटक नहीं है जिसमें शम को स्थायी भाव के रूप में प्रदर्शित किया गया हो। जिन शास्त्रकारों का यह मत है कि हर्ष रचित नागानन्द नाटक में शम को स्थायी भाव के रूप में प्रदर्शित किया गया है उनका मत निम्नलिखित युक्तियों के कारण समर्थनीय नहीं है—(१) नागानन्द में मलयवती के प्रति प्रेम एवं विद्याधर चक्रवर्तित्व की प्राप्ति का प्रदर्शन किया गया है—ये घटनाएं शम की विरोधिनी हैं। (२) दृष्टान्त रूप में ऐसा कोई नाटक प्राप्त नहीं है जिसमें वह मूल नायक जिसका अभिनय रंगमंच पर किया जाता है ऐसी किसी एक परिस्थिति में क्रियाशील हो जिसके कारण एक साथ नायक में सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति तथा अनासक्ति के भाव उत्पन्न

होते हुए प्रदर्शित किए गए हों। वे यह मानते हैं कि नागानन्द में स्थायी भाव दयावीरोत्साह है क्योंकि इसी प्रकार के स्थायीभाव के प्रसंग में श्रृङ्गार रसानुभावक मिश्रित सामग्री गौणरूप में प्रदर्शित की जा सकती है एवं प्रभुत्व की प्राप्ति भी इसी प्रकार के ही स्थायीभाव से सुसंगत हो सकती है।

शम की अप्रदर्शनीयता की पुष्टि में एक अन्य युक्ति

धनंजय के मत के अनुसार शान्त रस के स्थायीभाव के रूप में शम को उसकी पराकाष्ठा की दशा में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इस प्रकार की मानसिक दशा केवल उस परममोक्ष में ही संभव होती है जिसमें जीव परमात्मा में लीन हो जाता है। अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्यों का यह मत है कि इस प्रकार की मानसिक दशा का विशेष लक्षण सुख, दुःख, राग, द्वेष एवं चिन्ता और इच्छा के भावों से रहित होना है। शब्दों में प्रकटनीय सभी पदार्थों के प्रभावों का अभाव इस मानसिक दशा का विशेष स्वरूप है। अतएव किसी भी प्रकार का शाब्दिक संगठन इसको प्रकट नहीं कर सकता। और यदि इस प्रकार की मानसिक दशा को किसी भी प्रकार से प्रकट भी कर दिया जाय तो किसी भी प्रकार का रसास्वादन इससे सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जिसमें शान्त रस का अनुभव करने के लिए आवश्यक सहृदयता हो।

परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि शान्त दशा तथा उसकी प्राप्ति के साधन मुदिता आदि एकात्मरूप होते हैं तो यह मानना होगा कि शान्त रस के आस्वादन में जो मानसिक दशा होती है वह उस मानसिक दशा से भिन्न नहीं होती जो श्रृङ्गार आदि प्रथम चार मूल रसों के अनुभव के समय होती है। अतएव प्रथम चार रसों के आस्वादन में शान्त रस के अनुभव का स्वरूप वर्तमान होने के कारण इसके विषय में किसी पृथक् कथन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

शान्तरस विषयक अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त मतों का खण्डन किया है।

शम के अन्य स्वरूप पर आधारित शान्त रस के विषय में सिद्धान्त

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे अन्य शास्त्रकार आचार्य हैं जो भरतमुनि के 'स्वं स्वं निमित्तम्' आदि (६अ० श्लो० १७७) के आधार पर यह प्रति-

पादित करते हैं कि शान्त रस का स्वरूप सभी रसों के आस्वादन में समान रूप से वर्तमान रहता है। क्योंकि अन्य सभी रस वृत्ति रहित मानसिक दशाओं से उद्भूत होते हैं। उनके उद्भव के विशेष कारण होते हैं, जैसे कि आकर्षक परिस्थितियों में सुन्दरी रमणी का होना शृङ्गार रस के आस्वादन का कारण होता है। अतएव उनके मत के अनुसार शान्त रस का स्थायी भाव वह मानसिक दशा है जो बाह्य कारणों से उत्पन्न होने वाले प्रभावों के उद्भव के पूर्व होती है।

अभिनवगुप्त यह कहते हैं कि यह सिद्धान्त उनके मत से बहुत भिन्न नहीं है। केवल लेश मात्र भिन्न है। भेद केवल यह है कि प्रतिपक्षी के सिद्धान्त के अनुसार सभी प्रकार की मानसिक वृत्तियों के पूर्व जो मन की वृत्तिशून्य दशा है वही शान्त रस का स्थायीभाव है, अभिनवगुप्त के मतानुसार मन की यह वृत्ति-शून्य दशा वह है जो सभी प्रकार के मानसिक प्रभावों के नष्ट हो जाने के बाद उत्पन्न होती है। अभिनवगुप्त का सिद्धान्त युक्तिसंगत है क्योंकि उसकी पुष्टि पतंजलि अपने इस कथन से स्वयं करते हैं 'वीतरागजन्मादर्शनात्।'

शान्त रस के विषय में अभिनवगुप्त का सिद्धान्त

शान्त मन अथवा बुद्धि की एक दशा है। यह दशा रजस् एवं तमस् गुण के लेशमात्र से भी सर्वथा रहित निर्मल सत्त्व की धारा के निर्बाध प्रवाह के रूप में होती है। निम्नलिखित क्रमभावनी दशाओं को पार कर यह दशा प्राप्त होती है:—

१. यह निश्चित धारणा कि सांसारिक विषय मनुष्य की क्रिया के उद्देश्य के योग्य नहीं हैं।

२. सांसारिक विषयों की ओर से उदासीनता।

३. स्थूल भूतों एवं स्थूल इन्द्रियों पर ध्यान को केन्द्रित करना।

४. सूक्ष्म भूतों पर ध्यान को केन्द्रित करना।

५. ऐसे प्रधानीभूत सत्त्व (गुण) पर ध्यान जमाना जिसमें रजस् और तमस् (गुण) से सम्बन्ध लेश मात्र है।

६. ऐसे प्रधानीभूत आत्म तत्त्व पर ध्यान को केन्द्रित करना जिसकी पृष्ठ-भूमि में शुद्ध सत्त्व विद्यमान है।

७. सत्त्व अथवा बुद्धि एवं पुरुष में भेदज्ञान।

८. बुद्धि की निराकरणीयता का निश्चय।

९. शुद्ध बुद्धि अर्थात् सत्त्व का अपने मूल रूप में लय होना अर्थात् इसका केवल संस्कार रूप में ही अवशिष्ट रह जाना।

१०. शुद्ध बुद्धि अर्थात् सत्त्व के संस्कार की अपेक्षा विषयगत ज्ञान के संस्कारों की अप्रधानता।

११. पूर्णतया वृत्तिहीन दशा की प्राप्ति (असंप्रज्ञात समाधि)।

इस प्रकार से जब कोई योगी असंप्रज्ञात समाधि में होता है तो वह शान्त होता है क्योंकि उसकी बुद्धि अथवा उसका सत्त्व—जो इस मानसिक अवस्था में अपने मूल कारण में लीन हो जाने से केवल संस्कार रूप में ही शेष रह जाता है--निरन्तर निर्बाध गति से शुद्ध सत्त्व रूप में प्रवाहित होता रहता है। रजस् एवं तमस् के मलों से उसकी बुद्धि सर्वथा मुक्त होती है। किसी भी प्रकार के बाह्य विषय भूत वस्तुओं के प्रभाव भी उसमें वर्तमान नहीं रहते हैं यहां तक कि शुद्ध बुद्धि अर्थात् सत्त्व एवं आत्मतत्त्व के बीच भेदज्ञान से उत्पन्न प्रभावों से भी वह मुक्त होती है। निरन्तर अभ्यास के परिणामस्वरूप में प्राप्त असंप्रज्ञात समाधि[1] के प्रभाव की गम्भीरता पर इस दशा की सतत रूपता अवलम्बित है। यह आत्मसाक्षात्कार की वह दशा है जो कैवल्य अथवा पूर्ण आत्मसाक्षात्कार की निकटतम पूर्व दशा है।

व्यावहारिक जीवन में शान्त

संस्कार रूप में शुद्ध सत्त्व की प्रच्छन्नधारा का अविराम प्रवाह (शान्त) प्रारम्भ में उसी समय तक सम्भव है जब तक असंप्रज्ञात समाधि रहती है। परन्तु जिस समय एक योगी दृढ़ता से इसकी पुनरावृत्तियां करता है तब बुद्धि-सत्त्व के प्रवाह पर इसका इतना अधिक तीव्र प्रभाव पड़ता है कि समाधि के टूट जाने पर भी और योगी के व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करने पर भी इसका प्रवाह बना रहता है। परन्तु विषयगत अनुभवों के संस्कारों की प्रबलता के कारण यह प्रवाह कभी-कभी[2] खण्डित हो जाता है। उस समय वह योगी व्यावहारिक जीवन में एक सामान्य व्यक्ति की भांति आचरण करता है।

---

[1] यो० सू० (भा० वृ०) १२३

[2] यो० सू० (भा० वृ०) २०५

शान्त रस का नायक

अभिनवगुप्त के मतानुसार साधारणीभाव के तल पर रस का जो अनुभव होता है वह पूर्ण रूप से परिच्छेदरहित आत्मा का अनुभव है। परन्तु नायक के साथ दर्शक का तादात्म्य हो जाता है। इसी कारण उद्बुद्ध स्थायीभाव से दर्शक का अन्तः-करण इस दशा में प्रभावित रहता है। जैसा कि हम गत उपप्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं शान्त बुद्धि की एक लोकोत्तर दशा है। परन्तु नाटक का मुख्य उद्देश्य 'कार्य' का प्रदर्शन है। अतएव अपने स्वरूप में सभी मानसिक एवं शारीरिक कार्यों से रहित होने के कारण शान्त को नाटकीय प्रदर्शन के रूप में दर्शित नहीं किया जा सकता है। अतएव कुछ आचार्यों ने शान्त को रस का नवां भेद स्वीकार नहीं किया है।

अभिनवगुप्त के शान्तरस के प्रतिपादन का आधार सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, गम्भीर अध्ययन एवं यौगिक क्रियाओं का अनुभव है। उनके मत के अनुसार शान्त रस को प्रधान रूप में कभी भी प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। शृङ्गार अथवा वीर रस पर आश्रित रूप में इसको सदैव प्रदर्शित करना चाहिए। क्योंकि भरतमुनि का शास्त्रादेश यह है कि नाटक में इस प्रकार के कार्य को प्रदर्शित करना चाहिए जो सुख और सम्पत्ति की ओर ले जाता हो। क्योंकि ऐसे ही व्यक्ति के साथ सभी वर्गों के व्यक्तियों का तादात्म्य सुगम है जो उपर्युक्त प्रकार के कार्य में लगा रहता है। परन्तु यदि ऐसा है तो प्रश्न यह उठता है कि 'शान्त रस को प्रदर्शित करने का स्थान कहाँ है ?' अभिनवगुप्त इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि जो नाटककार शान्त रस को प्रदर्शित करना चाहता है उसको अपने नाटक के नायक को निश्चित करने में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। नाटक के नायक को ऐसा योगी होना चाहिए जिसने असंप्रज्ञात समाधि का अभ्यास किया हो और उस दशा पर पहुँच गया हो जो कैवल्य अथवा पूर्ण आत्मसाक्षात्कार की निकटतम पूर्वदशा है। क्योंकि इस प्रकार के नायक में स्वाभाविक रूप से समाधि से जागने पर भी शुद्ध सत्त्व (प्रशान्तवाहिता) की धारा प्रवाहित होती रहेगी। नाटककार को इस बात में भी सावधान रहना चाहिए कि नायक के जीवन का केवल वही अंश प्रदर्शित करने के लिए वह निश्चित करे जिसमें विषयगत अनुभव के संस्कारों के पुनर्जागरण से संस्कार रूप शुद्ध सत्त्व की धारा का प्रवाह कुछ समय के लिए रुक गया हो अर्थात् जिस समय वह किसी सांसारिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक व्यावहारिक व्यक्ति के जीवन को व्यतीत कर रहा हो। इस प्रकार के प्रदर्शन में शान्तरस के साथ

वीर एवं श्रृङ्गार रस का वही सम्बन्ध होता है जो श्रृङ्गार के साथ हास्य का होता है।

शान्तरस के स्थायी भाव के रूप में आत्मा

परब्रह्म का साक्षात्कार ही परमोक्ष का एक मात्र साधन है। अतएव[1] जब परमोक्ष को नायक के जीवन के उद्देश्य के रूप में प्रदर्शित करना हो तो परब्रह्म के साक्षात्कार को स्थायी भाव के रूप में अवश्य प्रदर्शित करना चाहिए। परब्रह्म का साक्षात्कार आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आत्मसाक्षात्कार में आत्मा एक भिन्न विषय के रूप में नहीं भात होती जैसा कि इन्द्रियजन्य बोध के तल पर विषय के साक्षात्कार के समय विषय भिन्नतया भात होता है। यह भगवद्गीता अध्याय २ श्लोक १५ 'मात्रास्पर्शास्तु' आदि से स्पष्ट होता है। अतएव उनके मत के अनुसार तत्त्वज्ञान शब्द का अर्थ शुद्ध ज्ञान एवं शुद्ध आनन्द स्वरूप एवं सभी विकल्पों से मुक्त आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ऐसी आत्मा शान्तरस का स्थायी है।

निम्नलिखित रूप में अभिनवगुप्त ने इस संभावित आपत्ति का उत्तर दिया है कि उपर्युक्त सिद्धान्त भरतमुनि के मत के प्रतिकूल है क्योंकि वे स्थायी भावों की गणना में आत्मा का उल्लेख नहीं करते हैं :—

रति आदि स्थायी भावों के समान इस (आत्मरूप) स्थायी भाव का उल्लेख नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनका स्थायित्व व्यभिचारी भावों के साथ तुलना पर आधारित होने के कारण सापेक्ष है। वे व्यभिचारी भावों की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी होते हैं, क्योंकि आत्मा में उनकी सत्ता तब तक बनी रहती है जब तक उनको उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ रहती हैं। चित्र का जो सम्बन्ध फलक से होता है वही सम्बन्ध आत्मा का इन स्थायीभावों से होता है। इस रूप में आत्मा सबसे अधिक स्थायी है। यह रति आदि सभी अन्य स्थायी भावों को व्यभिचारी भावों की दशा में ला सकती है। इसका स्थायित्व तुलनाश्रित न होकर नैसर्गिक एवं यथार्थ है। अतएव स्थायी भावों की सूची में इसका उल्लेख करना अनावश्यक है। क्योंकि कोई भी किसी उस वस्तु के अंशों की सूची में उस जाति अथवा सामान्य का उल्लेख नहीं करता जिस जाति के अन्तर्गत वह वस्तु होती है।

---

[1] अभि० भा० भाग १–३३७

उपर्युक्त युक्ति इस आपत्ति का भी उत्तर देती है कि शान्त रस का एक पृथक् स्थायी भाव मानने से भावों की स्वीकृत उन्चास संख्या में वृद्धि हो जायेगी।

तत्त्व-ज्ञान (शम) के पृथक् उल्लेख का कारण

'शान्त एवं शम का उल्लेख पृथक् रूप में क्यों किया गया है?' इस प्रश्न का उत्तर अभिनवगुप्त यह देते हैं कि इनके पृथक् उल्लेख का कारण यह है कि इसका (शम का) रसात्मक अनुभव रति आदि के अनुभव से पृथक् रूप में होता है। निम्नलिखित एक और कारण से भी इसका उल्लेख पृथक् रूप में किया गया है:—जिस प्रकार से सांसारिक अनुभव के तल पर अपने शुद्धतम रूप में रति आदि का अनुभव होता है उसी प्रकार से शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। यहाँ तक कि समाधि से जाग्रत होने के बाद आत्मा का वह निर्विकल्प अनुभव भी जो कि एक योगी को होता है सर्वथा वैषयिक प्रभावों से रहित नहीं होता है। परन्तु इस प्रश्न की यहां पर विवेचना करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि शुद्ध रूप में आत्मा का अनुभव सामान्य व्यावहारिक तल पर हो सकता है तो भी इससे हमारा मत खण्डित नहीं होता है। स्थायी भावों के उल्लेख में भरतमुनि[1] ने उन सब भावों का उल्लेख नहीं किया है जो कि स्थायी माने जा सकते हैं क्योंकि रसों के स्वीकृत प्रकारों के उद्भव में उन सबकी आवश्यकता नहीं पड़ती। स्थायी भावों का पृथक् उल्लेख उन्होंने केवल इसी उद्देश्य से किया है कि कहीं उनके विषय में यह मिथ्याज्ञान न उत्पन्न हो जाय कि व्यभिचारी भावों की परिभाषा से ही उनकी परिभाषा की जा सकती है। परन्तु शम के विषय में ऐसे किसी मिथ्याज्ञान के उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नहीं है इसलिए सामान्य स्थायी भावों की सूची में इसका उल्लेख नहीं किया गया है। यह सिद्धान्त भरतमुनि के उस ग्रन्थ का समर्थन करता है जिसमें भावों की संख्या उन्चास निश्चित की गई है।

तत्त्वज्ञान के स्थान पर शम शब्द के प्रयोग का कारण

'शान्त रस के स्थायी भाव के रूप में 'तत्त्वज्ञान' शब्द के स्थान पर भरतमुनि ने 'शम' शब्द का प्रयोग क्यों किया है?' इस[2] प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनव-

---

[1] अभि० भा० भाग १—३३७

[2] अभि० भा० भाग १—३३८

गुप्त यह कहते हैं कि इसका कारण यह नहीं है कि शुद्ध आत्मा को अनित्य मानने की सम्भावना है और न इसका कारण यह है कि एक भिन्न रसानुभूति को जाग्रत करने में यह असमर्थ है, तथा इसका कारण यह भी नहीं है कि स्थायी के रूप में यह अप्रदर्शनीय है, वरन् इसका कारण यह है कि शम कोई स्पष्ट रूप से पृथक् भाव न होकर स्वयं आत्मा मात्र है।

परन्तु निर्वेद शब्द की तो दूसरी ही बात है। शान्त रस के सम्बन्ध में जिस निर्वेद की बात कुछ व्याख्याकार करते हैं उसका स्वरूप उस निर्वेद के समान नहीं होता जिसकी उत्पत्ति निर्धनता आदि स्पष्ट परिस्थितियों से होती है। किसी शब्द के प्रधानार्थ के स्वरूप के समान जो वस्तु है उसको भिन्न कारण से उत्पन्न होने पर भी उसी शब्द से व्यक्त करना चाहिए जो तद्विषयक प्रधानार्थ को प्रकट करता है।

उदाहरण के रूप में रति आदि जो इन शब्दों के प्रधानार्थ के साथ स्वरूप में समानता रखते हैं, विभिन्न कारणों से उत्पन्न होने पर भी उन्हीं शब्दों से प्रकट किये जाते हैं। अतएव क्योंकि निर्वेद शब्द का प्रयोग उसके प्रधानार्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ में किया जाना अभीप्सित है इस कारण से शान्त रस के सम्बन्ध में स्थायीभाव को प्रकट करने के लिए यह कोई उपयुक्त शब्द नहीं है। इसी कारण से भरतमुनि ने तत्त्वज्ञान के स्थान पर इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

आत्मा के मूल स्वरूप को प्रकट करने के कारण तत्त्वज्ञान और शमका अर्थ स्वयं आत्मा ही है। 'शम ही आत्मा का मूल स्वरूप है'—यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि वह व्यक्ति जिसने अखण्ड समाधि से आत्मा के पूर्ण शुद्ध रूप का साक्षात्कार किया है समाधि के खण्डित होने पर भी एवं उस समय चित्तवृत्तियों के रूप में मालिन्य के उत्पन्न होने पर भी शम का अनुभव करता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि पतंजलि के इस कथन से होती है:—'तस्य प्रशान्त-वाहिता संस्कारात्। (३–१०)

शान्त रस के अन्य विधायक तत्त्व

स्थायी भाव को छोड़ कर शान्त रस के अन्य विधायक तत्त्वों के विषय में अभिनवगुप्त का यह मत है कि चाहे इन्द्रियजन्य अनुभव से उत्पन्न हों अथवा अन्य किसी अनुभव से उत्पन्न हों सभी अस्थायी मानसिक दशाओं को शान्त रस के व्यभिचारी भावों के रूप में प्रकट किया जा सकता है। कथित मानसिक दशाओं के सभी अनुभावों को यम एवं नियम के साथ में इस रसके अनुभावों के

रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त उन सभी अनुभावों को प्रदर्शित किया जा सकता है जिनका वर्णन स्वभावाभिनय के नाम से उन तीन अध्यायों में किया गया है जिनमें उपांगाभिनयों के आंगिकाभिनयों का उल्लेख है। इस प्रकार के अभिनयों को 'स्वभावाभिनय' इस कारण से कहा जाता है क्योंकि केवल शान्त रस ही उनका क्षेत्र है। परमेश्वर का अनुग्रह आदि उसके विभाव हैं।

शान्त रस के सम्बन्ध में अन्य स्थायी भाव

शान्त रस के प्रसंग में रति आदि का अनुभव अपनी नष्टप्राय दशा में होता है। परन्तु उनका अनुभव कभी भी इतने प्रधान रूप में नहीं होता जितना कि उत्कण्ठा का अनुभव विप्रलम्भ अथवा सम्भोग श्रृङ्गार के प्रसंग में होता है। क्योंकि जिस प्रकार से उस वीभत्स रस के अनुभव में जिसमें आसक्ति की सर्वथा विरोधिनी मानसिक दशा वर्तमान होती है उत्कण्ठा आदि का अनुभव कभी नहीं होता उसी प्रकार से शम में उस रति अथवा श्रृङ्गार का अनुभव कभी नहीं होता जो विकासोन्मुख है।

परन्तु शान्त और उत्साह में घनिष्ठतर सम्बन्ध है। दूसरों के कल्याण की कामना से उत्पन्न यह उत्साह उद्योगरूप होने के कारण दया का पर्यायवाची है। क्योंकि वह व्यक्ति जो प्राप्तव्य की प्राप्ति कर चुका है स्वभावतः दूसरों के ही हित के लिए काम करता है। इसी कारण से कुछ व्यक्ति इसको दयावीर और कुछ धर्मवीर कहते हैं।

नागानन्द के रस के विषय में विवाद

इस प्रसंग में यह आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि उत्साह की उत्पत्ति अहंकारपूर्ण अन्तःकरण में होती है परन्तु शान्त में यह अन्तःकरण अहंकार से सर्वथा रहित होता है। क्योंकि सर्वथा विरोधी भाव भी व्यभिचारी भाव के रूप में प्रयुक्त होने के योग्य होते हैं। जैसे कि रति के प्रसंग में निर्वेद व्यभिचारी भाव के रूप में प्रयुक्त हो सकता है। वास्तव में नागानन्द नाटक में उत्साह के साथ-साथ शान्त को प्रकट किया गया है जैसे कि 'शय्याशाद्वल' आदि श्लोक में। ऐसी कोई भी दशा नहीं है जिसमें उत्साह का सर्वथा अभाव हो। क्योंकि इच्छारहित एवं निश्चेष्ट व्यक्ति पत्थर के समान ही होता है। और क्योंकि उन व्यक्तियों को जिन्होंने परमशान्ति प्राप्त कर ली है एवं परतत्त्व का साक्षात्कार

कर लिया है अपने लिए करने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता अतएव अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का त्याग शम से असंगत नहीं है।

जहाँ तक इस उपदेश का सम्बन्ध है—'अपने शरीर की रक्षा करो', इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि इस उपदेश में केवल उन्हीं शरीरों को रक्षित करने का उपदेश दिया गया है जिनके लिए किसी उद्देश्य की पूर्त्ति करना बाकी है। मुमुक्षु व्यक्तियों को अपने शरीर की रक्षा करने का कोई प्रयोजन नहीं है। किसी न किसी भांति उनको अपने शरीर का त्याग करना है। क्योंकि मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए यह धर्मोपदेश है कि वे अग्नि, जल, अथवा गढे में गिर कर अपने शरीर को नष्ट कर दें। अतएव उनके लिए सर्वोत्तम कर्त्तव्य यह है कि वह दूसरों के कल्याण के लिए अपने शरीर का त्याग करें।

इस आपत्ति से कि जीमूतवाहन आदि में पूर्ण आत्मसंयम नहीं है हमारा मत खण्डित नहीं होता। क्योंकि सिद्ध हम यह करना चाहते हैं कि उन्होंने परतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया था। और यह साक्षात्कार उन्होंने कर ही लिया था—क्योंकि वे व्यक्ति जो अपना तादात्म्य अपने शरीर के साथ कर लेते हैं और उसको सभी वस्तुओं से अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं कभी भी धार्मिक कर्तव्य के रूप में दूसरों के लिए अपने शरीर का बलिदान नहीं कर सकते हैं।

युद्धक्षेत्र में शरीर-त्याग को पूर्ण रूप से स्वार्थशून्य नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शत्रु को पराजित करने के उद्देश्य की प्रेरणा से योद्धा ऐसा त्याग करता है। उसी प्रकार से एक पर्वत के शिखर से कूद कर अपने शरीर को नष्ट करने में उस शरीर से अत्यन्त श्रेष्ठ शरीर को प्राप्त करने की इच्छा प्रधान रूप से रहती है।

(अभि० भा० भाग १-३३९)

अतएव दूसरों को उपदेश देने से लेकर अन्य लोगों के लिए शरीरत्याग करने तक के रूपों में जो पर कल्याण के लिए सभी स्वार्थहीन प्रयास हैं उनकी शम के साथ कोई असंगति नहीं है। अतएव जीमूतवाहन आदि आत्मसाक्षात्कार करने वाले व्यक्ति थे। श्रुति एवं स्मृति दोनों का मत यह है कि इस प्रकार के व्यक्ति किसी भी आश्रम में मोक्षलाभ कर सकते हैं। परन्तु बोधिसत्व के समान आत्मसाक्षात्कार किए हुए व्यक्तियों के ऐसे दृष्टान्त प्राप्त होते हैं जिनने दूसरे व्यक्तियों के कल्याण करने की और उससे धार्मिक पुण्य प्राप्त करने की कामना के कारण तदनुकूल शरीर प्राप्त किये।

यह आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि यदि नागानन्द नाटक में भी प्रधान

रूप से वीररस का प्रदर्शन किया गया है तो शान्त उस नाटक का रस नहीं रह जाता। क्योंकि उस दशा में भी किसी स्थायी भाव से रसानुभूति उत्पन्न हो सकती है जब कि उचित रूप से उसको अप्रधान रूप से प्रकट किया गया हो, जैसे कि राम-नाटक में रामकृत अपने पिता की आज्ञापालन के प्रदर्शन को देख कर जो रसास्वादन उत्पन्न होता है वह वीररस का अङ्ग होता है अथवा वीररस की अपेक्षा अप्रधान होता है। इसलिए नागानन्द नाटक में शान्त को अप्रधान रूप में प्रकट किया गया है क्योंकि नाटक का नायक जिन प्रधान लक्ष्यों को प्राप्त करता है वह धर्म, अर्थ एवं काम हैं। इसी लक्ष्य को ही ध्यान में रख कर भरतमुनि ने नाटक की 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैः' यह परिभाषा करते हुए यह कहा है कि नाटक में समृद्धि तथा विलास को प्रधान रूप से मानवीय जीवन के दो लक्ष्यों, अर्थात् अर्थ और काम में से एक की सिद्धि की ओर ले जाते हुए प्रदर्शित करना चाहिए जिससे सभी लोग उसके नायक के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकें। यह इस बात को भी साफ कर देता है कि भरतमुनि ने क्यों शान्त रस में किसी शारीरिक अभिनय के प्रदर्शन का आदेश नहीं दिया है। इसलिए यह कथन ठीक नहीं है कि क्योंकि शान्त रस के जात्यंगकों का उल्लेख नहीं किया गया है इसलिए शान्त रस का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार से प्रमाणित यह हुआ कि नागानन्द में दया स्वरूपी उत्साह मुख्य स्थायी भाव है।

'शम के प्रसंग में अवसर के अनुकूल व्यभिचारी भाव आ सकते हैं' इस मत की पुष्टि पतंजलि के 'तच्छिद्रेषु' इत्यादि कथन से होती है। इस प्रकार से इस मत का खण्डन हो जाता है कि 'कार्यशून्य होने के कारण शम के अनुभाव असंभव हैं।'

यह सन्देह रहित है कि अपनी पराकाष्ठा की दशा में शम को प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है—क्योंकि उस दशा में अन्तःकरण सभी प्रकार के प्रभावों से शून्य होता है। परन्तु रति एवं शोक आदि के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

इसमें कोई संशय नहीं है कि शान्त रस के नायक के साथ वे ही दर्शक अपना तादात्म्य कर सकते हैं जिनके अन्तःकरण में तत्त्वज्ञान के संस्कार होते हैं। इस मत की पुष्टि भरतमुनि के इस कथन से होती है 'मोक्षे चापि विरागिणः'।

यह प्रश्न निराधार है कि 'शान्त रस के प्रदर्शन से वीर आदि रसों का अनुभव कैसे प्राप्त होता है ?' क्योंकि जब कभी भी शम को प्रदर्शित किया जाता

है तब उसके साथ साथ पुरुषार्थों में से किसी एक की प्राप्ति की ओर ले जाने वाले श्रृङ्गार अथवा वीर रस को आवश्यक रूप से प्रदर्शित किया जाता है। अतएव श्रृङ्गार आदि का रसानुभव शान्त रस के अनुभव पर निर्भर होता है। उस प्रहसन में भी, जिसमें हास्य का प्रदर्शन प्रधान रूप में किया गया है, हास्य का अनुभव उस रस पर निर्भर होता है जो उसके साथ प्रदर्शित किया जाता है।

इस प्रकार से सभी तरह से शान्त रस का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

पाण्डुलिपि का प्रमाण

'शान्त रस नवां रस है' इस सिद्धान्त की पुष्टि उन प्राचीन पाण्डुलिपियों से होती है जिनमें 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' के उपरान्त शान्त रस की परिभाषा 'शान्तोनाम शमस्थायिभावात्मकः' आदि के रूप में लिखी मिलती है। प्रत्येक रस का उत्कृष्ट रूप में अनुभव बहुत कुछ शान्त रस के अनुभव के समान होता है। क्योंकि प्रत्येक रस का अनुभव अपरिच्छिन्न आत्मा का ही अनुभव मात्र है—और कुछ नहीं है। तथा शान्त रस भी इसी प्रकार के आत्मानुभव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन्द्रियजन्य सामान्य बोध के विषय कभी भी रसानुभव में विषय रूप में प्रतीत नहीं हो सकते क्योंकि रसानुभव प्रधान रूप से उस आत्मा का अनुभव है जो सभी प्रकार के अवच्छेदकों से रहित है। इस निरवच्छिन्नता का कारण विषयोत्पन्न प्रभावों से रहित होना ही है। साधारणीभाव के तल पर शान्त एवं अन्य रसों के अनुभवों में अन्तर केवल इतना है कि अन्य रसानुभवों में आत्मा रति आदि के भावों से प्रभावित होती है। क्योंकि सभी रसों में शान्त रस का अनुभव वर्तमान रहता है इसलिए भरत मुनि ने इसका उल्लेख सर्वप्रथम किया है।

शान्त के रसानुभव का स्वरूप

जिस प्रकार से[1] वह सफेद धागा जिसमें विभिन्न प्रकार की मणियाँ शिथिल एवं विरल रूप में पिरोई गई हैं मणियों के भीतर चमकता है उसी प्रकार से शुद्ध आत्मा उन रति तथा उत्साह के भावों के भीतर चमकती है जो उस आत्मा को प्रभावित करते हैं। शान्त का रसानुभव उस आत्मा का अनुभव है जो विषय संबंधी आकांक्षाओं से उत्पन्न सभी प्रकार के दुःखद

[1] अभि० भा० भाग १–३४१

अनुभवों से शून्य होती है। अतएव वह ब्रह्म के साथ आनन्दमय तादात्म्य की दशा है। पूर्ण तत्त्वज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार की ओर बढ़ते हुए जिन क्रमभाविनी दशाओं को पार करना होता है उनमें से किसी एक दशा में वर्तमान आत्मा का अनुभव शान्त रस का अनुभव होता है।

आत्मा की इस प्रकार की दशा को जब रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है अथवा काव्य में वर्णित किया जाता है और इसलिए वह दशा साधारणीभूत हो जाती है तब उससे एक ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न होती है जिसमें लोकोत्तर आनन्द का अनुभव होता है।

रसों का दो वर्गों में विभाजन

शृङ्गार एवं करुण एक कोटि के रस हैं। हास्य तथा अन्य रस दूसरी कोटि के हैं। इस वर्गीकरण का आधार सहृदय का सामान्य रूप में परिस्थिति के साथ तथा विशिष्टरूप में नायक के साथ सम्बन्ध में भेद है। क्योंकि पारिवारिक जीवन में रति और शोक के विषय ऐसे होते हैं जो परिवार के बाहर के व्यक्तियों के लिए सामान्य रूप से उन भावों के विषय[1] नहीं हो सकते। परिवार के लोगों में भी ये भाव विभिन्न रूप इसलिए होते हैं क्योंकि एक विशेष व्यक्ति का एक विशेष वस्तु अथवा व्यक्ति के साथ एक विशिष्ट सम्बन्ध ही होता है। उदाहरण के रूप में सीता केवल राम के ही रतिभाव का विषय हो सकती हैं—परिवार के अन्दर अथवा बाहर किसी भी व्यक्ति के साथ सीता का वह सम्बन्ध नहीं हो सकता जो राम के साथ है। इसी प्रकार से शोक को उत्पन्न करने वाली वस्तु समान मात्रा में हर व्यक्ति के अन्तःकरण में शोक को उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि शोक की मात्रा का आधार विषय के साथ विशेष व्यक्तिगत संबंध है। अन्य अवशिष्ट भावों का स्वरूप इससे भिन्न है। हास, भय, क्रोध, जुगुप्सा, उत्साह एवं विस्मय के भावों को उत्पन्न करने वाले विषयों का स्वरूप इस प्रकार का होता है कि बिना किसी पूर्व विशिष्ट संबंध के वे उन भावों को सामान्य रूप से अनेक व्यक्तियों में उत्पन्न कर सकते हैं। निश्चय ही बिना आवश्यक मानसिक झुकाव के अस्तित्व के ये भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। उदाहरणतः एक हास्यजनक विषय जब हास्य को उत्पन्न करता है तो यह आवश्यक नहीं होता कि दर्शक के साथ उसका कोई विशिष्ट सम्बन्ध हो। यही

[1] अभि० भा० १-३१३

कारण है कि यह विषय अनेक व्यक्तियों में आवश्यक मन के झुकाव के होने पर हास्य को उत्पन्न कर सकता है।

अतएव नाट्य-कला में समुचित विभावों एवं नायक का कलात्मक प्रदर्शन चाहे जितना यथार्थमूलक हो, जब तक नायक के साथ दर्शक का पूर्ण तादात्म्य नहीं होगा, सहृदय में रति तथा शोक के भावों का रसानुभव नहीं हो सकता। अतएव यह स्वीकार किया गया है कि रति अथवा शोक के भावों का वह अनुभव जो रंगमंच पर इन भावों के अभिनय को देखने पर दर्शक के अन्तःकरण में उत्पन्न होता है, सामान्य इन्द्रियजन्य बोध के तल पर होनेवाले अनुभव से कुछ अंशों में भिन्न होता है। स्वयं भरतमुनि ने इस भेद की ओर अपने निम्नलिखित कथन में संकेत किया है—

रति के स्थायीभाव से श्रृङ्गार की उत्पत्ति होती है—(श्रृङ्गारो नाम रति-स्थायिभावप्रभवः) एवं करुण रस की उत्पत्ति शोक से होती है (करूणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः)

स्वयं भरतमुनि इस प्रकार का वर्गीकरण करना चाहते थे, यह इस बात से स्पष्ट होती है कि उन्होंने उन अन्य रसों की परिभाषा लिखने में भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है जिनमें भाव की प्रारम्भिक रसानुभूति मूल रूप से सामान्य इन्द्रियजन्य अनुभव के तल पर होने वाली अनुभूति के सदृश होती है। दृष्टान्त के रूप में वे हास्य रस की परिभाषा में निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग करते हैं—'हास्योनाम हासस्थायिभावात्मकः'—हास्यरस मूल रूप में अपने स्थायी-भाव हास के साथ एकात्म रूप है। श्रृङ्गार एवं करूण रस की परिभाषा में तो उन्होंने 'प्रभवः' अर्थात् 'से उत्पन्न' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु अन्य ६ रसों की परिभाषा में उन्होंने 'आत्मकः' अर्थात् 'मूल रूप से एकात्म' शब्द का प्रयोग किया है जो 'प्रभव' शब्द से भिन्न है। जैसे रौद्र रस की परिभाषा में वे यह कहते हैं कि 'रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मकः'।

ऐसा ज्ञात होता है कि 'रति एवं शोक की रसात्मक अनुभूति इन भावों की उस अनुभूति से अपने प्रारम्भिक रूप में भिन्न होती है जो सामान्य इन्द्रियजन्य बोध के तल पर होती है' इस मत का आधार यह है कि तादात्म्य चाहे जितना पूर्ण हो परन्तु उसमें यह कदापि नहीं होता कि तादात्म्य करने वाले व्यक्ति एवं उस व्यक्ति में कोई भेद न रह जाये जिसके साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। तादात्म्य करने वाले व्यक्ति के अनुभवों एवं शक्तियों का जो भेद उस व्यक्ति के अनुभवों एवं शक्तियों से है

जिसके साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है वह तर्काश्रित है। इसी भेद के आधार पर वेदान्त मत के प्रतिपादक यह प्रतिपादित करते हैं कि योगी यद्यपि ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है फिर भी वह जगत की सृष्टि करने, उसका पालन करने, एवं उसको नष्ट करने के अतिरिक्त अन्य सभी लोकोत्तर शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है—'जगद्व्यापारवर्जम् आदि'—४, ४, ७, १७।

मूल एवं आश्रित रस

भरतमुनि चार रसों को मूल इस कारण से मानते हैं क्योंकि ये ही चार रस अन्य आश्रित रसों के कारण हैं। प्रत्येक आश्रित रस का कारण एक मूल रस होता है। इस प्रकार से शृङ्गार, रौद्र, वीर एवं वीभत्स से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रसों की उत्पत्ति होती है। परन्तु इस कारणता के दो विभिन्न रूप हैं। हास्य रस की उत्पत्ति 'अनुकृति' अर्थात् अनुचित विभाव के सम्बन्ध में रति के प्रदर्शन से होती है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो कहेंगे कि यह हास्य एक ऐसे व्यक्ति के प्रदर्शन से उत्पन्न होता है जो एक ऐसे अन्य व्यक्ति के प्रेम में फँस गया हो जो उससे अवस्था, शारीरिक सौन्दर्य, सामाजिक स्तर आदि में इतनी मात्रा में भिन्न हो कि वह केवल हास्यास्पद ही रह जाय। अतएव इस प्रकार की अनुचित रति में वह जिन अनुभावों एवं व्यभिचारी भावों को प्रकट करता है वे भी हास के अतिरिक्त अन्य किसी भाव को उत्पन्न नहीं करते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति में जो स्थायीभाव अर्थात् रति का भाव प्रदर्शित किया जाता है वह दर्शक के दृष्टिकोण से मूल रूप में स्थायीभाव नहीं होता क्योंकि वह उस व्यक्ति में अनुचित होता है। इसके विपरीत वह व्यभिचारी भाव के रूप में होता है क्योंकि दर्शक के अन्तःकरण में स्थायी भाव के रूप में हास होता है। यह व्यभिचारी भाव बहुत कुछ स्थायिभाव के समान होता है। इसी समानता के कारण अनुचित रति का अनुभव उचित रति के अनुभव से भिन्न रूप होता है। उचित रति में प्रेमी एवं प्रेमिका पूर्ण रूप से एक दूसरे में लीन हो जाते हैं और इस तादात्म्य का अनुभव दर्शक नायक के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने के उपरान्त करता है। अनुचित रति के प्रदर्शन में नायक के साथ दर्शक का तादात्म्य रति के अनौचित्य के कारण नहीं होता।

अनुचित रति का उत्कृष्ट दृष्टान्त सीता के प्रति रावण का प्रेम है। यह रति अनुचित इसलिए है क्योंकि कामान्ध होकर परपत्नी के सतीत्व को भ्रष्ट करने

की चेष्टा नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त अवस्था, सामाजिक स्तर एवं शारीरिक सौन्दर्य के विषय में भी दोनों में कटु विषमता है। फिर भी सीता के प्रति रावण का प्रेम इसलिए वास्तविक लगता है क्योंकि उसको पूर्ण रूप से यह विश्वास नहीं हो पाता कि सीता उससे घृणा करती हैं अथवा उसकी ओर से अत्यंत उदासीन तथा पराङ्मुख हैं। क्योंकि यदि रावण को इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाय तो उसका प्रेम भाव ही नष्ट हो जाय। रावण की भाँति के व्यक्ति में प्रेम भाव की उत्पत्ति के लिए इस बात का ज्ञान निश्चित रूप में आवश्यक नहीं होता है कि प्रेमिका के अन्तःकरण में भी उसके प्रति गम्भीर प्रेम का भाव है। क्योंकि इस प्रकार के व्यक्ति में प्रेम का कारण बहुधा कामोन्माद होता है जिसके कारण वह प्रेमिका के आचरण एवं कार्यों का मिथ्या अर्थ उसी प्रकार से लगाता है जिस प्रकार से एक लोभी व्यक्ति चमकती हुई सीपी को चाँदी का खण्ड मान लेता है।

यद्यपि परिस्थिति से पृथक् देखने पर उसका अनुभाव रति के बोध को उत्पन्न करता है और हास्यजनक नहीं होता है फिर भी जब हम उसके प्रेम को उस परिस्थिति में देखते हैं जिसकी नायिका सीता है तो अश्रुपात आदि उन अनुभावों एवं चिन्ता तथा अवशता जैसे उन व्यभिचारी भावों से जो उसकी आयु तथा स्वाभाविक आचरण के प्रतिकूल हैं हास्य का ही रसास्वादन उत्पन्न होता है।

हास्य का रसानुभव केवल अनुचित रति के प्रदर्शन से ही उत्पन्न नहीं होता है वरन् उसकी उत्पत्ति किसी भी अन्य भाव से संभव है यदि उसको प्रदर्शित करने वाले व्यक्ति में उसकी उत्पत्ति उचित न हो और यदि वह भाव उस व्यक्ति की आयु एवं नैसर्गिक स्वभाव के प्रतिकूल हो जिसमें उसको प्रदर्शित किया गया है। यहाँ तक कि शान्त रस का प्रदर्शन भी हास्य के रसानुभव को उत्पन्न कर सकता है यदि किसी व्यक्ति को मोक्ष के उस साधन को अपनाते हुए प्रदर्शित किया जाय जो मोक्ष की प्राप्ति में किसी भी दशा में सहायक नहीं हो सकता है[1]।

वह हास्य रस का प्रदर्शन जिसमें अनुचित भाव को हास्यास्पद रूप में प्रदर्शित किया जाता है दर्शकों को अनुचित परिस्थिति[2] में उठते हुए उस भाव को रोकने के लिए बाध्य करता है।

---

[1] अभि० भा० भाग १ २९६–७

[2] अभि० भा० भाग १–२९७

एक रस से दूसरे रस की उत्पत्ति के प्रकार का दूसरा भेद

गत उपप्रकरण में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार से एक ऐसा रसोत्पादक भाव जो स्वप्रभावित व्यक्ति की आयु, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं नैसर्गिक स्वभाव के लिये अनुचित होता है, हास्य की रसानुभूति को उन परिस्थितियों में उत्पन्न करता है जिनमें किसी विषय के प्रति उस भाव का उदय नैतिक तथा सामाजिक रूप से न्यायसंगत नहीं होता। एक रस के प्रदर्शन से दूसरे रस का अनुभव अन्य प्रकार से उस समय होता है जब किसी विशिष्ट रस का प्रमुख विधायक स्थायी भाव एक इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न करता है जो एक ऐसे दूसरे भाव की उत्पत्ति[1] का कारण हो जाती है जो अन्य रस का प्रमुख विधायक तत्त्व है। यह दूसरा भाव किसी अन्य व्यक्ति में अथवा उसी व्यक्ति के अन्तःकरण में उत्पन्न हो सकता है जिसके भाव ने एक नई परिस्थिति उत्पन्न की है।

इस प्रकार से उस रौद्र रस से–जिसका मूल विधायक तत्त्व उस क्रोध का भाव है जो भयंकर प्रध्वंस करता है और एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है जो उन दूसरे प्राणियों में शोक के भाव को उत्पन्न करता है जिनके मित्रों अथवा सम्बन्धियों को उस क्रोध ने नष्ट कर दिया है—उस करुणरस की उत्पत्ति होती है जिसका मूल विधायक तत्त्व शोक का भाव है। उदाहरण के रूप में वेणीसंहार में भीम के क्रोध के प्रभाव अर्थात् दुःशासन के वध को दुर्योधनके अन्तःकरण में उस शोक के भाव को उत्पन्न करते हुए प्रदर्शित किया गया है जो करुण रस का स्थायी भाव है।

यद्यपि भरतमुनि प्रत्यक्षतः यह प्रतिपादित करते हुए भात होते हैं कि मूल रसों में से कोई एक रस किसी एक ही आश्रित रस का कारण होता है फिर भी अभिनवगुप्त उनके कथन की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं कि एक मूल रस अनेक आश्रित रसों का कारण होता है। इसी प्रकार से, जैसा कि हम पूर्व उप-प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं, अभिनवगुप्त यह प्रतिपादित करते हैं कि हास्य रस के आस्वादन का कारण किसी भी उस स्थायी भाव का प्रदर्शन हो सकता है जो शान्त रस के सहित आठ रसों में से किसी एक रस का मूल विधायक तत्त्व है।

---

[1] अभि० भा० भाग १–२९७

अतएव अभिनवगुप्त का मत यह है कि वीरता से केवल अद्भुत का रसास्वादन ही नहीं वरन् भय का रसास्वादन भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार से वेणीसंहार में कर्ण की प्रत्यक्ष उपस्थिति में ही कर्णपुत्र वृषसेन के अर्जुन कृत वध को नाटककार ने धृतराष्ट्र के अन्तःकरण में 'भय' के भाव की उत्पत्ति के कारण रूप में प्रदर्शित किया है। उनके अन्तःकरण का यह भय इस रूप में प्रकट होता है कि वे अपने एकमात्र जीवित पुत्र उस दुर्योधन को युद्धभूमि में जाने से रोकते हैं जो कर्ण[1] को अपना परम सहायक मानता है और उसकी शक्ति के भरोसे रणक्षेत्र में जाने के लिये कटिबद्ध है। वास्तव में युद्धवीर के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह भी होता है कि वह अपने प्रताप से शत्रुओं के सम्बन्धियों आदि में भय एवं आतंक को उत्पन्न करे[2]।

स्वयं भरतमुनि ने प्रत्यक्षरूप से यह कहा है कि वीर रस से जो दूसरा रस उत्पन्न होता है वह अद्भुत रस है। क्योंकि युद्धवीर[3] व्यक्ति का लक्ष्य ऐसे कार्य का करना भर नहीं होता जिससे शत्रु के सम्बन्धियों में भय का भाव ही उत्पन्न हो वरन् ऐसे कार्य को सम्पन्न करना होता है जिससे मित्र एवं शत्रु दोनों पक्षों में विस्मय का भाव भी उत्पन्न हो। सीता के स्वयम्बर में राम का शिवधनुष भंजन इसका प्रसिद्ध दृष्टान्त है।

रौद्ररस के कारण करुण रस की उत्पत्ति तथा वीर रस से भयानक और अद्भुत रसों की उत्पत्ति में भेद यह है कि वीर रस के नायक का लक्ष्य भय एवं विस्मय के भावों को उत्पन्न करना होता है परन्तु रौद्र रस के नायक का लक्ष्य 'शोक' के भाव की उत्पत्ति करना न होकर केवल विनाश करना ही होता है[4]।

रसानुभव के लिए नायकसमप्रवृत्युन्मुखता की आवश्यकता

रसानुभव के आठ विभिन्न रूप स्वीकार किए गये हैं। इस भेद का आधार वे आठ विभिन्न स्थायी भाव हैं जिनमें से प्रत्येक को पृथक् रूप से एक भिन्न प्रकार के रसानुभव का विशिष्टांश माना गया है। इस प्रकार से रति शृङ्गार का एवं क्रोध रौद्र का मुख्य विशिष्टांश है। शान्त रस का आधार इससे भिन्न है।

---

[1] अभि० भा० भाग १–२९८
[2] अभि० भा० भाग १–२९८
[3] अभि० भा० भाग १–२९८
[4] अभि० भा० भाग १–२९८

परन्तु प्रत्येक प्रकार के रसानुभव के लिये एक ऐसी प्रवृत्त्युन्मुखता अपेक्षित है जो उस व्यक्ति की प्रवृत्त्युन्मुखता के समान अथवा उससे तद्रूप हो जिसके साधन से रस का प्रदर्शन किया जाता है। क्योंकि रसानुभव का कारण दर्शक के हृदय एवं बुद्धि का नायक के हृदय एवं बुद्धि के साथ एकरूपता एवं तदनुसार नायक के साथ[1] दर्शक का आंशिक अथवा पूर्ण तादात्म्य है। अतएव उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि ऐसे व्यक्तियों में क्रोध की कलात्मक अभिव्यक्ति को देखकर जिनमें असुरत्व की ओर प्रबल उन्मुखता है अथवा जो स्वयं ही असुर हैं उन दर्शकों में क्रोध का रसानुभव उत्पन्न होता है जिनकी प्रकृति 'तमस्' प्रधान होने के कारण सुगमता से क्रोध से क्षुभित हो सकती है।
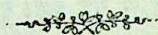
[1] अभि० भा० भाग १–३२४

अध्याय ६

अभिनवगुप्त का ध्वनिसिद्धान्त

भाषा और रसानुभावक सामग्री

गत पृष्ठों में रसानुभावक मिश्रित समुदायरूप सामग्री का वर्णन विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव के मिश्रित समुदाय के रूप में किया गया है। यह रसानुभावक विभावादि सामग्री उस प्रकार की नहीं होती जैसी कि सामान्य इन्द्रिय बोध के तल पर व्यावहारिक संसार में प्राप्त होती है वरन् उस प्रकार की होती है जैसी कि वह कवि के प्रातिभ चक्षुओं से साक्षात्कृत होती है। कवि के प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत रसानुभावक मिश्रित समुदायरूप सामग्री के विधायक तत्त्व सामान्य व्यावहारिक बोध के तल पर प्राप्त होने वाली वस्तुओं से भिन्न होते हैं। सामान्यतः सभी शास्त्रकार इस बात में एकमत हैं कि रंग, चूने अथवा संगमरमर की अपेक्षा भाषा में भावों को प्रकट करने की अधिक सक्षमता होती है। अतएव भरतमुनि के समय से ही भारतीय रससिद्धान्त प्रतिपादक शास्त्रकारों ने यह स्वीकार किया है कि कवि के प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत वस्तु को प्रकट करने का एकमात्र साधन भाषा ही है। दृश्यपटों की व्यवस्था, विभिन्न अभिनेताओं का समुचित वेश में तथा आवश्यक भावों में जो प्रदर्शन रंगमंच पर किया जाता है उसका प्रयोजन अभिनेता की उस वाणी का अर्थ स्पष्ट करना ही होता है जिसका उच्चारण वह उचित स्वर विन्यास, आरोह[1] और अवरोह तथा भावानुकूल प्रभावशाली स्वरों में करता है।

इस प्रसंग में स्वाभाविक रूप से पाठक के अन्तःकरण में यह प्रश्न उठ सकता है कि 'कवि के प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत वस्तु में कौन सा ऐसा अंश है जिसको अन्य कोई प्रकटीकरण का साधन प्रकट नहीं कर सकता और ऐसा ही क्यों है कि केवल भाषा ही उसको प्रकट कर सकती है?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कवि के प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत वस्तु में एक स्थायी भाव रूप ऐसा अंश होता है जिसको अन्य अभिव्यक्तीकरण के साधन उतनी उत्तमता

[1] ना० शा० १६९

से अभिव्यक्त नहीं कर सकते जितनी उत्तमता से भाषा उसको अभिव्यक्त कर सकती है। भाषा में भाव–प्रकटन की यह शक्ति इसलिए होती है क्योंकि इसमें 'व्यंजना' शक्ति होती है। भाषा की यह शक्ति ध्वन्यर्थ अथवा आध्यात्मिकार्थ को प्रकट करती है। यह अर्थ कवि के प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत वस्तु का आत्मस्वरूप ही होता है। बिना इस अर्थ के काव्य जीवात्मा से रहित शरीर के समान ही रह जाता है। इस अर्थ को एवं भाषा की उस शक्ति को जिससे इस अर्थ का बोध होता है शास्त्रीय भाषा में 'ध्वनि' कहते हैं।

हम इस विषय की विशदरूप व्याख्या निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे :—

१. ध्वनि सिद्धान्त का इतिहास।

२. भाषा की व्यंजना शक्ति से (१) अभिधाशक्ति (जिससे अभिधेयार्थ का बोध होता है) एवं (२) लक्षणा शक्ति (जिससे अभिधेयार्थ से सम्बन्धित अर्थ की प्रतीति होती है) का भेद।

३. विभिन्न अलंकारों की अर्थप्रकटन शक्ति से इसका अन्तर।

४. ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता का समर्थन।

५. ध्वन्यर्थ से रसानुभावक संमिश्रित पदार्थसमुदाय को प्रदत्त अंशों का मूल स्वरूप।

६. रसानुभव के प्रसंग में इन प्रदत्त अंशों की आवश्यकता।

७. ध्वनि के विभिन्न भेद।

'ध्वनि' का इतिहास

काव्यलक्षणशास्त्र एवं भाषाविज्ञान दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों का विषय भाषा के शब्द हैं। इन दोनों में अन्तर केवल यह है कि भाषाविज्ञान सभी प्रयुक्त शब्दों का अध्ययन सामान्यतः करता है जब कि काव्यलक्षणशास्त्र में केवल काव्यप्रयुक्त शब्दों का ही अध्ययन किया जाता है। वास्तविकता यह है कि इन दोनों में कुछ समस्याएँ सामान्य हैं, उदाहरण के लिए अर्थ–प्रतीति की समस्या। इस समस्या का सर्वप्रथम अध्ययन भाषाविज्ञान सम्बन्धी रूप में किया गया था। ईसा की लगभग आठवीं शताब्दि के बाद ही काव्यशास्त्र की समस्या के रूप में इसके अध्ययन का आरम्भ हुआ था।

काव्यलक्षणशास्त्र में कवि के प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत वस्तु के उन

अंशों को भाषा में प्रकट करने के उपायों तथा साधनों का संग्रह किया गया है जो साधारण लोकानुभव से परे हैं, आदर्शरूप हैं, अतः जिनको अभिधामूलक भाषा में भलीभांति प्रकट नहीं किया जा सकता है। अतएव इस शास्त्र का विकास इस प्रकार के अंशों को भाषा में प्रकट करने के अधिक से अधिकतर उपायों के अन्वेषणों से हुआ है। काव्यलक्षणशास्त्र का आरम्भ कुछ अलंकारों की अन्वेषणजन्य उपलब्धि (discovery) से हुआ था। इन अलंकारों में यह शक्ति होती है कि भाषा की अभिधा शक्ति से चित्रित वस्तु में कुछ उन विशेषताओं अथवा गुणों को और मिला सकते हैं जिनका उसमें अभाव है। इस अभाव की पूर्ति करने के लिए इन अलंकारों में एक अभिधेयार्थ द्योतक शब्द का प्रयोग किसी ऐसे दूसरे शब्द से सम्बन्धित रूप में किया जाता है जिसके अर्थ में वे गुण वर्तमान होते हैं जिनका अलंकरणीय बोधक शब्द के अर्थ में अभाव होता है।

व्याख्या की सुविधा के लिए हम अलंकरणीय बोधक शब्द को 'प्रधान' एवं अलंकारक बोधक शब्द को 'सहचारी' कहेंगे। इस प्रकार से सहचारी शब्द के अर्थ का वही अंश प्रधान शब्द के अर्थ से संयुक्त होता है जो 'प्रधान' शब्द के अभिधेयार्थ से प्रकटित अपूर्ण मानसिक चित्र को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है। इन दोनों 'शब्दों' से प्रकट किये गए मानसिक चित्र एक दूसरे में घुलमिल कर कवि के प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत वस्तु को उस पूर्ण रूप में प्रकट करते हैं जिसको प्रकट करने में भाषा की अभिधा शक्ति अक्षम है। दृष्टान्त के लिए उपमा अलंकार में यह होता है कि उपमान शब्द से प्रकट किए गए कुछ गुणों का बोध उत्पन्न होता है—जैसे कि 'चन्द्र' शब्द के सुनने से अत्यन्त आनन्द देने की उसकी शक्ति आदि गुणों का बोध होता है। 'समान' शब्द के प्रयोग से अन्य अनपेक्षित गुण मन में नहीं आने पाते हैं। उपमान के ये गुण 'मुख' के मानसिक चित्र से घुलमिल जाते हैं और इस प्रकार से 'मुख' शब्द के अभिधेयार्थ में वे तत्त्व और जुड़ जाते हैं जिनका ज्ञान 'प्रधान' शब्द के वाच्यार्थ से नहीं हो सकता है। इन नए तत्त्वों अथवा गुणों के योग से एक ऐसा मिश्रित रूप समुदाय बन जाता है जो मुख के उस मानसिक चित्र के समरूप होता है जिसका साक्षात्कार कवि के प्रातिभचक्षुओं से होता है।

इस प्रकार के साधनों का प्रत्येक नया गवेषणफल काव्यलक्षणशास्त्र के क्रमिक विकास का परिचायक है। काव्यलक्षणशास्त्र के प्रत्येक विख्यात शास्त्र-

कार ने इस प्रकार के साधनों के अन्वेषणों से इस शास्त्र को समृद्ध बनाया है। इसी प्रकार से अलंकारों की संख्या में वृद्धि हुई है। भरतमुनि ने केवल चार[1] अलंकारों का ही उल्लेख अपने नाट्यशास्त्र में किया है। परन्तु अप्पय्य दीक्षित ने १२४ अलंकारों की व्याख्या की है। भाषा की उस शक्ति को खोज निकालना जिससे ध्वन्यर्थ प्रकाशित होता है, काव्यलक्षण शास्त्र को समृद्ध बनाने वाली अन्तिम देन है।

आदिकाव्य में ध्वन्यर्थ का अस्तित्व

प्रत्येक सिद्धान्त की स्थापना विषयभूत तथ्यों के आधार पर होती है और स्थापक इन तथ्यों का विवेचन करता है। विषयभूत तथ्य उस समय भी वर्तमान रहते हैं जब उनके अस्तित्व को अङ्गीकार नहीं किया जाता है। ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने यह माना है कि जिस तथ्य का प्रतिपादन सैद्धान्तिक रूप में वे करते हैं वह आदिकाल से काव्य कृतियों में अत्यन्त प्रधान रूप में वर्तमान रहा है यद्यपि काव्यकला के पूर्वकालीन लक्षणकारों ने इसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया था। और यह भी सत्य है कि जब परवर्ती समय के काव्यलक्षणकारों ने इस ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना भली भाँति कर दी थी तब भी प्राचीन मतानुयायी काव्य-समीक्षकों ने इसका केवल अस्वीकार ही नहीं किया वरन् इसका सैद्धान्तिक खण्डन भी किया था।

सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया गया है कि रामायण शास्त्रीय संस्कृत में लिखा गया सर्वप्रथम काव्य है। अतएव रामायण के रचनाकार वाल्मीकि को शास्त्रीय संस्कृत का आदि कवि माना जाता है। वास्तव में वे स्वयं रामायण के बालकांड में उस घटना का वर्णन करते हैं जो उनकी काव्य की उस आन्तर-प्रेरणा का कारण थी जिससे वे अन्तःकरणगत भाव को छन्दोबद्ध वाणी में प्रकट कर सके थे। वह घटना इस प्रकार है :—

एक दिन महर्षि वाल्मीकि मध्याह्न स्नान के लिए तमसा नदी के तट पर गये। सरिता के स्वच्छ जल को देखकर उनका चित्त अत्यन्त आनन्दित हुआ। उन्होंने अपने उस शिष्य से वल्कल के वस्त्रों को लेकर जो उनको लेकर उनके साथ चल रहा था रमणीक वन में परिभ्रमण करना आरम्भ किया। जिस समय

---

[1] ना० शा०–२०६

बन में वे परिभ्रमण कर रहे थे[1] उन्होंने क्रौंच पक्षी के एक जोड़े को देखा। उन पक्षियों के लिए वह समागम-ऋतु थी। अतएव वे दोनों कामक्रीड़ा का आनन्द ले रहे थे। जिस समय महर्षि वाल्मीकि इस रमणीय दृश्य को मुग्ध दृष्टि से देख रहे थे ठीक उसी समय पीछे से छोड़ा गया एक बाण नर क्रौंच के लगा और वह उसके आघात से मर गया। कितना विकट दुर्भाग्य था? जीवित नारी-क्रौंच के हृदय पर कितना दारूण आघात था? परन्तु वह कर ही क्या सकती थी? अकस्मात् भाग्य के इस परिवर्तन से उत्पन्न शोक की तीव्रता एवं उसकी अवलम्बशून्य विवशता की दशा ने उसकी चहचहाने के कलरव को शोक के चीत्कार में परिवर्तित कर दिया। वह आनन्दपूर्ण दृश्य क्षण भर में करुण दृश्य के रूप में बदल गया। परिवर्तन इतना अधिक आकस्मिक एवं प्रभावशाली था कि महर्षि वाल्मीकि अपने को प्रभावित होने से रोक नहीं सके। इस घटना से उनका हृदय का अन्तरतम तक हिल उठा। उनके अन्तःकरण में शोक के स्थायी भाव का उदय हुआ। प्रभाव इतना तीव्र था कि पूर्ण रूप से वे अपने को भूल गए और क्षण भर के लिए उनका तादात्म्य उस निस्सहाय तथा शोकाकुल नारी-क्रौंच पक्षी के साथ हो गया। इसके उपरान्त उनका शोक निम्नलिखित श्लोक में किसी प्रेरणा के बिना ही, प्रकट होने लगा:—'रे व्याध! कभी भी तुझे शान्ति प्राप्त न हो। क्योंकि तूने कामोन्माद की दशा में रतिक्रीड़ा में लीन क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक को मार डाला है।'

इस प्रसंग में निम्नलिखित प्रश्न किए जा सकते हैं:—

१. वाल्मीकि के अनुभव को 'रसानुभव' किस प्रकार से कहा जा सकता है। क्योंकि इस अनुभव का मूल कारण रंग, चूना, प्रस्तर, संगीतात्मक स्वर अथवा भाषा के शब्द रूप कला के साधनों से निर्मित कलाकृति न होकर प्रकृति के क्षेत्र में घटित एक घटना है।

२. यदि वाल्मीकि ने अपना तादात्म्य नारी-क्रौंच के साथ किया था तो यह कैसे संभव हुआ कि यह तादात्म्य उन शब्दों में प्रकट नहीं हो सका जिनको नारी-क्रौंच पक्षी ने कहा होता (यदि उसके पास मानवीय भाषा में अपने हृदयगत भाव को प्रकट करने की शक्ति होती)? महर्षि ने यह क्यों कहा 'तूने क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से एक को मार डाला है)? इसके स्थान पर यह क्यों नहीं कहा 'तूने मेरे प्रणय संगी को मार डाला है'?

---

[1] वा० रा० १७२, ४–१५

३. क्या कोई ऐसा ग्रन्थ है जिसमें इन आपत्तियों को उल्लिखित कर इनका उत्तर दिया गया है ?

प्रथम प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि यह सिद्धान्त कि 'लोकगत घटना से नहीं वरन् कलाकृति से ही रसानुभव संभव होता है' (नाट्य एव रसः न लोके) केवल अभिनेता एवं दर्शकों के विषय में ही प्रयुक्त होता है, स्वयं कलाकार के प्रसंग में प्रयुक्त नहीं होता है। कवि का वह मूल अनुभव जिसको वह कलाकृति में प्रकट करता है किसी अन्य कलाकृति से उद्भूत नहीं होता। यह अनुभव उसको सामान्य व्यावहारिक जीवन अथवा प्रकृति के क्षेत्र से प्राप्त होता है जिसको उसकी प्रतिभाशक्ति, कल्पना तथा अन्य शक्तियों के सहयोग से, एक कलाकृति के रूप में परिणत कर देती है। स्वयं अभिनवगुप्त का यह अभिमत है यह इस बात से स्पष्ट होता है कि अपने निम्नलिखित कथन में उन्होंने 'विभाव' एवं 'अनुभाव' शब्दों का प्रयोग उन प्राकृतिक विषयों के लिए किया है जिनको वाल्मीकि ने अपनी आँखों से देखा था।

'स एव तथाभूत-विभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभावनाक्रमादास्वाद्यमानतास् प्रतिपन्नः' ध्व० लो० २७

इस मत का और भी समर्थन भारतीय कला शास्त्र के अन्य आचार्य अपने इस कथन से करते हैं कि कवि, अभिनेता नायक, और सहृदय के अनुभव समानरूप ही होते हैं। यदि कवि का मूल अनुभव कला के रूप में देखी गई प्रकृति से उत्पन्न न होकर किसी पूर्णरूप कलाकृति से ही उद्भूत होता तो उपर्युक्त कथन में 'कवि' का पृथक् रूप से उल्लेख करना अनावश्यक एवं अर्थरहित होता है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि रसानुभव साधारणीभाव के तल पर होता है। इसमें मूल नायक का व्यक्तित्व भी नष्ट हो जाता है। यदि इस श्लोक में 'मेरे प्रणय संगी' शब्दों का प्रयोग होता तो नायिका के व्यक्तित्व के दृढ अस्तित्व के बने रहने का बोध होता। अतएव इन शब्दों का प्रयोग न कर महाकवि वाल्मीकि ने 'क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक' शब्दों का प्रयोग किया है जो 'मेरे प्रणय संगी' शब्दों से अधिक साधारणीभाव के द्योतक हैं।

तीसरे प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि अभी तक हमको कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं प्राप्त हुआ है जिसमें इन प्रश्नों को स्पष्ट रूप से उठाया गया हो तथा उनका उत्तर दिया गया हो और जैसा कि हमने प्रथम प्रश्न के अपने

उत्तर में कहा है इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर वर्तमान ग्रन्थों से अस्पष्ट रूप में अथवा निहितार्थ के रूप में ज्ञात होते है।

स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने अपने निम्नलिखित कथन में उस स्थायी भाव का उल्लेख किया है जिसके कारण उपर्युक्त श्लोक उनके मुख से निकला :—

"शोकार्त होने पर जो श्लोक मेरे मुख से प्रकट हुआ उसका रूप उससे भिन्न नहीं हो सकता था।"

उपर्युक्त कथन से नीचे लिखी दो बातें स्पष्ट होती हैं :—

१. परिस्थिति के केन्द्रविन्दु के साथ तादात्म्य होने के कारण जागृत कवि-प्रतिभा से उत्पन्न काव्य स्थायी भाव को प्रकट करता है।

२. कवि की उक्ति में यह स्थायीभाव अभिधायक शब्दों में प्रकटित नहीं होता, केवल व्यक्त ही होता है। दृष्टान्त के रूप में महाकवि वाल्मीकि से रचित 'मा निषाद।'—आदि श्लोक में यद्यपि शोक का स्थायी भाव प्रकट किया गया है फिर भी 'शोक' को स्पष्ट रूप में अभिहित करने वाले किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इस से शोक का भाव केवल व्यक्त ही होता है।

श्लोक में वे वाल्मीकि-व्यक्ति के रूप में नहीं बोलते वरन् साधारणीभूत नारी-क्रौंच के रूप में बोलते हैं। नारी-क्रौंच के दृष्टिकोण से वे सम्पूर्ण घटना को देखते हैं। अतएव वे उस वस्तु के नष्ट होने का अनुभव करते हैं जो सबसे अधिक मूल्यवाली एवं प्रिय है। इस घटना से उनकी मानसिक शान्ति सदा के लिए भग्न हो जाती है। अतः व्याध को वे अपने अविराम शोक का जनक समझते हैं। शत्रु के विरूद्ध वे अपनी असहायता का अनुभव करते हैं। अतएव एक उस सद्यः विधवा के स्वभावानुकूल जिसका पति उसके साथ रतिक्रीड़ा करते हुए एक नरमांसभक्षी से केवल स्वप्रवृत्ति के कारण ही मार डाला गया हो वे व्याध को अपने से अधिक गम्भीर दुर्गति का अभिशाप दे डालते हैं।

इस प्रकार से हम महर्षि वाल्मीकि रचित उपर्युक्त श्लोक में 'शोक' अथवा उसके किसी भी समानार्थक शब्द के प्रयोग के बिना ही शोक के भाव को प्रकटित पाते हैं। इस प्रकार के गम्भीर शोक को भाषा की अभिधाशक्ति से स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं किया जा सकता है। भावप्रकटन के इस रूप को शास्त्रीय भाषा में ध्वनि-काव्य इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें ध्वन्यर्थ अथवा आध्यात्मिकार्थ वर्तमान रहता है। जैसा कि हम इस ग्रन्थ के आगामी पृष्ठों में स्पष्ट

करेंगे यह ध्वन्यर्थ विभिन्न प्रसंगों में एक पूर्ण वाक्य, उपवाक्य, शब्द एवं शब्द साधक विशिष्ट प्रत्यय से भी प्रकट हो जाता है।

अतएव ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिपादक यह मानते हैं कि काव्य में अत्यन्त प्राचीन समय से स्थायी भाव सबसे अधिक प्रधान तत्व रहा है और इसको केवल ध्वन्यर्थ के रूप में ही सदैव प्रकट किया जा सका है।

ध्वन्यर्थ की उपलब्धि का सम्भावित समय

प्रत्येक सिद्धान्त के उत्थान के लिये उन तथ्यों की सत्ता अपेक्षित होती है जिनके आधार पर उसकी रचना होती है और जिनके मूल स्वरूप को वह सिद्धान्त स्पष्ट करने की चेष्टा करता है। काव्य की भाषा के ध्वन्यर्थ के सिद्धान्त के प्रतिपादक यह मानते हैं कि (१) इस सिद्धान्त से जिस तथ्य को वे स्पष्ट करना चाहते हैं वह काव्य की आत्मा है (२) इस ध्वन्यर्थ के बिना काव्य आत्माशून्य शरीर की भांति होता है। एवं (३) यह ध्वन्यर्थ आदि कवि वाल्मीकि से रचित प्रथम श्लोक में प्रधान तथ्य के रूप में वर्तमान था और यह ध्वन्यर्थ सभी परिवर्ती यशस्वी कवियों की काव्यकृतियों की विलक्षणता के रूप में वर्तमान रहा है।

काव्यानुभव के इस प्रमुख अंश का अन्वेषण सर्वप्रथम किस व्यक्ति ने किया था? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमारे पास कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। परन्तु यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि किसी ऐसे व्यक्ति ने जिसके पास कवि-प्रतिभा थी काव्यानुभव के इस प्रमुख अंश का अस्पष्ट-रूप से अनुभव ईसा की आठवीं शताब्दि के पूर्वार्ध समय के लगभग किया होगा। उस व्यक्ति ने अपने समकालीन तद्विषयक आचार्यों से उसके विषय में बातचीत की होगी। उनमें से कुछ आचार्यों ने इस ध्वन्यर्थ के अस्तित्व का समर्थन किया होगा और कुछ आचार्यों ने तब भी उसके अस्तित्व का खंडन किया होगा।

इसी प्रकार से ध्वन्यर्थ के विषय में वादविवाद का आरम्भ हुआ होगा। इसी अनुमान का आश्रय लेकर आठवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में उद्भट तथा वामन का यह मत कि 'ध्वन्यर्थ लाक्षणिकार्थ से अभिन्न है' समझ में आ सकता है।

ध्वन्यर्थ प्रतिपादक प्रमुख शास्त्रकार

रसास्वाद के विषय के समान ही ध्वन्यर्थ के विषय में भी अभिनवगुप्त के व्याख्यान सबसे अधिक युक्तिपूर्ण हैं और संस्कृत काव्यलक्षणशास्त्र के क्षेत्र में सभी परवर्ती शास्त्रकारों ने उनके मत का अनुसरण किया है। निस्सन्देह रूप से उन महिमभट्ट ने, जो सम्भवतः अभिनवगुप्त के समकालीन अथवा निकट परवर्ती शास्त्रकार थे, अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में अभिनवगुप्त के मत का खंडन किया था। परन्तु किसी गम्भीर शास्त्रकार ने उनके ग्रन्थ को कोई गौरव प्रदान नहीं किया। काव्यगत भाषा के ध्वन्यर्थ के विषय में अभिनवगुप्त का सिद्धान्त सामान्य रूप से इसलिए स्वीकार किया गया था क्योंकि काव्यगत भाषा से उत्पन्न मानसिक चित्रों के विभिन्न रूपों के मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर उन्होंने अपने सिद्धान्त की रचना की थी। अभिनवगुप्त से किए गए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार मानसिक भाव के रूप में जिस ध्वन्यर्थ का बोध हमको होता है वह अपने मूल स्वरूप में उन दो अर्थों से जिनको शास्त्रीय भाषा में वाच्यार्थ एवं लाक्षणिकार्थ कहते हैं इतना अधिक भिन्न होता है कि ध्वन्यर्थ के साथ में उन दो अर्थों की अभिन्नता स्थापित करना असंभव ही है।

इस प्रकार से हमें यह ज्ञात होता है कि 'ध्वन्यर्थ' का इतिहास लगभग तीन सौ वर्षों तक फैला हुआ है। लगभग आठवीं शताब्दि के पूर्वार्ध भाग में उद्भट के किसी एक पूर्ववर्ती शास्त्रकार ने ध्वन्यर्थ का अन्वेषण सर्वप्रथम किया था और ग्यारहवीं शताब्दि के मध्यभाग में महिमभट्ट ने ध्वनिसिद्धान्त को खण्डित करने की असफल चेष्टा की थी।

इसी तीन सौ वर्षों की अवधि में ही आनन्दवर्धनाचार्य ने अपनी प्रसिद्ध ध्वनिकारिका एवं उसकी व्याख्या की रचना की थी। वे प्रथम शास्त्रकार थे जिन्होंने ध्वनि–सिद्धान्त का प्रतिपादन सुव्यवस्थित रूप में किया था। अभिनवगुप्त ने ध्वनिसिद्धान्त के विकास में यह सहयोग दिया कि उन्होंने ध्वन्यर्थ की व्याख्या मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक रूप में की। हम ध्वनिसिद्धान्त की समस्याओं को मूल रूप से दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्पष्ट करने की चेष्टा कर रहे हैं अतएव आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त की व्याख्याओं का अधिक उल्लेख हम करेंगे। अपनी व्याख्या के लिए हमें सभी आवश्यक ध्वनिसिद्धान्त सम्बन्धी सामग्री ध्वन्यालोक लोचन में ही पूर्ण

रूप से प्राप्त हो जाती है—इसीलिए हमने अभिनवगुप्त को ध्वनिसिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक तथा समर्थक स्वीकार किया है। परन्तु इससे हमारा तात्पर्य आनन्दवर्धनाचार्य की प्रतिष्ठा को कम करना नहीं है। यदि आनन्दवर्धनाचार्य रचित ध्वन्यालोक न होता तो सम्भवतः अभिनवगुप्त का अर्थप्रतीति का सिद्धान्त भी न होता—जिस प्रकार से शंकराचार्य के अद्वैतमतपरक वेदान्त दर्शन का अस्तित्व न होता यदि बादरायणकृत वेदान्त सूत्र का अस्तित्व पूर्वकाल से न होता।

समय की इस अवधि के लेखकों को निम्नरूप से तीन दलों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादक एवं समर्थक।

२. ध्वनि सिद्धान्त के विरोधी।

३. ध्वन्यर्थ तथा लाक्षणिकार्थ[1] की अभिन्नता अथवा एकरूपता के प्रतिपादक।

प्रथम कोटि के शास्त्रकारों में वे शास्त्रकार भी थे जो यह विश्वास करते थे कि 'ध्वन्यर्थ' के समान किसी अर्थ का अस्तित्व है परन्तु वे इसके स्वरूप का पूर्णतया परिचय नहीं दे सकते थे।

ध्वनि-कारिका के लेखक के पूर्व कोई भी ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था जिसमें ध्वनि—सिद्धान्त के प्रतिपादकों एवं विरोधियों[2] के मतों को प्रकट किया गया हो। परन्तु इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत भाषा के आदिकालीन काव्यलक्षणचिन्तकों को ध्वन्यर्थ के किसी स्वरूप का ज्ञान नहीं था। परन्तु इसके प्रतिकूल वास्तविकता यह है कि ध्वनि–कारिका की रचना के बहुत पूर्व ध्वनि–सिद्धान्त को एक व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त हो चुका था और उसके विरोधियों का भी अस्तित्व था। परन्तु इस सिद्धान्त का यह पूर्व रूप मौखिक परम्परा के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक[3] चला आ रहा था।

तीसरी कोटि के लेखकों ने उपर्युक्त दोनों कोटियों के शास्त्रकारों से स्पष्ट रूप में भिन्नतया अपने अभिमतों को किसी न किसी अंश में उन ग्रन्थों के रूप में लिखा था जो आज भी उपलब्ध हैं। इस तीसरी कोटि के शास्त्रकारों में भट्ट उद्भट,

---

[1] ध्व० लो० ३

[2] ध्व० लो० ३

[3] ध्व० लो० ३

तथा वामन[1] जैसे पूर्वकालीन काव्यलक्षणग्रन्थों के प्रणेता थे। ध्वनि–सिद्धान्त के विरोधी सम्प्रदाय का मत भी आनन्दवर्धनाचार्य की कृतियों के पूर्व व्यवस्थित रूप में प्रकट किया जा चुका था। यह तथ्य मनोरथ नामक एक कवि की रचना के उद्धरण से ज्ञात होता है। अभिनवगुप्त के मत के अनुसार मनोरथ आनन्दवर्धनाचार्य के समकालीन[2] थे। परन्तु अभिनवगुप्त के कथन से यह ज्ञात होता है कि कुछ लेखकों ने यत्र तत्र विकीर्ण रूपों में श्लोकों को लिखा था और कोई ऐसा विशेष ग्रन्थ नहीं था जिसमें ध्वनि–सिद्धान्त के विरोधियों के मतों को व्यवस्थित रूप में प्रकट किया गया हो। क्योंकि ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने 'श्लोक' शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन से किया है। आनन्दवर्धन जब अपनी कृति 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि-सिद्धान्त की सम्यक् व्याख्या कर चुके तो उसके उपरान्त ध्वनि-सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय के दो ग्रन्थ लिखे गये। उनमें से एक ग्रन्थ के रचनाकार वे भट्टनायक थे जिनके मतों का खण्डन अभिनवगुप्त ने विशदरूप में किया है और दूसरे ग्रन्थ के लेखक वे महिमभट्ट थे जो सम्भवतः अभिनवगुप्त के कनिष्ठ समकालीन अथवा उनके निकट परवर्ती लेखक थे।

ध्वनि–सिद्धान्त की मान्यता के पूर्व अर्थप्रतीति का सिद्धान्त

अभिनवगुप्त कृत ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्ण स्थापना के पूर्व अर्थ–बोध के विषय में भाषा की तीन शक्तियों को ही स्वीकार किया जाता था।

(१) अभिधाशक्ति—भाषा की वह शक्ति जो अभिधेय अर्थ के मानसिक चित्र को श्रोता के मानस चक्षुओं के सामने इस कारण उपस्थित करती है क्योंकि अत्यन्त प्राचीन समय से उस शब्द के विशिष्ट अक्षर–समूह का सम्बन्ध उस विशिष्ट मानसिक चित्र के साथ रहा है।

(२) तात्पर्यशक्ति—एक वाक्य में प्रयुक्त शब्द परस्पर पूर्ण रूप से असम्बन्धित होते हैं और श्रोता में ऐसे अर्थरूप विशिष्ट मानसिक चित्रों को उत्पन्न करते हैं जो एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं होते। वक्ता के अन्तःकरण में ये

---

[1] ध्व० लो० १०

[2] ध्व० लो० ८

शब्दजनित मानसिक चित्र किसी न किसी विशेष रूप में परस्पर संबंधित होते हैं। आंशिक रूप में यह सम्बन्ध विभिन्न विभक्तियों एवं अन्य प्रत्ययों से प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति यह कहता है—

'कुलालः घटम् करोति'

'कुम्हार घड़े को बनाता है।'

तो कुम्हार के बनाने की क्रिया का जो संबंध घड़े के साथ है उसको संस्कृत भाषा में विभक्ति रूप 'अम्' प्रत्यय से और हिन्दी भाषा में कर्मकारक सूचक 'को' शब्द से प्रकट किया जाता है। (अंग्रेजी भाषा में यह सम्बन्ध वाक्य में शब्दों के प्रयोग क्रम से ही प्रकट हो जाता है।) इस संबंध का स्वरूप कर्त्ताकर्म सम्बन्ध है, अर्थात् एक कर्म 'घट' का उसके कर्त्ता 'कुम्हार' के साथ जो संबंध है वही इस संबंध का स्वरूप है। इस प्रसंग में अन्य प्रश्न यह उठता है कि यह संबंध घड़े के साथ में किस रूप से संबंधित है? अतएव न्याय दर्शन के मतावलम्बी तथा भाट्टमीमांसक शब्द की एक अन्य शक्ति को मानते हैं जिसको शास्त्रीय भाषा में 'तात्पर्य शक्ति' कहते हैं अर्थात् शब्द की यह वह शक्ति है जो कर्म के साथ कर्मत्व का संबंध (वृत्तिता) तथा इसी प्रकार के अन्य उन संबंधों को स्थापित करती है जो पूर्ण वाक्य के विभिन्न शब्दों से प्रकट किए गए विचारों के बोध के लिए आवश्यक होते हैं।

इस प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि कुछ दार्शनिक जैसे प्रभाकर के मतावलम्बी यह मानते हैं कि इस प्रकार की शब्दशक्ति[1] की स्थापना अनावश्यक है। अतएव शास्त्रीय भाषा में इस मत के अनुयायियों को अन्विताभिधानवादी कहते हैं। उपर्युक्त मत को अस्वीकार करने वाले नैयायिक तथा भाट्टमीमांसकों को अभिहितान्वयवादी कहा जाता है।

(३) लक्षणाशक्ति—प्रायः वर्तमान साहित्य में हम इस प्रकार के वाक्य-विन्यास पाते हैं जो विचारों को ऐसे ग्रथित रूपों में प्रकट करते हैं कि उनको शब्दों की उपर्युक्त शक्तियाँ स्पष्ट नहीं कर सकती हैं। निम्नलिखित दृष्टान्त से उपर्युक्त कथन स्पष्ट होता है—

'गंगायाम् घोषः'

'गंगा पर छोटा गाँव है।'

शब्द की उपर्युक्त शक्तियों अर्थात् अभिधा एवं तात्पर्य शक्तियों की सहायता से श्रोता को उपर्युक्त वाक्य के अभीष्ट ग्रथितरूप अर्थ का बोध नहीं हो सकता।

[1] का० प्र० भाष्य ६–७ एवं का० प्र० २०

अभिधा नामक शब्द की प्रथम शक्ति से गंगा शब्द से 'एक विशेष जलधारा' का और 'घोष' शब्द से 'एक छोटे आकार के गाँव' का चित्र श्रोता के अन्तःकरण में उत्पन्न होता है। भाषा की 'तात्पर्य' नामक दूसरी शक्ति प्रयुक्त कारकविभक्तियों के सहयोग से अर्थरूप उपर्युक्त दो मानसिक चित्रों में आवश्यक संबंध स्थापित करती है। परन्तु अर्थरूप चित्रों का यह ग्रथित रूप सुव्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण समुदाय न होकर अर्थहीन अव्यवस्थित एवं सासंजस्यरहित विचारों का समूहरूप ही होता है क्योंकि इस अव्यवस्थित सामंजस्यरहित विचार समूह से जिसका बोध उत्पन्न होता है वह यथार्थ अनुभव में संभव नहीं है। क्योंकि एक जलधारा पर गांव का बसना असंभव है। इस प्रकार के वाक्य संस्कृत भाषा के ही नहीं वरन् अन्य भाषाओं के उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। और परम्परा की सहायता से इन वाक्यों से एक समुचित अर्थ का बोध हो जाता है। उदाहरण के लिए जब उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग कोई व्यक्ति करता है तो इसका यह अर्थ ज्ञात होता है कि 'एक छोटे आकार का गाँव गंगा के तट पर बसा हुआ है जो पवित्र तथा शीतल है।' इस प्रकार के अर्थ-बोध के कारण को स्पष्ट करने के लिए भाषा की एक तीसरी शक्ति अर्थात् लक्षणा शक्ति की स्थापना[1] की गई है। जिस समय प्रयोजनवश ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो भाषा की अभिधाशक्ति से श्रोता के अन्तःकरण में सुव्यवस्थित सामंजस्यपूर्ण अर्थ-समुदाय के बोध को उत्पन्न नहीं करते वरन् इसके प्रतिकूल एक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द के अर्थ का विरोधी होता है तो ऐसे अवसर पर अभीष्ट वाक्यार्थ बोध का कारण भाषा की लक्षणाशक्ति का व्यापार होता है जिससे वे अन्य विचार उत्पन्न होते हैं जो परस्पर विरूद्ध अर्थों को सुव्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण करने के लिए तथा वक्ता के प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक होते हैं। इस प्रकार से उपर्युक्त वाक्य में भाषा की लक्षणाशक्ति से 'तट' का विचार उत्पन्न होता है जो प्रयुक्त शब्दों के अर्थों के असामंजस्य को नष्ट कर देता है, और इस रूप के वाक्य से वक्ता का यह अभिप्राय समझा जाता है कि वह छोटे आकार के गाँव की पवित्रता एवं शीतलता के गुणों के बोध को भी श्रोता के अन्तःकरण में उत्पन्न करना चाहता है।

---

[1] सा० द० ३६-८

ध्वनि का एक दृष्टान्त

गोदावरी सरिता के तट पर एक वाटिका है। यह स्थान जनकोलाहल से दूर है। एक प्रेमी और प्रेमिका विशिष्ट निर्देशित समय में प्रच्छन्न रूप से मिलने के लिए इस निर्जन स्थान को निश्चित करते हैं। उनमें से प्रेमिका निश्चित समय से कुछ पूर्व आ जाती है। अर्चना के लिए सुमनों को इधर-उधर चुनते हुए एक धार्मिक व्यक्ति को वह देखती है। उसके दर्शन से उस प्रेमिका को प्रसन्नता नहीं होती। विना अपने अभिप्राय को प्रकट किए हुए वह उस धार्मिक व्यक्ति को उस स्थान से हटा देना चाहती है।

इस स्थान पर एक भयंकर कुत्ता रहा करता था। वह यह जानती थी कि यह व्यक्ति उस कुत्ते से बहुत अधिक भयभीत रहता है। कारणवश वह कुत्ता उस समय वहां पर नहीं है। निपुणता के साथ वह कुत्ते की अनुपस्थिति को उस धार्मिक व्यक्ति को इस प्रकार से समझाने की चेष्टा करती है कि वह वहाँ से भयभीत होकर शीघ्र चला जाय। वह कहती है :—

'हे धार्मिक ! अब आप इस स्थान पर स्वतंत्रापूर्वक विचरण कर सकते हैं। क्योंकि जिस कुत्ते से आप इतना अधिक भयभीत रहते थे उसे आज उस दुर्धर्ष सिंह ने मारडाला है जिसके विषय में आप भली भांति यह जानते हैं कि वह गोदावरी के तट पर सघन लता में निवास करता है।'

संस्कृत भाषा में यह कथन इस प्रकार है :—

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोद्य मारितस्तेन
गोदावरीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन।

ध्व० लो० १६

यह समझना कठिन नहीं है कि इस प्रकार के कथन का उपर्युक्त स्वभाव के व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। क्या ऐसा व्यक्ति जो एक कुत्ते से भयभीत रहता है ऐसे स्थान पर स्वतंत्रता से विचर सकता है जहाँ पर वह सिंह स्वतंत्रता से घूम रहा हो जिसने एक कुत्ते को मार कर अपनी भयंकरता को कुछ ही समय पूर्व दृढ़ रूप से प्रमाणित कर दिया हो? उपर्युक्त शब्दों को सुनकर क्या उसमें इतना साहस रह जाएगा कि वह उस वाटिका में ठहर सके? अथवा वह यथा संभव शीघ्रता से उस स्थान से दूर चला जाना चाहेगा? यदि उसके अन्तःकरण में उस स्थान से यथाशीघ्र चले जाने की इच्छा उत्पन्न होती है तो क्या इसका कारण यह नहीं है कि उसको विधिरूप कथन से निषेधरूप अर्थ का बोध हुआ है। और यदि ऐसा है तो प्रश्न यह उठता है कि 'विधिरूप

कथन से निषेधरूप अर्थबोध क्यों उत्पन्न होता है ?' भाषा की चतुर्थशक्ति के प्रतिपादक यह मानते हैं कि इस परिस्थिति में श्रोता को जो निषेधात्मक बोध होता है उसका कारण भाषा की ध्वनि शक्ति है। अतएव आगामी पृष्ठों में हम यह स्पष्ट करेंगे कि भाषा से उत्पन्न ऐसे अर्थ को साधारणरूप से स्वीकृत भाषा की उपर्युक्त तीन शक्तियाँ क्यों उत्पन्न नहीं कर सकती हैं।

उपर्युक्त विधिरूप कथन से श्रोता को जिस निषेधात्मक अर्थ का बोध होता है क्या भाषा की लक्षणा शक्ति को उसका कारण माना जा सकता है ?

ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी यह मानते हैं कि इस निषेधात्मक अर्थ की प्रतीति को निम्न रूप से लक्षणा शक्ति से उत्पन्न माना जा सकता है :—

इस कथन में 'दृप्तसिंहेन' 'दुर्धर्ष सिंह ने' एवं 'धार्मिक' 'धर्मपरायण' ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के जिन अर्थों का बोध अभिधा शक्ति से होता है उनको यदि इस विधि रूप अर्थबोध 'स्वतंत्रतापूर्वक विचरण कर सकते हैं' से सम्बन्धित किया जाय तो दोनों अर्थ एक दूसरे को बाधित करते हैं। क्योंकि किस प्रकार से एक धार्मिक व्यक्ति निर्भय होकर उस स्थान पर स्वतंत्रतापूर्वक घूम सकता है जहाँ पर उस कुत्ते के स्थान पर जिससे वह भयभीत रहता था वह सिंह घूम रहा हो जिसने उस कुत्ते को कुछ समय पूर्व मार कर अपने स्वभाव की भयंकरता को प्रमाणित कर दिया हो। अतएव इस प्रकार से समझे गए विचारों की असंगति के कारण भाषा की लक्षणा शक्ति विधिरूप अर्थ के स्थान पर निषेधरूप अर्थ का बोध उत्पन्न करेगी एवं इस प्रकार से प्रयुक्त शब्दों के अर्थों से पारस्परिक बाध्यबाधकभाव को हटा कर सामंजस्यपूर्ण वाक्यार्थ उपस्थित[1] करेगी।

उपर्युक्त व्याख्या की निस्सारता

अब हम इन दोनों दृष्टान्तों अर्थात् (१) लक्षणा के शास्त्रीय दृष्टान्त 'गंगायां घोषः' एवं (२) उपर्युक्त ध्वनि के शास्त्रीय दृष्टान्त—पर साथ साथ ध्यान देंगे और यह जानने की चेष्टा करेंगे कि इन दोनों कथनों के शब्दार्थों में पारस्परिक सामंजस्य पूर्ण सम्बन्ध की असंभवनीयता में कोई अन्तर है या नहीं ? इसमें कोई सन्देह नहीं है कि एक 'छोटे आकार के गाँव' को 'जल की धारा' से आधाराधेयभाव से सम्बन्धित करना असंम्भव है। परन्तु क्या कोई

[1] ध्व० लो० १६

व्यक्ति यह कह सकता है कि एक धार्मिक ब्राह्मण का उस स्थान पर उस समय विचरण करना जब कि वह कुत्ता मार डाला गया हो जिससे वह भयभीत रहता था प्रथम दृष्टान्त में निहित असंभावना के समान ही असंभव है ? क्या शब्दों को सुनने के उपरान्त जिन वाच्यार्थों का बोध श्रोता को होता है उनमें परस्पर उसी प्रकार की असंगति वर्तमान है जैसी कि 'गंगायां' और 'घोषः' शब्दों के अर्थों में परस्पर असंगति है ? क्या निषेधरूप बोध में किसी विशेष परिस्थिति का मानसिक साक्षात्कार नहीं विद्यमान होता है ?

ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधियों की युक्तियों की निस्सारता सिद्ध करने के उपरान्त हम भाषा की एक उस अन्य शक्ति अर्थात् ध्वनिशक्ति की आवश्यकता को सिद्ध करने और यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि विधिरूप कथन से निषेधरूप अर्थ का बोध किस प्रकार ध्वनिशक्ति से ही उत्पन्न हो सकता है ?

ध्वनिसिद्धान्त के विरोधियों की युक्तियों का पर्यवेक्षण

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि काव्यलक्षणशास्त्र के विविध सिद्धान्तों की उत्पत्ति उपलब्ध साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से होती है। प्रत्येक साहित्य के इतिहास में रचनात्मक काल सदैव आलोचनात्मक अध्ययन काल के पूर्व आता है। इसका साधारण कारण यह है कि समीक्षात्मक अध्ययन को उन तथ्यों की आवश्यकता रहती है जिनका सृजन कवि-प्रतिभाएँ ही कर सकती हैं। इन तथ्यों का अध्ययन जितने सूक्ष्म रूप में विभिन्न दृष्टि-कोणों से किया जाता है उतने ही अधिक विशुद्ध निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। इन्हीं निष्कर्षों के अनुसार विभिन्न सिद्धान्तों की रचना की जाती है जिनमें पूर्ववर्ती की अपेक्षा परवर्ती अधिक मान्य तथा विशुद्ध इसलिए माना जाता है क्योंकि उसकी रचना उन नए तथ्यों के आधार पर की जाती है जिनका ज्ञान उन सिद्धान्तों के विभिन्न बुद्धि वैभवों तथा प्रकृतिदत्त गुणों से युक्त प्रतिपादकों को गम्भीर तथा व्यापक अध्ययन के द्वारा प्राप्त होता है।

परन्तु जिस समय एक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने पूर्व समय में अज्ञात कुछ तथ्यों का अन्वेषण करके एक सिद्धान्त की रचना करता है और उसको अपने से कम प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सामने प्रकट करता है तो उसको अपने सिद्धान्त के अनुयायी प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार से उस सिद्धान्त की एक परम्परा बन जाती है जिसका अनुसरण तब तक लोग करते हैं जब तक किसी महानतर प्रतिभाशाली व्यक्ति का जन्म नहीं होता और वह नए तथ्यों

के आधार पर एक नए सिद्धान्त की रचना नहीं कर डालता। ऊपर से देखने पर यह नया सिद्धान्त पूर्ववर्ती सिद्धान्त से भिन्न प्रतीत होता है पर वास्तविकता यह है कि यह नया सिद्धान्त पूर्ववर्ती सिद्धान्त का संशोधित अथवा विकसित रूप ही होता है। क्योंकि नवसिद्धान्तकार उन तथ्यों पर भी विचार करता है जिन पर पूर्ववर्ती सिद्धान्त आधारित होते हैं। इस प्रकार से प्रत्येक परवर्ती शास्त्रकार उसी क्षेत्र में अथवा तत्समान क्षेत्र में पूर्वकालीन शास्त्रकारों के अन्वेषणों से तात्त्विक रूप से सहायता प्राप्त करता है।

परन्तु साहित्य सम्बन्धी कुछ तथ्य वैज्ञानिक तथ्यों की भांति नहीं होते। क्योंकि वैज्ञानिक तथ्य वाह्य-विषय स्वरूप होते हैं और विज्ञान के विभिन्न उपकरणों तथा यन्त्रों से उनके अस्तित्व को प्रत्यक्षतः प्रमाणित किया जा सकता है, जब कि साहित्य संबंधी तथ्य शुद्ध रूप से आध्यात्मिक अथवा मानसिक होते हैं और उनको केवल आत्मपरीक्षण अथवा मनन करने से ही जाना जा सकता है। मनन से भी उन तथ्यों का बोध तभी हो सकता है जब उसको आवश्यक मानसिक-शारीरिक दशाओं एवं पर्याप्त बोधशक्ति का सहयोग हो। साथ ही साथ मानसिक तथ्यों के ज्ञान के लिए बुद्धि की गुणग्राहिणी उन्मुखता परमावश्यक होती है। क्योंकि बुद्धि जब तक पूर्वकालीन बौद्धिक पक्षपात से मुक्त नहीं होती तब तक नये मानस तथ्यों का बोध असंभव सा ही रहता है। अतएव होता यह है कि जब शुद्ध मानसिक तथ्यों पर आधारित कोई नया सिद्धान्त प्रथम बार प्रसारित किया जाता है तो सदैव एक विकट विवाद उसके विषय में उठ खड़ा होता है।

हमको यह ज्ञात नहीं है कि सर्वप्रथम किसने किसी काव्यकृति से उत्पन्न पूर्ण-रूप अनुभव में 'ध्वन्यर्थ' का पता लगाया था। परन्तु ध्वनिकारिका के समय से बहुत पूर्व समय में ध्वनिसिद्धान्त एक अत्यन्त प्रसिद्ध सिद्धान्त था और उसके विरोधी भी थे। परन्तु यह सिद्धान्त केवल मौखिक परम्परा के रूप में ही वर्तमान था। इसका कोई सुव्यवस्थित रूप नहीं था। संभवतः अपर्याप्त आधारों पर ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना आरम्भ में की गई थी। परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य प्रणीत ध्वन्यालोक में ध्वनि-सिद्धान्त जिस रूप में उपलब्ध होता है वह अपने सभी अंशों में पूर्ण है। इसमें विविध प्रकार के विरोधियों की सभी सम्भावित आपत्तियों के निराकरण के उपरान्त ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना की गई है। अतएव यह विश्वास करना स्वाभाविक है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन उस समय में किया था जब कि काव्यविषयक वे सब सिद्धान्त प्रति-

पादित एवं भली भांति स्थापित हो चुके थे जिनके विषय में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं और जिनका खण्डन किया है। अतएव यह ज्ञात होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त को इतनी सुन्दर रीति से व्यवस्थित करने में सहायक कारण नूतनतम अन्विष्ट तथ्य ही थे।

काव्य के पूर्वकालीन सिद्धान्तों की रचना का आधार बाह्य विषयभूत तथ्य थे अतएव उनकी स्थापना करना अधिक आसान था और अधिक व्यापक रूप में वे मान्य होते थे। अभिनवगुप्त ने जिस प्राचीनतम ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी शास्त्रकार के मत के विषय में विचार किया है उसके अनुसार काव्य एवं काव्यानुभूति दोनों के निम्नलिखित केवल चार ही विधायक तत्त्व हैं :—

१. शब्द।
२. अर्थ।
३. शब्दों एवं अर्थों के गुण।
४. शब्दों एवं अर्थों के अलंकार। (शब्दार्थालंकार)

साहित्य-समीक्षा-कला के विकास के अत्यन्त पूर्वकालीन रूप को उपर्युक्त सिद्धान्त प्रकट करता है। उपर्युक्त सिद्धान्त वस्तुगत प्रत्यक्ष पर निर्भर है और इस में जिन तथ्यों पर विचार किया गया है वे सब बाह्यविषयरूप तथ्य हैं। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रभुत्व के स्थापित होने के पूर्व यह उपर्युक्त सिद्धान्त दृढ़ रूप से स्थापित था। उपर्युक्त सिद्धान्त के दृढ़ अनुयायी यह मानते थे कि :—

१. काव्य एवं काव्यानुभव में उपर्युक्त चार तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है।

२. यदि कोई ऐसा तत्त्व है तो उसका वर्गीकरण उपर्युक्त चार तत्त्वों के अन्तर्गत किया जा सकता है। क्योंकि उपर्युक्त चार तत्त्वों से कोई अन्य तत्त्व इतनी अधिक मात्रा में भिन्न नहीं हो सकता जिसको अन्य किसी पृथक् वर्ग के अन्तर्गत रखना युक्तिसंगत हो।

३. परन्तु यदि वास्तव में कोई ऐसा काव्य-तत्त्व है, जिसका प्रत्यक्ष काव्य-क्षेत्र में किसी शास्त्रकार ने किया है, जो मूल रूप से उपर्युक्त चार तत्त्वों से भिन्न है तो परम्परा-प्रतिष्ठित तत्त्वों से भिन्न होने के कारण अतएव अकाव्यात्मक होने के कारण उपेक्षणीय है। अतएव इस प्रकार का कोई आवश्यक काव्य-तत्त्व नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त तीन युक्तियाँ ध्वनि-सिद्धान्त के उन विरोधियों की हैं जो काव्य में ध्वनि-तत्त्व के अस्तित्व को पूर्णतया अस्वीकार करते हैं। यह स्पष्ट है कि

उनके विरोध का एकमात्र कारण प्रमुखतम मानसिक तथ्य के अस्तित्व के विषय में अज्ञान ही था। और इस मानसिक तथ्य का अनुभव करने में वे इसलिए असमर्थ रहे क्योंकि उनका दृष्टिकोण उस प्राचीन काव्य-सिद्धान्त के प्रति पक्षपातपूर्ण होने से दूषित था जिसके वे अनुयायी थे।

उपर्युक्त तीन युक्तियों में से प्रथम एवं अन्तिम युक्तियों को पृथक् रूप से खण्डित करने की आवश्यकता नहीं है। काव्यानुभव में ध्वनि-तत्त्व को प्रमुखतम रूप में स्थापित करने से ही ये दोनों युक्तियाँ स्वयं खण्डित हो जाएँगी। परन्तु दूसरी युक्ति का खण्डन करना आवश्यक है। इस युक्ति का प्रतिपादन विशेष रूप से उस आलंकारिक सम्प्रदाय के शास्त्रकारों ने किया है जो अलंकारों को काव्य के प्रमुखतम मूल तत्त्व मानते हैं। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि ध्वनि रसवत् अलंकार के एक गौण अंश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस मत का विशदरूप में खण्डन हम एक पृथक् उपप्रकरण में करेंगे जिसका शीर्षक निम्नलिखित होगा—'उपमा एवं रसवत् अलंकारों तथा रस-ध्वनि के क्षेत्रों में भेद'। परन्तु इस शीर्षक के अन्तर्गत उपप्रकरण को लिखने से पूर्व हम ध्वनि सिद्धान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के विरोधियों के मतों का उल्लेख संक्षिप्त रूप में करेंगे।

ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधियों के मतों का संक्षिप्त उल्लेख

ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधियों के तीन प्रमुख सम्प्रदायों से उठाई गई ध्वनि विरोधी आपत्तियों का संक्षिप्त उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :—

१. किसी शब्द से किसी अर्थ का बोध श्रोता को तभी होता है जब तदर्थ-विषयक एक परम्परा पूर्व समय में स्थापित होकर सजीव रूप से वर्तमान हो। ध्वन्यर्थ के विषय में किसी विशेष परम्परा की स्थापना नहीं हुई है अतएव कोई शब्द उसका वाहक नहीं हो सकता है। इसलिए ध्वन्यर्थ जैसे किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है।

२. यह सत्य है कि किसी शब्द को सुनकर हमें प्रायः ऐसे एक अर्थ का बोध होता है जो पूर्ण रूप से परम्परासिद्ध[1] नहीं होता परन्तु वह ध्वन्यर्थ तो नहीं होता है। वह लाक्षणिक अर्थ होता है। प्रायः दो शब्दों का प्रयोग एक

---

[1] ध्व० लो० ४

संयुक्त विचार को प्रकट करने के लिए किया जाता है। और क्योंकि पूर्वप्रयुक्त शब्द का अभिधेयार्थ परप्रयुक्त शब्द से असंगत होता है अतएव आवश्यक रूप से श्रोता को एक अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ का बोध होता है जिसको शास्त्रीय भाषा में लाक्षणिकार्थ कहते हैं। शास्त्र की भाषा में इसको 'भाक्त' भी कहा गया है। 'गंगायां घोषः' इस प्रकार के अर्थ का अत्यन्त प्रसिद्ध दृष्टान्त है। अभिधाशक्ति के अनुसार इसका अर्थ 'गंगा पर छोटे आकार का गाँव है' होता है। परन्तु क्योंकि गंगा शब्द का वाच्यार्थ 'एक विशेष जल—प्रवाह' है और जल प्रवाह पर छोटे आकार के गाँव का बसना भौतिक रूप में असंभव है इसलिए आवश्यक रूप से 'गंगा' शब्द से 'जल प्रवाह' रूप अर्थ प्रकट न होकर लक्षणाशक्ति से उत्पन्न 'गंगा के तट पर' ऐसा लाक्षणिकार्थ प्रकट होता है।

३. शब्द किसी भाव अथवा विचार के प्रतीक स्वरूप होते हैं। उनसे प्रतीकित भाव अथवा विचार के ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वे विचार अथवा भाव उन व्यक्तियों को ज्ञात हों जिनमें उन भावों को उद्बुद्ध कराने के लिए कथित शब्दों का प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है। यदि प्रकटनीय भाव अथवा विचार से कोई पूर्वपरिचय नहीं है और प्रतीकरूप शब्द एवं उससे प्रकटनीय भाव अथवा विचार का परस्पर सम्बन्ध अज्ञात है तो उस शब्द से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। दृष्टान्त के रूप में रतिक्रीडा के आनन्द को प्रकट करने वाले शब्दों का वाञ्छित अर्थ उस बालिका को ज्ञात नहीं हो सकता जिसकी आयु वैवाहिक जीवन के आनन्दों को जानने के लिए बहुत कम है।

इस प्रसंग में इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि लाक्षणिक अर्थ का बोध भी श्रोता को तभी होता है जब कि उस अर्थ का विशिष्ट शब्द के साथ परम्परा सिद्ध संबंध हो, यद्यपि शब्द एवं लाक्षणिक अर्थ के परस्पर संबंध की परम्परा उतनी मात्रा में लोकप्रसिद्ध नहीं होती जितनी कि शब्द और उसकी अभिधाशक्ति से उत्पन्न अर्थ की होती है। परन्तु लाक्षणिक अर्थप्रदायिनी परम्परा का ज्ञान होना उन व्यक्तियों के लिए परमावश्यक है जिनको इस लाक्षणिक अर्थ का बोध कराना वक्ता का लक्ष्य होता है। इस प्रकार से लाक्षणिक अर्थ की परम्परा को 'अप्रधान परम्परा' अथवा 'साहित्यिक परम्परा' के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। अतः कुछ ध्वनि-विरोधी यह मानते हैं कि ध्वन्यर्थ वाणी से अप्रकटनीय है क्योंकि ध्वन्यर्थ का उसके प्रत्यायक शब्द से ऐसा कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता जो श्रोता को ज्ञात

हो। अतएव ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधियों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. वे शास्त्रकार जो ध्वनि-सिद्धान्त को पूर्णतया अस्वीकार करते हैं।
२. वे शास्त्रकार जो ध्वन्यर्थ को एक प्रकार का लाक्षणिकार्थ मानते हैं।
३. वे शास्त्रकार जो ध्वन्यर्थ को वाणी से अप्रकटनीय मानते हैं।

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रथम कोटि के विरोधियों को निम्नलिखित अन्य तीन उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(अ) ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक यह मानते हैं कि काव्य-सौन्दर्य का प्रमुख स्रोत ध्वन्यर्थ ही है। परन्तु प्रथम वर्ग के ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी यह मानते हैं कि काव्य-सौन्दर्य के विधायक तत्त्व शब्दों का स्वरनिष्ठ सौन्दर्य तथा उनसे उत्पन्न श्रोता के अन्तःकरण में सरल अथवा मिश्रितरूप मानसिक चित्रों (अर्थों) की रमणीयता है। शब्द तथा अर्थ दोनों के सौन्दर्य काव्य-गुणों एवं शब्द और अर्थ के अलंकारों के कारण उद्भूत होते हैं। अतएव वे यह मानते हैं कि काव्य-सौन्दर्य के स्रोत वे ही हैं जिनका प्रतिपादन उन्होंने अपने शास्त्र में किया है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई स्रोत नहीं हैं। इस मत के अनुयायी शास्त्रकार प्रथम वर्ग के प्रथम उपवर्ग के अन्तर्गत गिने जाते हैं।

(आ) इस वर्ग के दूसरे उपवर्ग के शास्त्रकार यह कहते हैं कि काव्य-सौन्दर्य के स्रोतों के विषय में वे अन्तिम शब्द कह चुके हैं और काव्य-सौन्दर्य के जिन स्रोतों का उल्लेख उन्होंने अपनी सूची में किया है उनके अतिरिक्त अन्य किसी स्रोत से काव्य-सौन्दर्य उद्भूत ही नहीं हो सकता है।

(इ) तीसरे उपवर्ग के शास्त्रकार यह मानते हैं कि यदि काव्य-सौन्दर्य का कोई ऐसा स्रोत है जिसका उल्लेख उनकी काव्य-सौन्दर्य स्रोतों की सूची में नहीं किया गया है तो उस स्रोत की गणना सूची में लिखित किसी न किसी स्रोत के अन्तर्गत की जा सकती है। और यदि कोई काव्य-सौन्दर्य का स्रोत उनकी सूची में लिखित स्रोतों से भिन्न है तो वह भिन्नता इतनी अधिक महत्त्वहीन होती है जितनी महत्त्वहीन दो प्रकार के उपमालंकारों की परस्पर भिन्नता होती है। अतएव यह युक्तिसंगत नहीं है कि इस नए स्रोत का उल्लेख स्वतंत्र रूप से किसी भिन्न नाम से किया जाय। इस प्रकार से ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में पांच मतों का प्रतिपादन किया गया है।

ध्वनि-सिद्धान्त को पूर्णतया अस्वीकार करने वालों की युक्तियाँ

अपने सौन्दर्य के कारण एक काव्य-कृति विज्ञान संबंधी कृति से भिन्न होती है। अतएव ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यता स्थापित करने के लिए यह प्रमाणित करना आवश्यक है कि किसी न किसी रूप में ध्वनि से काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि होती है। परन्तु हमें यह ज्ञात है कि ध्वनि को काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि का कारण स्वीकार नहीं किया गया है। क्योंकि सामान्य रूप से काव्य की जिस परिभाषा को स्वीकार किया गया है वह यह है कि काव्य का शब्द एवं अर्थ शरीर है।

'शब्दार्थशरीरम् काव्यम्' (ध्व० लो० ५)

अतएव यदि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक काव्य की उपर्युक्त परिभाषा को स्वीकार कर लें तो उनकी मान्यता का रूप केवल इतना ही रह जाएगा कि 'शब्दों एवं अर्थों का संगठित रूप ध्वनि है।' यह केवल किसी स्थापित मान्य सिद्धान्त को एक नए और विलक्षण शब्द से अभिहित करना मात्र ही है। परन्तु यदि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक यह कहें कि यद्यपि ध्वनि का घनिष्ठतम सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ से है फिर भी काव्य की आत्मा होने के कारण यह एक भिन्न काव्य-सौन्दर्य का प्रमुख स्रोत है तो वे कठिनता से यह प्रमाणित कर सकेंगे कि 'ध्वनि' शब्द और अर्थ के गुणों तथा अलंकारों से भिन्न स्वतंत्र रूप से कोई वस्तु है। काव्य-सौन्दर्य या तो शब्द एवं अर्थ के स्वरूपों में वर्तमान होता है अथवा कुछ वर्णों के विलक्षण स्वरों की विशिष्ट संघटना से प्रकट होता है। काव्य-सौन्दर्य शब्दों एवं अर्थों के स्वरूप पर अथवा विशिष्ट शाब्दिक गुणों से युक्त वर्णों के यथा स्थान प्रयोग पर निर्भर होता है। इस प्रकार से काव्य-सौन्दर्य का ऐसा कोई भिन्न स्रोत अवशेष नहीं रह जाता जिसका उल्लेख पृथक् रूप से 'ध्वनि' के नाम से करना आवश्यक हो।

काव्य सम्बन्धी वृत्ति तथा रीति का भी कोई अपना स्वतन्त्र विशिष्ट अस्तित्व नहीं होता। क्योंकि 'वृत्ति' शब्दों के कुछ अलंकारों के समूह के नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतएव भामह के ग्रन्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं पर भी नहीं किया गया है। और यद्यपि उद्भट ने इस शब्द का प्रयोग किया है फिर भी इस शब्द से जो अर्थ वे प्रकट करना चाहते हैं वह शब्दालंकार से बहुत भिन्न नहीं है। रीति भी उन काव्य गुणों के सामंजस्यपूर्ण संगठन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिनका प्रयोग अभीष्ट चित्तवृत्तियों को उत्पन्न

करने के लिए आवश्यक होता है। अतएव इसका भी कोई अपना स्वतंत्र विशेष अस्तित्त्व नहीं होता है।

इस प्रकार से किसी काव्य-कृति के विश्लेपणात्मक अध्ययन के लिए जब हम उसका विश्लेषण करते हैं तो हमें कोई ऐसा तत्त्व प्राप्त नहीं होता है जिसको किसी पृथक् नाम 'ध्वनि'[1] से प्रकट किया जा सके।

और यदि विवाद के लिए हम यह स्वीकार भी कर लें कि 'ध्वनि' काव्य गुणों एवं अलंकारों से भिन्न कोई अन्य तत्त्व है तो भी ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक शास्त्रकार उसके उस रूप की सत्ता जिसे वह मानते हैं प्रमाणित नहीं कर सकते हैं। उनके मत के अनुसार 'ध्वनि' काव्य की आत्मा है। उनका काव्यविषयक यह मत तभी मान्य हो सकता है जब कि यह बहुत समय से चली आती हुई मान्य परम्परा में उपलब्ध तद्विषयक मत के अनुकूल हो। परन्तु काव्य के विषय में जो प्राचीन मत है वह शब्द, अर्थ, उनके गुण तथा उनके अलंकारों के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व को काव्य के मूल तत्त्व के रूप में अङ्गीकार नहीं करता है।

'शब्दार्थौ तद्गुणालंकाराश्च' (ध्व० लो० ७)

अतएव जिस स्वरूप में ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादक इसको मानते हैं वह न तो काव्य के किसी एक मूल तत्त्व के और न अनेक मूल तत्त्वों के समान है (जैसा कि विश्वास किया जाता है कि यह इनके समान नहीं है)। इसलिए काव्य के विषय में प्राचीन मत के अनुयायी ध्वनि के इस सिद्धान्त को मान नहीं सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि काव्य-विषयक प्राचीन मत को भूलकर हम निज काव्यानुभव का विश्लेषण करें तो भी हम उसमें कोई ऐसा तत्त्व नहीं पाते जो ध्वनि के उस माने हुए स्वरूप के समान हो जिसको काव्य की आत्मा कहा गया है। यह सम्भव है कि इस सिद्धान्त के प्रतिपादक काव्यानुभव में किसी ऐसे तत्त्व को अनुभव के आधार पर स्वीकार करते हैं जिसको वे ध्वनि कहते हैं। परन्तु जब तक इस तत्त्व को वे शास्त्रकार न अङ्गीकार कर लें जो काव्य विषयक प्राचीन मत के अनुयायी हैं तब तक सामान्यरूप से इस को मान्य नहीं माना जा सकता है।

ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधियों के उस उपवर्ग की युक्तियों की समीक्षा हम विस्तृत रूप से रसवत् एवं तत्समान अलंकारों के क्षेत्र की रसध्वनि के क्षेत्र से

---

[1] ध्व० लो० ७–८

भिन्नता की विवेचना के प्रसंग में करेंगे जो यह मानता है कि कुछ काव्यालंकारों में ध्वनि एक ऐसे सहायक तत्त्व के रूप में प्रतीत होती है जिसको अभी तक विशिष्ट मान्यता प्राप्त नहीं हो पायी है इसलिए उसको एक प्रभावशाली नाम से सम्बोधित करना तथा उसको काव्य की आत्मा स्वीकार करना यथेष्ट रूप में न्यायसंगत नहीं है।

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों की मूल युक्तियाँ

ध्वनि सिद्धान्त के विरोधियों के मत का खण्डन पाठकों की समझ में सरलतापूर्वक आ सके इसलिए हम ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों की मूल युक्तियों को निम्नलिखित संक्षिप्त परन्तु स्पष्टरूप में प्रकट करेंगे :—

(१) सामयिक आवश्यकता के अनुसार शब्द एवं अर्थ उनके गुण एवं अलंकार तथा रीति और वृत्ति सभी आवश्यक होते हैं। परन्तु काव्य-कृति में सर्वाधिक मूल तत्त्व जो उसका आत्मरूप ही होता है ध्वनि ही है।

(२) पाठक को ध्वन्यर्थ का जो बोध किसी काव्य-कृति से होता है उसका कारण भाषा की लक्षणा शक्ति नहीं हो सकती है।

(३) प्रभाकर ने जिस अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन किया है वह भी ध्वन्यर्थ के उद्भव के कारण को स्पष्ट नहीं कर पाता है।

(४) भट्टनायक ने ध्वन्यर्थ की जो व्याख्या की है वह भी समान रूप से असन्तोषप्रद है।

(५) रसवदलंकार के समान अलंकारों से ध्वन्यर्थ का क्षेत्र सर्वथा भिन्न है।

परन्तु इसके पूर्व कि हम उपर्युक्त मान्यताओं की विशद रूप से व्याख्या करें हम 'ध्वनि' शब्द के उन विभिन्न अर्थों का उल्लेख करेंगे जिनमें अभिनवगुप्त ने इस शब्द का प्रयोग किया है और यह स्पष्ट करेंगे कि इन अर्थों में ध्वनि शब्द का प्रयोग करने में उन्हें उत्प्रेरणा कहां से मिली।

ध्वनि शब्द के विभिन्न अर्थ एवं उनके उत्पत्ति-स्रोत

सर्वप्रथम ध्वनि शब्द का प्रयोग वैयाकरणों ने निम्नलिखित अर्थों में यथालिखित कारणों से किया था :—

१. इस शब्द का प्रयोग वर्णरूप में उच्चारणीय शब्द के अर्थ में इसलिए किया गया है क्योंकि इससे, घण्टा की आवाज से उत्पन्न अव्यक्त ध्वनि-तरंगों

(sound-waves) की भाँति, व्यक्त ध्वनि-तरंगें उत्पन्न होती हैं। वैयाकरण ध्वनि के ऐन्द्रिय–बोध की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं। ध्वनि के ऐन्द्रिय-बोध का कारण कर्णोदर से उन ध्वनि-तरङ्गों में से एक तरङ्ग का संसर्ग है जो अपने स्रोत से यथाक्रम उत्पन्न होती हैं। ध्वन्यर्थ-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने इस (ध्वनि) शब्द का प्रयोग व्यंग्य अर्थ के लिये इसलिए किया है क्योंकि ध्वन्यर्थ का बोध जिस प्रक्रिया से होता है वह 'ध्वनि' के ऐन्द्रियबोध की प्रक्रिया के तुल्य ही है। ठीक जिस प्रकार से क्रमागत ध्वनियों अथवा ध्वनि-तरंगों के साधन से श्रोता को ध्वनि का इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार से सहृदय को ध्वन्यर्थ का बोध वाच्यार्थ, तात्पर्यार्थ, लाक्षणिकार्थ के यथाक्रम बोध के साधन से होता है।

२. शैवागमों में प्रतिपादित सर्वात्म, पूर्ण, सर्वव्याप्त चित् तत्त्व के समान वैयाकरण सामान्यरूप सर्वव्यापी 'नाद' में विश्वास करते हैं जिसको शास्त्रीय भाषा में वे 'स्फोट' कहते हैं। पद–स्फोट आदि इसके अनेक उपभेद हैं। उनके मत के अनुसार किसी शब्द के अर्थ की प्रतीति के लिए उस शब्द के स्फोट का ज्ञान उसी प्रकार से आवश्यक है जिस प्रकार से किसी विशेष वस्तु के बोध के लिए उसकी जाति का ज्ञान आवश्यक है। वास्तविकता यह है कि वैयाकरणों से प्रतिपादित 'पद–स्फोट' अधिकांश रूप में नैयायिकों से प्रतिपादित 'जाति' के बिल्कुल समान ही है। पद-स्फोट सामान्यरूप स्फोट का अंश मात्र ही है। और यह स्फोट उस समय प्रकट होता है जब कोई श्रोता किसी शब्द के ध्वनि समूह में से अन्तिम ध्वनि का बोध क्रमागत पूर्वध्वनियों के संस्कारों से संबंधित रूप में करता है। व्याकरण शास्त्र के प्रतिपादक 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग शब्द की उस अन्तिम ध्वनि के लिए करते हैं जिसके कारण प्रधानरूप से स्फोट प्रकट होता है। ध्वन्यर्थ-सिद्धान्त प्रतिपादकों ने वैयाकरणों का अनुगमन करते हुए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग ध्वन्यर्थ उत्पादक शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए किया है। इसका सीधा सा कारण यह है कि जिस प्रकार से पद के अन्तिम उच्चरित वर्ण से श्रोता के अन्तःकरणमें पद-स्फोट का उदय होता है उसी प्रकार से ध्वन्यर्थ उत्पादक शब्द अथवा ध्वन्यर्थ उत्पादक अर्थ से ध्वन्यर्थ का बोध उत्पन्न होता है[१]।

३. एक ही पद का उच्चारण दो व्यक्ति करते हैं। दोनों व्यक्तियों से उच्चरित पद के विधायक वर्ण एक समान ही हैं। अतएव दोनों के विषय

---

[१] ध्व० लो० ४७

में यह कहा जा सकता है कि उनका उच्चारण करने का प्रयत्न समान ही है। परन्तु उनमें से एक व्यक्ति उच्चारण के लिए आवश्यक अवयवों का संचालन वेग से और दूसरा मन्द रूप से करता है। परिणाम यह होता है कि वेग से उच्चरित पद के प्रसंग में हमें पद के वर्णों का ऐन्द्रिय-बोध शीघ्रता से तथा मन्द गति से उच्चरित पद के प्रसंग में हमको पद के वर्णों का ऐन्द्रिय-बोध मन्द गति से होता है। बोलने में पद के वर्णों के उच्चारण में वेग अथवा मन्दता जिस क्रिया के कारण उत्पन्न होती है उसको वैयाकरण ध्वनि इसलिए कहते हैं क्योंकि यह एक अन्य क्रिया है। इसी प्रकार से ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने शब्द की उस अन्य क्रिया को 'ध्वनि' कहा है जिससे ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति होती है। इसका कारण यह है कि कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो अभिधेयार्थ, तात्पर्यार्थ एवं लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करने वाली क्रिया के अतिरिक्त ध्वन्यर्थ को प्रकट करने वाली क्रिया को भी करते हैं।

४. इस[1] शब्द का प्रयोग उस काव्य-कृति के लिए भी किया जाता है जिसमें ध्वन्यर्थ का अस्तित्व होता है, और जो अपने समग्र रूप में ध्वन्यर्थ के बोधन का साधन रूप होती है।

इस प्रकार से ध्वनि शब्द का प्रयोग निम्नलिखित पांच अर्थों में किया गया है—(१) परम्परागत प्रतीक, वर्णों में प्रकटनीय शब्द (२) अभिधेयार्थ (३) शब्द की ध्वन्यर्थ[2] उत्पादक शक्ति (४) स्वयं ध्वन्यर्थ एवं (५) ध्वन्यर्थ युक्त काव्यकृति।

अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्य का स्वरूप

सन्देह शून्य रूप में यह स्वीकार किया गया है कि ध्वन्यर्थ काव्य की आत्मा है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ध्वन्यर्थ मात्र ही काव्य है। ध्वन्यर्थ के अस्तित्व के कारण ही किसी कथन को काव्य मान लेना वैसा ही युक्तिहीन है जैसा कि सर्वव्याप्त आत्मा के सर्वत्र विद्यमान होने के कारण एक घट को 'जीव' मान लेना होता है। तर्क शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार यदि चलें तो घट को 'जीव' मानने में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती है क्योंकि कुछ अवच्छेदकों से युक्त होने पर 'आत्मा' को जीव कहा जाता है। आत्मा सर्वव्याप्त है इसीलिए उसका अस्तित्व घट में उसी मात्रा में

---

[1] ध्व० लो० ४७

[2] ध्व० लो० ४८

होता है जिस मात्रा में उसका अस्तित्व एक मनुष्य के शरीर में होता है। परन्तु मनुष्य के शरीर में वर्तमान आत्मा को तो जीव कहते हैं लेकिन घट से संबंधित आत्मा को जीव नहीं कह सकते हैं। अतएव जिस प्रकार से मनुष्य या किसी प्राणी की कुछ विशेष अवस्थाओं में जब आत्मा का अस्तित्व होता है तभी उस शरीर को जीव कहते हैं और उस प्रत्येक वस्तु को जीव नहीं कहते हैं जिसमें सर्वव्याप्त आत्मा का अस्तित्व होता है, उसी प्रकार से ध्वन्यर्थ सहित शब्दों एवं अर्थों के उसी सुसंगठित समुदाय को काव्य कहते हैं जिसमें शब्दार्थ-गुणालंकार[1] से उद्भूत सौन्दर्य होता है। यही कारण है कि गंगायां घोषः (गंगा पर छोटा गांव बसा है) अथवा सिंहो माणवकः (यह बालक सिंह है) आदि कथनों में ध्वन्यर्थ वर्तमान होने पर भी उनको काव्य नहीं माना जा सकता है। काव्यकृति में ध्वन्यर्थ के साथ शब्दों और अर्थों, उनके गुणों एवं अलंकारों तथा रीति एवं वृत्ति का परस्पर वही संबंध है जो आत्मा, शरीर एवं उसके अलंकार आदि में परस्पर वर्तमान होता है। जिस प्रकार से मनुष्य के अस्तित्व मात्र के लिए मानवीय गुण एवं अलंकार आवश्यक नहीं होते उसी प्रकार से काव्य के लिए काव्य गुण तथा अलंकार भी आवश्यक नहीं होते हैं। जिस प्रकार से विभिन्न मानवीय गुण और अलंकार एक व्यक्ति की शोभा को उसी समय बढ़ाते हैं जब उनका प्रयोग समय, देश, व्यक्ति की आत्मिक अथवा मानसिक दशा के अनुकूल किया जाता है उसी प्रकार से शब्द संबंधी गुणों और अलंकरणों से काव्य की शोभा बढ़ जाती है। यदि मानवीय गुणों एवं अलंकारों का प्रयोग समय, देश, परिस्थिति आदि के प्रतिकूल किया जाय तो वे व्यक्तिगत सौन्दर्य को निश्चित रूप से नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार से काव्य सौन्दर्य भी नष्ट हो जाता है जब उसके अलंकारों आदि का प्रयोग परिस्थितियों के प्रतिकूल होता है। परन्तु जिस प्रकार से प्राणी के अस्तित्व ही के लिए आत्मा आवश्यक है उसी प्रकार से ध्वन्यर्थ भी काव्यकृति के लिए आवश्यक है।

लक्षणावादियों की युक्तियों की व्याख्या

पूर्व उपप्रकरण में हम यह बता चुके हैं कि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने कौन से विभिन्न अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रसंग में हमने यह भी स्पष्ट किया है कि 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग केवल ध्वन्यर्थ के लिए ही नहीं किया गया है वरन् ध्वन्यर्थ उत्पादक शब्द की शक्ति के लिए भी किया गया है। लक्षणावादी कथित ध्वन्यर्थ के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं

[1] ध्व० लो० १७

करते। ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में उनकी मुख्य आपत्ति ध्वनि को शब्द की एक विलग रूप शक्ति स्वीकार करने के विषय में है। उनका अभिमत यह है कि कथित ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति को शब्द की लक्षणा शक्ति से व्याख्यात किया जा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि शब्द की अर्थ-उत्पादक शक्ति तथा उससे उत्पन्न अर्थ में भेद होता है। शब्द की शक्ति को वे 'लक्षणा' और इस शक्ति से उत्पन्न अर्थ को 'लाक्षणिकार्थ' कहते हैं।

ध्वनि-सिद्धान्त के यदि हम इन विरोधियों के अभिमत का विश्लेषण करें तो हमको यह ज्ञात होगा कि उनके विरोध का आधार निम्नलिखित निष्कारण मानी हुई बातों में से एक न एक बात है :—

१. ध्वनि लक्षणा से भिन्न नहीं है अर्थात् ध्वनि एवं लक्षणा समानार्थक शब्द हैं अतएव उनका अभिधेय एक ही वस्तु है।

२. लाक्षणिकार्थ ध्वन्यर्थ का स्वाभाविक चिह्न है, अर्थात् जहां पर लाक्षणिकार्थ होगा वहां पर ध्वन्यर्थ अवश्य होगा।

३. ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव है।

लक्षणावादियों की युक्तियों का खण्डन

१—शब्द-शक्ति के रूप में ध्वनि एवं लक्षणा को एकरूप अथवा अभिन्न इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों मूलतः भिन्न हैं। उनके क्षेत्र भिन्न हैं। ध्वनि-शक्ति का वह क्षेत्र है जहां पर शब्द तथा अर्थ दोनों का ही प्रयोग ध्वन्यार्थ-बोध को उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। इस ध्वनि-शक्ति को हम एक दृष्टान्त से गत उपप्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु शब्द की लक्षणा शक्ति का प्रयोगक्षेत्र वहां होता है जहां पर किसी बात को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया हो अथवा किसी बात को असाधारण रूप से महत्व-पूर्ण अंकित किया गया हो जैसा कि गंगायां घोषः अथवा सिंहो माणवकः वाक्यों में किया गया है। प्रथम दृष्टान्त में छोटे आकार के गांव की गंगा से निकटता को एवं दूसरे उदाहरण में सिंह के साथ बालक की समानता को अत्यंत बढ़ा चढ़ा कर कहा गया है। इसके अतिरिक्त बहुधा यह होता है कि किसी ऐसे वाक्य का प्रयोग किया जाता है जिससे व्यंग्यार्थ अभिव्यक्त हो सकता है और इस कारण वह व्यंजनाशक्ति के व्यापार का क्षेत्र बन सकता है, फिर भी भाषा की चौथी शक्ति अर्थात् ध्वन्यर्थ उत्पन्न करने की शक्ति जो भाषा की तीसरी शक्ति अर्थात लक्षणा शक्ति से भिन्न है उस

वाक्य के व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने के लिये सक्रिय नहीं होती है। यद्यपि वाक्य के चतुर्थ अर्थ अर्थात् ध्वन्यर्थ का बोध उस कथन से प्राप्त हो सकता है फिर भी अनावश्यक होने के कारण इस अर्थ की पूर्ण उपेक्षा कर दी जाती है, इसी कारण श्रोता को उसका बोध नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में लाक्षणिकार्थ की प्रतीति के उपरान्त तुरन्त ही अर्थ समझने की प्रक्रिया का अन्त हो जाता है। इस प्रकार से यदि शब्द की एक शक्ति उस समय भी सक्रिय हो सकती है जिस समय उसकी दूसरी शक्ति निष्क्रिय होती है, अर्थात् शब्द की ध्वनि शक्ति के पूर्णरूप से उस समय निष्क्रिय होने पर भी जब उसके सक्रिय होने की सम्भावना वर्तमान हो यदि भाषा की लक्षणा शक्ति सक्रिय होकर लाक्षणिकार्थ[1] को उत्पन्न कर देती हो तो दोनों शक्तियां एकरूप कैसे हो सकती हैं ?

२—लाक्षणिकार्थ को ध्वन्यर्थ का स्वाभाविक चिह्न स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वर्तमान साहित्य में इस प्रकार के असंख्य दृष्टान्त हैं जहां पर शब्दों का लाक्षणिकार्थ में प्रयोग केवल परम्परा सिद्ध होने के कारण ही किया गया है परन्तु अभिप्रेत न होने के कारण उनसे किसी भी प्रकार के ध्वन्यर्थ का ज्ञान नहीं होता है। जैसे कि 'तथ्य स्वयं बोलते हैं।'

उपर्युक्त दृष्टान्त में लाक्षणिकार्थ से पृथक् किसी ध्वन्यर्थ को उत्पन्न करने का अभिप्राय नहीं है। व्यवहार में प्रचलित होने के कारण ही 'बोलते हैं' शब्दों का उपयोग इस प्रसंग में किया गया है। और 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' में लाक्षणिकार्थ का बोध बिल्कुल ही नहीं होता है क्योंकि ध्वन्यर्थ की प्रतीति तुरन्त ही हो जाती है। ध्वन्यर्थ तथा लाक्षणिकार्थ में कोई साहचर्यनियम (व्याप्ति) एवं अविनाभाव संबंध न होने के कारण लाक्षणिकार्थ को ध्वन्यर्थ का स्वाभाविक चिह्न नहीं माना जा सकता है।

३—एक स्वतंत्र व्यापार अथवा एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में ध्वनि का लक्षणा से भेद उपर्युक्त पंक्तियों में प्रतिपादित किया जा चुका है, अर्थात् हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि ध्वनि शक्ति से उत्पन्न अर्थ लक्षणा शक्ति से उत्पन्न अर्थ से भिन्न होता है। प्रत्येक शक्ति के व्यापार का अपना एक विशेष स्वरूप होता है। एक शक्ति को दूसरी शक्ति से केवल इसीलिए भिन्न नहीं माना जाता है क्योंकि उनसे उत्पन्न परिणाम भिन्न रूप होते हैं वरन् उनको इसलिए भी भिन्न माना जाता है क्योंकि वे भिन्न रूपों में अपना अपना

[1] ध्व० लो० ५१

व्यापार करती हैं। ध्वनि–सिद्धान्त के विरोधियों का यह कथन मान्य नहीं है कि ध्वनि तथा लक्षणा शक्तियां एक रूप हैं क्योंकि उनके व्यापारों के स्वरूप[1] भिन्न हैं।

प्रक्रिया का विश्लेषण

१. भाषा की लक्षणा शक्ति से लाक्षणिकार्थ की प्रतीति निम्नलिखित प्रक्रिया-क्रम के अनुसार होती है—

(अ) दो शब्दों के अभिधेयार्थों का बोध।

(आ) दोनों अर्थों के परस्पर विरोध का ज्ञान।

(इ) द्वितीय अथवा विलक्षण शब्दार्थ संबन्ध की परम्परा (convention) की प्रतीति।

(ई) उस विचार तथा उन विचारों का बोध जिनसे परस्पर विरोध का निराकरण हो जाता है।

(उ) पूर्ण रूप लाक्षणिकार्थ की प्रतीति।

२. परन्तु भाषा की ध्वनि-शक्ति से ध्वन्यर्थ की प्रतीति निम्नलिखित प्रक्रिया-क्रम के अनुसार होती है :—

(अ) दो शब्दों के अभिधेयार्थ के ज्ञान से ही सर्वदा ध्वन्यर्थ की प्रतीति नहीं होती, वरन् किसी विशेष प्रसंग में एक ही शब्द के अर्थज्ञान से और कभी एक शब्दांश के अर्थज्ञान से ही इसकी प्रतीति हो जाती है।

(आ) यदि किसी प्रसंग में दो व्यंजक शब्दों का प्रयोग किया गया हो तो यह आवश्यक नहीं है कि उन दोनों के अभिधेयार्थों में परस्पर विरोध का ज्ञान हो।

(इ) ध्वन्यर्थ के प्रसंग में बहुधा किसी द्वितीय अथवा विलक्षण शब्दार्थ-संबंध की परम्परा का ज्ञान नहीं होता।

(ई) ध्वनि-शक्ति के व्यापार से जिन विचारों की उत्पत्ति होती है उनका स्वरूप ऐसा नहीं होता जिससे केवल परस्पर विरोध[2] का ही निराकरण होता हो वरन् वे किसी प्रसंग में अनभिहित एवं अनभिधेय अर्थ को प्रकट करते हैं।

(उ) पूर्ण ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति।

---

[1] ध्व० लो० ५५

[2] ध्व० लो० ५४

लक्षणा शक्ति का दूसरा स्वरूप एवं उसका निराकरण

कुछ शास्त्रकारों ने लक्षणा शक्ति की परिभाषा निम्नरूप में लिखी है—'भाषा की यह वह शक्ति है जो वाच्यार्थ से भिन्न किसी उस अर्थ का बोध उत्पन्न करती है जिसका वाच्यार्थ के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होता है (अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिः)। इस परिभाषा को मानने वाले आचार्य ध्वन्यर्थ एवं लाक्षणिकार्थ में किसी भेद के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य यह बात है कि इस परिभाषा का कोई संबंध अर्थ उत्पन्न करने की प्रक्रिया के साथ न होकर स्वयं अर्थ के साथ है। अतएव लक्षणा की उपर्युक्त परिभाषा को माननेवाले ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी यह मानते हैं कि वह अर्थ जिसे ध्वन्यर्थ कहा जाता है और जिसकी उत्पत्ति में अभिधेयार्थ, तात्पर्यार्थ एवं लाक्षणिकार्थ का क्रमशः साक्षात्कार नहीं होता, लाक्षणिकार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि कथित ध्वन्यर्थ भी एक ऐसा अर्थ होता है जिसका वाच्यार्थ के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अतएव रसानुभव के मूल तत्त्व के बोध की उत्पत्ति ध्वनि शक्ति से न होकर उस लक्षणाशक्ति से होती है जिसकी परिभाषा गत पंक्तियों में लिखी गई है। इसका कारण यह है कि रसानुभव में स्थायी भाव का अनुभव होता है। इस स्थायी भाव को भाषा की उस अभिधाशक्ति से प्रकट नहीं किया जा सकता है जो विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव को प्रकट करती है। परन्तु इस चौथे प्रकार के अर्थ के बोध को उत्पन्न करने के लिए भाषा की चौथी शक्ति की स्थापना करना अनावश्यक है। क्योंकि भाषा की लक्षणा शक्ति में उन सभी अर्थों को उत्पन्न करने की क्षमता होती है जिनका वाच्यार्थ के साथ अविनाभाव संबंध होता है। अतः लक्षणा शक्ति से ही स्थायी भाव के उस बोध की उत्पत्ति की व्याख्या की जा सकती है जिसकी उत्पत्ति के लिए भाषा की एक अन्य शक्ति 'ध्वनि' की स्थापना की गई है।

यदि थोड़ी सी भी सावधानी के साथ विचार किया जाय तो उपर्युक्त मत की सारहीनता तुरन्त स्पष्ट हो जाएगी। यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि साहचर्य नियम (law of association) के अनुसार एक वस्तु के बोध से उस दूसरी वस्तु का बोध उत्पन्न होता है जो पूर्वज्ञात वस्तु के साथ सम्बन्धित होती है। दृष्टान्त के लिए जब कोई व्यक्ति स्वदेश की भाषा में प्रयुक्त होने वाले उस शब्द को सुनता है जिसका अभिधेयार्थ धुआँ है तो साहचर्य के नियम के अनुसार उसकी बुद्धि में स्वाभाविक रूप में 'अग्नि' का विचार उत्पन्न हो जाता है।

उसकी स्मृति में 'अग्नि' का संबंध उसकी दाहकता आदि शक्तियों से होता है। लक्षणा की उपर्युक्त परिभाषा के अनुयायी इस प्रकार से संबंधित सभी विचारों (अर्थों) को लाक्षणिकार्थ स्वीकार करने और लाक्षणिकार्थ की अनिश्चित रूपता एवं अनियतरूपता को मानने पर बाध्य होंगे। परन्तु यदि ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी यह कहें कि उपर्युक्त दृष्टान्त में 'धूम' शब्द में केवल एक विशेष अर्थ को उत्पन्न करने की ही शक्ति है क्योंकि इसकी यह शक्ति इतनी अल्प है कि उससे केवल उसके विशिष्ट अर्थ की ही उत्पत्ति होती है और उन अन्य अनेक अर्थों की उत्पत्ति नहीं होती जिनका संबंध उसके विशिष्ट अर्थ के साथ है, तो इस प्रकार की शब्दगत अल्प शक्ति को स्वीकार करने से विपक्षी को एक नई आपत्ति का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि इसका माने यह होगा कि लाक्षणिकार्थ को उत्पन्न करने के लिए एक अन्य कारण की आवश्यकता है। और यदि यह कहा जाय कि विशेष प्रसंग में दो शब्दों के वाच्यार्थों में पारस्परिक सम्बन्ध की असम्भावना अथवा उनमें पारस्परिक संगति के अभाव के कारण लाक्षणिकार्थ उत्पन्न होता है तो इसका अर्थ यह होगा कि लाक्षणिकार्थ से ध्वन्यर्थ भिन्न है क्योंकि ध्वन्यर्थ[1] में उक्त प्रकार की कोई असंभावना आवश्यक रूप से वर्तमान नहीं होती है।

ध्वनि के स्थान पर लक्षणलक्षणा

गत उपप्रकरण में हमने ध्वनि-सिद्धान्त के उन विरोधियों के मत का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है जिनकी मान्यता यह है कि ध्वनि-शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि भाषा की लक्षणाशक्ति से ही वे सब अर्थ उत्पन्न हो जाते हैं जिनका किसी भी प्रकार से वाच्यार्थ से संबंध है तो कथित ध्वन्यर्थ भी लाक्षणिकार्थ की कोटि में आ जाता है। इस युक्ति का खंडन करते हुए हमने यह कहा है कि इस प्रकार के अभ्युपगम का माने यह होगा कि सभी प्रसंगों में अपर्यवसित अथवा अनिश्चित रूप अर्थ का ही बोध होता है। और यदि 'गंगायां घोषः' के समान उदाहरणों से किसी निश्चित रूप अर्थ के बोध की उत्पत्ति का दो शब्दों के अर्थों में पारस्परिक असंगति कारण माना जाय तो उसका माने यह होगा कि भाषा की ध्वनि शक्ति को मानना आवश्यक है। अतएव ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी लाक्षणिकार्थ

[1] ध्व० लो० ५६

को निश्चितरूपता प्रदान करने के लिए लक्षणा के एक उपभेद की स्थापना करते हैं जिसको शास्त्रीय भाषा में लक्षण-लक्षणा कहते हैं।

उनके अभिमत का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :—

भाषा की सामान्य लक्षणा शक्ति से किसी वाक्य से सामान्य लाक्षणिकार्थ का बोध उत्पन्न होता है जैसे कि 'गंगायां घोषः' से 'गंगातीरे घोषः' का बोध उत्पन्न होता है। परन्तु गांव की शीतलता, पवित्रता आदि अर्थों का बोध लक्षणलक्षणा से उत्पन्न होता है। अर्थात् भाषा की लक्षणाशक्ति लाक्षणिकार्थ 'तट' को उत्पन्न करने के बाद फिर एक बार व्यापार करती है और शीतलता, पवित्रता आदि अर्थों के बोध का कारण बनती है। अतएव ध्वन्यर्थ के विरोधियों के मतानुसार ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति की व्याख्या लक्षणाशक्ति के उपभेद लक्षण-लक्षणा को मानकर स्पष्टरूप से की जा सकती है।

लक्षणलक्षणा का खण्डन

ध्वनि शक्ति के विरोधियों को निम्नलिखित दो बातों का स्पष्टीकरण करना चाहिए :—

१. क्या भाषा की लक्षणलक्षणा शक्ति उन सब अर्थों को जागृत करती है जिनको ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादक भाषा की ध्वनि शक्ति से जागृत किया गया मानते हैं? और क्या सभी अर्थों को एक ही व्यापार से जागृत करती है अथवा जागृत किए गए विचारों की संख्या के अनुसार वह शक्ति अनेक बार अपने व्यापार को करती है?

२. क्या भाषा की लक्षणलक्षणा शक्ति उसी दशा में अपना व्यापार करती है जब किसी प्रसंग में प्रयुक्त शब्दों के वाच्यार्थों में परस्पर विरोध होता है?

यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि भाषा की लक्षणलक्षणा शक्ति केवल एक ही बार अपना व्यापार करती है और उसको इस एकात्म व्यापार में प्रवृत्त होने के लिये श्रोता से ज्ञात अर्थों के परस्पर विरोध का अनुभव कारण रूप में आवश्यक नहीं है तो ध्वनि शब्द के ही लिये अथवा उसी के अर्थ में लक्षण-लक्षणा शब्द का प्रयोग किया गया है और इसको भाषा की लक्षणा शक्ति का एक उपभेद मानना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि लक्षणा शक्ति का विशिष्ट स्वभाव यह है कि यह उसी समय सक्रिय होती है जब परस्पर विरोध (स्खलद्गति) का बोध होता है। परन्तु यदि यह कहा जाय कि इसकी सक्रियता के लिये परस्पर विरोध का ज्ञान आवश्यक है, अर्थात् जितनी बार

एक अधिक विचार उत्पन्न होता है उतनी ही बार यह शक्ति सक्रिय होती है और इस प्रकार के प्रत्येक नूतन विचार की उत्पत्ति के प्रसंग में शब्दार्थों के पारस्परिक विरोध का अनुभव एक आवश्यक दशा है तो यह कहना नितान्त युक्तिहीन है[1], क्योंकि इसमें अनवस्था दोष है। ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी एक तथ्य और भूल जाते हैं। वह तथ्य यह है कि ध्वन्यर्थ के बोध में परस्पर विरोध का अनुभव आवश्यक नहीं है।

लक्षणा सिद्धान्त के खण्डन का सारांश

लक्षणा शक्ति का कर्त्तव्य केवल इतना ही है कि एक वाक्य में प्रयुक्त किये गये विभिन्न शब्दों के अर्थों में जो परस्पर विरोध प्रत्यक्ष रूप में अनुभूत होता है उसका परिहार करने के लिए एक अधिक अर्थ को उत्पन्न कर दे। उदाहरण के लिये 'गंगा पर छोटे आकार का एक गांव है' वाक्य में 'तट' का विचार (अर्थ) और 'बालक सिंह है' में 'समानता' का विचार (अर्थ) ऐसे विचार हैं जो वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों में परस्पर विरोध का परिहार कर देते हैं। वे विचार (अर्थ) जो किसी एक व्यक्ति को इस प्रकार के परस्पर विरोधी अर्थों को उत्पन्न करने वाले शब्दों के प्रयोग के लिए उत्प्रेरित करते हैं श्रोता के अन्तःकरण में एक बिलकुल भिन्न शक्ति से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि एक भिन्न शक्ति मानने का आधार एक विशिष्ट व्यापार होता है जो कि वह शक्ति करती है। और जब किसी एक शक्ति के सक्रिय होने के लिए एक प्रकार की ऐसी सहकारी परिस्थिति आवश्यक होती है जो उस सहकारी परिस्थिति से भिन्न होती है जिसमें कोई अन्य शक्ति सक्रिय होती है एवं जब विभिन्न शक्तियों के परिणाम भी भिन्न भिन्न होते हैं—तब ऐसी शक्तियों को स्वाभाविक रूप से परस्पर भिन्न माना जाता है (सहकारिभेदाच्च शक्तिभेदः)।

शब्दों की ध्वनिशक्ति के व्यापार से जिन अर्थों या विचारों की उत्पत्ति होती है वे लक्षणा शक्ति से उत्पन्न किये गए अर्थों या विचारों से आवश्यक रूप से भिन्न होते हैं। लक्षणा-शक्ति के सक्रिय होने के लिए आवश्यक सहकारी परिस्थिति का स्वरूप वाक्य के विभिन्न विधायक अंशों के अर्थों में प्रत्यक्षरूप से संगति का अभाव होता है। परन्तु ध्वनि शक्ति के सक्रिय होने के लिए ऐसी किसी सहकारी परिस्थिति की आवश्यकता नहीं होती। यदि किसी कथन का प्रयोजन उस अर्थ को अभिव्यक्त करना हो जिसको अभिधायक शब्दों में प्रकट

[1] ध्व० लो० १८

न किया गया हो अथवा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में जिसको अभिधायक शब्दों में प्रकट न किया जा सकता हो तो ऐसे अर्थ को एक विशेष शब्दानुक्रम अथवा विशेष चुने हुए शब्दों से ध्वनित किया जाता है। इस अर्थ को समझने के लिए श्रोता में प्रतिभाशक्ति अर्थात् मानसिक साक्षात्कार करने की शक्ति आवश्यक होती है। लाक्षणिकार्थ के बोध के लिए जिस द्वितीय अथवा विलक्षण शब्दार्थ-संबंध की परम्परा के ज्ञान की आवश्यकता होती है उससे ध्वन्यर्थ का बोध नहीं हो सकता है। अतएव लक्षणा एवं ध्वनि शक्तियों को भिन्न मानना चाहिए।

प्रभाकर के मतानुयायियों का अन्विताभिधानवाद

न्याय मत के अनुयायी एवं कुमारिल भट्ट के मतावलम्बी अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त भी इस मत का समर्थन करते हैं। इस सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण हम गत पृष्ठों में लिख आए हैं। इसके विरोध में प्रभाकर के मतावलम्बियों ने अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन किया है। उनका अभिमत यह है कि न्यायमत के अनुयायिओं और कुमारिल भट्ट के मतावलम्बियों ने शब्द की एक अन्य शक्ति अर्थात् तात्पर्यशक्ति का जो प्रतिपादन किया है तथा अन्य शास्त्रकारों ने जो ध्वनिशक्ति का प्रतिपादन किया है उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अभिधाशक्ति से ही सभी प्रकार के अर्थों की उपलब्धि हो जाती है। इसको वे निम्नप्रकार से सिद्ध करते हैं :—

जिस प्रकार से दूर से दूरतर वस्तु को बेधने की एक बाण की शक्ति धनुर्धारी की क्षमता तथा निपुणता पर निर्भर होती है उसी प्रकार से साधारण रूप में अप्रकटनीय अर्थों को प्रकट करने की शब्द की शक्ति लेखक तथा वक्ता की प्रयोग-निपुणता पर निर्भर होती है। जिस प्रकार से बाण के संबंध में निकट एवं दूर की वस्तु को बेधने की शक्तियों को विभिन्न रूप नहीं माना जाता है उसी प्रकार से शब्दों के प्रसंग में विभिन्न संदर्भों में विभिन्न विचारों की उत्पत्ति के लिए अनेक शक्तियों का प्रतिपादन करना अनावश्यक है।

अन्विताभिधानवाद का खंडन

शक्तियों की पारस्परिक भिन्नता मानने का आधार उनके व्यापारों में भिन्नता होती है। और एक व्यापार दूसरे से भिन्न इस लिए माना जाता है क्योंकि उनके क्षेत्र तथा साधन भिन्न भिन्न होते हैं। अन्विताभिधानवादियों को इस प्रसंग में निम्नलिखित प्रश्न का उत्तर देना चाहिए कि शब्दों की दूरगामिनी

शक्ति एक ही व्यापार करती है अथवा अनेक ? विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय होने के कारण यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि शब्द-शक्ति केवल एक ही व्यापार करती है। एक समय में इससे एक अर्थ उत्पन्न होता है और दूसरे समय में दूसरा अर्थ उत्पन्न होता है। बिना साधनों की विभिन्नता के यह संभव नहीं है। और यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि यह एक शक्ति अनेक व्यापार करती है तो आवश्यक रूप से इसको अनेक प्रकार का मानना होगा। और यदि ऐसा है तो शक्ति की एक रूपता खण्डित हो जाती है। क्योंकि गत उपप्रकरण में हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि शक्तियों की अनेकता को मानना उनके व्यापारों की विभिन्नता पर निर्भर होता है।

परन्तु यदि प्रभाकर के मतावलम्वी यह कहें कि दूर तक गमन करने की शक्ति का यह अर्थ है कि कुछ वाक्यरचनाओं में एक शब्द अथवा अनेक शब्द अभिधेयार्थ एवं लाक्षणिकार्थ का बोध क्रमशः न कराते हुए एक ही व्यापार से ध्वन्यर्थ को उत्पन्न करते हैं, तो यह कथन नितांत निर्मूल होगा। क्योंकि उस शब्द का उस अर्थ के साथ में कोई परम्परागत सम्बन्ध न होने के कारण वह शब्द उस अर्थ को कैसे प्रकट कर सकेगा ? इसका कारण स्पष्ट है। शब्द के अभिधेयार्थ के साथ ही उसका परम्परा सिद्ध सम्बन्ध होता है। अतएव शब्द से केवल अभिधेयार्थ का बोध ही क्रमहीन रूप में हो सकता है, ध्वन्यर्थ का बोध इस रूप में नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि अभिधेयार्थ ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति का निमित्त कारण[1] होता है। अब यदि इस प्रसंग में अन्विताभिधानवादी का यह कथन हो कि ध्वन्यर्थ का बोध अभिधेयार्थ पर अवलम्बित नहीं होता तो उसको निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए :—

क्या ध्वन्यर्थ के बोध के लिए अभिधेयार्थ का ज्ञान किसी भी रूप में आवश्यक है, अर्थात् क्या अभिधेयार्थ का बोध ध्वन्यर्थ के बोध का उत्प्रेरक होता है ? यदि नहीं उत्प्रेरक होता है तो ऐसा ही क्यों है कि अन्य शब्दों को छोड़ कर कुछ विशेष शब्दों से ही ध्वन्यर्थ की प्रतीति होती है ? और यदि उत्प्रेरक होता है तो इस बात को स्पष्ट करना आवश्यक है कि अभिधेयार्थ का बोध ध्वन्यर्थ के ज्ञान के पूर्व होता है अथवा पश्चात् होता है।

यदि इस प्रश्न के उत्तर में अन्विताभिधानवादी यह कहें कि ध्वन्यर्थ उत्पादक शब्द को सुनते ही पहले तुरन्त ध्वन्यर्थ का बोध होता है और उसके पश्चात् ध्वन्यर्थ उत्प्रेरक अभिधेयार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है तो स्पष्टतः यह

[1] ध्व० लो० १८–९

कथन वैसा ही होगा जैसे कि यह कहना कि पौत्र पितामह की उत्पत्ति का कारण है[1]। और यदि यह माना जाय कि अभिधेयार्थ की प्रतीति ध्वन्यर्थ के पूर्व होती है तो यह हमारे ही अभिमत को मानना होगा।

परन्तु यदि इस युक्ति-संकट से निकलने के लिए अन्विताभिधानवादी यह कहें कि ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति में अभिधेयार्थ की निमित्तकारणता श्रोता में अभिधेयार्थ के स्पष्ट बोध पर निर्भर नहीं होती वरन् श्रोता में अभिधेयार्थ के संस्कार[2] की सत्ता पर निर्भर होती है, तो मनोवैज्ञानिक रूप से उपर्युक्त मान्यता का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम पूर्व लिखित पंक्तियों में कह आए हैं इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि अन्य शब्दों को छोड़कर क्यों कुछ विशेष शब्दों से ही ध्वन्यर्थ का ज्ञान होता है ? परन्तु यदि अन्विताभिधानवादी यह मानते हैं कि ध्वन्यर्थ के बोध के पूर्व अभिधेयार्थ की प्रतीति हो जाती है तो वे हमारे ही सिद्धान्त को मानने वाले बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त अन्विताभिधानवाद के मतानुसार वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का संबंध अनन्वित अर्थों से न होकर अन्वित अर्थों से होता है। क्योंकि अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद में यही प्रमुख भेद है। अतएव अन्विताभिधानवादी शब्दों के अनन्वित अभिधेयार्थों के ज्ञान की कोई बात ही नहीं कर सकते क्योंकि उनके मतानुसार अनन्वित शब्दों का बोध एवं तत्परिणामस्वरूप अनन्वित अर्थों का भी कोई ज्ञान नहीं होता। इस[3] प्रसंग में यदि अन्विताभिधानवादी अनन्वित शब्दों के बोध एवं तत्परिणामस्वरूप अनन्वित अर्थों के बोध को शास्त्रीय भाषा में 'आवापोद्वाप' कही जाने वाली उस प्रक्रिया से उत्पन्न मान लें जिससे इस प्रकार के अर्थों का ज्ञान होता है और यह मान लें कि शब्द का सम्बन्ध अनन्वित अर्थ के साथ होता है तो वे स्वयं ही अपने मत का खण्डन कर विपक्षी के मत को स्वीकार कर लेते हैं। अतएव अन्विताभिधानवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

एक प्रकार के अर्थ की उत्पत्ति के लिए अन्य प्रकार के अर्थ-बोध की निमित्तकारणता को स्वीकार करने की आवश्यकता

निम्नलिखित कारणों से स्वयं मीमांसक भी एक अर्थ की उत्पत्ति के लिए अन्य अर्थ की प्रतीति को निमित्त कारण रूप में बिना स्वीकार किए नहीं रह सकते :—

---

[1] ध्व० लो० १८–९

[2] ध्व० लो० १९

[3] ध्व० लो० १९

१. वे अभिधेयार्थ एवं लाक्षणिकार्थ के भेद को स्वीकार करते हैं। यदि अभिधेयार्थ लाक्षणिकार्थ का निमित्त कारण नहीं है तो इन दोनों अर्थों के भेद को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

२. वे यह स्वीकार करते हैं कि श्रुति (वेद वाक्य)[1] लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और आख्यान (संज्ञा) का जहां पर समवाय होता है वहाँ पर प्रस्तुत प्रयोजन*[2] अर्थात् यज्ञ में मंत्र के उपयोग के निर्देश से यथाक्रम दूर होने के कारण उपर्युक्त बोधसाधनों में पूर्व की अपेक्षा पर क्रमशः दुर्बल से दुर्बलतर होते हैं। जैसे श्रुति से लिंग दुर्बल होता है और लिंग से स्थान आदि।

यदि उपर्युक्त बोधसाधनों में से प्रत्येक का सम्बन्ध विभिन्न विषयों से हो तो उनमें से एक की शक्ति की दूसरे की शक्ति से तुलना असंभव हो जायगी, अतएव इस प्रसंग में इन बोधसाधनों का सम्बन्ध केवल एक ही विषय से मानना चाहिए। क्योंकि सूत्र में उनके समवाय अर्थात् संगठित समूह का उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि उन सबका संबंध एक ही विषय से होता है।

उपर्युक्त छ बोधसाधनों में*[3] परलिखित बोधसाधन पूर्वलिखित बोधसाधन से दुर्बल है क्योंकि परलिखित बोधसाधन पूर्वलिखित बोधसाधन की अपेक्षा अपने प्रयोजन से अधिक दूर है। इसका कारण यह है कि इन सब बोध-साधनों के विषय में सामान्य रूप से यह स्वीकार करना आवश्यक माना जाता है कि ये विभिन्न बोधसाधन उस श्रुति वाक्य से समर्थित हैं जो मंत्र के प्रयोग के विषय में आवश्यक उपदेश देता है। और इस प्रकार से समर्थक श्रुति वाक्य से उत्पादित मंत्र प्रयोगज्ञान की निकटता छ बोध साधनों में से प्रत्येक के प्रति भिन्न भिन्न होती है।

दृष्टान्त के रूप में यदि हम लिंग*[4] पर ध्यान दें तो यह ज्ञात होता है कि इससे मंत्र के प्रयोग का ज्ञान तबतक नहीं होता जब तक कि (प्रयोग निर्देशक) श्रुति का अनुमान न कर लिया जाय। अतएव लिंग मंत्रप्रयोजनज्ञान के लिए एक कुछ विप्रकृष्ट साधन है। यह विप्रकृष्टता उस श्रुति के प्रसंग में नहीं होती जिससे उपयोग का बोध स्पष्टतया हो जाता है। श्रुति से मंत्र के उपयोग

---

[1] जै० सू० ३-३-१४

*[2] झा० ११६४

*[3] झा ११७५

*[4] झा० ११७८

का निर्धारण मंत्र में आवश्यक शक्ति के अस्तित्व का अनुमापक होता है। उन सब प्रसंगों में जहाँ पर एक ही ज्ञेय वस्तु की ओर दो बोध-साधन उन्मुख होते हैं उनमें से वह बोधसाधन जो प्रमेय तक पहुँचने में अधिक समय लेता है अन्य बोधसाधन की अपेक्षा ज्ञेय वस्तु से अधिक दूर और अपनी प्रामाणिकता में अधिक दुर्बल होता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि मीमांसा मत के अनुयायी यह मानते हैं कि श्रुति, लिंग आदि विशेष अवसर पर विशेष मंत्र के उपयोग के बोधकों के रूपों में सशक्तता अथवा दुर्बलता के आधार पर परस्पर भिन्न होते हैं। और इस स्वीकृति का आधार यह है कि वे यह मानते हैं कि मन्त्र के उपयोग के निर्देशन से एक बोधसाधन का संबंध दूसरे की अपेक्षा अधिक विप्रकृष्ट है। इसका अर्थ यह है कि वे निमित्त-भेद को भिन्नता का पर्य्याप्त आधार स्वीकार करते हैं। अतएव ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायियों ने जिस ध्वनि शक्ति को विशिष्ट स्वरूप में स्वीकार किया है उसको खण्डित करने का न्यायसंगत अधिकार उनको नहीं है। क्योंकि ध्वनि शक्ति से उत्पन्न ध्वन्यर्थ को वे इसी कारण से भिन्न स्वरूप मानते हैं क्योंकि इसके बोध को उत्पन्न करने वाले निमित्त कारण (साधन) उन साधनों से भिन्न हैं जिनसे अभिधेयार्थ एवं लाक्षणिकार्थ का बोध उत्पन्न किया जाता है।

भट्टनायक के मतानुसार ध्वन्यर्थ बोध की व्याख्या और उसका खण्डन

हमने दूसरे अध्याय में भट्टनायक के रस-सिद्धान्त का उल्लेख किया है। हमने ऐतिहासिक युक्तियों के सहारे यह स्पष्ट किया है कि अनुभव के दृष्टिकोण से रसानुभव विषयक समस्या के समाधान में अभिनवगुप्त से उनका मतसाम्य मतभेद की अपेक्षा अधिक है। ध्वनि समस्या के विषय में भी अभिनव-गुप्त के साथ उनके मतभेद का स्वरूप वैसा ही है। वे उस अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसको ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक ध्वन्यर्थ कहते हैं। परन्तु श्रोता के अन्तःकरण में इस अर्थ की उत्पत्ति की व्याख्या वे अपने मत के अनुसार करते हैं। इस प्रसंग में उनके अभिमत का उस श्लोक के साथ विशेष सम्बन्ध है जो इस अध्याय के आरम्भ में ध्वन्यर्थ के दृष्टान्त के रूप में प्रयुक्त हुआ है— 'भ्रम धार्मिक——' आदि। हमने गत पृष्ठों में इस विषय की व्याख्या की है कि किस प्रकार से श्रोता की उस श्लोक से उत्पन्न निषेधात्मक अर्थ की प्रतीति

की युक्तियुक्त व्याख्या भाषा की ध्वनिशक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति से नहीं की जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त के अन्य विरोधियों से भट्टनायक का मत भिन्न है। उनके अभिमत को निम्नरूप में लिखा जा सकता है :—

रसोत्पादक परिस्थिति (विभाव) के प्रदर्शन में जो पात्र अभिनय करते हैं वे परस्पर संलाप में काव्यरूप वाक्यों का प्रयोग करते हैं। परन्तु उनके रसात्मक महत्व का निर्णय उस प्रभाव से होता है जो उस दर्शक पर पड़ता है जो स्वयं उस विभावरूप परिस्थिति से बाहर होता है। अतएव भट्टनायक का अभिमत यह है कि ध्वन्यर्थ उत्पादक शब्दों की ही शक्ति मात्र से कथित श्लोक से निषेधरूप अर्थबोध नहीं उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार के निषेधरूप अर्थ-बोध के लिये उस व्यक्ति के भीरु स्वभाव को जानना आवश्यक है जिसके प्रति ये शब्द कहे गए हैं। यह अर्थ केवल उसी दशा में सम्भव है जब एक ओर 'दृप्तसिंह' और दूसरी[1] ओर 'धार्मिक' आदि शब्दों को सुनकर श्रोता में भय का रसानुभव उत्पन्न हो चुका हो।

अभिनवगुप्त इस मत को स्वीकार कर लेते हैं। स्वयं उनका अभिमत यह है कि ध्वन्यर्थ उत्पादक वाक्य एवं उसके ध्वन्यर्थ की प्रतीति के उत्पन्न होने में कवि तथा श्रोता दोनों में प्रतिभा शक्ति का होना परमावश्यक है। परन्तु उनके कथन का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त श्लोक से निषेधरूप अर्थबोध की उत्पत्ति के लिए ध्वनि-शक्ति को मानना हरहालत में परमावश्यक है। इसका कारण यह है कि भय का रसानुभव कथित धार्मिक व्यक्ति में न होकर स्वाभाविक रूप से दर्शक के अन्तःकरण में होता है। क्योंकि कथित धार्मिक व्यक्ति में केवल 'भय' मात्र ही उत्पन्न हो सकता है। स्वयं विरोधी भी यह मानते हैं कि यह रसानुभव भाषा की अभिधाशक्ति से नहीं उत्पन्न होता है। इस परिस्थिति में विना ध्वन्यर्थ उत्पादक भाषा की शक्ति को स्वीकार किए रसानुभव की उत्पत्ति की किस प्रकार से युक्तियुक्त व्याख्या की जा सकती है? इस प्रकार से ध्वनि सिद्धान्त का विरोध करते हुए भी भट्टनायक इसी सिद्धान्त की स्थापना करते हैं।

अलंकारों तथा ध्वनि में भेद

आलंकारिक सम्प्रदाय के वे शास्त्रकार जो ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते अलंकारों के दो भेद स्वीकार करते हैं—(१) वे अलंकार जिनमें ध्वनि-

[1] ध्व० लो० १९

तत्त्व नहीं होता एवं (२) वे अलंकार जिनमें ध्वनि तत्त्व आवश्यक अंश के रूप में होता है। अतएव दूसरे प्रकार के अलंकारों में ध्वनि एक अंश के रूप में वर्तमान रहती है। इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है। अतएव इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम इन दूसरे प्रकार के अलंकारों में से एक उस अलंकार के स्वरूप की व्याख्या करें जिसमें आलंकारिकों के मतानुसार ध्वनि आवश्यक विधायक अंश के रूप में वर्तमान होती है। उदाहरण के लिए हम समासोक्ति अलंकार लेंगे और यह जानने के लिए कि ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधियों का अभिमत कितनी मात्रा में मान्य हो सकता है, उस दृष्टान्त का विश्लेषण करेंगे जिसे स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में उद्धृत किया है।

समासोक्ति अलंकार की परिभाषा

यदि किसी कथन में इस प्रकार के विशेषणपदों का प्रयोग किया गया हो जिनमें प्रत्येक द्व्यर्थक हो और उनका वह अर्थ जो वर्ण्यमान विषय से अन्वित नहीं हो सकता है उस विषय के समान ही किसी अन्य विषय को ध्वनित करता हो और इस प्रकार से सम्पूर्ण कथन के कलात्मक महत्त्व को बढ़ा देता हो तो उसे शास्त्रीय भाषा में समासोक्ति अलंकार इसलिए कहते हैं क्योंकि इसका स्वरूप अत्यन्त संक्षिप्त होता है।

निम्नलिखित श्लोक के दृष्टान्त से यह परिभाषा और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी :—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।

उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त प्रत्येक विशेषणपद के दो अर्थ हैं जैसा कि निम्नलिखित अर्थ-तालिका से ज्ञात होता है :—

उपोढरागेण	१. रक्तिम २. प्रिय
विलोलतारकं	१. टिमटिमाते हुए नक्षत्र २. चंचल नयन
गृहीतम्	१. प्रकाशित २. चुम्बन के लिए गृहीत
निशामुखम्	१. सन्ध्या, रात का आरम्भ २. लाल कमल के समान मुख
समस्तम्	१. मिला हुआ २. सम्पूर्ण
तिमिरांशुकम्	१. ज्योतिमिश्रित अंधकार २. सूक्ष्म श्याम रंग का वस्त्र

पुरः	१. पूर्व दिशा में २. सम्मुख
रागात्	१. सन्ध्याकालीन रक्तिमा के अनन्तर २. प्रेम के कारण
गलितम्	१. नष्ट २. गिरा

इस श्लोक में निर्मल संध्या के समय अपने सम्पूर्ण वैभव में पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने का वर्णन किया गया है। साधारण रूप से रात्रि के आगमन के पूर्व स्पष्ट रूप से दो क्रमभाविनी दशाओं का प्रत्यक्ष होता है—(१) सन्ध्या-कालीन रक्त प्रकाश (२) सन्ध्या-कालीन ज्योतिमिश्रित अन्धकार। परन्तु व्याख्याधीन श्लोक की पंक्तियों का सौन्दर्य इस बात में है कि इसमें कवि-प्रतिभा द्वारा साक्षात्कृत काव्यवस्तु को प्रकट किया गया है जो इस प्रकार है—

'ठीक जिस समय क्षितिज के मूल भाग में वर्तमान सूर्य की किरणों से सान्ध्याभा अरुण हो रही थी एवं जिस समय कुछ नक्षत्रों ने जगमगाना आरम्भ ही किया था उसी समय अपनी पूर्ण ज्योति को लेकर चन्द्रमा इतने अधिक स्वच्छरूप में उदित हो गया कि सान्ध्यज्योतिमिश्रित अंधकार पूर्व दिशा में भी दृष्टिगोचर न हो सका।'

इस प्रसंग में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

१. संस्कृत भाषा में चन्द्रमा शब्द स्त्रीलिंग न होकर पुंल्लिंग है।

२. निशा शब्द स्त्रीलिंग है।

३. 'निशामुख' का अर्थ 'रात का आरम्भ' अथवा 'सन्ध्या' लोक-प्रसिद्ध है।

४. जैसा कि ऊपर लिखी हुई पंक्तियों में हमने स्पष्ट किया है श्लोक में प्रयुक्त प्रत्येक विशेषण पद के दो अर्थ हैं।

अब पाठक उपर्युक्त अर्थतालिका में लिखे गये विशेषण पदों के दूसरे अर्थों को निम्नरूप में क्रम पूर्वक व्यवस्थित करें और यह देखें कि कौन से ध्वन्यर्थ का बोध होता है—

'शशि (प्रेमी) ने अरुण कमल के समान मुख वाली चंचलनयना सुन्दरी निशा (प्रेमिका) को चुम्बन करने के लिए इस प्रकार से पकड़ा कि वह अपनी प्रेम भावना की तीव्रता के कारण सामने गिरे हुए अपने सूक्ष्म श्याम वस्त्र को देख नहीं सकी।'

इन्हीं शब्दार्थों की ही भांति यदि हम श्लोक के विशेषणपदों के प्रथम अर्थों को व्यवस्थित करें तो उस श्लोक का अर्थ यह होगा :—

'टिमटिमाते हुए कुछ नक्षत्रों से युक्त अरुणाभ सन्ध्या (रात के आरम्भ)

को पूर्ण कलाओं से वैभवशाली चन्द्रमा ने इस प्रकार से प्रकाशमान कर दिया कि सान्ध्याभा के उपरान्त ज्योतिमिश्रित अन्धकार के अस्तित्व का भान पूर्व दिशा में भी न हो सका।'

इस प्रकार से उस उक्ति को जो प्रत्यक्षरूप से वर्णित मानसिक चित्र को उत्पन्न करने के अतिरिक्त एक अन्य मानसिक चित्र को इसलिए उत्पन्न करती है क्योंकि प्रत्येक विशेषणपद के दो अर्थ होते हैं जिसके कारण उन विशेषण पदों का प्रयोग ध्वन्यर्थ के संबंध में भी किया जा सकता है—समासोक्ति इसलिए कहते हैं क्योंकि प्रयुक्त विशेषण पदों के दोनों अर्थ संक्षिप्त होते हैं (संक्षिप्तार्थतया)।

अब इस व्याख्याधीन श्लोक को सुनने के उपरान्त प्राप्त अनुभव का विश्लेषण पाठकों को करना चाहिए। और आन्तर अनुभव पर मन को केन्द्रित कर यह ज्ञात करना चाहिए कि उक्त दोनों मानसिक चित्रों में क्या भेद है ? ऐसा करने पर पाठक जिस निर्णय पर पहुँचेगा उसे निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है :—

उक्त श्लोक में विशेषण पदों के अभिधेयार्थों से जो मानसिक चित्र उत्पन्न होता है वह श्रोता की बुद्धि में प्रधान रूप में होता है। दूसरा चित्र जो शब्दों के निपुणतापूर्ण प्रयोग के कारण ध्वन्यर्थ रूप में इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि वे द्व्यर्थक हैं, प्रथम चित्र के साथ सम्बन्धित करने पर उसके अलंकरण रूप में ही प्रकट होता है। उपमा अलंकार में उपमान के समान ही यह दूसरा चित्र प्रथम चित्र की सौन्दर्य-वृद्धि करता है और उसका सहकारी है।

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक यह मानते हैं कि कुछ अलंकारों में ध्वनितत्त्व अप्रधान रूप में वर्तमान रहता है। परन्तु इसके साथ साथ वे यह भी मानते हैं कि विद्यमान साहित्य में ऐसे असंख्य दृष्टान्त हैं जिनमें ध्वनि-तत्त्व प्रधान रूप में उपलब्ध होता है।

अतएव ध्वनि-काव्य एवं सालंकार काव्य में जो भेद है उसको समझना कठिन नहीं है। ध्वनि–सिद्धान्त के प्रतिपादक यह मानते हैं कि यद्यपि कुछ अलंकारों में ध्वन्यर्थ अभिधेयार्थ से भिन्न रूप में प्रकट होता है फिर भी सम्पूर्ण रसानुभावक मिश्रित सामग्री (æsthetic configuration) में यह ध्वन्यर्थ प्रधान रूप न होकर अभिधेयार्थ का अलंकार मात्र अथवा सहकारी ही होता है। इसके विपरीत ध्वनि-काव्य वह है जिसकी सम्पूर्ण रसानुभावक

सामग्री में ध्वन्यर्थ प्रधान[1] होता है और अभिधेयार्थ उसका एक सहकारी मात्र ही होता है।

उपमा एवं रसवत् अलंकारों तथा रसध्वनि के क्षेत्रों में भेद

वह कथन ध्वन्यर्थ का उत्पादक अर्थात् ध्वनि शक्ति से युक्त होता है जिससे वह अनुभव उत्पन्न होता है जिसका यदि विश्लेषण किया जाय तो उसके प्रधान अर्थ के रूप में या तो ध्वनित स्थायी भाव अथवा व्यभिचारी भाव आदि प्राप्त होते हों। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार[2] तथा गुण इस अर्थ के सहायक होते हैं। परन्तु वह कथन जिस में प्रधान भूत अर्थ स्थायीभाव आदि से भिन्न होता और स्थायिभावादि उस प्राधानार्थ की केवल सौन्दर्यवृद्धि मात्र ही करते हैं रसवत् अलंकार का उदाहरण होता है। ध्वनि-काव्य में उपमा आदि अर्थालंकार यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से अभिधेयार्थ की सौन्दर्यवृद्धि करते हैं फिर भी अन्ततः वे भी केवल ध्वन्यर्थ की ही सौन्दर्यवृद्धि करते हैं क्योंकि वे ध्वनि उत्पादक कथन अथवा वर्णन को ध्वन्यर्थ को उत्पन्न करने की शक्ति[3] प्रदान करते हैं।

कुछ पूर्वकालीन शास्त्रकारों का मत यह है कि जिस काव्य में केवल जड़ पदार्थ का ही वर्णन किया गया हो वही अर्थालंकार का क्षेत्र है, क्योंकि उसमें स्थायी भाव का समावेश सम्भव नहीं है। इस प्रसंग में यह बतला देना आवश्यक है कि ये शास्त्रकार ध्वन्यर्थ के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं। अतएव उनके लिए यह मानना अत्यन्त स्वाभाविक है कि उस रसवत् अलंकार का क्षेत्र चेतनवस्तु का वह वर्णन है जिसमें रस एक अंश के रूप में वर्तमान रहता है। ध्वनिसम्प्रदाय के शास्त्रकारों के मतानुसार उपर्युक्त मत दोषपूर्ण है क्योंकि जड़ पदार्थ का कोई भी वर्णन इस प्रकार का नहीं हो सकता है अन्ततः जिसका कोई संबंध विभाव अथवा अनुभाव रूप किसी चेतन पदार्थ के साथ न हो। अतएव उन पूर्वकालीन शास्त्रकारों के मतानुसार उपमा आदि अर्थालंकारों के लिये कोई भी क्षेत्र नहीं रह जायगा। परन्तु यदि प्रतिपक्षी यह कहें कि वह काव्य भी जिस में वर्णित जड़पदार्थ का सम्बन्ध चेतनपदार्थ से है उपमा आदि अलंकारों का ही क्षेत्र बना रहता है तो इसका परिणाम यह होगा कि उनको

[1] ध्व० लो० ३५–६

[2] ध्व० लो० ७१

[3] ध्व० लो० ७४–५

अत्यधिक रसपूर्ण काव्य को भी रसशून्य मानना पड़ जाएगा क्योंकि[1] उनके मतानुसार रसध्वनि वहीं होती है जहाँ रसवत् अलंकार होता है। अतएव उनके मतानुसार जिस काव्य में रसवत् अलंकार नहीं है उसे नीरस मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में प्रतिपक्षी को उन सब काव्य रचनाओं को जिनमें जड़पदार्थ का वर्णन किया गया है रसशून्य ही स्वीकार करना होगा।

अलंकार एवं रसात्मक काव्य

अलंकार दो प्रकार[2] के होते हैं—(१) शब्दालंकार एवं (२) अर्थालंकार। यमक आदि शब्दालंकार हैं और उपमा आदि अर्थालंकार हैं। रसानुभावक वस्तु को भाषा में प्रकट करते समय बहुधा परिश्रमसाध्य शब्दालंकारों का प्रयोग, जैसे कि एक ही प्रकार के अनुप्रासों का समावेश, ध्वन्य को ध्वनित करने में सहायक नहीं होता है। इसके विपरीत होता यह है कि पाठक का ध्यान बार बार इन बहुधा प्रयुक्त परिश्रमसाध्य अनुप्रासों की ओर खिंच कर आश्चर्य-चकित हो जाता है और उसके रसानुभव में बाधा पड़ जाती है। स्वयं कवि के लिए भी इस प्रकार के शब्दालंकारों का प्रयोग करना बुरा है। क्योंकि इससे रसानु-भावक वस्तु के चित्रण के लिए जिस ध्यान की आवश्यकता होती है वह खण्डित हो जाता है और उसका ध्यान आवश्यक रूप से उन उपयुक्त शब्दों की परिश्रम-साध्य खोज में लग जाता है जिनका प्रयोग करना अलंकार रचना के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। अतएव यद्यपि स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त यत्र तत्र एक यमकालंकार से काव्य के बाह्यरूप की सौन्दर्यवृद्धि हो जाती है फिर भी कवि को यह चाहिए कि कष्टसाध्य इन अनुप्रासों का अनेक बार प्रयोग न करे।

अर्थालंकारों के प्रयोग की बात दूसरी है। क्योंकि काव्य में केवल उन्हीं अलंकारों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिनका प्रयोग करने में ऐसा मानसिक परिश्रम करना आवश्यक हो जो कवि के मन से कविप्रतिभा द्वारा साक्षात्कृत रसानुभावक वस्तु को ही हटा दे। अनुभव से हमें यह ज्ञात होता है कि अनुप्रासों का बहुधा प्रयोग बिना इस प्रकार के परिश्रम के संभव नहीं है। परन्तु कवि के अन्तःकरण में अर्थालंकार स्वयं आते हैं। यह स्वाभाविक है कि ये अर्थालंकार इसी प्रकार से आवें। क्योंकि रसानुभावक वस्तु में प्रधानतम तत्त्व केवल ध्वन्य ही होता है और ध्वन्य अर्थ विशेष प्रकार के उन वाच्यार्थों से ध्वनित होता है जिनको तदर्थक शब्दों से[3] प्रकट किया जाता है। इस प्रकार

[1] ध्व० लो० ७६

[2] ध्व० लो० ८५–६

[3] ध्व० लो० ८६–७

के वाच्यार्थ ही अर्थालंकार हैं। अतएव कवि के अन्तःकरण में रसानुभावक मानसचित्र के आवश्यक अङ्गों के रूप में ये अर्थालंकार होते हैं और इनका प्रयोग करने में कवि को कोई ऐसा मानसिक परिश्रम नहीं करना पड़ता जिसमें ध्यानदिशा बदल जाती हो। अतएव इन अर्थालंकारों का प्रयोग आवश्यक है।

ध्वन्यर्थ के वर्गीकरण का मनोवैज्ञानिक आधार

ध्वन्यर्थ एवं ध्वनि शक्ति का वर्गीकरण दो आधारों पर किया गया है:— (१) ध्वन्यर्थ के स्वरूप के आधार पर और (२) अभिधेयार्थ एवं ध्वन्यर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के स्वरूप के आधार पर। कवियों ने काव्यलोक का वर्गीकरण चार वर्गों में किया है—(१) अलंकार्य (२) अलंकार (३) व्यभिचारी भाव एवं (४) रसानुभावक मिश्रितरूप सामग्री। इसके अनुसार ध्वन्यर्थ एवं ध्वनि शक्ति का वर्गीकरण प्रथम आधार पर (अर्थात् ध्वन्यर्थ के स्वरूप के आधार पर) निम्नलिखित रूप में किया गया है[1]।

१. अलंकार्य्य वस्तु से सम्बन्धित—(वस्तुध्वनि)
२. अलंकार से सम्बन्धित—(अलंकारध्वनि)
३. व्यभिचारी भाव से सम्बन्धित—(भावध्वनि)
४. रसानुभावक मिश्रितरूप सामग्री से सम्बन्धित (रसध्वनि)

अन्तिम दो वर्गों में से प्रत्येक का एक उपवर्ग है। इस उपवर्ग की मान्यता का आधार दो व्यक्तियों में से एक में दूसरे के प्रति किसी एक भाव की सत्ता का अभाव है। जब कोई एक भाव दोनों व्यक्तियों में नहीं होता है अर्थात् जब एक व्यक्ति दूसरे के प्रति वह भाव रखता है जिसे दूसरा व्यक्ति उसके प्रति नहीं रखता तो शास्त्र की भाषा में उसको क्रमश :—

(अ) भावाभास एवं
(आ) रसाभास—कहते हैं।

१. वस्तु-ध्वनि—यह वह ध्वनि शक्ति है जो उस ध्वन्यर्थ को अभिव्यक्त करती है जिसका संबंध उस सब भावोत्तेजक सामग्री से होता है जिसको शास्त्रीय भाषा में विभाव अथवा अनुभाव कहा जाता है। काव्य लोक के स्थूल विभाजन के अनुसार ये विभाव तथा अनुभाव ही भाव दशाओं के उत्प्रेरक और समर्थक होते हैं। इस ध्वनि शक्ति से (१) स्पष्टतया अभिधेयार्थ जनक भाषा में प्रकटित विधिरूप वाच्यार्थ से निषेध रूप[2] ध्वन्यर्थ एवं निषेधरूप अभिधेयार्थ से विधिरूप

---

[1] ध्व० लो० १५
[2] ध्व० लो० २०

ध्वन्यर्थ का बोध होता है। (२) जब स्पष्ट रूप से कथन का विधिरूप अथवा निषेधरूप अभिधेयार्थ होता है[1] तो उससे ऐसा ध्वन्यर्थ उत्पन्न होता है जो न विधिरूप है और न निषेधरूप है। एवं (३) जब कोई कथन ऐसा हो जिसका सम्बन्ध उस व्यक्ति के साथ न हो जिसको वह कहा गया है, वरन् उस व्यक्ति से सम्बन्धित हो जिसको वह नहीं कहा गया है और इस प्रकार के कथन का प्रयोजन यह हो कि असंबोधित व्यक्ति को संबोधित व्यक्ति की उस दशा का ज्ञान हो जाय जिसमें वह है जिससे असंबोधित व्यक्ति उस दशा में घटित घटना का उत्तरदायित्व संबोधित व्यक्ति पर आरोपित न करे, ऐसे कथनों का अर्थ असंबोधित व्यक्ति के लिए उस अर्थ से सर्वथा भिन्न हो सकता है जिसका बोध संबोधित[2] व्यक्ति को होता है।

अतएव परिस्थिति, वक्ता की निपुणता एवं श्रोता की समझने की शक्ति तथा प्रतिभाशक्ति के अनुसार रसानुभावक वस्तु से सम्बन्धित असंख्य प्रकारों के ध्वन्यर्थों को ध्वनि शक्ति उत्पन्न कर सकती है। रसानुभावक मिश्रित समुदायरूप सामग्री के अंशों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (१) बाह्य (objective) एवं (२) आन्तर (subjective)। बाह्य से हमारा तात्पर्य उन वस्तुओं से है जिनका अस्तित्व अन्तःकरण के बाहर होता है। और आन्तर से हमारा तात्पर्य मानसिक दशाएँ हैं। बाह्य का उपविभाजन दो वर्गों में किया गया है-(१) भाव उत्प्रेरक वस्तु अथवा परिस्थिति एवं (२) इंगित तथा शारीरिक चेष्टाएँ जो भाव को प्रकट करते हैं। प्रथम को शास्त्रीय भाषा में विभाव तथा दूसरे को अनुभाव कहते हैं। वस्तु ध्वनि[3] के अन्तर्गत दोनों प्रकार के बाह्य तत्त्वों अर्थात् विभाव एवं अनुभाव से संबंधित ध्वन्यर्थ की गणना होती है।

२. अलंकारध्वनि शब्द की वह ध्वनि शक्ति है जिससे उत्पन्न ध्वन्यर्थ काव्य-अलंकार के रूप में होता है। यद्यपि इस अर्थ को किसी दूसरे प्रसंग में किसी वाक्यार्थ में अलंकार के रूप में अत एव अप्रधान रूप में प्रकट किया हुआ पाते हैं, फिर भी इसको उस समय अलंकारध्वनि कहा जाता है जब इसको किसी अन्य वस्तु के अलंकार रूप में प्रकट न करते हुए स्वतंत्र रूप में प्रकट किया जाता है यद्यपि उस दशा में भी "ब्राह्मणश्रमण" न्याय के अनुसार उसको अलंकार ही मानते हैं।

---

[1] ध्व० लो० २१–२

[2] ध्व० लो० २३

[3] ध्व० लो० ६६

३. रसध्वनि—यह वह ध्वनि शक्ति है जो अन्तःकरण को ऐसे असंख्य विचारों से परिपूर्ण कर देती है जिनको सदैव स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता। रसानुभावक मानसिक चित्र को ऐसी पूर्णता प्रदान करने के लिए जो परकोटिगत स्थायिभाव को ध्वनित कर सके एवं श्रोता[1] में उस पूर्ण आत्मविस्मृति की दशा को उत्पन्न कर सके, ये विचार आवश्यक होते हैं। क्योंकि रसानुभव का स्वरूप ध्वनित स्थायिभाव के प्रतिबिंब से युक्त स्वात्म-विस्मृत आत्मा है। शब्द की इस ध्वनि-शक्ति तथा अन्य ध्वनि-शक्तियों में भेद यह है कि अन्य दोनों ध्वनि-शक्तियों से जो ध्वन्यर्थ उत्पन्न होते हैं उनको किसी न किसी प्रकार से अभिधाशक्ति से युक्त भाषा में प्रकट किया जा सकता है परन्तु रसध्वनि को किसी भी प्रकार से ऐसी भाषा में प्रकट नहीं किया जा सकता है[2]।

४. भावध्वनि—रसानुभावक मिश्रित समुदाय रूप सामग्री के अन्तर्गत तत्त्वों अर्थात् मानसिक भावों को दो उपवर्गों में विभाजित किया गया है (१) स्थायी भाव एवं (२) व्यभिचारी भाव। अतएव जब ध्वन्यर्थ व्यभिचारी भावरूप होता है तो उसे शास्त्रीय भाषा में भावध्वनि कहते हैं।

कुछ अवसरों पर ये भाव उचित होते हैं एवं कुछ अवसरों पर ये भाव अनुचित होते हैं। दृष्टान्त के रूप में सीता के प्रति राम का प्रेम उचित है परन्तु सीता के प्रति रावण का प्रेम अनुचित है। अतएव जब स्थायीभाव अनुचित होता है तब उसको प्रकट करने वाला ध्वन्यर्थ (१) रसाभासध्वनि कहा जाता है। इसी प्रकार से अनुचित व्यभिचारीभाव को प्रकट करने वाले ध्वन्यर्थ को (२) भावाभासध्वनि कहते हैं।

प्रायः यह अनुभव होता है कि किसी स्थायीभाव के अन्तर्गत किसी अस्थायी मनोभाव के सहसा खण्डित हो जाने से रसानुभव की उत्पत्ति हो जाती है, उदाहरण के लिए निम्नांकित श्लोक में वर्णित परिस्थिति में ऐसा ही होता है :—

> एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
> रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
> दंपत्योः शनकैरपांगवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
> र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम्॥

वे[3] ध्वन्यर्थ जो किसी व्यभिचारीभाव के अकस्मात् खण्डन के बोध को उत्पन्न करते हैं शास्त्रीय भाषा में (३) भावशान्तिध्वनि कहे जाते हैं।

---

[1] ध्व० लो० ६२

[2] ध्व० लो० २४

[3] ध्व० लो० २४

ध्वन्यर्थ के साथ वाच्यार्थ के संबंध के स्वरूप के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है उससे ध्वन्यर्थ बोध की उत्पत्ति की पूर्वभाविनी दशाओं का बोध होता है। इस प्रकार की ध्वनि के दो मुख्य वर्ग हैं :—

(१) अविवक्षितवाच्य—यह वह ध्वन्यर्थ है जो वाच्यार्थ का स्फुटज्ञान नहीं होने देता है अथवा उसको अप्रधान बना देता है और प्रकट करता है कि उस वाच्यार्थ को प्रकट करना वक्ता का अभीष्ट ही नहीं था। एवं (२) विवक्षितान्यपरवाच्य वह ध्वनि है जो वाच्यार्थ को उस वस्तु से संबंधित न कर जिससे वह प्रकट रूप में संबंधित किया गया है किसी अन्य वस्तु से संबंधित करती है।

निम्नलिखित दृष्टान्तों से उपर्युक्त बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी।

सुवर्णपुष्पाम् पृथ्वीम् चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

(केवल तीन प्रकार के ही व्यक्ति – शूरवीर, विद्वान् एवं सेवानिपुण उस पृथ्वी के स्वर्णपुष्पों को चुनते हैं जो उनको उत्पन्न करती है।)

उपर्युक्त श्लोक के आरम्भिक शब्दों (हिन्दी अनुवाद के अन्तिम शब्दों में) से जो वाच्यार्थ प्रकट होता है वह हमारे सामान्यलोक संबंधी इन्द्रियज्ञान से खण्डित हो जाता है। हमें इस पृथ्वी पर किसी भी ऐसे देश का पता नहीं है जहाँ पर यथार्थ रूप से स्वर्णकुसुम उत्पन्न होते हों। अतएव उनके चुनने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव स्वभावतः इस कथन को सदृशता के आधार पर इस निहित (implied) अर्थ का बोधक माना जाता है—'वह भूमि जो सम्पन्नता के लिये अपेक्षित वस्तुओं से भरीपूरी है'। कथन के इस अर्थ से उपर्युक्त अर्थबोध का कारण उस ध्वन्यर्थ का ज्ञान है जो उपर्युक्त शब्दों के समूह से प्रकट होता है। शूरवीर, विद्वान् एवं सेवानिपुण व्यक्तियों की प्रशंसनीयता ही इस कथन का ध्वन्यर्थ है। अभिधेयार्थरूप में प्रकट न किए जाने के कारण इस प्रशंसनीयता का महत्व एवं सौन्दर्य उसी प्रकार से बढ़ गया है जिस प्रकार से किसी रमणी के चित्ताकर्षक ढंग से वस्त्राच्छादित स्तनों का सौन्दर्य बढ़ जाता है। उपर्युक्त श्लोक अविवक्षित वाच्य का दृष्टान्त है क्योंकि अभिधेयार्थ को प्रकट करना वक्ता का अभीष्ट नहीं है। कवि उपर्युक्त श्लोक में यह प्रकट नहीं करता कि इस पृथ्वी पर यथार्थ में कोई ऐसा देश है जहाँ पर स्वर्णकुसुम उत्पन्न होते हैं, और वे व्यक्ति जो शूरवीर, विद्वान् तथा सेवानिपुण हैं उनको चुनते हैं। कवि के कथन का प्रयोजन केवल इतना ही है कि तीन प्रकार के ये व्यक्ति उत्कृष्ट प्रशंसा एवं पारितोषिक के पात्र हैं।

विवक्षितान्यपरवाच्य का दृष्टान्त निम्नलिखित है :—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरम् किमभिधानमसावकरोत्तपः
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥

(अयि तरुणी ! पर्वत के किस शिखर पर, कितने समय तक किस नाम की तपस्या शुक के इस बालक ने की है जिसके फलस्वरूप यह तुम्हारे अधर के समान लाल बिम्बफल का आस्वादन कर रहा है ।)

प्रसंग

एक तरुणी अपने पले हुए प्रिय शिशुतोते को खिला रही है। अवसरवश एक युवक उसके निकट से हो कर निकला। वह उसको देखकर प्रेम से आहत हो गया। उस शुक के सौभाग्य को देखकर उसे ईर्ष्या हुई और उस तरुणी के प्रति प्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए एवं उसका प्रेमपात्र बनने के लिए उसने उपर्युक्त श्लोक कहा है।

इस श्लोक में अविवक्षितवाच्य के उदाहरण की भाँति अभिधेयार्थ अविवक्षित नहीं है। वक्ता श्रोता को अभिधेयार्थ का ज्ञान कराना चाहता है। परन्तु इस वाच्यार्थ का प्रयोजन कथन में किए गए प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना नहीं है वरन् उस तरुणी से अपने प्रेमभाव को प्रकट करना एवं उसको प्रसन्न करने के लिए उसकी प्रशंसा करना है। इस प्रेम भाव को प्रथम दर्शन के समय में ही अभिधेयार्थ के रूप में प्रकट नहीं किया जा सकता। अतएव उसने भाषा की ध्वनि शक्ति की सहायता से उसको प्रकट किया है। अतएव इस दृष्टान्त में अभिधेयार्थ के ज्ञान को श्रोता में उत्पन्न करना भी वक्ता का अभीष्ट है। परन्तु इस प्रकार के अर्थ को प्रकट करने का अभिप्राय प्रत्यक्षरूप न होकर प्रच्छन्नरूप ही है। परिस्थिति ऐसी है कि अभिधेयार्थ इस प्रयोजन को केवल अभिव्यक्त ही करता है। यही कारण है कि इस प्रकार के ध्वन्यर्थ को शास्त्रीय भाषा में विवक्षितान्यपरवाच्य कहा जाता है क्योंकि इसमें अभिधेयार्थ विवक्षित तो होता है परन्तु उसका प्रयोजन वह नहीं होता जो प्रकट रूप से ज्ञात होता है :—

अविवक्षितवाच्य का वर्गीकरण निम्नलिखित दो उपवर्गों में किया गया है।

(१) जिस समय किसी प्रसंग[1] में वाच्यार्थ सम्पूर्ण रूप से प्रकरण से असंबद्ध नहीं होता परन्तु अपने आप में अभीष्ट प्रयोजन को सिद्ध न कर पाने

---

[1] ध्व० लो० ६१

के कारण प्रसंग शक्ति की सहायता से इतने अधिक विचारों के साथ संबंधित हो जाता है कि सम्पूर्ण रूप से अपने से भिन्न दिखाई देने लगता है तो इसको शास्त्रीय भाषा में 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' कहते हैं।

निम्नलिखित उदाहरण इसके स्वरूप को स्पष्ट करता है।

प्रसंग

राम बनवास में हैं। उनकी प्राणप्यारी पत्नी सीता को रावण हर चुका है। वे वियोग की व्यथा का अनुभव कर रहे हैं। ऐसे समय में आकाश पर घने श्याम मेघ उठते हैं। पंक्तिरूप में बकुल पक्षियों का समूह उड़ता हुआ दिखाई देता है। मोर बोलना आरम्भ कर देते हैं। जलकणों से व्याप्त मन्द समीर चलने लगता है। प्रकृति की ऐसी अवस्था में राम की वियोग व्यथा तीव्र से तीव्रतर एवं सीता की स्मृति स्पष्ट से स्पष्टतर होती जाती है। वर्तमान परिस्थिति अपनी दारुणता के कारण उनको असह्य लगती है। अपने भाग्य के अतीतकालीन परिवर्तनों एवं अपने अन्तःकरण में उनसे उत्पन्न प्रभावों का वे स्मरण करते हैं। उनको इस बात का भी अनुभव होता है कि अतीत-कालीन अनुभवों के प्रभावों ने इस प्रकार की दुर्घटनाओं के प्रति उदासीन रहने की प्रवृत्ति उनमें दृढ़ कर दी है। फिर भी वर्तमान असह्य दशा का अनुभव अत्यंत तीव्रता से करते हुए और उसको धैर्यपूर्वक सहन करते हुए यह कहते हैं :—

'अपनी आकर्षक श्यामता से आकाश को विचित्र सौन्दर्य प्रदान करते हुए मेघ उठ रहे हैं और उनके नीचे बकुल पक्षियों का समूह उड़ रहा है। जलकणों से सिक्त स्निग्ध मन्द समीर चल रहा है। मोरों[1] की प्रसन्नताभरी ध्वनि बन में गूंज रही है। यह सब कुछ होने दो। मैं वह राम हूँ जिसमें कोई भावानुभव शक्ति अवशेष नहीं रह गई है (अर्थात् मैं कठोर हृदय का हूँ)। मेरे लिए सब कुछ सह्य है'—

उपर्युक्त कथन में 'राम' शब्द का अभिधेयार्थ केवल 'कोई राजपुत्र' नहीं है वरन् इस नाम के साथ सहसा अतीतकाल के दुःखदाई अनेक घटनादृश्य संबंधित हो जाते हैं जैसे राजमुकुट को धारण करने के दिवस पर ही निर्वासित होना, वनों में निवास करने की पीड़ाएँ, सीता के प्रति उनका प्रेम एवं सीता का रावण से हरण किया जाना आदि। परन्तु शब्दों के निपुण प्रयोग के कारण उनके जीवन से संबंधित सुखद घटनाओं, जैसे स्वयंबर में शिव धनुष तोड़ने में सफल होकर सीता को प्राप्त करना आदि का बोध नहीं होता, क्योंकि, 'दृढं

[1] ध्व० लो० ६१

कठोरहृदयः' शब्दों के प्रयोग के कारण इन का बोध उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। दुःखद दृश्य परस्पर इस रूप में मिलजुल जाते हैं कि उनका पूर्णरूप ऐसा होता है जिसमें अभिधेयार्थ इतना अर्थशून्य एवं प्रभावरहित हो जाता है कि उसका कोई स्पष्ट बोध नहीं होता। इस उल्लिखित विशेष प्रक्रिया से ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति के कारण ही शास्त्रीय भाषा में इसको अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य कहते हैं।

(२) प्रायः ऐसा होता है कि वाच्यार्थ प्रसंगानुकूल नहीं होता। ध्वन्यर्थ बोध का वह साधन मात्र ही होता है। अतएव ध्वन्यर्थ बोध के बाद तुरन्त ही वह वाच्यार्थ तिरोहित हो जाता है और इसलिए समग्र अर्थ में अभिधेयार्थ का कोई अंश अवशिष्ट[1] नहीं रह जाता जैसा कि उस अन्य दृष्टान्त में होता है जिसकी व्याख्या हम गत पृष्ठ पर कर चुके हैं। ऐसे स्थल में ध्वन्यर्थ से वाच्यार्थ तिरस्कृत हो जाता है अतएव इसको शास्त्रीय भाषा में अत्यंततिरस्कृतवाच्य कहते हैं।

निम्नलिखित उदाहरण से उक्त कथन का स्पष्टीकरण होता है :—

रविसंक्रान्तसौभाग्यः तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शः चन्द्रमा न प्रकाशते[2]॥

(वह चन्द्रमा जिसका सौन्दर्य सूर्य में चला गया है और जिसका ज्योतिर्मण्डल कुहरे से ढंक गया है उस दर्पण के समान प्रकाशित नहीं होता है जो निश्वासों के पड़ने से अन्धा हो गया है।)

पञ्चवटी के निवासी राम ने हेमन्त ऋतु का वर्णन करते हुए उक्त श्लोक कहा है। अन्ध शब्द का अभिधेयार्थ वह व्यक्ति है जिसकी देखने की शक्ति नष्ट हो गई है। परन्तु उक्त श्लोक में इसका प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में किया गया है। इसके अनुसार इस शब्द का अर्थ बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की अयोग्यता है अतएव इस अर्थ से अत्यन्त सौन्दर्यहीनता, व्यर्थता आदि अर्थ ध्वनित होते हैं। 'अन्ध' शब्द का वाच्यार्थ समग्र अर्थ के किसी अंश का विधायक नहीं है। वाच्यार्थ केवल समग्र अर्थ को प्रकट करने का साधन मात्र है। अतएव यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का दृष्टान्त है।

ध्वन्यर्थ के दूसरे प्रमुख वर्ग विवक्षितान्यपरवाच्य को भी ध्वन्यर्थ उत्पादक प्रक्रिया की विभिन्नता के आधार पर निम्नलिखित उपवर्गों में विभाजित किया गया है।

---

[1] ध्व० लो० ६१

[2] ध्व० लो० ६३

जब अभिधेयार्थ को प्रकट करना वक्ता को अभीष्ट होता है परन्तु इसको उत्पन्न करने के उपरान्त किसी अन्य अर्थ को भी उत्पन्न करना इसका लक्ष्य होता है अर्थात् ध्वन्यर्थ को उत्पन्न करना इसका एकमात्र साध्य होता है तब ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति दो प्रक्रियाओं से संभव होती है। (१) प्रथम प्रक्रिया ऐसी होती है जिसमें वाच्यार्थ से ध्वन्यर्थ तक पहुँचने का क्रम पूर्णरूप से अदृश्य होता है। शास्त्रीय भाषा में इसको असंलक्ष्यक्रम कहते हैं। सभी प्रकार की रसध्वनि इसी प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। (२) दूसरी वह प्रक्रिया होती है जिसमें वाच्यार्थ से ध्वन्यर्थ तक पहुंचने का क्रम स्पष्टरूप से ज्ञात[1] होता है। अतएव शास्त्रीय भाषा में इसको क्रमद्योतित कहते हैं।

क्रमोद्योतित को और निम्नलिखित तीन उपवर्गों में विभाजित किया गया है (अयमपि द्विविध एव। ध्व० लो० ९४-९५)।

(अ) शब्द शक्ति से उत्पन्न—शब्दशक्त्युद्भव।

(आ) वाच्यार्थशक्ति से उत्पन्न—अर्थशक्त्युद्भव।

(इ) शब्द शक्ति तथा वाच्यार्थ शक्ति दोनों से उत्पन्न—उभयशक्त्युद्भव (शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोपि। ध्व० लो०-१३४)

(अ) शब्दशक्त्युद्भव

कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनके अभिधेयार्थ एक से अधिक होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रायः कुछ शब्दों को मिला कर इस प्रकार के समस्तपद की रचना की जाती है जिसका भिन्न-भिन्न प्रकारों से विग्रह करने पर समस्त पद के एक से अधिक अर्थ उत्पन्न होते हैं जैसे—

'सर्वदोमाधवः'

इस समास रूप पद का विग्रह या तो 'सर्वदा + उमाधवः' हो सकता है या 'सर्वदः + माधवः' हो सकता है।

इस प्रकार से जब किसी कविता में ऐसे शब्द हों जिनके उपर्युक्त दोनों कारणों में से किसी एक के कारण[2] दो अभिधेयार्थ होते हों और उन अर्थों का सम्बन्ध भिन्न वस्तुओं से हो तो उसे श्लेष कहते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि इस प्रकार के दोनों अर्थों का सम्बन्ध दो विभिन्न वस्तुओं से नहीं होता वरन् वे एक ही वस्तु के विशेषणों को प्रकट करते हैं जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण में है--

[1] ध्व० लो० ६४

[2] ध्व० लो० ९५

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ ॥

उपर्युक्त श्लोक में 'हारिणौ' शब्द के दो अर्थ हैं—

(क) हृदय को आकर्षित करने वाला अर्थात् आकर्षक ।

(ख) माला से युक्त ।

परन्तु उपर्युक्त दोनों ही अर्थ तरुणी के स्तनों के विशेषण हैं । दूसरे अर्थ का बोध जब 'विनापि हारेण' (बिना माला के) के साथ होता है तो 'बिना माला के माला से शोभित' अर्थरूप में परस्पर-विरोध का मिथ्या ज्ञान होता है । विरोधाभास की इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति को प्रत्यक्षरूप से सूचित करने का प्रयोजन 'अपि' 'भी' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है । अतएव इस श्लोक में श्लेष तथा विरोधाभास दोनों अलंकार हैं ।

परन्तु यदि किसी प्रसंग में शब्दों के दो अभिधेयार्थ हैं और वे दोनों अर्थ न तो दो विभिन्न वस्तुओं से संबंधित हैं, और न दूसरे अर्थ का प्रयोजन एक अधिक अन्य अलंकार को प्रकट करना है—जैसा कि उपर्युक्त दृष्टान्त में अपि-शब्द से प्रकट होता है । फिर भी यदि दूसरा अभिधेयार्थ पहले अभिधेयार्थ की सौन्दर्य वृद्धि करता है तो वह अलंकारध्वनि का दृष्टान्त होता है । और शब्द की ध्वनिशक्ति के कारण इस अधिक अन्य अलंकार का ध्वन्यर्थरूप में बोध होता है ।

निम्नलिखित दृष्टान्त से इस परिभाषा का अर्थ और भी अधिक स्पष्ट होता है—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगम् उपसंहरन् अजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः' ।

उपर्युक्त वाक्य में ग्रीष्म ऋतु के आगमन का वर्णन है । उपर्युक्त गद्य खण्ड में अन्तिम दो समासपदों के दो अर्थ हैं । प्रथम समस्त पद के निम्नलिखित दो अर्थ हैं :—

१. जहां पर कुसुमों से भरी हुई मल्लिका की लताओं से अट्ट सुशोभित थे ।

२. जिसका अट्टहास पूर्णरूप से विकसित मल्लिका कुसुम के समान उज्ज्वल था ।

दूसरे समासपद 'महाकाल' शब्द के भी दो अर्थ हैं—

१. लम्बे दिनों वाला ।

२. महाकाल देवता—शिव का एक नाम ।

जैसा कि इससे पूर्व लिखित दृष्टान्त में था, उपर्युक्त दोनों समस्त पदों के दूसरे अर्थों का प्रथम अर्थों से संबंध 'अपि' के समान किसी शब्द से प्रकट नहीं किया गया है। अतएव स्वयं समस्त पदों की शक्ति ही इन द्वितीय अर्थों का प्रथम अर्थों के साथ अलंकाररूप में संबंध ध्वनित करती है और धवल अट्टहास करते हुए शिव[1] को उपमान के रूप में व्यक्त करती है।

(आ) अर्थशक्त्युद्भव

कुछ प्रसंगों में शब्दोद्भूत अभिधेयार्थ बलात् किसी अर्थ को ध्वनित करता है। इस प्रकार से प्रकट होने वाले अर्थ को अर्थशक्त्युद्भवध्वनि कहते हैं—अर्थात् वह ध्वन्यर्थ जो वाच्यार्थ से उत्पन्न होता है।

निम्नलिखित श्लोक अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का एक सुन्दर उदाहरण है।

एवं वादिनि तत्रर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

'देवर्षि के ऐसा कहने पर अपने पिता के निकट बैठी हुई पार्वती नीचे की ओर मुख करके खेलने वाले कमल की पंखड़ियों को गिनने लगी।

प्रसंग

शिव के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए पार्वती ने कठोर तपस्या की थी। एक दिन जब वे अपने पिता[2] के साथ बैठी थीं तब देवर्षि अङ्गिरस शिव के पास से विवाह का संवाद लेकर आए। जिस समय वे संवाद को कह रहे थे उस समय, किशोरी बालिका के लिए नैसर्गिक, लज्जा से वे अभिभूत हो गई और इसलिए अपने पिता से उस लज्जा को छिपाने के लिए उन्होंने उस क्रीडा कमल की पंखड़ियों को गिनना आरम्भ कर दिया जो उनके हाथों में था।

उपर्युक्त वर्णित प्रसंग में श्लोक की ये पंक्तियाँ अभिधेयार्थ को सूचित करने के बाद उस लज्जा के भाव को ध्वनित करतीं हैं जिसने पार्वती को अभिभूत कर लिया था। परन्तु लज्जा रूप ध्वन्यर्थ को ध्वनित करने के पूर्व ये पंक्तियाँ शिव के प्रेम को प्राप्त करने के लिए की गई तपस्या का स्मरण कराती हैं। इस स्थल पर वाच्यार्थ से ध्वन्यर्थ तक पहुँचने का क्रम स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। वाच्यार्थ की प्रबलता[3] के कारण ही ध्वन्यर्थ बोध की उत्पत्ति होती है। अतएव यह क्रमद्योत्य अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का दृष्टान्त है।

---

[1] ध्व० लो० ९९–१००

[2] कु० सं० ६–६५

[3] ध्व० लो० १०२–३

ध्वन्यार्थोत्पादक साधनों के आधार पर ध्वन्यर्थ का वर्गीकरण

ध्वन्यर्थ का एक अन्य वर्गीकरण ध्वन्यार्थोत्पादक साधनों के आधार पर किया गया है। आवश्यकता के अनुसार एक वर्ण[1] से लेकर पूर्ण निबन्ध तक ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति का साधन हो सकते हैं। ध्वन्यर्थ के इन सभी प्रकारों के दृष्टान्त ध्वन्यालोक के तीसरे अध्याय में लिखे गए हैं। अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रंथ में वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए कुन्तक ने केवल उसी की पुनरावृत्ति की है जिसको आनन्दवर्धन ने तीसरे अध्याय में लिखा है। आनन्दवर्धनाचार्य ने जिसको शुद्धरूप में प्रमाता के दृष्टिकोण से लिखा है कुन्तक ने उसका वर्णन विषय (प्रमेय) के दृष्टिकोण से किया है। वास्तव में अनेक स्थलों पर वे आनन्दवर्धन के दृष्टान्तों का ही उपयोग करते हैं।

ध्वनि-काव्य एवं ध्वनिशून्य काव्य में भेद

वह सार्थक निबन्ध ध्वनिकाव्य कहा जाता है जिसमें उचित गुणों, शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का समावेश किया गया हो और शब्द तथा उनके अभिधेयार्थ दोनों ही ध्वन्यर्थ को ध्वनित करते हों एवं रसानुभावक सामग्री के बोध में उनका (अर्थात् शब्दों तथा अभिधेयार्थों का) स्थान ध्वन्यर्थ से अप्रधान हो।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि ध्वनि काव्य उस काव्य से भिन्न है जिसमें केवल काव्य गुणों, शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का ही समावेश किया जाता है। ध्वनिशून्य काव्य[2] में वर्णरूप प्रतीकों एवं अभिधेयार्थ की प्रमुखता होती है जब कि ध्वनिकाव्य की विशेषता इस बात में ही होती है कि उसमें ध्वन्यर्थ ही सर्वप्रधान होता है। अतएव ध्वनिशून्य काव्य के अन्तर्गत ध्वनिकाव्य की गणना नहीं की जा सकती।

१. ध्वनिकाव्य से जो अनुभव उद्भूत होता है वह ध्वनिशून्य काव्य के अनुभव से सर्वथा भिन्न होता है। ध्वनिकाव्यजन्य अनुभव पूर्ण आत्म-विस्मृति की दशा में होता है। आत्मविस्मृति के परिणामस्वरूप काव्य के नायक के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाने के कारण स्थायीभाव का प्रमातृगत साक्षात्कार संभव हो जाता है। ध्वनिशून्य काव्य से जो अनुभव उद्भूत होता है उसमें वर्णित वस्तु का केवल विषयरूप प्रत्यक्ष ही होता है। इस प्रकार से

---

[1] ध्व० लो० १२३

[2] ध्व० लो० ३३

ध्वनिकाव्यजन्य अनुभव में सदैव आठ अथवा नौ रसों में से एक न एक रस का अनुभव अवश्य होता है परन्तु ध्वनिशून्य काव्यजन्य अनुभव में प्रशंसा तथा विस्मय के भाव ही केवल उत्पन्न होते हैं।

२. ध्वनिशून्य काव्य को ध्वनिकाव्य का अनुकरणरूप ही माना जा सकता है, क्योंकि अनुकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि जिस वस्तु का अनुकरण किया गया है उसका सर्वोत्कृष्ट तत्त्व अनुकरणोत्पन्न कृति में नहीं होता। मोम की बनी हुई मनुष्य की सजीवसी आकृति को एक अनुकरणमूलक कृति कहा जाता है क्योंकि अपने बाह्य रूप में ठीक मनुष्य की आकृति के समान होने पर भी उसमें प्राण अथवा आत्मा नहीं होती। इसी प्रकार से उस काव्यकृति को जिसमें काव्यगुण तथा अलंकारों का ही समावेश होता है 'चित्र काव्य' ही कहते हैं क्योंकि इसमें काव्य की आत्मा अथवा ध्वनि का अभाव होता है।

३. अभिधेयार्थ एवं ध्वन्यर्थ के मूल भेद के आधार पर भी ध्वनिकाव्य से चित्रकाव्य का भेद स्पष्ट होता है क्योंकि चित्रकाव्य में केवल अभिधेयार्थ प्रकट करने वाले ही शब्द होते हैं जब कि ध्वनिकाव्य में दोनों (अभिधेय तथा ध्वन्य) अर्थों को प्रदान करने वाले शब्द होते हैं।

४. रचनाशक्तियों के दृष्टिकोण से भी उक्त दोनों प्रकारों के काव्यों का भेद स्पष्ट है। चित्रकाव्य की रचना काव्य-रचना विधि के ज्ञान तथा उसके उपयोग में निपुणता के आधार पर की जा सकती है परन्तु ध्वनिकाव्य की रचना बिना काव्य प्रतिभा[1] शक्ति के नहीं की जा सकती।

सालंकार–काव्य से ध्वनि–काव्य का भेद

सालंकार काव्य दो प्रकार का होता है—

(अ) वह काव्य जिससे केवल वे विचार ही उत्प्रेरित होते हैं जिनको काव्य शरीररूप शब्दप्रतीक प्रकट करते हैं जैसे वह काव्य जिसमें उपमालंकार का प्रयोग किया गया है।

(आ) वह काव्य जिससे कुछ ऐसे अर्थों का बोध होता है जो प्रतीकरूप शब्दों से प्रकट नहीं किए जाते वरन् उन शब्दों से ध्वनित किये जाते हैं। दृष्टान्त के लिए वह काव्य जिसमें निम्नलिखित अलंकारों का प्रयोग किया जाता है—

---

[1] ध्व० लो० ३४

१. समासोक्ति
२. आक्षेप
३. अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति
४. पर्य्यायोक्त
५. दीपक
६. अपह्नुति
७. संकर आदि

अतएव शब्दों की ध्वनि शक्ति के सिद्धान्त के विरोधी यह मानते हैं कि यद्यपि ध्वनि काव्य की गणना प्रथम प्रकार से अलंकृत काव्य के अन्तर्गत नहीं की जा सकती परन्तु दूसरे प्रकार से अलंकृत काव्य के अन्तर्गत उसकी गणना अवश्य ही की जा सकती है।

जैसा कि हम गत पृष्ठों में कह आए हैं ध्वनि शक्ति के प्रतिपादक इसके उत्तर में यह कहते हैं कि अलंकृत काव्य से ध्वनिकाव्य की भिन्नता इस बात में है कि इसमें अर्थों के मिश्रित समुदाय में ध्वन्यर्थ सदैव प्रधान तत्त्व के रूप में वर्तमान होता है। उपर्युक्त अलंकारों से जिस मिश्रित समुदाय रूप अर्थ का बोध होता है उसमें निस्सन्देह रूप से यद्यपि ध्वनितत्त्व वर्तमान रहता है फिर भी वह अप्रधान रूप में ही होता है क्योंकि ये अलंकार अभिधेयार्थ को अलंकृत करते हैं। परन्तु हमारे मत के अनुसार ध्वनि काव्य वह है जिसमें अभिधेयार्थ ध्वन्यर्थ के अधीन अथवा उससे अप्रधान होता है। अतएव यदि हम उक्त दोनों प्रकार के काव्यों से उद्भूत दोनों प्रकारों के अनुभवों पर विचार करते हुए उन का विश्लेषण करें तो हम उनको परस्पर सर्वथा भिन्न पाते हैं। अतएव हम यह स्वीकार[1] करते हैं कि इन दोनों प्रकारों के काव्य के उत्प्रेरक भी भिन्न तत्त्व हैं।

ध्वनि-भेद तालिका (ध्व० लो० ११९)
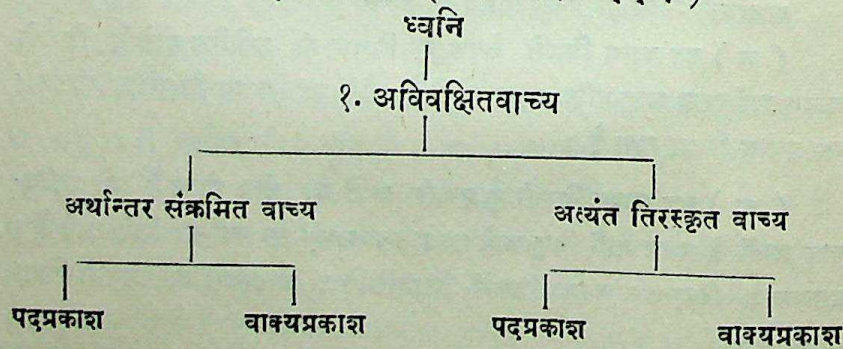
[1] ध्व० लो० ३५

२. विवक्षितान्यपरवाच्य
असंलक्ष्यक्रम
क्रमद्योतित
रस, भाव, रसाभास
भावाभास, भावशान्ति
आदि ।
१ रचना, २ वर्ण, ३ शब्द,
४ वाक्य, ५ रचनाविधि,
६ सुप्, ७ तिङ्, ८ वचन
९ संबंध, १० कारक शक्ति, ११ कृदन्त
१२ तद्धित एवं १३ समास से ध्वनित
शब्दशक्त्युद्भव
अर्थशक्त्युद्भव
उभयशक्त्युद्भव
शब्दोद्भूत
वाक्योद्भूत
शब्दोद्भूत
वाक्योद्भूत
शब्दों की काव्यात्मक
व्यवस्था से उद्भूत
स्वतः संभवी
कविनिबद्ध वक्ता की
प्रौढ उक्तिसे उद्भूत
वस्तुध्वनि
अलंकारध्वनि
वस्तुध्वनित
अलंकार ध्वनित
वस्तुध्वनि
अलंकारध्वनि
वस्तुध्वनित
अलंकार ध्वनित
वस्तुध्वनि
अलंकारध्वनि
वस्तुध्वनित
अलंकार ध्वनित
शब्दोद्भूत
वाक्योद्भूत
शब्दोद्भूत
वाक्योद्भूत
शब्दोद्भूत
वाक्योद्भूत

अध्याय ७

महिमभट्ट कृत ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन एवं उसका मण्डन

विवादास्पद समस्या के रूप में ध्वनि–सिद्धान्त

स्वतन्त्रकलाशास्त्र के संबंध में अर्थ की समस्या के विषय में कश्मीर के महान् शास्त्रकार लगभग चार सौ वर्षों अर्थात् ईसा की नवीं शताब्दि से लेकर बारहवीं शताब्दि तक वादविवाद करते रहे थे। मूल रूप से यह वादविवाद ध्वन्यर्थ की समस्या के विषय में चल रहा था। यह विवाद उस समय भी तीव्र रूप से चल रहा था जब आनन्दवर्धनाचार्य ने अपनी प्रसिद्ध ध्वनि–कारिकाओं एवं तद्विषयक व्याख्या को नहीं लिखा था। आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में अन्य प्रकार के स्वीकृत अर्थों तथा समासोक्ति आदि अलंकारों से पृथक् स्वरूप ध्वन्यर्थ को स्थापित करने का सफल प्रयास किया था।

ध्वन्यालोक ग्रंथ के प्रणीत तथा प्रसारित हो जाने के कुछ ही समय के बाद भट्टनायक ने अपने ग्रन्थ हृदयदर्पण में इस ध्वनि–सिद्धान्त को खण्डित करने की चेष्टा की। इस कृति को केवल परवर्ती शास्त्रकारों के ग्रन्थों में किये गए उल्लेखों से ही हम जानते हैं। ध्वन्यालोक की व्याख्या 'लोचन' को लिखते हुए अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के अभिमत की निस्सारता को अत्यंत सफलता से अपनी मनोवैज्ञानिक–दार्शनिक युक्तियों से सिद्ध कर दिया था। परन्तु अभिनवगुप्त के 'लोचन' के पूर्व ध्वनि-कारिकाओं के ऊपर 'चन्द्रिका' नाम की एक अन्य टीका थी। इस टीका को भी हम केवल उसके उल्लेखों से ही जानते हैं। 'चन्द्रिका' टीका के लेखक का नाम तक अज्ञात है। परन्तु लोचन में एक स्थल पर ऐसा उल्लेख है जिससे यह ज्ञात होता है कि वे[1] स्वयं अभिनवगुप्त के कोई पूर्वज (पूर्ववंश्य) ही थे।

अभिनवगुप्त के उपरान्त कुन्तक ने ध्वन्यर्थ–सिद्धान्त की उस समस्या का समाधान विषयनिष्ठ (objective) दृष्टिकोण से किया जिसका समाधान आनन्दवर्धनाचार्य तथा उनके व्याख्याकारों ने प्रमातृनिष्ठ (subjective) दृष्टिकोण से सुयोग्यता से किया था। वास्तव में महिमभट्ट[2] ने इस तथ्य का उल्लेख स्पष्ट-

[1] ध्व० लो० १८५

[2] व्य० वि० १२

रूप से किया है कि कुन्तक की वक्रोक्ति की परिभाषा ध्वनि की परिभाषा से किसी भी रूप में भिन्न नहीं है। यह इस बात से और भी अधिक स्पष्टरूप में ज्ञात होता है कि जिस प्रकार से आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि का वर्गीकरण एवं उपवर्गीकरण किया है ठीक उसी प्रकार से कुन्तक ने भी वक्रोक्ति का वर्गीकरण तथा उपवर्गीकरण किया है तथा वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों के दृष्टान्तों के रूप में उन्होंने उन्हीं श्लोकों को उद्‌धृत किया है जिनको आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि के विभिन्न भेदों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अपने ध्वन्यालोक में उद्‌धृत किया था।

कुन्तक के उपरान्त महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' की रचना की। उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन प्रमेयनिष्ठ एवं प्रमातृनिष्ठ दोनों दृष्टिकोणों से किया। उन्होंने उन आनन्दवर्धनाचार्य एवं अभिनवगुप्त दोनों के मतों का खण्डन किया जिन्होंने ध्वनि समस्या का समाधान प्रमातृनिष्ठ दृष्टिकोण से किया था। इसके साथ-साथ उन्होंने उन कुन्तक के मत का भी खण्डन किया जिन्होंने ध्वनि समस्या का समाधान विषयनिष्ठ दृष्टिकोण से किया था। उनका खण्डनात्मक अभिमत कश्मीर के अद्वैतवादी शैवमत की तार्किक विधि पर आधारित था। न्याय अथवा वैशेषिक मतों के आधार पर उनका यह खण्डन नहीं है। आगामी उपप्रकरण में हम इसका स्पष्टीकरण करेंगे।

परन्तु महिमभट्ट के उपरान्त रुय्यक ने व्यक्तिविवेक की व्याख्या को लिखा। उन्होंने महिमभट्ट के ध्वनिविरोधी सभी आक्षेपों को निर्मूल करते हुए ध्वनि सिद्धान्त को पुनः स्थापित किया।

महिमभट्ट का परिचय

यद्यपि यह संभव नहीं है कि महिमभट्ट की जन्म एवं मृत्यु तिथि का उल्लेख हम निश्चित रूप से कर सकें फिर भी कश्मीर के साहित्य के इतिहास में उनका महत्वपूर्ण पद निश्चित है। वे ईसा की ग्यारहवीं शताब्दि के मध्य भाग में जीवित थे। अभिनवगुप्त तथा कुन्तक के मतों का खण्डन उन्होंने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में किया था अतएव इनसे उनका परवर्ती होना सिद्ध है। व्यक्तिविवेक पर रुय्यक ने अपनी व्याख्या लिखी थी, इसलिए उनका रुय्यक से पूर्ववर्ती होना प्रमाणित हो जाता है। उनके ग्रन्थ को समुचित रूप से समझने के लिए और उसके महत्व की सराहना करने के लिए उनका इतना ही परिचय पर्याप्त है।

वे एक गृहस्थ थे और उनके पुत्र पौत्रादि थे। उनके पिता का नाम श्रीधैर्य था। उनके गुरु[1] का नाम श्यामलक था जो एक महाकवि थे। उनके एक पुत्र का नाम भीम था। व्यक्तिविवेक की रचना उन्होंने अपने उन पौत्रों के लिए की थी जो सामन्तों के समाज में अपनी व्यवहार-शिष्टता[2] के लिए प्रसिद्ध थे। वे एक शिक्षक थे। उनको इस बात के लिए प्रेरित किया गया था[3] कि वे अन्य लेखकों के ग्रन्थों के दोषों को प्रकट करें। सौभाग्यशाली व्यक्तियों का यह मार्ग नहीं होता एवं दुर्भाग्यशाली को ही यह काम करना होता है—यह जानते हुए भी उन्होंने खण्डनात्मक समीक्षा को अपनाया था।

उनको इस बात का भी ज्ञान था कि स्वयं उनके ग्रन्थ में भी अनेक दोष हैं। परन्तु वे यह मानते थे कि उनकी दशा उस चिकित्सक के समान है जो अन्य व्यक्तियों को तो स्वास्थ्यवर्धक नियमों को पालन करने का उपदेश देता है परन्तु स्वयं उनका पालन नहीं करता।

अपनी विद्वत्ता पर उनको अत्यंत अभिमान था। किसी दूसरे विद्वान् को वे अपने सामने तिनके[4] से अधिक नहीं समझते थे। दर्प की प्रचण्डता के कारण उद्भट विद्वान् होते हुए भी किसी भी साहित्यिक समाज में उनको यथायोग्य समादर नहीं प्राप्त हुआ। साहित्य के जगत में वे सहसा यशस्वी होना[5] चाहते थे। वस्तुतः इस प्रकार के यश को प्राप्त करने की लालसा से ही उत्प्रेरित होकर आनन्दवर्धनाचार्य तथा कुन्तक जैसे प्रतिष्ठित शास्त्रकारों के साहित्यतत्त्व प्रतिपादक ग्रन्थों की समीक्षा करने के कार्यभार को उन्होंने सम्भाला था। वे स्वयं अपने को साहित्य संसार का सूर्य समझते थे। वे भलीभांति यह जानते थे कि उनके ग्रन्थ को सर्वसम्मति प्राप्त नहीं हो सकेगी, ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थक उनके ग्रन्थ के प्रति अपना रोष अवश्य प्रकट करेंगे, वे विद्वान् शास्त्रकार प्रसन्न होंगे जिनकी विचार परिपाटी उन्हीं के समान है तथा उसके प्रतिद्वंद्वी[6] हताश और दुर्बल हो जाएँगे। वे स्वयं एक स्थल पर यह कहते हैं कि उनका ग्रंथ उन्हीं विद्वानों के लिए है

---

[1] व्य० वि ४५६

[2] व्य० वि० ४५६

[3] व्य० वि० १५२–३

[4] व्य० वि० १४९

[5] व्य० वि० ६

[6] व्य० वि० ४

जिनका बुद्धि वैभव तथा उन्मुखताएं उन्ही के समान हैं। वे इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं थे कि आनन्दवर्धनाचार्य जैसे महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठित शास्त्रकार के ग्रंथ के दोषों को प्रकट करने से ही साहित्य जगत में उनको चिरस्थायी यश प्राप्त हो जाएगा। साहित्य लोक में यश के उपार्जन के लिए उनकी आतुरता इतनी वेगवती थी कि उन्होंने न तो ध्वनिविरोधी साहित्यिक सम्प्रदाय विषयक पूर्वलिखित भट्टनायककृत हृदयदर्पण का अध्ययन करना आवश्यक समझा और न ध्वनि सिद्धान्त की समर्थक चन्द्रिका[1] आदि व्याख्याओं का ही अध्ययन उन्होंने किया जो ध्वन्यालोक के अभिमतों को सुबोध बनाने के लिए पूर्व आचार्यों से लिखी गई थीं। अपने ग्रंथ के आरम्भ में वे स्वयं यह लिखते हैं कि वे यह भी जानते हैं कि इस प्रकार के बुद्धि वैभव की कमी के कारण उनके ग्रंथ में अनेक त्रुटियाँ और दोष उत्पन्न हो जाएंगे। परन्तु साहित्यिक यश के प्रति उनका अनुराग इतना अधिक उत्कट था कि उन्होंने अविचारपूर्ण होकर उस ध्वनि-सिद्धान्त को खण्डित करने की चेष्टा की जिसकी स्थापना आनन्दवर्धनाचार्य ने की थी। काव्यशैली का अनुसरण करते हुए वे अपनी मानसिक प्रतिभा की उपमा उस प्रियमिलनातुरा नायिका से देते हैं जो राग से परवश होकर अपने प्रेमी से मिलने के लिए इतनी व्यग्र हो जाती है और क्षण भर रुक कर दर्पण में यह देखना भी आवश्यक नहीं समझती है कि उसने सभी अलंकारों को यथाविधि धारण किया है या नहीं।

वे यह भली भांति जानते थे कि ध्वन्यर्थ की समस्या अत्यंत कठिन है। अतएव उसके विषय पर लिखने की चेष्टा करने वाले किसी भी विद्वान् शास्त्रकार के निबन्ध में अनेक स्थलों पर त्रुटि होना सहजरूप में सम्भव है। अतएव वे अपने विद्वान् पाठकों से इस बात की आशा करते हैं और उनसे विनयपूर्वक यह कहते हैं कि वे उनकी त्रुटियाँ की ओर से उदासीन होकर अपना ध्यान ग्रन्थ के केवल उसी अंश पर केन्द्रित करें[2] जो निर्दोष एवं हितकारी है।

जिन अभिमतों का वे अपने ग्रंथ में खण्डन करते हैं उनके प्रतिपादक पूर्ववर्ती शास्त्रकारों के प्रति उनके अन्तःकरण में श्रद्धा का अभाव है। रुय्यक के कथनानुसार[3] कुन्तक के प्रति उनका यह श्रद्धाहीन भाव अत्यंत स्पष्ट है।

---

[1] व्य० वि० ६

[2] व्य० वि० ६–७

[3] व्य० वि० व्या० २४३

उन्होंने अपने विरोधियों के अभिमतों का वह अर्थ लगाने का उद्योग किया है जो मूलतः उनका अर्थ नहीं है। वे समीक्षक पाठकों को भ्रम में डाल देने का भी उद्योग करते हैं[1]। आनन्दवर्धनाचार्य को वे एक महान् विचारशील शास्त्रकार स्वीकार करते हैं और उनको इस बात का पूर्ण विश्वास था कि इस प्रकार के सुप्रतिष्ठित शास्त्रकार के अभिमतों का ज्ञान ही विद्वन्मण्डली में उनको गौरवशाली पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है।

व्यक्ति विवेक का प्रतिपाद्य

जैसा कि नाम के अर्थ से ही ज्ञात होता है 'व्यक्तिविवेक' का प्रतिपाद्य विषय भाषा की उस चौथी शक्ति का खण्डन करना है जिसको शास्त्रीय भाषा में 'व्यक्ति' कहते हैं। इस ग्रंथ में लेखक ने यह चेष्टा की है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने अर्थप्रतीति के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसको खण्डित करते हुए यह प्रतिपादित किया जाय कि उन्होंने जिस अनुमान सिद्धान्त की स्थापना की है उसी से ध्वन्यर्थ की प्रतीति होती है।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि अनुमान के सिद्धान्त का प्रतिपादन श्री शंकुक ने भरतमुनि के रसपरिभाषाविषयक सूत्र की व्याख्या करते हुए किया था। जिस मत का प्रतिपादन श्री शंकुक ने किया था महिमभट्ट अधिकांश रूप में उसी मत की अर्थ-प्रतीति के प्रसंग में पुनरावृत्ति करते हैं तथा जिन युक्तियों से उन्होंने अपने मत को सिद्ध किया था उन्हीं युक्तियों का प्रयोग वे भी करते हैं। इनमें से अधिकांश युक्तियों का खण्डन अभिनव भारती के उस अंश में है जहां पर अभिनवगुप्त ने रसविषयक परिभाषा सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री शंकुक से प्रतिपादित अनुमानसिद्धान्त का खण्डन पूर्णरूप से किया है। यद्यपि यह निश्चितरूप से सिद्ध हो जाता है कि महिमभट्ट ने अभिनवगुप्त लिखित लोचन का अध्ययन तो किया था क्योंकि उसके कुछ अंशों का उल्लेख उद्धरण के रूप में उन्होंने अपने ग्रंथ में किया है, परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने अभिनव भारती का भी अध्ययन किया था। क्योंकि अभिनव भारती के पढ़ने पर उस अनुमान सिद्धान्त की निस्सारता सिद्ध हो जाती है जिसका प्रतिपादन महिमभट्ट ने किया है।

---

[1] व्य० वि० व्या० ८१

ध्वनिकार के प्रति महिमभट्ट की मनोवृत्ति

आनन्दवर्धनाचार्य के अभिमत के साथ महिमभट्ट का मूल मतभेद यह है कि वे 'व्यक्ति' अथवा 'ध्वनि' को भाषा की कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं मानते वरन् यह मानते हैं कि इसका अनुमान में अन्तर्भाव किया जा सकता है। आनन्द-वर्धनाचार्य की सभी बातों का खण्डन वे नहीं करते। उनके कुछ अभिमतों को वे न्यायसंगत मानते हैं और उनका समर्थन भी करते हैं। परन्तु उनके मतों का विश्लेषण करने के उपरान्त जब महिमभट्ट उनको अपने अभिमतों के विरुद्ध पाते हैं तो उनका खण्डन करने में वे कोई संकोच नहीं करते[1]।

महिमभट्ट कश्मीर शैवमत के अनुयायी थे

महिमभट्ट के आधुनिक व्याख्याकार कश्मीर के यथार्थवादी ज्ञप्तिवाद (Realistic Idealism), अर्थात् वह शैव अद्वैतमत जो सांसारिक पदार्थों को भ्रमरूप न मान कर सत्यरूप मानता है, से अनभिज्ञ होने के कारण सामान्य रूप से उनको न्याय मत का अनुयायी मानते हैं और उनके अभिमतों की व्याख्या न्यायदर्शन की मान्यताओं के आधार पर करते हैं। परन्तु उनके ग्रंथ का यदि गम्भीर अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि वे कश्मीर शैवमत की अद्वैतवादी विचारधारा के समर्थक थे। निम्निलिखित बातों से यह स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है।

१. 'पराशक्ति' का उल्लेख

'व्यक्तिविवेक' के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में जो श्लोक लिखे गए हैं उनमें से एक श्लोक में उन्होंने 'परावाक्' की वन्दना की है। हम इस ग्रंथ के तृतीय अध्याय में यह लिख आए है कि भर्तृहरि ने वाक् के केवल तीन रूपों को ही स्वीकार किया है एवं 'पश्यन्ती' को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादित किया है, और सोमानन्द वे व्यक्ति थे जिन्होंने 'परावाक्' को 'पश्यन्ती' से भिन्नरूप एवं उससे परे प्रतिपादित किया था तथा नागेशभट्ट आदि परवर्ती वैयाकरणों ने शैवमत संबंधी ग्रन्थों से इसको ग्रहण किया था। अतएव महिमभट्ट ने अपने ग्रंथारम्भ में जो 'परा' शब्द का उल्लेख किया है उससे यह दृढ़रूप से सिद्ध हो जाता है कि वे कश्मीर शैवमत के अनुयायी थे।

---

[1] व्य० वि० ५

२. आभासवाद के सिद्धान्त का उल्लेख

महिमभट्ट ने शब्दों को पाँच वर्गों में विभाजित किया है—नाम (संज्ञा) आख्यात, निपात, उपसर्ग एवं कर्मप्रवचनीय। नाम के वे चार उपभेद विभिन्न वस्तुओं के लिए उसके प्रयुक्त होने के चार कारणों के आधार पर करते हैं (तत्प्रवृत्तिनिमित्तानां बहुत्वात्) जैसे जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य। परन्तु बाद में वे इस मत को संशोधित करते हुए विशद रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि किसी वस्तु के लिए हम नाम का प्रयोग केवल एक ही कारण से करते हैं और वह विशिष्ट सत्ता को प्राप्त करने की क्रिया है 'घटनंच तदात्मत्वा-पत्तिरूपा क्रिया मता' (व्य० वि० ३३)

इस प्रसंग में उन्होंने एक अन्य मत का उल्लेख किया है। इस मत के अनुसार विशिष्ट वस्तु के लिए विशिष्ट संज्ञा के प्रयोग का कारण अधिकांश रूप में वही है जो उनके सिद्धान्त के अनुसार है। इस अन्य मत का उल्लेख उन्होंने इससे अपने मतभेद को स्पष्ट करने के लिए किया है। इस मत का उल्लेख निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :—

कुछ शास्त्रकारों का यह अभिमत है कि विशिष्ट वस्तुओं का बोध कराने के लिए 'घट' आदि शब्दों (संज्ञाओं) के प्रयोग का कारण वह क्रिया है जो उस धातु का सामान्य अर्थ है, जिससे किसी विशिष्ट संज्ञा शब्द को सिद्ध किया जाता है। इस मत के समर्थन में जो युक्ति है उसको निम्नलिखित रूप से कहा जा सकता है :—

यदि यह स्वीकार कर लें कि 'घट' आदि शब्दों से विशिष्ट वस्तुओं का बोध उत्पन्न होता है तो इस विशिष्ट बोध का कोई न कोई कारण होना अत्यंत आवश्यक है। इस कारण को वस्तु से बाह्य न होना चाहिए, वरन् उसके अन्दर और उसके साथ एकात्मरूप से विद्यमान होना चाहिए। क्योंकि यदि वह कारण जो वस्तु से बाह्य है, जैसे कि जाति या सामान्य, 'घट' शब्द से एक विशिष्ट वस्तु के बोध का पर्याप्त कारण मान लिया जाए तो उस जाति आदि की बाह्यता का घट तथा अन्य पटादि वस्तुओं के साथ समान रूप से संबंध होने के कारण इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन हो जायगा कि 'घट' शब्द से 'पट' रूप वस्तु का बोध[1] क्यों नहीं होता? अतएव विशिष्ट वस्तु के बोधक रूप में 'घट' शब्द के प्रयोग करने का कारण वह क्रिया अथवा उस

[1] व्य० वि० २३

धातु का साधारण अर्थ है जिससे उस शब्द की व्युत्पत्ति होती है और जिसके साथ वस्तु की एकात्मकता होती है अथवा जो उसके मूल स्वरूप को प्रकट करता है।

परन्तु इस अभिमत का दोष स्पष्ट है। इस दोष को उपाधिवादियों ने प्रकट किया था। यदि किसी एक वस्तु के बोध के लिए किसी विशिष्ट संज्ञा-शब्द के प्रयोग का कारण वह धातु है जिससे उस संज्ञा शब्द की व्युत्पत्ति हुई है तो "गौः" संज्ञाशब्द का प्रयोग 'गाय' पशु के लिए उस समय नहीं किया जा सकता जब वह चल न रही हो अथवा पूर्ण रूप से विश्राम कर रही हो, क्योंकि उस समय वह चलने की वह क्रिया नहीं करती जो उस विशिष्ट पशु के लिए 'गौः' शब्द के प्रयोग का एकमात्र कारण है।

अतएव महिमभट्ट का मत यह है कि विशिष्ट वस्तु के लिए विशिष्ट संज्ञा-शब्द का प्रयोग उस क्रिया के कारण नहीं किया जाता जो उस धातु का अर्थ है जिससे उस विशिष्ट संज्ञाशब्द की व्युत्पत्ति हुई है और जिस क्रिया को वह वस्तु करती है जिसके लिए उस विशिष्ट संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। इस विचाराधीन श्लोक की व्याख्या करते हुए रुय्यक दृढ़ रूप से यह कहते हैं कि धातुबोधित क्रिया उस कारण का एक अंशमात्र है जिससे विशिष्ट वस्तु के लिए 'घट' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है—(घटिः अच्प्रत्यान्तः प्रवृत्तिनिमित्तैकदेशाभिधायी—(व्य० वि० व्या० ३३)। अतएव उनका यह अभिमत है कि 'घड़ा' आदि वस्तुओं के लिए 'घट' आदि शब्दों के प्रयुक्त करने का कारण उस साररूप अस्तित्व की प्राप्ति है जो उस वस्तु का मूल स्वरूप, आकार अथवा वास्तविक रचनाविन्यास रूप होता है और उस वस्तु से सदैव अभिन्न रहता है, अर्थात् उस घटरूप वस्तु का अपने विशिष्ट मूल स्वरूप में प्रकाशित होना है—(स्वरूपीभूतघटत्वापत्तिलक्षणं हि घटशब्दस्य प्रवृत्ति-निमित्तम् (व्य० वि० वृ० ३३)।

इस प्रसंग में आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि 'प्राप्त करना' एवं 'प्रकाशित होना' भी क्रियाएं हैं। अतएव इन क्रियाओं के साथ घट आदि जड़ वस्तुओं का कर्तारूप संबंध किस प्रकार से हो सकता है? क्योंकि कोई क्रिया बिना उस कर्त्ता के सम्भव नहीं है जो स्वतंत्र है अर्थात् जिसका मूल स्वरूप विकल्पात्मक स्वात्मबोध है (स्वतंत्रः कर्त्ता)। क्रिया का स्रोत स्वतंत्र चित् शक्ति है। स्वातंत्र्य स्वयं क्रिया का आधार है। 'विशिष्ट वस्तु के लिए विशिष्ट संज्ञा के प्रयोग का कारण उससे क्रिया का किया जाना है चाहे यह क्रिया

निज मूलस्वरूप की प्राप्ति ही क्यों न हो' इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए यह कैसे युक्तिसंगत है कि कोई व्यक्ति घट के समान जड़ वस्तु में भी कर्तृत्व मान ले।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए महिमभट्ट ने कश्मीर शैव अद्वैत मत के इस सिद्धान्त का उपयोग किया है कि 'प्रत्येक वस्तु परतत्त्व का आभास है'। इस संबंध में वे शैवमत के आभासवाद सिद्धान्त का आश्रय लेते हैं। उनकी भाषा उत्पलाचार्य कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (२–१–४) की प्रसिद्ध कारिका की छाया मात्र है।

क्रमोभेदाश्रयो भेदोऽप्याभाससदसत्त्वतः।
आभाससदसत्त्वे च चित्राभासकृतः प्रभोः॥

पाठक उपर्युक्त श्लोक के उत्तरार्ध भाग की तुलना व्यक्तिविवेक में लिखित यदि निम्नलिखित पंक्ति से करें तो उनको यह स्पष्टतया ज्ञात हो जायगा कि दोनों में कितना विचार साम्य है—

मूलंच तस्याश्चित्रार्थाभासाविष्कृतिरीशितुः। (व्य० वि० ३३)

रुय्यक ने उनकी युक्ति को जिस विशदरूप में प्रकट किया है वह इस प्रकार है—

वस्तुओं के अस्तित्व को प्रमाता से बहिर्भूत एवं प्रमातृ निरपेक्ष तो माना जा सकता है परन्तु इस प्रकार के वस्तु के अस्तित्व का मानना उसके अनस्तित्व के मानने से भिन्न नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के वस्तु के अस्तित्व से मनुष्य के व्यावहारिक जीवन का स्पष्टीकरण नहीं होता। प्रमाता के व्यावहारिक जीवन का स्पष्टीकरण वही वस्तु कर सकती है जिसका अस्तित्व प्रमाता की चेतना में हो अर्थात् जो प्रमाता में प्रकाशित हो। यदि हम यह माने लेते हैं कि वस्तुएं प्रमातृ निरपेक्ष एवं प्रमातृ बहिर्भूत होने के कारण प्रमाता से मूलस्वरूप में भिन्न हैं तो उसका अर्थ यह होगा कि वे मूल रूप में अचित् रूप अथवा अप्रकाशरूप हैं। और यदि यही सत्य है तो चित् अथवा बोध में वह किस प्रकार से प्रकाशित अर्थात् ज्ञात हो सकती है? अर्थात् वह किस प्रकार से चित् के लिए व्यावहारिक वस्तु रूप हो सकती है? क्योंकि चित् लोक में प्रकाशित होने का अर्थ है चित् से एकात्मरूप में प्रकाशित होना है। परन्तु यह किस प्रकार से संभव है कि वस्तु जो चित् से मूल रूप में भिन्न है चित् के साथ एकात्मरूप होकर प्रकाशित हो सके? क्योंकि मूल स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। और यदि इसमें परिवर्तन हो जाता है तो वह मूल

स्वभाव नहीं है। अतएव ज्ञेय वस्तु के मूल स्वरूप को चिद्रूप[1] मानना अत्यंत आवश्यक है। अतएव यदि हम यह स्वीकार करलें कि वस्तुओं का मूल तत्त्व चित्स्वरूप है, जैसा कि मानव जाति के व्यावहारिक जीवन के स्पष्टीकरण के लिए मानना आवश्यक है, तो 'एक वस्तु के लिए एक शब्द के प्रयोग का कारण उसकी निजी विशिष्ट सत्ता को प्राप्त करने की क्रिया है' इस सिद्धान्त को खण्डित करने के लिए जो आक्षेप किया गया था उसका खण्डन हो जाता है। क्योंकि उपर्युक्त सिद्धांत के विरुद्ध आक्षेप यह किया गया था कि 'घट के समान जड़ वस्तु में हम कर्तापन की स्थापना किस प्रकार से कर सकते हैं' जब कि यह सामान्यरूप से माना जाता है कि क्रिया केवल चेतन एवं स्वतन्त्र कर्ता ही करता है। यदि हम वस्तुओं के मूलतत्त्व को चित्स्वरूप स्वीकार किए लेते हैं तो उसकी स्वतंत्रता स्वयंसिद्ध हो जाती है। क्योंकि प्रकाश एवं विमर्श परस्पर अभिन्न हैं। ऐसा कोई चित् नहीं है जो स्वतंत्र न हो।

इस सिद्धान्त का विशदीकरण करते हुए रुय्यक ने एक पंक्ति को उद्धृत किया है जो सम्भवतः किसी वेदान्त मत प्रतिपादक ग्रंथ से ली गई है क्योंकि इसमें ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है 'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सारूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च' (व्य० वि० व्या० ३४)। इस कथन का भावार्थ यह है कि ब्रह्म का एक अंश (प्रदेश) भी अपने मूलस्वरूप में पूर्ण ब्रह्म के समान है और उसको भी पूर्णरूप से सविकल्पग्राह्य नहीं माना जा सकता है।

उपर्युक्त युक्ति प्रमाणमीमांसाशास्त्र से संबंधित है। इस विषय में एक मूलतत्त्वचिन्तनविषयक युक्ति भी है। उसको निम्नलिखित रूप में कहा जा सकता है—

कश्मीर के शैवदर्शन के अनुसार स्पष्टरूप से क्रियाविषयक तीन विभिन्न अभिमत हैं जो परस्पर संबंधित भी हैं—

(१) क्रिया जगदुत्पत्ति कारण परतत्त्व का एक स्वरूपांश (aspect) है। इस रूप में यह वह शक्ति है जिसके कारण क्रम रूप देश और काल के अन्तर्गत विषयभूत संसार में प्राप्त सम्पूर्ण विविधताओं का जन्म होता है। इस रूप में इसको 'क्रियाशक्ति' कहते हैं। यह शक्ति स्वयं कालातीत है अतएव यह क्रमशून्य है।

(२) यह प्रत्यय (concept) स्वरूप है। इस रूप में यह क्रिया एकानेकरूपा है। भावी भेदों में एकता की प्रत्यभिज्ञा इसका आधार होती है।

---

[1] व्य० वि० व्या० ३३

उदाहरण के रूप में हम एक व्यक्ति 'क' को कालक्रम के बीच अनेक विभिन्न देशविन्दुओं से संबंधित देखते हैं। विभिन्न देशबिन्दुओं से विभिन्न क्षणों में संबंधित होने के कारण यह व्यक्ति भिन्नरूपों में दृष्टिगोचर होता है। फिर भी 'क' के शरीर को हम पूर्णरूप में ही पहचानते हैं। अतएव यह क्रिया वह प्रत्यय (concept) है जिसकी रचना विकल्पात्मक बुद्धि क्रम से देखे गये तथ्यों में सादृश्य की प्रत्यभिज्ञा के कारण उनके एकीकरण द्वारा करती है।

(३) क्रिया वह बाह्य क्रमरूप आभास है जिस पर क्रिया विषयक प्रत्यय आधारित है। कश्मीर का शैवमत विज्ञानवाद (subjectivism) नहीं है। इसके अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति रूप प्रमाता से बाह्य लोक में वस्तुओं का अस्तित्व होता है। ये वस्तुएं इन्द्रियों के साधन से अन्तःकरण को उत्प्रेरित करती हैं अथवा उन प्रत्ययों का आधार बनती हैं जिनकी रचना अन्तःकरण करता है। वे परशिव की स्वतंत्र इच्छाशक्ति की अभिव्यक्तियां हैं। प्रकट होने के पूर्व वे सर्वव्याप्त इच्छाशक्ति में निवास करती हैं।

जिस समय क्षणस्थायी आभासों की क्रमश्रृङ्खला एक विशिष्ट कालक्रम में इस प्रकार से प्रकट होती है कि क्रमश्रृङ्खला की एक कड़ी अपनी पूर्ववर्ती कड़ी से सर्वथा भिन्न रूप होती है, उस समय क्रमश्रृङ्खला की समस्त कड़ियों में भिन्नता के होते हुए भी एक ऐसी मूल एकरूपता वर्तमान रहती है जो क्रिया के प्रत्यय के आभासरूप आधार की रचना करती है। शास्त्रीय भाषा में इसको 'लौकिकी क्रिया' कहा जाता है।

शैवमत के दर्शनशास्त्रकारों ने इस विषय में जो प्रतिपादित किया है उसको संक्षेप रूप में इस प्रकार से कहा जा सकता है—क्रिया का प्रधान विशिष्ट लक्षण वह क्रमरूपता है जो वहिर्भूत तथ्यरूप है। इस क्रमरूपता का आधार वह विविधता है जिसकी रचना एक के अस्तित्व तथा दूसरे के अभाव से होती है और यह भाव तथा अभाव उस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के आभास हैं जो विविध रूपों के आभासों को प्रकट करती है। जिस प्रकार से स्वप्न में देखे जाने वाले पदार्थ स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति से एकात्मरूप होते हैं उसी प्रकार से ये आभास मूलतः परतत्व के एकात्मरूप होते हैं। अतएव अपने मूलरूप में ये आभास चित्स्वरूप एवं स्वतन्त्ररूप होते हैं। 'शैव मूलतत्त्व दर्शन के अनुसार सभी आभासों का मूल कारण स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है, तथा ये आभास अपने मूल रूप में निज मूल कारण से एकात्म रूप होते हैं'—यदि हम उपर्युक्त कथन को नहीं भूल गए हैं तो शैवमत के दृष्टिकोण से घट में भी उस क्रिया

का स्वीकार करना युक्तिहीन नहीं कहा जा सकता है जिसका क्रिया करने वाले की स्वतन्त्रता आधार है। अतएव शैव मूलतत्त्व दर्शन शास्त्र के सिद्धान्त के आधार पर महिमभट्ट यह स्वीकार करते हैं कि व्युत्पत्ति के ज्ञान का आधार कुछ भी हो, किसी विशेष वस्तु के लिए एक विशिष्ट संज्ञा के प्रयोग का कारण केवल[1] वह क्रिया है जो अपनी विशिष्ट सत्ता की प्राप्ति अर्थात् सत्तासादन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस सिद्धान्त के आधार पर महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि उन सभी संज्ञाओं में जो 'उपमान' होने का भाव प्रकट करती हैं 'क्विप्' प्रत्यय को जोड़ना चाहिये। इस प्रसङ्ग में इस प्रत्यय का अर्थ उसके समान कार्य करता है'—(उपमानादाचारे) न होकर 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः' के अनुसार सत्तासादनलक्षणा क्रियामात्र ही होगा और संज्ञा का अर्थ कोई उपमान न होकर 'कर्ता' मात्र ही होगा। क्योंकि शब्द से साक्षात् सत्तासादन लक्षणा क्रिया तथा कर्ता का बोध होता है और परम्परा रूप से हम 'उसके समान कार्य करता है' तथा 'उपमान' आदि अर्थ की प्रतीति करते हैं। उदाहरण के रूप में यदि हम 'अश्वति बालेयः' वाक्य पर ध्यान दें तो इस वाक्य का साक्षात् शाब्दिक अर्थ यह है कि 'गधा घोड़े की विशिष्ट सत्ता को प्राप्त करता है।' इस अर्थबोध के उपरान्त यह परम्परा रूप से ज्ञात होता है कि 'वह गधा घोड़े के समान आचरण करता है।' इसका साधारण-सा कारण यह है कि जिसका आचरण दूसरे से भिन्न है वह वस्तु उस अन्य वस्तु की विशिष्ट सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकती।

'जड़ वस्तु के विषय में हम किसी क्रिया के कर्त्तापन की बात किस प्रकार से कर सकते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए महिमभट्ट फिर से शैव-मूलतत्त्वदर्शन के एक सिद्धान्त[2] का उल्लेख करते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर उनका कथन यह है कि जड़ पदार्थ भी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के अभास हैं और उससे एकात्मरूप होने के कारण 'स्वतन्त्र' हैं और इसलिए कर्त्ता होने की क्षमता उनमें है।

इस प्रसङ्ग में वे पाणिनि के उस कथन का भी उल्लेख करते हैं जिसके निहितार्थ के अनुसार जड़ वस्तुओं में भी कर्त्तापन होता है, अर्थात् वे 'अपनी विशिष्ट सत्ता को प्राप्त' करती हैं। अन्यथा पाणिनि यह किस प्रकार से

---

[1] व्य० वि० ३४

[2] व्य० वि० ३५

प्रतिपादित कर सकते थे कि 'गडि' धातु का अर्थ मुख का एक भाग है (गडि वदनैकदेशे) ?

३. तीन प्रमाणों की स्वीकृति

महिमभट्ट केवल तीन प्रमाणों को ही मानते हैं—(अ) प्रत्यक्ष (आ) अनुमान एवं (इ) शब्द। उनके मत के अनुसार, उपमान[१] तथा अर्थापत्ति-प्रमाण अनुमानप्रमाण के अन्तर्गत हैं। क्योंकि एक वस्तु के प्रत्यक्ष से दूसरी वस्तु का बोध तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से तभी युक्तियुक्त माना जा सकता है जब कि उन दो वस्तुओं में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता है अन्यथा इस बात का कोई भी कारण नहीं होगा कि हम एक विशिष्ट वस्तु के ही प्रत्यक्ष बोध से एक अन्य विशिष्ट वस्तु को क्यों जानते हैं—किसी भी अन्य वस्तु के प्रत्यक्ष बोध से उसका ज्ञान क्यों नहीं हो जाता ? और जो कुछ भी व्याप्ति सम्बन्ध के ज्ञान के आधार पर अथवा अन्य किसी सम्बन्ध के आधार पर ज्ञात होता है वह अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वे मीमांसादर्शनशास्त्र के इस मत का खण्डन करते हैं कि अर्थापत्ति एक स्वतन्त्र प्रमाण है। यह खण्डन उन्होंने उस व्याख्या के प्रसङ्ग में किया है जिसमें यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि 'कृशांग्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्' में 'वदति' शब्द से किस प्रकार 'दिखाता है' अर्थ का बोध होता है ? 'वदति' शब्द की व्याख्या मीमांसामत के अनुसार जो की जा सकती है उसका उल्लेख उन्होंने निम्नरूप में किया है :—

'यदि कहा जाय कि 'वदति' शब्द के अर्थ की व्याख्या केवल एक प्रकार को छोड़कर और किसी प्रकार से की ही नहीं जा सकती है और वह एक प्रकार यह है कि हम यह कल्पना कर लें कि इस शब्द में 'प्रकाशित करने' अथवा 'दिखाने' का अर्थ निहित है जो 'वदति' शब्द से प्रकटित अर्थ के समान है।'

इस उपर्युक्त मत का खंडन वे यह कहकर करते हैं कि यदि यह स्वीकार किया जाता है कि 'प्रकाशित करने' के अर्थ का बोध केवल इस कारण से होता है कि अन्य किसी प्रकार से 'वदति' शब्द के प्रयोग का औचित्य ही सिद्ध नहीं होता तो 'प्रकाशित करने' का अर्थबोध केवल अनुमानप्रमाण से

[१] व्य० वि० ७८–७९

ही होता है। क्योंकि अर्थापत्ति[1] कोई स्वतन्त्र प्रमाण न होकर अनुमानप्रमाण का एक विशिष्ट रूप ही है।

अतएव इस उदाहरण में तथा 'गौर्वाहीकः' में भी अभिधेयार्थ से भिन्न जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसका बोध केवल अनुमान प्रमाण के साधन से ही होता है। 'गौर्वाहीकः' में भी दोनों के तादात्म्य को केवल एक ही प्रकार से समझा जा सकता है और वह प्रकार यह है कि हम यह कल्पना कर लें कि 'गौः' के साथ 'वाहीकः' की समानता अभिप्रेत है।

प्रमाणों की संख्या विषयक यह सिद्धान्त वैशेषिक दर्शनशास्त्र में प्रतिपादित तद्विषयक सिद्धान्त से भिन्न है। वैशेषिक मत के अनुयायी शब्द प्रमाण[2] को कोई स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत के अनुसार शब्द प्रमाण एक प्रकार का अनुमान ही है। वैशेषिक मत के अनुसार श्रुति स्मृति आदि के कथनों की प्रामाणिकता का अनुमान शास्त्रकार के चरित्र की प्रामाणिकता के आधार पर किया जाता है। परन्तु महिमभट्ट शब्द प्रमाण को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

महिमभट्ट का यह मत न्यायदर्शन[3] के सिद्धान्त से भी भिन्न है। क्योंकि न्यायदर्शन के प्रतिपादक उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। परन्तु महिमभट्ट ऐसा नहीं मानते। प्रमाणों की संख्या के विषय में उनका मत कश्मीर के उस विशिष्ट शैवमत के अनुकूल है जिसका प्रतिपादन उत्पलाचार्य ने ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका में प्रमाणों की मीमांसा के प्रसङ्ग में किया है (ई० प्र० वि० भाग २, ७४-८४)।

४. कश्मीर शैव मत के कारणतावाद के सिद्धान्त का उल्लेख

महिमभट्ट ने शब्दों की 'द्योतकत्व शक्ति' के सिद्धान्त को खण्डित करने का प्रयास किया है। और जब यह प्रश्न किया जाता है कि 'प्राप्तम्' जैसे शब्दों के 'प्र' आदि उपसर्गों में प्रकाशित करने की शक्ति (शास्त्रीय भाषा में जिसको द्योतकत्व अथवा व्यञ्जकत्व कहते हैं) के विषय में क्या मानना उचित है ? तो वे उसी प्रकार से उत्तर देते हैं जैसे वे शब्दों की ध्वनि शक्ति के विषय में तत्समान प्रश्न का उत्तर देते हैं। उनका कथन यह है कि उपसर्गों को द्योतक कहना इस शब्द का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग करना है।

---

[1] व्य० वि० ११२
[2] वै० द० १६८-९
[3] न्य० सू० ११

वे इस मत का खंडन करते हैं कि प्रत्येक धातु का अर्थ एक सामान्य रूप क्रिया है (क्रियासामान्यवचनः)। इस मत के अनुसार पच् धातु का अर्थ भोजन पकाने की प्रत्येक विशिष्ट क्रिया है और 'प्र' आदि उपसर्ग केवल उसके एक विशिष्ट अर्थ के ही द्योतक होते हैं, उसके वाचक नहीं होते हैं। वे यह कहते हैं कि यदि उपसर्गों के द्योतकत्व सिद्धान्त के प्रतिपादक निजमत पर हठपूर्वक आरूढ़ ही रहते हैं तो द्रव्य तथा गुण के सम्बन्ध को न मानने की आपत्ति का सामना उनको करना पड़ेगा। क्योंकि यदि यह मान लिया जाय कि उस एक सामान्य में सभी 'विशेष' सम्मिलित अथवा निहित हैं जिसके अर्थ में किसी एक शब्द का प्रयोग किया जाता है एवं तदनुसार कोई भी शब्द जिसका प्रयोग किसी विशिष्टता के बोध को उत्पन्न करने के लिये किया जाता है वाचक न होकर केवल द्योतक ही होगा, तो उस नील शब्द को जिसका प्रयोग एक विशेष रंग के कमल का बोध कराने के लिये किया जाता है द्योतक स्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रसङ्ग में महिमभट्ट कश्मीर शैव मत के कारणतावाद के सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं। अपने इस मत को सुदृढ़ बनाने के लिये कि 'द्योतक शब्द के अभिधेयार्थ के अनुसार उपसर्ग द्योतक नहीं होते' वे यह कहते हैं कि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि वह प्रत्येक शब्द जो सिद्धसद्भाव वस्तु से संबंधित किसी अर्थ का बोध कराता है वाचक न होकर केवल द्योतक मात्र है तो कोई भी शब्द वाचक नहीं होगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु जिसका बोध किसी शब्द से होता है सर्वव्यापी 'चित्' में अस्तित्व रखती है, अतएव उसकी सत्ता[1] (सत्त्व) है वह सिद्धसद्भाव है। क्योंकि अद्वैतवादी शैव मूलतत्त्वदर्शन के आभासवाद के सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियानुभव में आनेवाली प्रत्येक वस्तु केवल उसी का अभिव्यक्त रूप मात्र है जो सर्वव्यापी 'चित्' में पूर्वकाल से विद्यमान है। और जब यह कहा जाता है कि कोई एक वस्तु उत्पन्न की गई है तो इस कथन का अर्थ केवल इतना ही होता है कि सर्व-व्यापी 'चित्' में जो पूर्वकाल से वर्तमान थी वह बाह्य एवं आन्तरिक इन्द्रियों के विषय के रूप में प्रगट हो गई है (सान्तर्विपरिवर्तिनः उभयेन्द्रिय-वेद्यत्वम्। ई० प्र० वि० भाग २–१४०)।

अतएव यह मानना ठीक नहीं है कि महिमभट्ट न्यायमत के अनुयायी थे क्योंकि वे बहुधा तर्क-शास्त्रीय मत का आश्रय लेते हैं एवं रसानुभव के

[1] व्य० वि० १३१

संबंध में अनुमान सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि कश्मीर शैवमत में भी अनुमानप्रमाण से संबंधित एक तर्क विधि का प्रतिपादन किया गया है जिसमें बौद्धमत तथा न्यायमत में प्रतिपादित तर्क विधियों का समावेश है। उपर्युक्त चार तथ्यों के आधार पर यह सुस्पष्ट होता है कि वे कश्मीर शैव दार्शनिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

महिमभट्ट का रस सिद्धान्त

महिमभट्ट रसनिष्पत्ति के विषय में श्री शंकुक के मतानुयायी हैं अतएव वे तद्विषयक अनुमान सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि विभाव और स्थायीभाव में कारण-कार्य का संबंध है। परन्तु सामान्य इन्द्रिय बोध के लोक में जो कारण-कार्य संबंध होता है उससे रसानुभव के लोक में होने वाले कारण-कार्य संबंध में भेद यह है कि सामान्य इन्द्रियानुभव के लोक में कारण यथार्थभूत होते हैं परन्तु रसानुभव के लोक में कारण यथार्थ-भूत कारण की कलात्मक अनुकृति स्वरूप ही होता है। अतएव अनुकृति स्वरूप में प्रकट किए गए कारण से जिस स्थायीभाव का अनुमान होता है वह भी यथार्थ न होकर प्रतिबिंब[1] मात्र ही होता है। क्योंकि कृत्रिम कारण से यथार्थभूत कार्य की उत्पत्ति को मानना तर्क से विरुद्ध है। महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि रसनिष्पत्ति के प्रसंग में कारण और कार्य के कृत्रिम तथा अनुकरण स्वरूप को ही स्पष्ट करने के लिए उनको भिन्न संज्ञाओं जैसे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा स्थायीभाव से प्रकट किया जाता है। इस प्रकार से वे यह प्रतिपादित करते हैं कि अभिधेयार्थ से ध्वन्यर्थ की प्रतीति में ही केवल क्रमरूपता नहीं होती वरन् विभाव से स्थायीभाव के अनुभव में भी क्रमरूपता होती है क्योंकि इन दोनों प्रसंगों में सहृदय कारण से कार्य का अनुमान करते हैं।

काव्य का सौन्दर्य

अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकार भट्टनायक एवं आनन्दवर्धनाचार्य की प्रामाणिकता के आधार पर महिमभट्ट यह स्वीकार करते हैं कि काव्यात्मक भाषा में यह शक्ति होती है कि प्रत्यक्षरूप इन्द्रियानुभव गत अथवा अनुमानित वस्तु को ऐसा सौन्दर्य प्रदान कर सके जिससे कि एक सहृदय को सामान्य ऐन्द्रिय

---

[1] व्य० वि० ७९

अनुभवलोक की वस्तु अथवा घटना के व्यावहारिक जगत में प्रत्यक्ष करने से उतना आनन्द प्राप्त नहीं होता जितना कि उनके काव्य प्रदर्शित रूप से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त यह भी मानते हैं कि वह काव्यकृति जिसमें किसी वस्तु का वर्णन मात्र होता है सहृदय के लिए उतना आकर्षक नहीं होती जितना वह काव्यकृति होती है जो अपने मूलतथ्य को अनुमेय रूप में प्रकट करती है।

रस स्थायीभाव का प्रतिबिंब है

महिमभट्ट यह मानते हैं कि किसी काव्य कृति में स्थायीभाव व्यभिचारी अथवा स्थायीभाव के रूप में वर्तमान हो सकता है। वे यह कहते हैं कि नाट्यशास्त्र के 'भावाध्याय' नामक सातवें अध्याय में व्यभिचारीभाव के रूप में प्रकट होने वाले स्थायीभावों की परिभाषा दी गई है। अन्यथा उनकी परिभाषाएं अर्थहीन हैं। क्योंकि एक स्थायीभाव की अनुकृति के अतिरिक्त रस अपने मूलरूप में और कुछ नहीं है और इसी कारण से स्थायीभाव के मूल-स्वरूपकी परिभाषाएँ विभिन्न रसों की परिभाषाओं से ज्ञात हो सकती हैं, क्योंकि स्थायीभावों[1] के प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त रस और कुछ नहीं हैं।

अनुमान सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेपों का निराकरण

(१) ध्वनिवादी यह आक्षेप करते हैं कि रसानुभव में स्थायीभाव का अनुभव विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से भिन्नस्वरूप अथवा क्रमागत न होकर समकालिक एवं अभिन्नरूप होता है। अतः रसानुभव के विषय में अनुमान सिद्धान्त को किस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है और यह माना जा सकता है कि रसानुभावक विभिन्न तत्त्वों के अनुभवों में क्रमरूपता वर्तमान रहती है ?

महिमभट्ट यह मानते हैं कि विभावादि तथा स्थायी भावों के अनुभव में एक क्रमबद्धता होती है। वे यह कहते हैं कि उनमें (विभावादि तथा स्थायी भावों में) कारण-कार्य संबंध है। विभावादि से स्थायी भाव का अनुमान किया जाता है। रसानुभावक इन सभी तत्त्वों का अनुभव समकालिक होता है यह कहना भ्रममूलक है।

(२) दूसरा आक्षेप यह है कि रसानुभव के लोक में अनुमानित स्थायी भाव का अनुभव आनन्दपूर्ण किस प्रकार से हो सकता है जब कि सामान्य

---

[1] व्य० वि० ७२

इन्द्रियानुभव के व्यावहारिक लोक में तत्समान स्थायी भाव आनन्दमय नहीं होता है ? इस आक्षेप का निराकरण वे निम्नलिखित रूप में करते हैं :—

रसानुभव के लोक में जिनको हम विभावादि कहते हैं वे व्यावहारिक जगत में वर्तमान कारण आदि से भिन्न रूप हैं। व्यावहारिक लोक के कारण आदि यथार्थस्वरूप होते हैं जब कि कलाकृतियों में विभावादि कृत्रिम स्वरूप होते हैं। कारण आदि का बोध व्यावहारिक जगत में होता है जब कि विभावादि का अनुभव केवल रसानुभव के संसार में ही होता है। परस्पर वे एक दूसरे से मूलतः भिन्न होते हैं और उनके क्षेत्र भी भिन्न हैं। कलाकृति में प्रदर्शित होने के कारण कृत्रिमरूप विभाव से जिस स्थायीभाव का अनुमान किया जाता है उसको भी कृत्रिम अथवा अयथार्थस्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु व्यावहारिक प्रयोजन से रहित होने के कारण सहृदय अनुमेय के मूल स्वभाव की परीक्षा नहीं करता, अर्थात् उसके मन में यह जानने की चेष्टा नहीं होती कि वह यथार्थरूप है अथवा अयथार्थ रूप है।[1] क्योंकि रसानुभव के दृष्टिकोण से इस प्रकार की चेष्टा सर्वथा व्यर्थ है। व्यावहारिक लोक के अनुमानजनित बोध तथा रसानुभव के लोक में अनुमानजनित रसबोध के भेद को स्पष्ट करने के लिए ही रसानुभव के लोक में अनुमेय शब्द का प्रयोग न कर प्रतीयमान अथवा गम्य शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसी आधार पर महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि रसानुभव उस स्थायीभाव का अनुभव मात्र है जो सहृदय के अन्तःकरण में विभावादि के बोध के अनन्तर प्रकाशित होता है। (अभिनवगुप्त ने इस तथ्य का खण्डन श्री शंकुक से प्रतिपादित रसनिष्पत्ति विषयक अनुमान सिद्धान्त के खण्डन के प्रसंग में किया है।) महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि कलाजनित विभाव से प्रतीयमान स्थायीभाव का अनुभव इसलिए आनन्दपूर्ण होता है क्योंकि इसका अनुमान उस कारण के आधार पर किया जाता है जो मूलतः उस कारण से भिन्न है जिसको हम व्यावहारिक लोक में पाते हैं और जिसके आधार पर अनुमानित स्थायीभाव आनन्दशून्य होता है। महिमभट्ट का कथन यह है कि रसानुभव के लोक में स्थायीभाव की आनन्दमयता एक ऐसा अनुभवसिद्ध तथ्य है जिसके विषय में शंका[2] नहीं की जा सकती।

---

[1] व्य० वि० ७५

[2] व्य० वि० ७४

(३) रसनिष्पत्ति के विषय में महिमभट्ट ने जिस रूप में अनुमान सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उससे यह अर्थ निकलता है कि सहृदय को कृत्रिम स्थायीभाव का अनुभव होता है, क्योंकि केवल कलात्मक अनुकृति स्वरूप मात्र होने के कारण कृत्रिम विभावादि के प्रत्यक्ष के आधार पर उसका अनुमान किया जाता है, क्योंकि तर्कशास्त्र का यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि कृत्रिम के आधार पर केवल कृत्रिम का ही अनुमान किया जा सकता है। अतएव इस प्रसंग में आक्षेप यह है कि क्या सहृदय को स्थायीभाव की कृत्रिम रूपता का बोध होता है अथवा नहीं ?

महिमभट्ट इस प्रश्न के उत्तर में यह कहते हैं कि सहृदय को स्थायीभाव की कृत्रिमता का बोध नहीं होता है। तथ्य यह है कि सहृदय स्थायीभाव को न तो यथार्थरूप जानता है और न वह यही जानता है कि वह कृत्रिम स्वरूप है। परन्तु ऐसी दशा में प्रश्न यह उठता है कि 'प्रदर्शन के यथार्थ स्वरूप को न जानना क्या स्वयं एक मिथ्याज्ञान नहीं है ? और यदि सहृदय का ज्ञान इस प्रकार से मिथ्या है तो नाट्य प्रदर्शन का जो मुख्य लक्ष्य दर्शक के चरित्र का उत्थान करना है वह किस प्रकार से सफल हो सकेगा ?' महिमभट्ट इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह कहते हैं कि कुछ प्रसंगों में इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान में भी लक्ष्यसाधन की शक्ति वर्तमान रहती है। उदाहरण के लिए उपासना के पथ का ही यदि विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होगा कि यद्यपि वह मूर्ति जिसे एक भक्त विष्णु मानता है परमार्थतः विष्णु नहीं है अतएव मूर्ति में पूजनीयता की प्रतीति भ्रान्तिमूलक है फिर भी इस मिथ्याज्ञान में आध्यात्मिक उत्थान के प्रयोजन को सिद्ध करने की शक्ति वर्तमान रहती है, इसी प्रकार से रसानुभव[1] के प्रसंग में भी मिथ्याज्ञान दर्शक के चारित्रिक उन्नयन का कारण होता है।

श्री शंकुक के सिद्धान्त का विकास

श्री शंकुक ने स्वयं क्या लिखा था, इसके विषय में हम लगभग कुछ भी नहीं जानते हैं। रसनिष्पत्ति के विषय में उनके अनुमान सिद्धान्त का ज्ञान हमको मुख्यरूप में उस उल्लेख से प्राप्त होता है जो अभिनवगुप्त रचित अभिनव भारती में वर्तमान है। अभिनव भारती में जिस रूप में श्री शंकुक के मत का उल्लेख किया गया है उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि क्या श्री शंकुक यह मानते थे कि रसानुभव के लिए स्पष्टरूप से भिन्न एक मानसिक दशा आवश्यक है, अथवा क्या वे यह स्वीकार करते थे कि रसानुभव के क्षेत्र में

[1] व्य० वि० (व्याख्या) ७४

अनुमानरूप अनुभव मूलतः सामान्य व्यावहारिक अनुभव से सर्वथा भिन्न होता है, यद्यपि श्री शंकुक यह कहते हैं कि रसानुभव का वर्गीकरण बोध के किसी रूप के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता है और यह रसानुभव मुख्य रूप से प्रत्यभिज्ञा स्वरूप होता है। महिमभट्ट का तद्विषयक सिद्धान्त श्री शंकुक के मत का विकसित रूप इसलिए ज्ञात होता है क्योंकि—(१) महिमभट्ट यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हैं कि रसानुभव के लिए स्पष्टतया एक असामान्य मानसिक अथवा आध्यात्मिक दशा आवश्यक है। भट्टनायक के मत का अनुसरण करते हुए वे इस दशा को सहृदयत्व कहते हैं। और यह मानते हैं कि केवल इसी सहृदयत्व के कारण ही रसानुभव संभव[1] होता है तथा (२) महिमभट्ट ने सामान्य व्यावहारिक जगत में होने वाले अनुमानजन्य अनुभव से रसानुभव के लोक में होने वाले अनुमानजन्य बोध का भेद स्पष्ट किया है। रसानुभव के क्षेत्र में जो अनुमानरूप बोध होता है उसका विशेष गुण 'चमत्कार' है। महिमभट्ट यह स्वीकार करते हैं कि रसानुभव अलौकिक होता है अर्थात् इन्द्रियजन्य सामान्य व्यावहारिक अनुभव से भिन्न होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि रसानुभव के मूलस्वरूप का निर्धारण भट्टनायक के मत का अनुसरण करते हुए उन्होंने किया है। यह इससे स्पष्ट है कि उन्होंने सहृदयदर्पण से वह उद्धरण दिया है जिसमें भट्टनायक ने स्पष्टरूप में रस की परिभाषा को लिखा है। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में इस बात का उल्लेख किया है कि कथित श्लोक के रचयिता भट्टनायक हैं।[2]

महिमभट्ट के मतानुसार चमत्कार का स्वरूप

मान लीजिए कि एक सुन्दर चित्र अन्धकार में रखा है और प्रभूत ज्योति से सहसा दृष्टिपथ में आ जाता है। इस विषय में कोई मतभेद नहीं हो सकता कि इस प्रकार से चित्र को देखकर एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है जिसका अनुभव हम उस समय में नहीं कर सकते जब कि वह चित्र पहले से ही सूर्य के प्रकाश में रखा हुआ हो। इस विशेष प्रकार के आनन्द को महिमभट्ट 'चमत्कार'[3] कहते हैं। उनका यह मत है कि इसी प्रकार का आनन्द हमको उस समय प्राप्त होता है जब हम उस वस्तु को जिसका वर्णन अभिधेयार्थ द्योतक शब्दों में किया जा सकता है अनुमेयार्थ द्योतक शब्दों

---

[1] व्य० वि० ६६

[2] अभि० भा० भाग १–२७९

[3] व्य० वि० व्या० ५३

में[1] प्रकट किया हुआ देखते हैं। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि अभिनवगुप्त ने बृहती विमर्शिनी में चमत्कार के जिस स्वरूप का उल्लेख किया है वह उपर्युक्त स्वरूप से भिन्न है (देखिए अध्याय ३)।

उनके अर्थ-बोध के सिद्धान्त की आधार भूमि

भारतवर्ष में अर्थ-बोध के सिद्धान्त का मूलतः प्रतिपादन व्याकरणदर्शन के प्रसंग में किया गया था। इस विषय का सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध ग्रन्थ भर्तृहरि रचित वाक्यपदीयम् है। परन्तु भर्तृहरि यह स्वयं कहते हैं कि उनके प्रतिपाद्य विषय का आधार तद्विषयक प्राचीनकाल से परम्परागत ज्ञान है। वे इस विषय के प्रतिपादन का आरम्भ पाणिनि से मानते हैं। उन्होंने व्याडि-रचित एक विशाल ग्रन्थ का उल्लेख किया है जिसमें पाणिनि[2] के सिद्धान्तों की विशद रूप व्याख्या एक लाख ग्रन्थों (श्लोकों) में की गई थी। परन्तु वृहदाकार होने के कारण व्याकरण के विद्यार्थियों की उपेक्षा से यह ग्रन्थ लुप्त हो गया। अतएव व्याकरण स्मृति की ज्ञानधारा कहीं खण्डित न हो जाय इस अभिप्राय से पतञ्जलि ने अपने उस महाभाष्य की रचना की जिसमें उन्होंने व्याडि के ग्रन्थ का पूर्णरूप से अनुसरण किया। परन्तु पतंजलि के अनुयायी भी इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को भूल गये। अतएव महाभाष्य दक्षिण भारत में केवल एक ग्रन्थ के ही रूप में रह गया। इस प्रकार से फिर एक बार व्याकरण स्मृति की प्राचीनकाल से चली आती हुई ज्ञानधारा खंडित हो गई।

इसके कुछ समय उपरांत एक ब्रह्मराक्षस ने त्रिकूट पर्वत पर त्रिलिंग नामक स्थान से रावणविरचित मूल व्याकरणागम को लाकर चन्द्राचार्य तथा वसुरात को प्रदान किया। उन्होंने उसको समुचित रूप से हृदयंगम कर अपने शिष्यों को अनेक रूपों में समझाया। भर्तृहरि के गुरु वसुरात ने कथित व्याकरणागम का संक्षिप्त रूप एक सारांश लिखा। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्य-पदीयम्' की रचना इसी ग्रंथ के आधार पर की थी। वाक्यपदीयम् में तीन काण्ड हैं—१ ब्रह्मकाण्ड, २ वाक्यकाण्ड एवं ३ पदकाण्ड।

अत्यंत प्राचीन समय से कश्मीर प्रदेश में विज्ञान तथा दार्शनिक सिद्धान्त के रूपों में व्याकरण शास्त्र का अध्ययन अत्यन्त लोकप्रिय था। अपने 'राजतरंगिणी' नामक ग्रंथ के श्लोक १–१७६ में कल्हण यह लिखते हैं कि अभिमन्यु (लगभग ३३६ वर्ष ईसापूर्व) ने कश्मीर देश में महाभाष्य के

---

[1] व्य० वि० ७४

[2] वा० प० २८३

अध्ययन को लोकप्रिय बनाया था। अपनी व्याख्या में पुण्यराज ने राजानक शूरवर्मन्[1] लिखित वाक्यपदीयम् के दूसरे काण्ड के 'सारांश' का उल्लेख किया है। अपने शिवदृष्टि नामक ग्रंथ में सोमानन्द ने भर्तृहरि के मतों का खण्डन किया है। ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन करने की अन्तरप्रेरणा आनन्द-वर्धनाचार्य को व्याकरणदर्शन के स्फोटवाद नामक सिद्धान्त से प्राप्त हुई थी। अभिनवगुप्त तथा महिमभट्ट से रचित ग्रंथ वाक्यपदीयम् के उद्धरणों से परिपूर्ण हैं।

कश्मीर के शास्त्रकार व्याकरण दर्शन से भलीभांति परिचित थे इसी कारण से मुख्यतया अर्थ-बोध के सिद्धान्त को विभिन्न पक्षों के दृष्टिकोण से वे ही विकसित कर सके।

अर्थबोध की समस्या के समाधान के प्रति महिमभट्ट का दृष्टिकोण

अर्थबोध की समस्या का समाधान करने के लिए वे उन भर्तृहरि का पूर्णतया अनुसरण करते हैं जिनके सिद्धान्तों का अध्ययन उन्होंने भलीभांति किया था। भर्तृहरि ने स्थूल रूप से शब्दों का वर्गीकरण दो रूपों में किया था—(१) पद (सुबन्त अथवा तिङन्त शब्द) एवं (२) वाक्य। पदकाण्ड एवं वाक्यकाण्ड दो अध्यायों से यह वर्गीकरण स्पष्ट होता है। महिमभट्ट ने शब्दों के इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है और वाक्य[2] के स्वरूप के प्रतिपादन की पुष्टि के लिए उन्होंने भर्तृहरि को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। भर्तृहरि ने अर्थों को भी दो वर्गों में विभाजित किया है (अ) मुख्य एवं (आ) गौण। महिमभट्ट ने कुछ संशोधन करते हुए इसी वर्गीकरण को स्वीकार कर लिया है। वे गौण अर्थ को अनुमेय अर्थ[3] कहते हैं। अनुमेयार्थ का प्रयोग क्षेत्र गौण अर्थ के क्षेत्र से अधिक विशाल है। अनुमेयार्थ के अन्तर्गत वे अर्थ भी आ जाते हैं जिनको हम सामान्य रूप से अभिधेयार्थ से भिन्न अथवा लाक्षणिक कहते हैं। भर्तृहरि व्यंग्य अर्थ को कोई भिन्नवर्गीय अर्थ नहीं मानते हैं। और महिमभट्ट ने केवल ध्वन्यर्थ के सिद्धान्त को अस्वीकार ही नहीं किया है वरन् अपने ग्रंथ के एक तिहाई भाग में उन आनन्दवर्धनाचार्य से प्रतिपादित ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन विशद रूप से किया है जिन्होंने

[1] वा० प० (व्याख्या) २९१
[2] व्य० वि० ३८
[3] व्य० वि० ३९

अपने ग्रंथ में ध्वन्यर्थ के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रमाणित किया था। महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि शब्द का अर्थ सदैव मुख्यार्थ ही होता है क्योंकि उसके कोई ऐसे विभाग नहीं होते जिनको साधन और साध्य के रूपों में विभाजित किया जा सके। परन्तु वाक्य का अर्थ दोनों प्रकार का हो सकता है मुख्यार्थ भी तथा अनुमेयार्थ[1] भी।

शब्दों का वर्गीकरण

अत्यंत प्राचीन समय से शब्दों (पदों) का विभाजन विभिन्न रूपों में किया गया है। कुछ शास्त्रकारों ने उनका विभाजन दो वर्गों में और कुछ ने चार, पांच अथवा छ वर्गों में किया है। पाणिनि ने उनका वर्गीकरण दो कोटियों में किया है। यह वर्गीकरण प्रत्ययों में स्वरूप के आधार पर किया गया है। या तो पद के अन्त में सु आदि विभक्ति होती हैं या 'तिङ्—आदि पुरुषवाचक प्रत्यय होते हैं। सुप्तिङन्तम् पदम् १-४-१४। यास्क[2] तथा पतंजलि[3] पदों को चार वर्गों में विभाजित करते हैं। निरुक्त[4] पर जो व्याख्या दुर्गाचार्य ने लिखी है उसमें पदों के छ प्रकारों का उल्लेख है। परन्तु महिम भट्ट पदों का विभाजन पांच वर्गों में करते हैं। १. नाम २. आख्यात ३. उपसर्ग ४. निपात एवं ५. कर्म-प्रवचनीय। यद्यपि उपसर्ग, निपात तथा कर्मप्रवचनीय रूप पदों की समान रूप से विशेषता यह है कि किसी 'सत्वार्थ'[5] (वह अर्थ जिसको किसी नाम से प्रकट किया जाता है) को नहीं प्रकट करते, तो भी अपनी प्रयोजन संबंधिनी भिन्नता एवं वाक्य में अपने प्रयोग के स्थलों की भिन्नता के कारण उनका वर्गीकरण विभिन्न प्रकारों में किया गया है। महिमभट्ट यह मानते हैं कि नाम अथवा संज्ञाएं चार प्रकार की होती हैं क्योंकि जिन कारणों से विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता है वे संख्या में केवल चार ही हैं। निम्नलिखित कारणों से एक वस्तु के लिए एक संज्ञा का प्रयोग किया जाता है—

---

[1] व्य० वि० व्या० ४०,

[2] नि०—८

[3] म० भा० ३९

[4] नि० (व्याख्या) ८

[5] व्य० वि० ३७

१ प्रथम कारण यह है कि संज्ञा से उस जाति का बोध होता है जिसके अन्तर्गत एक विशिष्टरूप वस्तु की गणना की जाती है। यथा डित्थ।

२ दूसरा कारण यह है कि संज्ञा से गुण का बोध होता है। यथा शुक्ल।

३ तीसरा कारण यह है कि संज्ञा से क्रिया का बोध होता है। यथा पाचक।

४ चौथा कारण यह है कि संज्ञा से द्रव्य का बोध होता है। यथा दण्डिन्।

इस प्रकार वैयाकरणों से महिमभट्ट का मतभेद यह है कि वैयाकरण दण्डिन् को गुण शब्द मानते हैं परन्तु महिमभट्ट उसको द्रव्य शब्द[1] मानते हैं।

'व्यापार के आधार पर विशेष वस्तु के लिए विशेष संज्ञा का प्रयोग किया जाता है' इस सिद्धान्त का उल्लेख और खण्डन

विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न संज्ञाओं के प्रयोग के विविध कारणों की व्याख्या करने के प्रसंग में महिम भट्ट ने एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार व्यापार[2] ही वह एक मात्र आधार है जिस पर एक विशेष वस्तु के लिए एक विशेष संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। इसी अध्याय के पूर्व उपप्रकरण में जिसका शीर्षक 'अभासवाद के सिद्धान्त का उल्लेख' है हमने इस मत का उल्लेख संक्षिप्त रूप में किया है।

महिम भट्ट उपर्युक्त मत का विशद रूप उल्लेख निम्नलिखित रूप में करते हैं :—

प्रश्न यह है कि एक विशेष वस्तु के लिए एक विशेष संज्ञा जैसे 'घट' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है? उपर्युक्त मतावलम्वी इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि प्रत्येक संज्ञा की व्युत्पत्ति (सिद्धि) किसी न किसी धातु से होती है। यह धातु एक विशिष्ट व्यापार, क्रिया, को प्रकट करती है। इस विशिष्ट व्यापार, क्रिया, को करने के कारण ही किसी सत्त्वभूत वस्तु का बोध कराने के लिए उस विशिष्ट धातु से व्युत्पन्न संज्ञा शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह कहना ठीक नहीं है कि कोई संज्ञा-शब्द किसी वस्तु के लिए इस कारण से प्रयुक्त होता है कि वह वस्तु उस 'जाति' का 'विशेष स्वरूप' होती है जिसको संज्ञापद प्रकट करता है। क्योंकि जाति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

---

[1] व्य० वि० व्या० २२

[2] व्य० वि० २३

क्रिया के साथ उसका अविनाभाव संबंध होता है। यद्यपि कोई व्यक्ति यह मान भी ले कि जाति का एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है और यह भी स्वीकार कर ले कि इसका अस्तित्व उस समय भी एक विशेष रूप वस्तु में होता है जिस समय वह विशेष रूप वस्तु अपने जाति-द्योतित व्यापार को नहीं कर सकती है, फिर भी विशिष्ट क्रिया के न करने के समय क्रियाबोधक शब्द से उस वस्तु का बोध नहीं हो सकता है। क्योंकि उस विशिष्ट क्रिया को न करने का संबन्ध समान रूप से सभी अन्य वस्तुओं के साथ है। इसलिए यदि यह मान लिया जाय कि विशिष्ट व्यापार को न करने पर भी एक विशिष्ट संज्ञा से किसी वस्तु का बोध हो सकता है तो इसका कोई कारण नहीं होगा कि किसी विशिष्ट संज्ञा का प्रयोग उन सभी वस्तुओं के लिए न किया जाय जिनमें उस व्यापार का अभाव है जिसको वह धातु प्रकट करती है जिससे उस विशिष्ट संज्ञा की उत्पत्ति हुई है। जो व्यक्ति भोजन नहीं पकाता है उसको कोई भी पाचक नहीं कहता है। अतएव स्वीकार यह करना चाहिए कि जाति-स्वरूप 'घट' उस स्वभावजन्य व्यापार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसको संज्ञापद प्रकट करता है और इसीलिए यह मत माननीय है कि वस्तु का विशिष्ट व्यापार ही वह आधार है जिस पर किसी विशेष संज्ञापद का प्रयोग उस विशिष्ट वस्तु के लिए किया जाता है।

'विशिष्ट व्यापार के आधार पर ही किसी विशिष्ट वस्तु के लिए एक विशिष्ट संज्ञापद का प्रयोग किया जाता है' यह सिद्धान्त वैयाकरणों के सिद्धान्त से भिन्न है। क्योंकि यद्यपि वैयाकरण संज्ञाओं की व्युत्पत्ति धातुओं से करते हैं फिर भी 'एक विशिष्ट वस्तु के लिए एक विशिष्ट संज्ञापद के प्रयोग का कारण उस वस्तु का विशिष्ट व्यापार है' ऐसा वे नहीं मानते। यह वैयाकरण शब्द से ही स्पष्ट होता है कि वैयाकरणों का मुख्य ध्येय पदों का धातुओं एवं प्रत्ययों के रूपों में विश्लेषण करना मात्र ही है। उनका[1] प्रतिपाद्य विषय वह कारण नहीं है जिससे किसी विशिष्ट वस्तु के लिए किसी विशेष संज्ञापद का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि प्रवृत्तिनिमित्त व्युत्पत्तिनिमित्त से भिन्न है। अतएव वैयाकरणों का अभिमत यह है कि किसी विशिष्ट वस्तु की क्रिया के कारण ही तद्बोधक संज्ञा पद की व्युत्पत्ति उस क्रिया को प्रकट करने वाली विशिष्ट धातु से होती है।

संज्ञाओं की व्युत्पत्ति धातुओं से होती है। अतएव 'विपच्य घटो भवति'[2]

[1] व्य० वि० २५ [2] व्य० वि० २५–७

वाक्य में 'क्त्वा' प्रत्यय (जो इस अर्थ का द्योतक है कि जिस धातु के साथ इसको प्रयुक्त किया गया है उससे जिस क्रिया का बोध होता है वह क्रिया पर लिखित क्रिया से पूर्व घटित हुई है) इस अर्थ को प्रकट करता है कि क्त्वा-प्रत्ययान्त धातु से अर्थ स्वरूप जिस व्यापार का बोध होता है वह उस व्यापार से पूर्व घटित हुआ है जिसका अर्थस्वरूप बोध उस धातु से होता है जिससे घट शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। परन्तु क्त्वा-प्रत्ययान्त पद का संबंध उसी प्रकार से भू धातु (भवति) के साथ नहीं है :—

अर्थात् 'भू' धातु से जिस क्रिया का अर्थरूप बोध होता है उससे क्त्वा-प्रत्ययान्त धातु से प्रकट की गई क्रिया पूर्वकाल में घटित हुई है' ऐसा प्रकट नहीं होता है। जिस प्रकार से 'अधिश्रित्य पाचको भवति' वाक्य से ऐसा अर्थ प्रकट नहीं होता है। यह आवश्यक नहीं है कि 'भू' धातु को वाक्य में सदैव प्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त ही किया जाय। वस्तुएं आवश्यक रूप से सत्ताशील होती हैं अतएव बहुधा 'भू' धातु का प्रयोग लुप्त रूप में किया जाता है। परन्तु 'भू' धातु को वाक्य में प्रयुक्त किया गया हो अथवा प्रयुक्त न किया गया हो—दोनों ही रूपों में क्त्वा-प्रत्ययान्त धातु से बोधित क्रिया भू धातु के संबंध में पूर्वकालिक नहीं होती। क्योंकि भू धातु से जिस क्रिया का बोध होता है वह बहिरंग होती है। अतएव क्त्वा-प्रत्ययान्त धातु से बोधित क्रिया यदि भू धातु के संबंध में पूर्वकालिक मान ली जाय तो वाक्य का सम्पूर्ण अर्थ ही भ्रष्ट हो जायगा। उदाहरण के लिए 'श्रुत्वापि नाम बधिरः' में यदि हम यह मान लें कि सुनने की क्रिया भू धातु के संबंध में पूर्वकालिक है तो सम्पूर्ण अर्थ ही भ्रष्ट हो जायगा क्योंकि सुनने के उपरान्त भू धातु की क्रिया घटित नहीं हुई है वरन् दोनों क्रियाएँ एक ही समय में घटित होती हैं।

परन्तु जिस समय अनेक क्रियाओं को अनेक संज्ञाओं से प्रकट किया जाता है उस समय पूर्वस्थित क्रियाओं की परस्थित क्रियाओं से पूर्वकालीनता को मानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि सभी पदों में समान रूप से कर्ता बोधक प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है जैसे कि निम्नलिखित वाक्य में :— "अत्र विपचन-घटन-भवनरूपा बह्वयः क्रियाः"।

कुछ स्थलों पर क्रिया को संज्ञारूप में प्रकट किया जाता है। क्योंकि क्रिया बोधक संज्ञा पद की व्युत्पत्ति कृत् प्रत्ययान्त धातु से होती है और इसलिए वह पद कर्ता के विशेषण रूप में भासित होता है। ऐसे स्थलों पर यह भ्रान्तिमूलक प्रतीति हो जाती है कि इस पद का संबंध अन्य कर्ता से है।

उदाहरण के लिए 'शिशिरकालमपास्य—' आदि श्लोक में यद्यपि 'अपास्य'[1] पद बोधित क्रिया 'हरस्य' पदबोधित क्रिया से पूर्व काल में घटित होती है फिर भी मल्लिनाथ ने इस श्लोक की व्याख्या में यह लिखा है कि 'अपास्य' का संबंध उस 'भू' धातु की क्रिया के साथ है जो उनके मतानुसार उपर्युक्त श्लोक में लुप्त है। और 'शीतहरस्य' को 'कुचोष्मणः' का विशेषण माना है।

बहुधा एक कर्ता के साथ एक क्रिया का संबंध वही होता है जो एक अधिकारी तथा अधिकृत वस्तु में होता है, अतएव इस रूप में क्रिया को एक संज्ञापद से प्रकट किया जाता है। इसलिए इस प्रसंग में भ्रान्ति यह हो जाती है कि वह 'क्रिया' नहीं है। उदाहरण स्वरूप यदि हम 'स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे' वाक्य को देखें तो ज्ञात होगा कि इस स्थल पर शान्ति के उपभोग की क्रिया को संज्ञापद के रूप में प्रकट किया गया है। अतएव भ्रान्ति यह होती है कि शान्ति का उपभोग करना कोई क्रिया ही नहीं है। परन्तु तथ्य यह है कि संस्मृत्य में क्त्वा प्रत्यय का संबंध शान्ति[2] में अन्तर्निहित 'शम्' के साथ है।

उपर्युक्त मत का समर्थन महिमभट्ट नहीं करते हैं। उपाधिवादियों ने युक्तियों द्वारा इस सिद्धान्त को खण्डित कर इसके अस्वीकार करने का मार्ग बना दिया था। 'आभासवाद के सिद्धान्त का उल्लेख' शीर्षक वाले उपप्रकरण में हम उनके मत का उल्लेख कर चुके हैं। महिमभट्ट का सिद्धान्त यह है कि घट आदि वस्तुओं के लिए एक विशिष्ट संज्ञा के प्रयोग करने का कारण उस सत्ता का स्वात्मसात् करना है अथवा उसको प्राप्त करना है जो स्वाभाविक विशिष्टता अथवा यथार्थ स्वरूप से भिन्न नहीं होती है और उस वस्तु से सदैव अभिन्नरूप रहती है।

अर्थों का वर्गीकरण

अर्थ दो प्रकार के होते हैं १ मुख्यार्थ एवं २ अनुमेयार्थ। शब्दार्थ या तो वृद्धजनों के प्रयोग से निश्चित होता है या परम्परा से निश्चत होता है। इन दोनों साधनों से जिस शब्दार्थ का निश्चय होता है वही मुख्यार्थ है। परन्तु वह शब्दार्थ अनुमेयार्थ है जिसका शब्द के साथ संबंध न तो वृद्धजनों के प्रयोग से और न परम्परा से ही निर्धारित होता है, वरन् जिसका शब्द

---

[1] व्य० वि० २७

[2] व्य० वि० व्या २९

के साथ संबंध उसी प्रकार का होता है जैसा कि साध्य का साधन से होता है। यह अनुमेयार्थ भी दो प्रकार का है। एक वह जिसका अनुमान साक्षात् मुख्यार्थ के आधार पर किया जाता है और दूसरा वह जिसका अनुमान एक अन्य अनुमेयार्थ के आधार पर किया जाता है। महिमभट्ट अनुमेयार्थ के अन्तर्गत लाक्षणिकार्थ एवं ध्वन्यर्थ दोनों की ही गणना करते हैं, क्योंकि अनुमेय का प्रयोगक्षेत्र लक्षणा तथा व्यंजना एवं दोनों के सम्मिलित प्रयोगक्षेत्रों की अपेक्षा अधिक विशाल है।

एक अन्य दृष्टिकोण से अर्थात् अनुमेय के स्वरूप के आधार पर महिमभट्ट ने शब्दार्थों का विभाजन तीन वर्गों में किया है—१ वस्तु, २ अलंकार तथा ३ रस[1] आदि। इस प्रसंग में आनन्दवर्धनाचार्य के मत का अनुसरण करते हुए वे यह मानते हैं कि यद्यपि वस्तु एवं अलंकार के रूपों में जो शब्दार्थ होते हैं उनको मुख्यार्थ के रूप में प्रत्यक्षतः प्रकट किया जा सकता है परन्तु रस सदैव अनुमेयार्थ के रूप में ही होता है।

वाक्य में अप्रयुक्त अर्थात् अन्य शब्दों से संबन्ध न रखने वाले शब्द का केवल मुख्यार्थ ही होता है क्योंकि इसका विश्लेषण ऐसे दो भागों में नहीं किया जा सकता जो साध्य एवं साधन कहे जा सकें। अतएव ऐसे शब्द का, जिसका प्रयोग वाक्य में नहीं किया गया है, कोई अनुमेयार्थ नहीं होता। परन्तु वाक्य को ऐसे विभिन्न अंशों में विभाजित किया जा सकता है जो परस्पर कर्ता और क्रिया तथा उद्देश्य और विधेय रूप में संबंधित होते हैं और उनका प्रसारित रूप अथवा उपपादन भी उसमें होता है (विध्यनुवाद भावेन)। तथा वाक्य का विधेयांश ऐसा होता है जो सिद्ध भी हो सकता है और असिद्ध अथवा साध्य भी हो सकता है। अतएव वाक्यार्थ दो प्रकार का होता है—एक जिसमें विधेयांश सिद्ध है और दूसरा जिसमें विधेयांश असिद्ध[2] है। प्रथम में विधेयांश कारणों से समर्थित नहीं होता, दूसरे में यह कारणों से आवश्यक रूप में समर्थित होता है।

अतएव जिन वाक्यों में विधेयांश सिद्ध है उनमें एक सामान्य तथ्य का कथन ही होता है क्योंकि कारणोपन्यास अनपेक्षित है, जैसे कि 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा—' श्लोक में है। परन्तु वाक्य का विधेयांश जब असिद्ध है तो उसको सिद्ध करने की आवश्यकता होती है इसलिए उसका उपपादनांश साध्य

[1] व्य० वि० ३९

[2] व्य० वि० ४०

के साधन रूप में होता है। दो वस्तुओं के परस्पर अविनाभाव संबंध से संबंधित होने के ज्ञान के कारण उनमें साध्य-साधन रूप संबंध का बोध होता है।

इस प्रसंग में 'उपपादन'[1] तथा 'अनुमान' के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। इस प्रसंग में 'उपपादन' 'अनुमान' से भिन्न है। इसका कारण यह है कि उपपादन में साधनांश से ऐसी किसी बात का बोध नहीं होता जिसका ज्ञान पूर्वकाल से न हो। उद्भट की परिभाषा के अनुसार 'अर्थान्तर-न्यास' अर्थालंकार के समान इससे पूर्वज्ञात वस्तु का समर्थन मात्र होता है। परन्तु महिमभट्ट ने अनुमान को जिस रूप में प्रतिपादित किया है वह इससे भिन्न है। उद्भट ने काव्यहेतु अलंकार के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया है तत्समान स्वरूप अनुमान का है। अर्थात् इसमें किसी कथन को सुनने के फलस्वरूप जिस अर्थ का बोध होता है वह किसी दूसरे तथ्य[2] के स्मरण अथवा अनुमान का साधन रूप होता है। परन्तु इन दोनों प्रसंगों में सामान्य रूप से वाक्यार्थ के अंशों में परस्पर साध्यसाधनभाव वर्तमान रहता है।

अनुमेयार्थ

अनुमेयार्थ दो प्रकार का है। (१) साक्षात् अनुमेय (अनुमेयार्थ) तथा (२) परंपरा से अनुमेय अर्थात् स्वयं अनुमेयार्थ के आधार पर अनुमानित (अनुमितानुमेयार्थ)। उदाहरण के रूप में विभाव तथा अनुभाव के प्रदर्शन के साधन से अनुमानित व्यभिचारी के आधार पर जब हम स्थायी भाव का अनुमान करते हैं जैसा कि 'पत्युः शिरश्चन्द्रकलाम्—' अथवा 'एवं वादिनि तत्रर्षौ—' श्लोकों में होता है।

भट्टतौत की काव्य-परिभाषा के खण्डन के प्रसंग में महिमभट्ट से प्रतिपादित काव्य का स्वरूप

अभिनवगुप्त के नाट्यशास्त्र के गुरु भट्टतौत ने काव्य लक्षण संबंधी एक ग्रन्थ की रचना की थी जिसका नाम 'काव्य-कौतुक' था। यह ग्रन्थ आज अप्राप्य है। लोचन में शान्तरस की व्याख्या करने के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इसी उल्लेख से हमको यह ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्य की परिभाषा इस प्रकार से लिखी है—कवि का कर्म ही

[1] व्य० वि० व्या० ४०

[2] का० सू० ७५

काव्य है। (तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्)। महिमभट्ट काव्य की इस परिभाषा[1] को स्वीकार नहीं करते हैं। काव्य के विषय में महिमभट्ट का मत यह है कि कवि का प्रत्येक कर्म काव्य नहीं है वरन् उसका वही कर्म काव्य है जो विभावादि को इस रूप में प्रकट करता है कि उससे रस की निष्पत्ति होती है अथवा अनुमेयार्थ रूप रस का अनुभव होता है। महिमभट्ट अपने मत का उल्लेख निम्नलिखित रूप में करते हैं।

शास्त्र की ही भाँति काव्य भी लोगों को विधिनिषेधों की शिक्षा देता है। अतएव जो लक्ष्य शास्त्र का है वही लक्ष्य काव्य का भी है। एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही ये दोनों भिन्नरूप साधन हैं। जिन लोगों की बौद्धिक शक्ति ऐसी नहीं है कि वे शास्त्र को भलीभाँति समझ सकें उनके जीवन का पथप्रदर्शक काव्य ही है।

काव्य दो प्रकार का होता है (१) दृश्य एवं (२) श्रव्य।[2] दृश्यकाव्य में लोक प्रसिद्ध घटनाओं को कार्यरूपों में प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया जाता है। दृश्यकाव्य इन कार्यों को जिनको अनुकृति के साधन से प्रकट किया जाता है नायक अथवा प्रतिनायक के साथ संबंधित रूप में प्रदर्शित कर इनकी विधेयता अथवा वर्जनीयता को प्रकट करता है। दृश्यकाव्य का प्रयोजन ऐसे लोगों को नैतिक शिक्षा देना है जिनकी मानसिक शक्ति शास्त्र को समझने में पूर्णतया असमर्थ है और जो लोग रमणी, नृत्य एवं संगीत की ओर सहज रूप से आकर्षित हो जाते हैं। ऐसे लोगों को नैतिक शिक्षा देने का आरम्भ उस प्रदर्शन से होना चाहिए जो उनको अत्यंत रुचिकारी लगता है। दृश्यकाव्य नैतिक शिक्षा की कटु औषधि को रस, नृत्य एवं संगीत के मधुर स्वादिष्ट भोज्य को खिलाने के उपरान्त प्रदान करता है। क्योंकि यदि ये मधुर वस्तुएँ न हों तो वे दृश्यकाव्य की ओर आकर्षित ही नहीं होंगे और उनको किसी भी प्रकार की नैतिक शिक्षा प्रदान करना असंभव रह जायगा।

रंगमंच पर जिसका प्रदर्शन नहीं किया जाता ऐसे श्रव्यकाव्य का प्रयोजन उन मृदु बुद्धिशक्ति वाले राजकुमार आदि धनाढ्य व्यक्तियों को नैतिक शिक्षा देना होता है जो शास्त्र को सुनना पसन्द नहीं करते।

अतएव काव्य-कृति की प्रयोजन सिद्धि को जो लोग चाहते हैं उनको यह

---

[1] व्य० वि० व्या० ९५

[2] व्य० वि० ९६

मानना चाहिए कि 'काव्य की आत्मा रस है'। क्योंकि जिन व्यक्तियों को नैतिक शिक्षा देना काव्य का लक्ष्य है उनको काव्य रसमय होने के कारण ही अपनी ओर आकर्षित करता है। तथ्य यह है कि केवल रस को प्रकट करने के कारण ही ध्वनिवादी एक काव्य-कृति को ध्वनिकाव्य कहते हैं। अतएव काव्य की यह परिभाषा कि वह 'कवि का कर्म है' माननीय नहीं है।

गम्यगमकभाव का स्वरूप

सामान्यतः साधन और साध्य के बोध में प्रत्यक्षगम्य एक क्रमरूपता होती है। जब साधन एवं साध्य को एक ही वाक्य में प्रकट किया जाता है तो यह क्रमरूपता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। यह क्रमरूपता उन स्थलों में भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है जहाँ पर अनुमेयार्थ विभाव अथवा अलंकार के रूप में होता है। परन्तु जिन स्थलों पर अनुमेयार्थ रस है वहाँ पर इस क्रमरूपता का स्पष्ट रूप से बोध नहीं होता है। इस प्रकार के स्थलों पर साध्य-साधन संबंध न होकर प्रकाशक-प्रकाश्य संबंध होता है जिसको शास्त्रीय भाषा में गम्यगमकभाव कहते हैं। इन स्थलों पर एक ही समय में जो प्रकाशक एवं प्रकाश्य दोनों का बोध होता हुआ ज्ञात होता है वह भ्रामक है। क्योंकि यदि हम इस अनुभव का तर्कशास्त्रीय विश्लेषण करें तो यह क्रमरूपता स्पष्ट हो जाती है। ध्वनि सिद्धान्त में ध्वन्यर्थ उत्पादक एवं ध्वन्यर्थ का परस्पर संबंध इसी भ्रामक विचार पर आधारित है कि दोनों का अनुभव एक ही समय में होता है। अतएव ध्वनि सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण है[1]।

महिमभट्ट यह कहते हैं कि अनुमितानुमेयार्थ को यदि ध्वन्यर्थ भी कहा जाय तो कोई हानि नहीं है, यदि 'ध्वन्यर्थ' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग इस अर्थ को द्योतित करने के लिये किया जाय कि सहृदय में ध्वन्यर्थ चमत्कार (रसानुभव) को उत्पन्न करता है।

आनन्दवर्धनाचार्य के दृष्टिकोण

आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन दो दृष्टिकोणों से किया है (१) तर्कशास्त्रीय दृष्टिकोण एवं (२) रससिद्धान्त विषयक दृष्टिकोण। जिन स्थलों पर वे तर्कशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्याख्या करते हैं वहाँ पर आनन्दवर्धनाचार्य ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे यह माना जा सकता है कि वे अनुमान सिद्धान्त के समर्थक हैं। महिमभट्ट इन्हीं अंशों का उद्धरण

---

[1] व्य० वि० ५३

स्वमत समर्थन के लिए अपने ग्रन्थ में देते हैं। परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य यह भली भाँति जानते थे कि रसानुभव तर्कजन्य ज्ञान से भिन्न स्वरूप होता है। उनको यह ज्ञात था कि रसानुभव में उस प्रकार की कोई तर्कशास्त्रीय प्रक्रिया नहीं होती जैसी कि अनुमान में साधन से साध्य के बोध में होती है। वे यह भी भली भाँति जानते थे कि रसानुभव देशकालगत संबंधों से सर्वथा मुक्त होता है अतएव रसबोध में किसी तर्कशास्त्र से स्वीकृत पदार्थ का भान नहीं होता है। इस विषय में हिगेल के समान पाश्चात्य-देशीय स्वतंत्रकलाशास्त्र के दार्शनिकों के मत के साथ उनकी पूर्णरूप से सहमति है।

ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन

जिस ध्वन्यर्थ के सिद्धान्त का प्रतिपादन आनन्दवर्धनाचार्य ने सुव्यवस्थित रूप से अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में किया था और अभिनवगुप्त के समान प्रतिष्ठित अनुयायिओं ने जिसका समर्थन किया था उस सिद्धान्त का तर्कशास्त्रीय विश्लेषण करने की चेष्टा महिमभट्ट ने की है। आनन्द-वर्धनाचार्य ने ध्वन्यर्थ को अन्य सभी प्रकार के अर्थों अर्थात् अभिधेयार्थ, लाक्षणिकार्थ एवं तात्पर्यार्थ से भिन्न स्वरूप प्रतिपादित किया है। इस भिन्नता का प्रधान कारण यह है कि ध्वन्यर्थ के बोध में विशेषरूप से सहृदय को अभिधेयार्थ तथा ध्वन्यर्थ के बोधों के बीच में किसी प्रकार के क्रम की प्रतीति नहीं होती। महिमभट्ट ने मुख्य रूप से इस आधारभूत मान्यता का ही खण्डन किया है। वे यह कहते हैं कि तर्कशास्त्रीय दृष्टिकोण से अभिधेयार्थ से ध्वन्यर्थ तक पहुँचने में क्रम अवश्य होता है। इसका निषेध कोई भी नहीं कर सकता है। अतएव यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है कि उपर्युक्त दोनों प्रकारों अर्थात् अभिधेयार्थ एवं ध्वन्यर्थ का बोध साथ साथ एक ही समय में होता है। अतएव ध्वनिसिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है।

गत अध्याय में हम यह लिख चुके हैं कि आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। जैसे १ परम्परासिद्ध प्रतीक— अर्थात् वह स्फुटरूप ध्वनि जिससे व्यंग्य व्यक्त होता है। २ परम्परा सिद्ध अर्थ जिससे व्यंग्य व्यक्त होता है। ३ ध्वन्यर्थ उत्पादक शब्द की शक्ति। ४ स्वयं ध्वन्यर्थ एवं ५ ध्वन्यर्थयुक्त काव्यकृति। महिमभट्ट ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उपर्युक्त किसी भी अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसका पहला कारण यह है कि अभिधेयार्थ को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के अर्थ को उत्पन्न करने की शक्ति शब्दों में नहीं होती है

अतएव वे किसी भी व्यंग्य के व्यंजक नहीं हो सकते हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि शब्द के मुख्यार्थ में कोई ध्वन्यर्थ नहीं होता अतएव यह कहना अर्थहीन है कि अभिधेयार्थ ध्वन्यर्थ का व्यंजक होता है। तीसरा कारण यह है कि यह सिद्धान्त कि "ध्वनि शब्द की एक विशेष शक्ति है" तर्कशास्त्र के विरुद्ध है अतएव यह कहना कि शब्द ध्वन्यर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं अर्थहीन है। चौथा कारण यह है कि किसी भी प्रकार के ध्वन्यर्थ का अस्तित्व नहीं है और पाँचवा कारण यह है कि ध्वन्यर्थ की प्रधानता के आधार पर काव्यकृतियों का विशिष्टीकरण नहीं किया जा सकता है। हम इन कारणों का उल्लेख विस्तारपूर्वक आगामी उपप्रकरणों में करेंगे।

१ अभिधाशक्ति के अतिरिक्त शब्द की अन्य शक्तियों का खण्डन

महिमभट्ट के मतानुसार शब्दों में केवल अभिधेयार्थ को बोधित करने की ही शक्ति होती है। अतएव उनका व्यापार भी एक ही होता है। शब्द के अन्य व्यापार जैसे ध्वन्यर्थ, यदि अधिक शुद्ध भाषा का प्रयोग करें तो अनुमेयार्थ, का बोधन शब्द की शक्ति से न होकर अर्थ की शक्ति से होता है। शब्दों में एक से अधिक शक्तियां होती हैं ऐसा माना नहीं जा सकता है। क्योंकि एक ही द्रव्य पर आधारित अनेक शक्तियाँ जो होती हैं वे एक ओर परस्पर स्वतंत्र होती हैं और दूसरी ओर उनके व्यापार क्रमभाविता के नियम से भी बद्ध नहीं होते हैं जैसे कि अग्नि की दहन और प्रकाशक शक्तियाँ। परन्तु आनन्दवर्धन तथा उनके मतानुयायी शब्द की जिन अनेक शक्तियों को मानते हैं उनको एक साथ एक ही समय में अपने व्यापारों में क्रियाशील नहीं देखा जाता है। और वे भी यह नहीं मानते हैं कि वे शक्तियाँ एक साथ एक ही समय में अपने व्यापारों को कर सकती हैं क्योंकि नियमबद्ध रूप में सदैव यह देखा जाता है कि अभिधेयार्थ को उत्पन्न करने की शब्दशक्ति जब अपना व्यापार कर चुकती है उसके उपरान्त शब्द की अन्य शक्तियाँ अपना व्यापार आरम्भ करती हैं। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि केवल शब्द मात्र[1] से भिन्न कोई अन्य आधारभूत द्रव्य अन्य शक्तियों के लिए स्वीकार किया जाय। जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है कि अर्थ दो प्रकार का होता है। इसलिए उनको उत्पन्न करने की शक्तियाँ भी दो ही हैं। क्योंकि यह स्वीकार कर लिया गया है कि इनमें से एक शक्ति शब्दशक्ति है अतएव यह मानना आवश्यक हो जाता है कि दूसरी शक्ति अभिधेयार्थ[2]

[1] व्य० वि० १०९ [2] व्य० वि० ११०

की एक शक्ति है। इसके अतिरिक्त क्योंकि शक्तियाँ केवल दो प्रकार की हैं अर्थात् (१) अभिधेयार्थ उत्पादक एवं (२) अनुमेयार्थ उत्पादक, इसलिए लक्षणा तथा तात्पर्य शक्तियों को अनुमेयार्थ उत्पादक शक्ति के अन्तर्गत ही आवश्यक रूप से गिनना चाहिए। आगामी उपप्रकरणों में हम यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि महिमभट्ट किस प्रकार से लक्षणा तथा तात्पर्य शक्तियों को अनुमेयार्थ उत्पादक शक्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं।

(अ) लक्षणा शक्ति का खण्डन

महिमभट्ट गौणार्थ अथवा लाक्षणिकार्थ को अनुमेयार्थ का ही एक रूप मानते हैं। अतएव शब्दों की दूसरी शक्ति को जिसको शास्त्रीय भाषा में लक्षणाशक्ति कहते हैं वे स्वीकार नहीं करते हैं। लाक्षणिकार्थ की व्याख्या वे अर्थबोध के अनुमान सिद्धान्त के आधार पर करते हैं। महिमभट्ट यह कहते हैं कि 'गौर्वाहीकः' वाक्य में भी 'गौः' शब्द के अर्थ की 'वाहीकः'[1] शब्द के अर्थ के साथ एकात्मता अनुभव से असिद्ध है। परन्तु क्योंकि दोनों की एकात्मता अनुभव से असिद्ध है एवं किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है इसीलिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि वक्ता का यह प्रयोजन है कि 'कुछ अंशों में एक दूसरे के समान है'। इसी मान्यता के आधार पर इस अर्थ का अनुमान किया जाता है कि कुछ अंशों में पांचाल देशवासी बैल के समान है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो पूर्णरूप से उन्मत्त[2] नहीं है किसी भी प्रसंग में तथा किसी भी रूप में उन दोनों वस्तुओं की एकात्मता की बात नहीं कर सकता जिनके बीच उसको कोई भी समानता दृष्टिगत नहीं होती है। इस प्रकार से वह श्रोता जिसको वक्ता का व्यक्तित्व भलीभाँति ज्ञात है, न्याय-संगत रूप से उस समानता का अनुमान करता है जो उन दोनों को एकात्म मानने का केवल कारण मात्र है। वस्तुतः वह उन दोनों को सत्यतः एकात्म नहीं मानता है।

जिस प्रकार से शब्दों को सुनते ही श्रोता को अभिधेयार्थ का बोध हो जाता है ठीक उसी प्रकार से क्षण भर के लिए ही उसको इस एकरूपता का ज्ञान हो जाता है। परन्तु यहाँ पर ज्ञान-प्रक्रिया का अन्त नहीं हो सकता क्योंकि एकात्मता का यह ज्ञान अनुभव से विरुद्ध है। अतएव इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग एकरूपता के बोध का कारण ही होता है। तथा

---

[1] व्य० वि० ११० [2] व्य० वि० ११०

शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग का अभिप्राय यह होता है कि पांचाल देशवासी के जाड्य आदि गुणों का बोध अत्यंत शीघ्रता से हो जाय। अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ को बोधित करने के लिए किसी शब्द का प्रयोग उस लाक्षणिक अर्थ को उत्पन्न करने का सर्वसम्मत उपाय है जिसको कुछ[1] शास्त्रकार शास्त्रीय भाषा में गौण अर्थ भी कहते हैं।

इसी प्रकार से 'यह तथ्य कि तन्वंगी कमलपत्रों पर शयन कर रही है यह कहता है (वदति) कि वह रतिज्वर से पीड़ित है।' इस वाक्य में 'कहता है' अर्थात् 'वदति' शब्द का लाक्षणिक अर्थ 'दिखाता है' (प्रकाशयति) अनुमान से ही ज्ञात होता है। क्योंकि अनुमिति उस बोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो किसी वस्तु के प्रत्यक्ष-ज्ञान के आधार पर किया जाता है। यह बोध दो वस्तुओं के व्याप्य व्यापक अथवा अविनाभाव के संबंध पर आधारित होता है। अतः 'वदति' शब्द से दिखाता है अर्थात् प्रकाशयति अर्थ का बोध जो उत्पन्न होता है वह इस स्थल पर अनुमिति के रूप में होता है, क्योंकि उपर्युक्त दोनों अर्थ कारण कार्य रूप से संबंधित हैं और दोनों के बीच अविनाभाव संबंध वर्तमान है, क्योंकि 'वदति' शब्द का अभिधेयार्थ 'प्रकटित करना' अथवा 'प्रकाशित करना' इसलिए नहीं है क्योंकि यह अर्थ न तो परम्परासिद्ध है और न दोनों अर्थ एक रूप ही हैं। इस प्रसंग में यह भी नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त वाक्य में केवल अभिधेयार्थ का ही ज्ञान होता है क्योंकि यह अभिधेयार्थ प्रत्यक्ष अनुभव[2] से बाधित है।

इसी प्रकार से 'गंगायां घोषः' (गंगा पर छोटा गांव) शब्दों से 'गंगा के तट पर बसा हुआ गांव' के रूप में जो अर्थबोध होता है उसका कारण भी अनुमान प्रमाण का व्यापार है। क्योंकि यह संभव नहीं है कि एक गांव जलप्रवाह पर बसा हुआ हो क्योंकि यह अनुभव से असिद्ध है। उपर्युक्त वाक्य में 'गंगा' शब्द की व्याख्या केवल एक ही प्रकार से की जा सकती है कि यह मान लिया जाय कि 'गंगा के प्रवाह' की एकरूपता 'गंगा के तट' के साथ इसलिए स्थापित की गई है कि दोनों में परस्पर अत्यंत घनिष्ट संबंध है, और 'गंगा के प्रवाह' के अर्थ में 'गंगा के तट' का अर्थ निहित है, क्योंकि गंगा के तट पर गांव का होना संभव है। केवल समानता को ही नहीं वरन् निकटता के संबंध को भी एकीकरण का आधार माना गया है, इसलिए अनुमान प्रमाण के साधन से 'गंगा के तट पर' ऐसा बोध होता है।

---

[1] व्य० वि० ११०-११ [2] व्य० वि० ११२

अतएव कुछ शास्त्रकार जो यह मानते हैं कि शब्दों की लक्षणा शक्ति से लाक्षणिकार्थ की उत्पत्ति होती है वह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि 'जल-प्रवाह' का अर्थ-बोध कराने के उपरान्त 'गंगा' शब्द की अर्थबोधक शक्ति का अवसान हो जाता है। यह शब्द गंगा के तट के विषय में कुछ भी नहीं जानता है। और न तट के साथ इस शब्द का कोई संबंध ही है। अतएव इस शब्द की शक्ति से लाक्षणिकार्थ की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है।

वर्तमान प्रसंग में शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग का अभिप्राय उस तट से संबंधित शीतलता एवं पवित्रता के गुणों को अर्थ रूप में प्रकट करना होता है जिस पर गंगा का अध्यारोपण किया गया है। अतएव जिस प्रकार से 'गौर्वाहीकः' के प्रसंग में समानता के बोध को उत्पन्न करना वक्ता का अभिप्राय था वह भी इस प्रसंग में नहीं है। परन्तु इन दोनों ही प्रसंगों में तादात्म्य के कारण श्रोता में उस अभिप्राय का बोध उत्पन्न होता है जो निकटता, समानता अथवा किसी अन्य संबंध[1] के कारण उत्पन्न होता है।

महिमभट्ट ने प्रतिपादित यह किया है कि अभिप्राय का बोध अनुमान से ही संभव है चाहे वह 'गंगायाम् घोषः' वाक्य से शीतलता तथा पवित्रता का ज्ञान हो अथवा 'गौर्वाहीकः' वाक्य से समानता की प्रतीति हो, क्योंकि यह सामान्य अनुभव सिद्ध है कि अभिप्राय तथा एकात्मीकरण दोनों अविना-भाव संबंध से संबंधित हैं। अतएव वे इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इस प्रकार का अर्थ 'व्यक्ति' अथवा ध्वनि शक्ति से उत्पन्न होता है—यह मानना अनावश्यक है।

परन्तु इस प्रसंग में यह प्रश्न किया जा सकता है—'जब कि एक शब्द का अटूट सम्बन्ध उसके परम्परासिद्ध अर्थ के साथ है तो किस प्रकार से उससे गौणार्थ अथवा लाक्षणिकार्थ की उत्पत्ति संभव होती है?' अभिधेयार्थ से भिन्न जिस अर्थ का बोध होता है उसका भी कोई न कोई कारण होना आवश्यक है। क्या शब्द ही उस अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ की उत्पत्ति का कारण नहीं है? इस प्रसंग में महिमभट्ट का उत्तर यह है कि शब्द के पास केवल अभिधेयार्थ को ही उत्पन्न करने की शक्ति होती है। लाक्षणिकार्थ को उत्पन्न करना शब्द शक्ति के परे है। परन्तु लाक्षणिकार्थ अकारण ही उत्पन्न नहीं हो जाता। इसका कारण[2] वह सब परिस्थितिगत सामग्री है जो लाक्ष-णिकार्थ को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होती है जैसे कि वक्ता के यथार्थ

---

[1] व्य० वि० ११४ [2] व्य० वि० ११८

व्यक्तित्व का ज्ञान आदि। इस परिस्थितिगत सामग्री को महिमभट्ट 'लिंग' कहते हैं और अतएव यह मानते हैं कि इसके आधार पर जो ज्ञान होता है वह 'अनुमेय' है। महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि लाक्षणिकार्थ[1] को उत्पन्न करना शब्द की शक्ति से परे है क्योंकि शब्द के साथ में लाक्षणिकार्थ का कोई संबंध नहीं होता है। अतएव केवल शब्दबोध से लाक्षणिक अर्थ का बोध नहीं हो सकता है।

(आ) शब्दों की तात्पर्यशक्ति का खण्डन

वे शास्त्रकार जो शब्दों की तात्पर्य शक्ति का प्रतिपादन करते हैं यह मानते हैं कि एक वाक्य गत शब्दों से उस सम्पूर्णरूप अर्थ का बोध होता है जिसको वक्ता शब्दों की सहायता से प्रकट करता है। अतएव वे यह मानते हैं कि जब इस प्रकार का वाक्य कहा जाता है कि 'विष खा लो, परन्तु उसके घर पर खाना मत खाओ' तो श्रोता को जो अर्थ स्पष्ट होता है वह यह आदेश नहीं है कि 'विष खा लो' वरन् यह चेतावनी है कि 'किसी विशेष व्यक्ति के घर पर भोजन मत करो।' शब्दों की अभिधाशक्ति से उपर्युक्त वाक्य का यह अर्थ नहीं उत्पन्न होता कि 'उसके घर पर भोजन करना विष खाने से भी अधिक बुरा है'। क्योंकि वाक्य में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनका परम्परासिद्ध संबंध इस प्रकार के अर्थ से नहीं है। परन्तु इसको भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त वाक्यगत शब्दों की सहायता से उपर्युक्त प्रकार के अर्थ का बोध होता है। अतः यह आवश्यक है कि इस प्रकार के अर्थ की उत्पत्ति का कारण स्पष्ट किया जाय। अतएव तात्पर्य शक्तिवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि शब्दों की अभिधाशक्ति से भिन्न शब्दों की एक तात्पर्य शक्ति होती है जिसके कारण इस प्रकार के अर्थ की उत्पत्ति होती है।

महिमभट्ट यह मानते हैं कि शब्दों में केवल अभिधाशक्ति ही होती है अतएव निम्नप्रकार से वे तात्पर्यवाद का खण्डन करते हैं :—

उपर्युक्त दृष्टान्त में इस अर्थ का बोध कि 'उसके घर पर भोजन करना विषभक्षण से भी अधिक बुरा है' अनुमान प्रमाण की सहायता से होता है। यह अनुमान उस परिस्थिति के आधार पर किया जाता है जिसमें किसी

---

[1] व्य० वि० ११६

विशेष व्यक्ति से किसी विशेष व्यक्ति का यह कथन है। यह विशेष परिस्थिति वक्ता एवं श्रोता दोनों[1] के अन्तःकरण में भलीभांति स्पष्ट रूप से अंकित होती है।

(इ) अभिव्यक्ति का खण्डन

ध्वनिवादी शास्त्रकारों ने एक भिन्न रूप अर्थ का प्रतिपादन किया है जिसको वे शास्त्रीय भाषा में ध्वन्यर्थ कहते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि वे यह मानते हैं कि जिस प्रक्रिया से ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति होती है वह उन सब प्रक्रियाओं से भिन्न है जिनसे अन्य अर्थों की उत्पत्ति होती है। शास्त्रीय भाषा में वे इसको 'अभिव्यक्ति' कहते हैं। 'प्रक्रियारूप' अथवा 'व्यापाररूप' ध्वनि के लिऐ ही 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। उनके मतानुसार अभिव्यक्ति की परिभाषा निम्नलिखित है :—

सत्‌रूप अथवा असत्‌रूप ध्वन्यर्थ के बोध की उत्पत्ति जिस व्यापार से होती है वह अभिव्यक्ति[2] है। यह बोध व्यंजक बोध के साथ-साथ एक ही समय में होता है। ध्वन्यर्थ के इस बोध में स्मरण शक्ति की सहायता नहीं ली जाती अतएव इसमें व्यंजक एवं व्यंजित में कोई भी ऐसा संबंध प्रतीत नहीं होता जैसा कि साधन एवं साध्य के बीच परिलक्षित होता है।

महिमभट्ट उपर्युक्त मत का खण्डन निम्न प्रकार से करते हैं :—

अभिव्यक्ति—अर्थात् प्रकट होना, अस्तित्व प्राप्त करना अथवा पूर्वकाल से विद्यमान सत्‌रूप वस्तुओं का प्रकाश में आना—तीन प्रकार की होती है :—

१. कारण में शक्तिस्वरूप में कार्य पूर्वकाल से वर्तमान रहता है अतएव वह अप्रत्यक्षरूप होता है। अतएव जिस समय यह शक्तिस्वरूप में विद्यमान कार्य प्रकट होता है, प्रकाश में आता है अथवा प्रत्यक्षरूप होता है तो यह कहते हैं कि वह अभिव्यक्त हो गया है। इस प्रकार से उदाहरण के रूप में दूध के अन्दर दही शक्तिरूप में पूर्वकाल से विद्यमान होता है और उससे वह अभिव्यक्त होता है। सत्कार्यवाद इस उपर्युक्त मत का प्रतिपादन करता है। परन्तु असत्कार्यवादी दार्शनिक यह नहीं मानते हैं कि शक्तिरूप में कार्य कारण में वर्तमान रहता है। उनका कथन यह है कि दूध से दही की उत्पत्ति होती है।

---

[1] व्य० वि० १२१–२ [2] व्य० वि० ७६

२. यह भी हो सकता है कि कारण से कार्य प्रकट किया जा चुका हो फिर भी अन्धकार से ढँके होने के कारण प्रच्छन्न हो। इस प्रकार के कार्य को उस समय प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त कहा जाता है जब कि वह दीपक के समान किसी ज्योतिर्मय वस्तु से प्रकाशित किया जाता है और वह उस प्रकाश के साथ एक ही समय में प्रकट होता है। ऐसी दशा में ज्योति प्रकाशित वस्तु की सहायिका मात्र ही होती है। अर्थात् वह प्रकाश प्रकाशित वस्तु के साथ तुलना में अप्रधान रूप होता है (स्वरूपम्प्रकाशयन्)।

३. और यह भी संभव है कि किसी वस्तु का अनुभव पूर्वकाल में हुआ हो और संस्कार रूप में अन्तःकरण में विद्यमान हो। जिस समय उस वस्तु का मानसिक संस्कार, किसी अन्य ऐसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने से जिसके साथ उस संस्काररूप वस्तु का अविनाभाव संबंध है अथवा उस शब्द को सुनने से जिसका प्रयोग सामान्यरूप से उस वस्तु के लिए किया जाता है, उद्बुद्ध हो जाता है तो भाषा में यह कहा जाता है कि वह अभिव्यक्त हो गई है। इस प्रकार से उदाहरण के रूप में जब उस धुंए को प्रत्यक्ष देखने से जिसके साथ अग्नि का अविनाभाव संबंध है हमको अग्नि का बोध होता है तो हम यह कह सकते हैं कि अग्नि अभिव्यक्त हो गई है। अथवा गाय आदि जीवों के प्रतिबिम्ब रूप अनुकरण को जब हम चित्र, मूर्ति अथवा काव्य में देखते हैं तो यह कह सकते हैं कि गाय आदि अभिव्यक्त हो गए हैं।

परन्तु जो यथार्थ रूप में सत् नहीं है उसकी अभिव्यक्ति का केवल एक ही रूप है। इसका उदाहरण इन्द्रधनुष है। सूर्य की किरणों के कारण यह प्रत्यक्ष होता है। महिमभट्ट यह कहते हैं कि अभिव्यक्ति शब्द के जो तीन अर्थ लिखे गये हैं उनमें से प्रथम दो अर्थों में इस शब्द का प्रयोग ध्वन्यर्थवादियों से नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि दही के समान ध्वन्यर्थ भी प्रत्यक्षरूप होता है अथवा जिस प्रकार से ज्योति से घट प्रत्यक्षभूत होता है उस प्रकार से अभिधेयार्थ के साथ-साथ ध्वन्यर्थ भी प्रकट होता है। परन्तु यह असंभव है। और यदि कथित तीसरे अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया जाय तो वह अनुमान के अतिरिक्त[1] और कुछ नहीं है। ध्वनिवादी इस अर्थ में 'व्यक्ति' शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं। क्योंकि

---

[1] व्य० वि० ७८

इस अर्थ के अनुसार अभिधेयार्थबोध से ध्वन्यर्थबोध तब तक संभव नहीं है जब तक कि दोनों अर्थों में अविनाभाव संबंध के वर्तमान होने का ज्ञान न हो। परन्तु यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह यह जानता हो कि अभिधेयार्थ तथा ध्वन्यर्थ में परस्पर अविनाभाव संबंध है, अथवा न भी जानता हो,[1] अभिधेयार्थ के बोध से ध्वन्यर्थ का बोध हो जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त ध्वन्यर्थ एवं अभिधेयार्थ का बोध कभी भी साथ-साथ एक ही क्षण में उत्पन्न नहीं होता वरन् धुंए के प्रत्यक्ष से अग्नि के ज्ञान की भांति अभिधेयार्थ बोध से ध्वन्यर्थबोध की उत्पत्ति समयानुक्रम से ही होती है। अतएव आनन्दवर्धनाचार्य एवं उनके अनुयायिओं ने अभिव्यक्ति का जो लक्षण बताया है वह असम्भव है।

अभिव्यक्ति के उपर्युक्त लक्षण को दोषशून्य सिद्ध करने के लिए ध्वनिवादी यह भी नहीं कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति की यह परिभाषा उस रस-ध्वनि पर लागू होती है जिसके अनुभव में विभावादि तथा स्थायी भाव दोनों का अनुभव एक ही समय में साथ-साथ होता है। क्योंकि यदि उपर्युक्त मान्यता को ठीक मान लिया जाय तो अभिव्यक्ति की यह परिभाषा वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि के विषय में ठीक नहीं ठहरेगी, क्योंकि इन दोनों के प्रसंग में जिस ध्वन्यर्थ का बोध होता है अभिधेयार्थ से उस तक पहुंचने में प्रत्यक्ष रूप से समयानुक्रमता विद्यमान होती है। और फिर रसध्वनि के संबंध में भी विभावादि तथा स्थायी भाव का अनुभव साथ साथ एक ही समय में होना तर्क शास्त्र के दृष्टिकोण से असम्भव है[2]।

उपर्युक्त विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि ध्वनिवादी दोनों (विभावादि तथा स्थायीभाव) के बीच परस्पर अविनाभाव संबंध के बोध की आवश्यकता को तो मानते हैं परन्तु यह प्रतिपादित करते हैं कि यह बोध प्रत्यक्ष रूप से क्रियाशील न होकर संस्कार मात्र रूप में वर्तमान होने के कारण केवल सम्भावना रूप में ही होता है।

महिमभट्ट यह कहते हैं कि प्रकाशक दो कोटि के होते हैं (१) वह प्रकाशक जो प्रकाश्य के गुणरूप (उपाधिरूप) में होता है जिससे कि प्रकाश्य वस्तु प्रकाशक से परिवेष्टित हुई ही प्रत्यक्ष होती है जैसे कि एक घट को प्रकाश से परिवेष्टित रूप में ही प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। (२) वह प्रकाशक जो स्वतंत्ररूप है क्योंकि वह प्रकाश्य वस्तु का गुण मात्र ही नहीं होता। अतएव

---

[1] व्य० वि० ७९ [2] व्य० वि० ७९

इस प्रकार के प्रकाश से प्रकाश्य वस्तु का बोध प्रकाशक के साथ साथ एक ही समय में न होकर समयानुक्रम के अनुसार पूर्वापर रूप में होता है। इस प्रकार का प्रकाशक लिंग अथवा हेतु रूप होता है और इसके साधन से जो बोध उत्पन्न होता है वह अनुमिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस प्रसंग में ध्वनिवादी यह नहीं मान सकते हैं कि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रसंग में प्रकाशक प्रथम कोटि का होता है क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि उनके मत के अनुसार काव्य केवल वह कृति है जो परम्परा के साधन[1] से साक्षात् अर्थ को उत्पन्न करती है। यदि इसी को सत्य मान लिया जाय तो वह ध्येय ही नष्ट हो जाता है जिसकी सिद्धि के लिए ध्वन्यर्थ के सिद्धान्त के प्रतिपादन में 'प्रकाशक' के 'प्रत्यय' (Conception) की सहायता ली गई थी। क्योंकि ध्वन्यर्थ सिद्धान्त के प्रसंग में प्रकाशक को यदि प्रथम कोटि का मान लिया जाय तो काव्य क्षेत्र से हमको उन सब काव्य कृतियों को बहिष्कृत कर देना होगा जिनमें ध्वन्यर्थ का अस्तित्व है।

दूसरी कोटि का प्रकाशक केवल हेतु रूप ही है। अतएव 'अभिव्यक्ति' की परिभाषा[2] के रूप में ध्वनिवादियों ने जो यह लिखा है—'प्रकाशकेन सहैकविषयतापत्तिः' वह खण्डित हो जाता है। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धनाचार्य स्वयं यह नहीं मानते हैं कि प्रत्येक प्रकार की ध्वनि में अभिधेयार्थ का बोध ध्वन्यर्थ के साथ साथ एक ही समय में होता है क्योंकि वे स्वयं यह कहते हैं कि—"न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः" आदि[3]।

परिभाषा कहीं असंभव दोष से दूषित न हो जाय इसलिए यदि ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादक ध्वनि की परिभाषा से वह अंश निकाल[4] दें जिसमें प्रकाशक तथा प्रकाश्य के सहबोध का प्रतिपादन किया गया है, तो परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष आ जाएगा, क्योंकि उस परिभाषा का प्रयोग अनुमान के लिए भी किया जा सकेगा। जब हम धुँए के साधन से अग्नि का अनुमान करते हैं तो उस धूम से अग्नि का बोध हो जाता है जो अग्निप्रतीति का साधन रूप होने के कारण अग्नि की अपेक्षा गौणस्वरूप होता है।

परन्तु यदि इस प्रसंग में यह कहा जाय कि अभिव्यक्ति की यह परिभाषा अनुमान पर इसलिए प्रयुक्त नहीं की जा सकती क्योंकि इस परिभाषा में "असत्" शब्द का प्रयोग है जो कि ध्वन्यर्थ का विशेषण है। परन्तु अग्नि

[1] व्य० वि० व्या० ८०
[2] व्य० वि० ८०
[3] व्य० वि० ८०
[4] व्य० वि० ८१

असत् रूप नहीं है, तो इस परिभाषा का प्रयोग उपमान स्वरूप ज्योतित दीप तथा घट के दृष्टान्त पर भी नहीं किया जा सकेगा। और यदि उपर्युक्त परिभाषा से 'असत्' शब्द को इसलिए निकाल दिया जाय कि उसका प्रयोग कथित दृष्टान्त पर भी किया जा सके तो इस परिभाषा को 'इन्द्रधनु' के दृष्टान्त पर प्रयुक्त नहीं किया जा सकेगा क्योंकि 'इन्द्रधनु' असत्स्वरूप है। और यदि कथित परिभाषा से 'सत्' एवं 'असत्' दोनों शब्द हटा दिए जाएं तो वह केवल अनुमान की ही परिभाषा बन कर रह जाती है। ध्वनिसिद्धान्त के खण्डनकर्ता यही चाहते भी हैं।

इसके अतिरिक्त अभिव्यक्ति की परिभाषा में प्रकाश्य के विशेषण के रूप में जो सत् एवं असत् शब्दों का उल्लेख किया गया है वह तर्कानुकूल नहीं है क्योंकि इन शब्दों के उल्लेख के कारण कुछ भी ऐसा शेष नहीं रह जाता जिस पर यह परिभाषा प्रयुक्त न की जा सके। इसके अतिरिक्त यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि ध्वन्यर्थमय वही काव्य ध्वनिकाव्य माना जा सकता है जिसमें अभिधेयार्थ ही व्यंजक होता है तो इस परिभाषा को उस ध्वन्यर्थ-प्रधान काव्य पर प्रयुक्त नहीं किया जा सकेगा जिसमें एक ध्वन्यर्थ दूसरे[1] ध्वन्यर्थ को उत्पन्न करता है।

ध्वनिवादियों के सिद्धान्त का यथार्थरूप

प्रायः महिमभट्ट यह करते हैं कि पहिले वे आनन्दवर्धनाचार्य को उन अभिमतों का प्रतिपादनकर्ता मान लेते हैं जिनका प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया है और फिर उस स्वकल्पित मत का खण्डन वे विशद रूप से करते हैं। अभिव्यक्ति की कथित परिभाषा का खण्डन उनकी इस प्रवृत्ति का ज्वलंत उदाहरण है। अभिव्यक्ति की परिभाषा का विरचन उन्होंने स्वयं किया है और उसको ध्वनिवादियों से प्रतिपादित मान लिया है। क्योंकि यद्यपि महिमभट्ट ने विशद रूप से अभिव्यक्ति के छ प्रकारों (सत् से संबंधित पांच प्रकार की अभिव्यक्ति तथा असत् से संबंधित एक प्रकार की अभिव्यक्ति) का वर्णन किया है परन्तु जैसा कि रूय्यक कहते हैं ध्वनिवादी अभिव्यक्ति को केवल एक प्रकार का ही मानते हैं जो 'सत्'[2] से संबंधित है और जिसका प्रतिपादन ज्योतिर्मान दीप एवं घट के परस्पर संबंध की उपमिति के आधार पर किया गया है। यह लोकप्रसिद्ध है कि उपमिति का उल्लेख सर्वांगीण समता के

---

[1] व्य० वि० ८२ [2] व्य० वि० ७६–७

आधार पर नहीं वरन् एक विशिष्टरूप समानता के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार से ध्वनिवादी कथित उपमान की सहायता से जिस तथ्य को स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं वह यह है कि ध्वन्यर्थ का बोध किसी भी दशा में बिना व्यंजक[1] के बोध के नहीं होता। अतएव महिमभट्ट ने अभिव्यक्ति की स्वकल्पित जिस परिभाषा का खण्डन किया है वह सर्वथा निराधार है।

ध्वनि-काव्य की परिभाषा के दोष

आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि-काव्य की परिभाषा को निम्नलिखित रूप में लिखा है:—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"

महिमभट्ट के मतानुसार ध्वनिकाव्य की उपर्युक्त परिभाषा में दस दोष हैं। उनके खण्डन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ध्वनि-काव्य के उपर्युक्त लक्षण का लगभग प्रत्येक शब्द दोषयुक्त है। ये दोष निम्नलिखित हैं—

(१) 'अर्थ' शब्द का विशेषण 'उपसर्जनीकृत' अर्थात् 'अपने को जो दूसरे के अधीन कर देता है' का प्रयोग निरर्थक है।

(२) 'शब्द' का प्रयोग उचित नहीं है।

(३) 'शब्द' का विशेषज पद 'उपसर्जनीकृत' अर्थात् 'जो अपने अभिधेय अर्थ को दूसरे के अधीन कर देता है' स्वभावतः ऐसी दशा में निष्प्रयोजन हो जाता है जब उसके विशेष्यपद के प्रयोग को निरर्थक सिद्ध कर दिया गया है।

(४) 'तम्' में पुल्लिंग का प्रयोग अनुचित है।

(५) क्रियापद 'व्यंक्तः' में द्विवचन दोषपूर्ण है।

(६) 'वा' शब्द का प्रयोग अविचार पूर्ण है।

(७) 'वि—अंज्' धातु का प्रयोग जिस अर्थ में उपर्युक्त परिभाषा में किया गया है वह परिभाषा को एकरूप में अतिव्याप्त तथा दूसरे रूप में अव्याप्त बना देता है।

(८) 'ध्वनि' शब्द 'काव्य' के अर्थ को ही प्रकट करने के लिए दूसरा शब्द मात्र है इसलिए इसका प्रयोग भी निरर्थक है।

---

[1] व्य० वि० व्या० ५८, ५९ तथा ८१

(९) काव्य की विशिष्टता का प्रतिपादन करना (काव्यविशेषः) निराधार है।

(१०) उक्त परिभाषा में 'कथितः' क्रियापद के कर्त्ता का उल्लेख व्यर्थ है[1]।

(१) अर्थ के विशेषणपद का खण्डन

'अर्थ' शब्द का विशेषणपद 'उपसर्जनीकृत' का प्रयोग अनावश्यक है। किसी भी परिभाषा में उस विशेषणपद का प्रयोग आवश्यक होता है जो परिभाषा को एक ओर अव्याप्त और दूसरी ओर अतिव्याप्त न होने दे जिससे कि परिभाषा का प्रयोग केवल अभिप्रेत दृष्टान्तों पर ही होता है और अन्य दृष्टान्त उसके प्रयोगक्षेत्र से बहिष्कृत हो जाते हैं। परन्तु 'अर्थ' शब्द का विशेषणपद 'उपसर्जनीकृत' परिभाषा की उचित सीमाओं को निर्धारित नहीं करता, क्योंकि जब कोई भी अर्थ ध्वन्यर्थ का उत्पादक होता है तब वह स्वयं ध्वन्यर्थ की अपेक्षा गौण हो जाता है। इसका कारण यह है कि वह ध्वन्यर्थबोध का साधनरूप ही होता है। और यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि साध्य की अपेक्षा साधन सदैव गौणरूप होता है।

इस प्रसंग में लक्षणकार यह नहीं कह सकते हैं कि 'अर्थ' शब्द के विशेषण पद का प्रयोग इसलिए आवश्यक है क्योंकि इस विशेषणपद से यह स्पष्ट होता है कि ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत उस काव्य की गणना नहीं की जा सकती जिसमें समासोक्ति अलंकार होता है अथवा जिसमें ध्वन्यर्थ अप्रधान रूप है। इन दोनों प्रकार के ही काव्य-दृष्टान्तों में अभिधेयार्थ प्रधानरूप होता है। क्योंकि प्रधानता अपने स्वरूप के अनुसार दो प्रकार की होती है—(अ) प्रसंग के कारण एवं (आ) स्वस्वरूप की प्रधानता के कारण। समासोक्ति के दृष्टान्त (उपोढरागेण—आदि) में अभिधेयार्थ की प्रधानता का कारण प्रकरण ही है। स्वस्वरूप की प्रधानता के कारण उसकी प्रधानरूपता नहीं है।[2] क्योंकि प्रकरण से अलग होकर अभिधेयार्थ ध्वन्यर्थ के संबंध में अप्रधानरूप हो जाता है। क्योंकि 'ध्वन्यर्थ' का अनुमान अभिधेयार्थ के साधन से ही होता है। अतएव प्रकरण से उद्भूत अभिधेयार्थ की प्रधानता को यदि स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी इस विशेषणपद के प्रयोग का पर्याप्त औचित्य सिद्ध नहीं हो

---

[1] व्य० वि० १०४ [2] व्य० वि० १०-१२

जाता। इसके उपरान्त यदि लक्षणकार यह कहे कि उक्त विशेषणपद का परिभाषा में उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि गुणीभूतव्यंग्य काव्य में अभिधेयार्थ अपनी उत्कृष्ट चारुता के कारण ध्वन्यर्थ को गौण कर देता है तो यह कथन भी विशेषणपद के प्रयोग के औचित्य को सिद्ध नहीं कर देता। क्योंकि गुणीभूतव्यंग्य काव्य में भी अभिधेयार्थ अपनी उत्कृष्ट चारुता के कारण सदैव आवश्यक रूप से प्रधान रूप नहीं होता है। महिमभट्ट का कथन यह है कि जिसको हम गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहते हैं उसके भी कुछ दृष्टान्तों में ध्वन्यर्थ रमणीक होता है। अतएव उक्त विशेषणपद का परिभाषा में उल्लेख करना अनावश्यक[1] है।

ध्वनिवादियों के अभिमत का स्वरूप

निम्नलिखित तीन करणों से कोई अर्थ अप्रधानीभूत कहा जाता है :—

१. क्योंकि वह अर्थ किसी दूसरे अर्थ को उत्पन्न करता है।

२. क्योंकि वह अर्थ ध्वन्यर्थ से कम रमणीक होता है।

३. क्योंकि वह अर्थ स्वात्मविश्रान्त नहीं होता अतएव दूसरे अर्थ के चारुत्व उत्पादन में सहायक होता है।

उपर्युक्त प्रथम दो कारणों के प्रसंग में तो महिमभट्ट का आक्षेप युक्तिसंगत है। परन्तु ध्वनिवादियों ने तीसरे कारण को ध्यान में रखकर उक्त विशेषणपद का उल्लेख परिभाषा में किया है। 'अर्थ' शब्द के विशेषण पद के उल्लेख से वह गुणीभूतव्यंग्य काव्य ध्वनि—काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाता है जिसमें अभिधेयार्थ अप्रधानीभूत नहीं होता क्योंकि वह अन्य अर्थ के चारुत्व निर्माण में सहायक नहीं है। अतएव विशेषण पद का प्रयोग सर्वथा उचित है[2]।

परिभाषा में लिखित 'अर्थ' शब्द का खण्डन

महिमभट्ट यह प्रश्न करते हैं कि 'यत्रार्थः शब्दो वा—' आदि कारिका में लिखित 'अर्थ' शब्द का क्या अर्थ है? क्या इसका अर्थ अभिधेयार्थ मात्र है अथवा अभिधेयार्थ तथा ध्वन्यर्थ दोनों ही है?' दोनों ही रूपों में यह निम्नलिखितरूप में दोषपूर्ण है।

---

[1] व्य० वि० टी० १२ [2] व्य० वि० व्या० १३

यदि इस 'अर्थ' शब्द का अर्थ अभिधेयार्थ मात्र है तो ध्वनि-काव्य के क्षेत्र से 'एवंवादिनि तत्रर्षौ' श्लोक भी बहिष्कृत हो जाता है जिसको सभी शास्त्रकार ध्वनिकाव्य का उत्कृष्ट दृष्टान्त मानते हैं। क्योंकि उक्त श्लोक में रति-स्थायीभाव 'नीचे की ओर मुख किए हुए' अभिधेयार्थ से ध्वनित न होकर उस लज्जा के भाव से ध्वनित होता है जिसको उक्त अभिधेयार्थ ध्वनित करता है। और यदि इस 'अर्थ' शब्द का अर्थ ध्वन्यर्थ भी है तो यह परिभाषा में अतिव्याप्तिदोष का जनक है क्योंकि उस काव्य को भी ध्वनिकाव्य के क्षेत्र के अन्तर्गत मानना होगा जिसमें केवल वह विभाव मात्र ही ध्वनित हो जो स्वयं ध्वन्यर्थ स्वरूप एक दो अथवा तीन विभावों से ध्वनित है, और कोई स्थायिभाव ध्वनित न हो। परन्तु इस प्रकार के दृष्टान्तों को ध्वनि परिभाषा के क्षेत्र के अन्तर्गत इसलिए स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि उनमें काव्य-सौन्दर्य का अभाव है। इसका कारण यह है कि उन्हीं दृष्टान्तों में काव्य-सौन्दर्य का अस्तित्व स्वीकार किया गया है जिनमें एक व्यभिचारी भाव अथवा आलंकारिक वर्णन से ध्वन्यर्थ को उत्पन्न किया गया है। क्योंकि केवल सहृदय में ही यह योग्यता होती है कि वह किसी काव्यकृति को सौन्दर्यमय अथवा सौन्दर्यहीन घोषित करे। इस प्रसंग में महिमभट्ट ने विचाराधीन ध्वन्यर्थ के विविध प्रकारों के दृष्टान्तों को उद्धृत किया है।

इस प्रसंग में महिमभट्ट ने इस बात का उल्लेख किया है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने सर्वत्र 'अर्थ' शब्द का प्रयोग अभिधेयार्थ एवं ध्वन्यर्थ दोनों अर्थों में नहीं किया है। यद्यपि 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग उन्होंने दोनों अर्थों में अर्थात् अभिधेयार्थ तथा ध्वन्यर्थ में किया है फिर भी 'तमर्थम्' की व्याख्या करते हुए वे निश्चयपूर्वक यह कहते हैं कि इस प्रसंग में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग केवल अभिधेयार्थ के लिए ही किया गया है—'अर्थोवाच्यविशेषः'[1]।

(२) 'शब्द' शब्द के प्रयोग का खण्डन

ध्वनिकाव्य की कथित परिभाषा[2] में 'शब्द' शब्द का प्रयोग दोषयुक्त है। इसका कारण यह है कि अभिधेयार्थ को प्रकट करने के अतिरिक्त शब्द का और कोई व्यापार नहीं होता और यह अभिधेयार्थ शब्द की अपेक्षा गौण तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि यह शब्द किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्द का केवल अनुकरण मात्र ही न हो जैसे कि—

[1] व्य० वि० ८२ [2] व्य० वि० १३

तं कर्णमूलमागत्य पलितच्छद्मना जरा ।
कैकेयीशंकयेवाह रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ॥

इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि 'यदि शब्दानुकृति केवल शब्दों की उच्चरित ध्वनियों को ही प्रकट करती है तो श्रोता को उन शब्दों के अनुकृत रूपों से अर्थ का बोध किस प्रकार से होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में महिमभट्ट यह कहते हैं कि वे शब्द जिनका अनुकरण किया जाता है दो प्रकार के होते हैं– (१) निरर्थक एवं (२) सार्थक । सार्थक शब्दों का अनुकृत स्वरूप मूल शब्दों के बोध को उत्पन्न करता है और इस प्रकार से अनुकरण से नहीं वरन् अनुकार्य से अर्थ बोध'[1] की उत्पत्ति होती है । वाक्य में अनुकृत शब्दों को 'इति' शब्द की सहायता से अन्य शब्दों से विलग कर दिया जाता है अतएव उनका अभिप्राय अर्थ न होकर उच्चरित ध्वनिमात्र ही होता है ।

वे शब्द जो अनुकृत रूप नहीं होते उनका प्रयोग अर्थ को प्रकट करने के लिए किया जाता है अतएव आवश्यक रूप से वे गौणरूप होते हैं, क्योंकि अर्थों को प्रकट करने के वे साधनमात्र ही होते हैं और यह न्यायसिद्ध तथ्य है कि जिस वस्तु का प्रयोग किसी अन्य वस्तु की सिद्धि के लिए किया जाता है वह उसी प्रकार से गौण रूप होती है जिस प्रकार से उस जल की अपेक्षा वह कलश गौण होता है जिसको लाने के लिये उसका प्रयोग किया जाता है । यदि यह सिद्धान्त स्वीकार न किया जाय तो प्रधान एवं अप्रधान के परस्पर संबंध को निश्चित करने का कोई न्यायसंगत अधार प्राप्त नहीं होता है ।

इस प्रकार से महिमभट्ट यह मानते हैं कि ध्वनि काव्य की उक्त परिभाषा में असंभव दोष है क्योंकि अभिधेयार्थ किसी भी दशा में शब्दों की अपेक्षा अप्रधान नहीं हो सकता है ।

शब्द एवं अर्थ दोनों के विशेषणपदों का सामान्य खण्डन यह है कि यदि हम ध्वनिवादी की यह स्थापना स्वीकार भी कर लें कि 'गुणीभूतव्यंग्य में अभिधेयार्थ प्रधानरूप होता है, इसलिए ध्वनि-काव्य के क्षेत्र से इसको बहिष्कृत करने के लिए अर्थ के विशेषणपद का प्रयोग किया गया है' और इसी प्रकार से यदि हम यह भी मान लें कि 'विविध प्रकार के अर्थों को उत्पन्न करने की शक्ति शब्द में होती है, इसी कारण अभिधेयार्थ को गौणरूप बनाने की सम्भावना हो जाती है' तो ऐसी परिस्थितियों में विशेषण पद का प्रयोग केवल उसकी पुनरुक्ति मात्र ही होगा जो इस तथ्य से ज्ञात होता है कि

[1] व्य० वि० १४–१५

ध्वन्यर्थ को उत्पन्न करने के लिए अभिधेयार्थ तथा शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रसंग में यह भी नहीं कहा जा सकता है कि विशेषण पद का प्रयोग निहितार्थ को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है क्योंकि इस प्रकार का स्पष्टीकरण भी एक प्रकार की पुनरुक्ति[1] ही है।

इस प्रकार से महिम भट्ट यह मानते हैं कि ऐसा कोई ध्वन्यर्थ नहीं है जो शब्द की शक्ति के कारण उत्पन्न होता हो क्योंकि शब्दों में केवल अभिधेयार्थ को उत्पन्न करने की ही शक्ति होती है अतएव शब्द एवं ध्वन्यर्थ में परस्पर कारण कार्य संबंध नहीं हो सकता है। इसलिए शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का प्रतिपादन करना और 'सुवर्ण-पुष्पाम्'----श्लोक को उसके दृष्टान्त रूप में उद्धृत करना तर्कशास्त्रीय दृष्टिकोण से वह हेत्वाभास है जिसके अनुसार उन दो वस्तुओं में परस्पर कार्यकारण का संबंध स्थापित किया जाता है जहां पर वह संबंध नहीं है।

(असिद्धसाध्यसाधनधर्मानुगतम्)[2]

ध्वनिवादियों का अभिमत

ध्वनिवादी यह मानते हैं कि शब्द में विविध प्रकार के अर्थों को उत्पन्न करने के लिए अनेक शक्तियाँ होती हैं। अतएव उनके मत के अनुसार इस प्रकार की काव्यकृतियों का अस्तित्व है जिनमें शब्द से उद्भूत अभिधेयार्थ उस ध्वन्यर्थ की अपेक्षा गौण होती है जो स्वयं शब्द से उत्पन्न है। अतएव विशेषणपद का प्रयोग निरर्थक[3] नहीं है।

(३) शब्द के विशेषणपद (गुणीकृतार्थ) का खण्डन

महिमभट्ट के मतानुसार शब्दों में केवल अभिधेयार्थ को ही प्रकट करने की शक्ति होती है। अतएव अपनी टीका में अभिनवगुप्त ने जो यह लिखा है कि 'वह शब्द जो अभिधेयार्थ को ध्वन्यर्थ के अधीन बनाता है' सब प्रकार से अर्थहीन है। अतएव महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि इस विशेषणपद के प्रयोग करने से ध्वनि-काव्य का लक्षण तर्कशास्त्रीय असंभव दोष से दूषित हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि विवाद के लिए ध्वनिवादी का यह मत स्वीकार भी कर लिया जाय कि शब्द में एक से अधिक शक्तियां होती हैं तो

---

[1] व्य० वि० १७ [2] व्य० वि० १७ [3] व्य० वि० व्या० १८

भी उक्त विशेषणपद का प्रयोग अनावश्यक ही बना रहता है। क्योंकि विशेषण पद के साधन से 'अर्थ' के विषय में जो कुछ भी कहा गया है वह निहितार्थ[1] के रूप में 'शब्द' के विषय में भी स्वयमेव प्रयुक्त हो जाता है।

(४) 'तम्' सर्वनाम में पुल्लिंग का अनौचित्य

नियम यह है कि सर्वनाम का प्रयोग उसी लिंग में करना चाहिए जिस लिंग में वह नाम होता है जिसके स्थान पर उस विशेष सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है। परन्तु ध्वनि काव्य के लक्षण को प्रतिपादित करने वाली कारिका में किसी भी उस नाम का प्रयोग नहीं किया गया है जिसके स्थान पर इस 'तम्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया हो। और यदि हम प्रसंग पर विचार करें तो यह ज्ञात होता है कि जिस नाम के स्थान पर इस 'तम्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है वह नपुंसक लिंग में है अर्थात् 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु'। अतएव महिमभट्ट यह कहते हैं कि उस नाम का प्रयोग भी पुल्लिंग में करना चाहिए जिसके स्थान पर 'तम्' का प्रयोग किया गया है अर्थात् 'सरस्वती स्वादुतसंतमर्थम्' लिखना चाहिए और ध्वनि काव्य की परिभाषा में जो 'तम्' सर्वनाम का प्रयोग किया है उसको वैसा ही बनाए रखना चाहिए[2]।

यह सिद्ध करने के लिए कि आनन्दवर्धनाचार्य ने 'तम्' सर्वनाम में उचित लिंग का प्रयोग किया है यह कहा जा सकता है कि 'ध्वन्यर्थ' के लिये दो शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है 'वस्तु' एवं 'अर्थ'। पूर्वलिखित कारिका में उन्होंने 'सोऽर्थः' में पुल्लिंग का प्रयोग किया है अतएव उसी के अनुसार उस परलिखित कारिका में जिसमें ध्वनिकाव्य के लक्षण का उल्लेख है 'तमर्थम्' में उसी लिंग का प्रयोग किया है।

(५) 'व्यङ्क्तः' में द्विवचन के प्रयोग में दोष

ध्वनिकाव्य की परिभाषा का उल्लेख जिस कारिका में किया गया है उसमें 'वा' शब्द यदि विकल्प का बोधक है तो उसके क्रियापद 'व्यङ्क्तः' में द्विवचन का प्रयोग सब प्रकार से दोषपूर्ण है। परन्तु अभिनवगुप्त ने अपने लोचन में यह सिद्ध किया है कि 'व्यङ्क्तः' शब्द में द्विवचन का प्रयोग

---

[1] व्य० वि० ९०   [2] व्य० वि० ९१

अनुचित नहीं है। महिमभट्ट लोचन के इस अंश को भ्रममूलम्[1] कह कर अत्यन्त सरलता से उपेक्षित कर देते हैं—ऐसा व्यवहार उन्होंने अनेक प्रसंगों में बहुधा किया है।

(६) 'वा' शब्द के प्रयोग में दोष

ध्वनिकाव्य की परिभाषा जिस कारिका में लिखी गई है उसमें 'वा' शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में महिम भट्ट ने यह प्रश्न उठाया है कि 'उपर्युक्त प्रसंग में 'वा' शब्द विकल्पबोधक है अथवा समुच्चयबोधक है ?' यह विकल्पबोधक इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि यह सिद्ध किया जा चुका है कि शब्द के पास केवल अभिधेयार्थ को ही प्रकट करने की शक्ति होती है ध्वन्यर्थ को प्रकट करने की नहीं। और यदि विवाद के लिए यह मान भी लिया जाय कि शब्द में ध्वन्यर्थ उत्पादन की भी शक्ति होती है तो 'व्यङ्क्तः' क्रियापद में द्विवचन का प्रयोग सिद्धान्त विरुद्ध हो जायगा। क्योंकि सिद्धान्त यह है कि विकल्पबोधक 'वा' शब्द से संबंधित अनेक कर्ताओं का क्रियापद एक वचन में होना चाहिए। जैसे कि 'शिरः श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' वाक्य में प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त प्रसंग में 'वा' शब्द समुच्चयबोधक भी नहीं हो सकता। क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि 'वा' शब्द समुच्चयबोधक है तो उन सब काव्य—कृतियों को ध्वनिक्षेत्र से बहिष्कृत करना पड़ेगा जिनमें ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति या तो केवल 'शब्द' मात्र से होती है अथवा उसकी उत्पत्ति केवल 'अर्थ' मात्र से ही होती है। ध्वन्यर्थवादी[2] ऐसा कभी करना नहीं चाहेंगे।

(७) 'वि—अंज्' के प्रयोग में दोष

महिम भट्ट के मतानुसार केवल अभिधेयार्थ को उत्पन्न करने की ही शक्ति शब्दों में होती है। अतएव शब्दों से ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। युक्ति पूर्वक यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि शब्दों में एक ऐसी शक्ति होती है जिसको शास्त्रीय भाषा में व्यंजकत्व कहा जाता है। और शब्द एवं ध्वन्यर्थ के बीच ऐसा कोई संबंध हम स्थापित नहीं कर सकते हैं जिससे कि ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति शब्द से सिद्ध हो जाय। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि बिना किसी निश्चित परस्पर संबंध के अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थों की उत्पत्ति शब्दों

---

[1] व्य० वि० ९०–९१ [2] व्य० वि० ८९–९०

से हो सकती है तो अर्थ की सीमा को निर्धारित करना असंभव हो जायगा क्योंकि ऐसी दशा में कोई सीमानिर्धारक ही नहीं रह जाएगा। इस प्रसंग में यह कहना भी उचित नहीं है कि शब्दों तथा अर्थों (स्थायी भावों) के बीच ठीक उसी प्रकार से नैसर्गिक संबंध होता है जैसा कि एक विशेष प्रकार के गेय और भाव के बीच होता है। क्योंकि[1] यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो सभी लोगों को समानरूप से रसानुभव को प्राप्त करना सम्भव हो जाएगा, चाहे उनको अर्थों का ज्ञान हो या न हो। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक यह भी नहीं कह सकते हैं कि ध्वन्यर्थों का भी शब्दों के साथ परम्परासिद्ध सम्बन्ध है। क्योंकि ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति देश, काल, वक्ता के चरित्र की विशिष्टता एवं मनोगत भावों आदि दशाओं पर निर्भर है। ये दशाएं न तो नियतस्वरूप हैं और न परम्परा ही इनको नियत कर सकती है, इसलिए इनका पूर्ण रूप से वर्णन[2] करना असम्भव है। यह अनुभवसिद्ध है कि विभिन्न दशाओं में एक ही शब्द से अनेक अर्थों की उत्पत्ति होती है जैसे कि (१) "रामोऽस्मि सर्वं सहे" तथा (२) "रामेण प्रियजीवितेन" में राम शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी यह स्वीकार किया है कि ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति विशेष दशाओं पर निर्भर होती है। अतएव यह स्वीकार करना ही चाहिये कि ध्वन्यर्थ की उत्पत्ति शब्द से न होकर कुछ विशेष दशाओं के विद्यमान होने के कारण अभिधेयार्थ से होती है। अतएव उपर्युक्त ध्वनि-काव्य की परिभाषा में शब्द के क्रियापद के रूप में वि-अंज् शब्द का प्रयोग करना दोष पूर्ण[3] अथवा अनावश्यक है।

परन्तु इस प्रसंग में यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि शब्दों में कोई ऐसी शक्ति नहीं होती जिसको शास्त्रीय भाषा में 'व्यंजकत्व' कहते हैं तो "प्राप्तम्"[4] आदि शब्दों में 'प्र' आदि उपसर्गों के व्यंजकत्व की चर्चा हम किस प्रकार से कर सकते हैं ? उपसर्गों से उत्पन्न अर्थ को हम अभिधेयार्थ नहीं मान सकते क्योंकि यदि उस अर्थ को हम अभिधेयार्थ मान लें तो इस बात का कोई कारण नहीं होगा कि पाणिनि के 'एकाचो हलादेः' आदि सूत्र के अनुसार उनमें यङ् प्रत्यय का प्रयोग क्यों न किया जाय।

इस आक्षेप का उत्तर महिमभट्ट निम्नरूप से देते हैं—

महिमभट्ट यह स्वीकार करते हैं कि 'प्र' आदि उपसर्गों में व्यंजकत्व है,

---

[1] व्य० वि० १२७–१२८ [2] व्य० वि० १२८

[3] व्य० वि० १२९ [4] व्य० वि० १२९

परन्तु वे यह कहते हैं कि व्यंजक शब्द के अभिधेयार्थ के अनुसार नहीं वरन् लाक्षणिकार्थ के अनुसार 'प्र' आदि उपसर्ग द्योतक होते हैं। लाक्षणिकार्थ में शब्द के प्रयोग का अभिप्राय यह होता है कि यह अभिप्राय प्रकट हो जाय कि उपसर्ग अभिधेयार्थ को और भी अधिक-स्पष्ट करते हैं। श्रोता के अन्तः-करण में अभिधेयार्थ के बोध की स्पष्टरूपता का कारण यह है कि उसको विशेषण एवं विशेष्य पदों का बोध साथ साथ एक ही समय में होता है क्योंकि क्रमानुसार उन दोनों का बोध इतनी अधिक शीघ्रता से होता है कि 'क्रम' के अस्तित्व का ज्ञान ही नहीं हो पाता[1]।

(८) काव्यकृति के लिए 'ध्वनि' शब्द के प्रयोग का खण्डन

आनन्दवर्धनाचार्य ने यह प्रतिपादित किया है कि उस काव्यकृति को ध्वनि कहते हैं जिसमें शब्द तथा अर्थ दोनों मुख्य रूप में ध्वन्यर्थ को ध्वनित करते हों। इसका कारण यह है कि ध्वन्यर्थ उत्पादक शब्दों एवं अर्थों का वही सम्बन्ध ध्वनित रस के साथ होता है जो सम्बन्ध शब्द-स्फोट के साथ शब्द के अन्तिम वर्ण की उस शब्दरूप ध्वनि के बोध के साथ होता है जो पूर्वस्थित वर्ण की ध्वनियों के बोध के संस्कारों से प्रभावित होता है। क्योंकि उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्रमरूप न होकर सहभाव रूप होता है। अभि-नवगुप्त ने 'लोचन'[2] में इस बात का उल्लेख किया है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने उपर्युक्त प्रतिपादन वाक्यपदीयम् की 'प्रत्ययैरनुपाख्येयैः' कारिका को ध्यान में रख कर किया है।

महिमभट्ट उपर्युक्त मत का खण्डन एक अन्य विरोधी मत के आधार पर करते हैं। वे यह कहते हैं कि शब्दबोध, अभिधेयार्थ बोध एवं ध्वन्यर्थ बोध में ही क्रमरूपता नहीं होती वरन् शब्दस्फोट के बोध एवं शब्द के अन्तिम वर्ण की उस शब्दरूप ध्वनि के बोध में भी क्रमरूपता होती है जो शब्द की पूर्व स्थित वर्णध्वनियों के बोध के संस्कारो से प्रभावित होता है। क्योंकि शब्द के अन्तिमाक्षर की ध्वनि और शब्दस्फोट भी कारण-कार्य[3] सम्बन्ध पर आधारित प्रकाशक-प्रकाश्य सम्बन्ध से परस्पर सम्बन्धित होते हैं। क्योंकि प्रकाशक के साधन से वस्तु प्रकाशित की जाती है और सिद्धि साधन से परवर्ती होती है। यह ज्ञात होता है कि महिमभट्ट का उपर्युक्त मत भर्तृहरि के ग्रंथ से पुष्ट है क्योंकि भर्तृहरि ने 'प्रकाशक' के अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द को करण कारक (तृतीया) में प्रयुक्त किया है और निश्चि-

---

[1] व्य० वि० १३१ [2] ध्व० लो० ४७ [3] व्य० वि० ५७

तरूप से 'प्रकाशिते' शब्द का प्रयोग किया है। अतएव महिमभट्ट यह कहते हैं कि एक काव्यकृति को ध्वनि कहना इसलिए दोषपूर्ण है क्योंकि व्यंजक बोध एवं ध्वन्यर्थबोध का वह सहभाव सम्भव नहीं है जिसके आधार पर काव्यकृति को ध्वनि कहा जाता है। क्योंकि दो बोधों की यह सहभावरूपता किसी शब्द के अन्तिम अक्षर की ध्वनि के बोध तथा स्फोट के बोध में भी सम्भव नहीं है जिसको कि उपमान के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त काव्य की लोक प्रसिद्ध परिभाषा यह है कि 'काव्य की आत्मा रस है'। अतएव काव्यविशेष का उल्लेख करना अकारण ही है। इसलिए[1] काव्य को ध्वनि कहना एक ही वस्तु को दूसरे शब्द से केवल अभिहित करना मात्र है।

परन्तु इस प्रसंग में इस तथ्य का उल्लेख किया जा सकता है कि उद्धृत कारिका की ऐसी व्याख्या जो महिमभट्ट के मत का समर्थन करती है उसी दशा में की जा सकती है जब कि उसकी व्याख्या संदर्भ पर ध्यान न देकर की जाय। परन्तु हमको यह भूल नहीं जाना चाहिए कि शब्दध्वनि तथा स्फोट के सम्बन्ध में अनेक मत थे। भर्तृहरि स्वयं इस मतभेद का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में करते हैं—'स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते कैश्चित्'। इससे यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि स्वयं स्फोटवादियों में इस विषय में मतभेद था कि ध्वनि एवं स्फोट के बोधों में क्रमरूपता होती है अथवा दोनों का बोध एक ही समय में होता है। अन्तिम मत के उपमान के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। महिमभट्ट उस शास्त्रीय-सम्प्रदाय के अनुयायी थे जो यह मानता था कि दोनों (ध्वनि एवं स्फोट) का बोध क्रमशः होता है।

(९) 'काव्य विशेष' मत का खण्डन

महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि आनन्दवर्धनाचार्य का यह मत माननीय नहीं है कि ध्वनि एक विशेष प्रकार का काव्य है। क्योंकि गत उपप्रकरण में काव्य के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है उसके अनुसार कोई भी कृति उस समय तक काव्य कहलाने के योग्य नहीं है जब तक कि वह रस को प्रटक नहीं करती। और रस की विशेषता के आधार पर हम काव्य की विशिष्टता का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं। कारण निम्नलिखित हैं :—

---

[1] व्य० वि० १०१

१. हम यह नहीं कह सकते हैं कि एक विशिष्ट रस[1] को प्रकट करने के कारण काव्य विशिष्ट हो जाता है। क्योंकि यदि उपर्युक्त कथन को सत्य मान लिया जाय तो ध्वनि की परिभाषा का प्रयोगक्षेत्र अत्यंत संकीर्ण हो जायगा क्योंकि इस रूप में इस परिभाषा को उन्हीं रचनाओं के प्रसंग में प्रयुक्त किया जा सकेगा जो किसी विशेष रस अथवा रसों को प्रकट करती हैं, और उन कृतियों पर इस परिभाषा को प्रयुक्त नहीं किया जा सकेगा जो अन्य किसी रस को प्रकट करती हैं।

२. यह भी नहीं कहा जा सकता है कि काव्य की विशिष्टता इस कारण होती है कि वह रस को ध्वनित करता है और इसलिए उस कृति से भिन्न होता है जो विभाव अथवा अलंकार को ध्वनित करती है। क्योंकि ध्वन्यर्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलंकार एवं रसादि। इस प्रसंग में युक्ति को निम्नलिखित रूप में विशदता के साथ कहा जा सकता है :—

'काव्य की आत्मा रस है' इस सिद्धान्त के अनुसार वह कृति जो रस को व्यक्त नहीं करती काव्य नहीं कही जा सकती है। अतएव कोई कृति जो रस को व्यक्त नहीं करती काव्य कहलाने के योग्य नहीं है चाहे उसको शब्द तथा अर्थ के गुणों से कितना ही अधिक परिमार्जित एवं आकर्षक बनाया गया हो और चाहे कितना भी अधिक शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से उसे संवारा गया हो। अतएव[2] वह कृति जो वस्तु अथवा अलंकार को व्यक्त करती है 'काव्य' शब्द के मुख्यार्थ के अनुसार काव्य नहीं है। अतएव काव्य के संबंध में विशिष्टता की बात करना निरर्थक है।

३. काव्य को इस आधार पर भी विशिष्टता सौंपी नहीं जा सकती कि स्वयं ध्वनित विभाव अथवा अलंकार से उसमें रस को ध्वनित किया जाता है। इसका कारण यह है कि विभाव एवं अलंकार रसप्रकटीकरण अथवा रसबोध के कारण स्वरूप ही है। और अभिव्यक्ति के हेतु अर्थात् प्रकटीकरण के कारण के आधार पर विशिष्टताप्रदान उसी प्रकार से तर्क शास्त्र के विरुद्ध है जैसे कि रंगबिरंगी[3] गाय के गर्भ से उत्पन्न होने के आधार पर गौ जाति को विशिष्टताप्रदान करना।

४. और यदि काव्य को अभिव्यक्ति के हेतु के आधार पर विशिष्टता प्रदान की ही जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि केवल वही काव्य-कृति काव्य कहलाने के योग्य है जिसमें एक अलंकार अथवा विभाव अथवा दोनों मिलकर

---

[1] व्य० वि० ९७ [2] व्य० बि० ९८ [3] व्य० वि० ९९

रस को ध्वनित करते हैं और उस काव्य-कृति को काव्य नहीं कहेंगे जिसमें उपर्युक्त कारणों पर रस की उत्पत्ति निर्भर नहीं है। इस प्रकार से काव्य की परिभाषा अत्यंत संकीर्ण हो जाती है और उसमें अव्याप्ति दोष आ जाता है। इसके अतिरिक्त इस लक्षण का प्रयोग उस प्रहेलिका[1] के संबंध में भी किया जा सकेगा जिससे विभाव मात्र ध्वनित होता है। इस कारण परिभाषा अतिव्याप्त भी हो जाती है। अतएव ध्वनि शब्द का प्रयोग समान्य रूप से सभी काव्यों के लिए करना चाहिए। किसी विशेष प्रकार के काव्य के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं है। तथा समासोक्ति एवं तत्समान आलंकारिक रचनाओं की गणना भी ध्वनि क्षेत्र के अन्तर्गत करना चाहिए। क्योंकि उनमें भी रस प्रदर्शित होता है। इसके अतिरिक्त ध्वन्यर्थ को केवल दो प्रकार का ही मानना चाहिए १. वस्तु एवं २. अलंकार क्योंकि रस दो प्रकार के ध्वन्यर्थों से भिन्न कोटि का होता है। 'रस' काव्य का सामान्य लक्षण है अतएव सामान्य स्वरूप है। परन्तु वस्तु एवं अलंकार विशेष स्वरूप हैं जिसकी गणना सामान्य के अन्तगत की जाती है। अतएव रस को वस्तु एवं अलंकार के समकक्ष नहीं मानना चाहिए।

५. एक काव्य कृति को इस आधार पर भी विशिष्ट नहीं माना जा सकता है कि वह प्रधानरूप[2] से रस को प्रकट करती है क्योंकि रस को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा गौण अथवा किसी अन्य पदार्थ का विधायक नहीं माना जा सकता है। उपर्युक्त पांच युक्तियों के कारण किसी विशिष्ट काव्य को नहीं वरन् सभी काव्यों को 'ध्वनि' (काव्य) कहना चाहिये क्योंकि हम काव्य को किसी प्रकार की विशिष्टता सौंप नहीं सकते हैं।

ध्वनिवादियों के अभिमत का स्वरूप

किसी भी परिभाषा की रचना उसके अत्यंत प्रसिद्ध दृष्टान्तों अथवा लक्ष्यों के आधार पर सदैव की जाती है। काव्य को हम दो लोकप्रसिद्ध प्रकारों का पाते हैं—१ प्रधान एवं २ अप्रधान। प्रधान काव्य वह है जिसमें ध्वन्यर्थ प्रधान होता है। और अप्रधान काव्य वह है जिसमें ध्वन्यर्थ गौण रूप में है, जैसा गुणीभूतव्यंग्य आदि काव्य में होता है। उपर्युक्त दोनों प्रकारों की कृतियां इसलिए काव्य कही जाती हैं क्योंकि अत्यंत प्राचीन समय से लोग ऐसा कहते चले आ रहे हैं। अतएव ध्वनिवादी काव्यविशेष की बात इसलिए करते हैं जिससे कि गुणीभूतव्यंग्य आदि काव्य को कोई ध्वनिकाव्य के नाम से

[1] व्य० वि० १०० [2] व्य० वि० १०१

अभिहित न कर दे। इस प्रकार के काव्य के अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता जिसमें ध्वन्यर्थ अभिधेयार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है। क्योंकि हमको इस प्रकार का काव्य प्राप्त होता है जिसमें रस को या तो अत्यंत स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं किया गया है अथवा वह प्रमुख रूप नहीं है। इस प्रसंग में यह नहीं कहा जा सकता कि क्योंकि मूल रूप से रस वही है जिसमें सहृदय का अन्तःकरण विश्रान्ति लाभ करता है अतएव यह कभी भी अप्रधान रूप में वर्तमान नहीं हो सकता। क्योंकि यद्यपि रस अपने स्वरूप में वैसा ही है जैसा कि ध्वनि सिद्धान्त के विरोधी उसे कहते हैं परन्तु यह अनिषेधनीय तथ्य है कि अधिक व्यापक रसान्तर्गत कम व्यापक रस अप्रधानरूप होता है। स्वयं भरतमुनि इस तथ्य को मानते थे कि रस भी गुणीभूत हो सकता है क्योंकि इसी स्वीकृति[1] के आधार पर उन्होंने स्थायीरूप तथा अचिरस्थायी रूप के स्वरूपों में रस के स्वरूप को निर्धारित किया था।

(१०) 'कथितः' क्रियापद के कर्त्ता के उल्लेख की अनावश्यकता

'कथितः' क्रियापद का कर्त्ता या तो सामान्यरूप हो सकता है या विशेषरूप हो सकता है। इन दोनों रूपों में वह चाहे जिस रूप का हो उसके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यदि यह कर्ता सामान्यरूप है तो क्योंकि बिना कर्ता के किसी क्रियापद का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता इसलिए कर्ता, बिना उसके उल्लेख के भी, आक्षिप्त समझा जा सकता है। और यदि यह कर्ता विशेषरूप है तो इस विशिष्ट रूप कर्ता का बोध उस प्रकरण से, बिना उल्लेख के भी, हो सकता है जिसमें एक विशेष सम्प्रदाय के काव्यलक्षणकारों से मान्य शब्द तथा अर्थ के व्यापार की व्याख्या की गई है। अतएव दोनों ही रूपों में इस कर्तृबोधकपद के उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है[2]।

परिभाषा में 'अभिधा' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता

इस प्रसंग में महिमभट्ट ने 'अभिधा' शब्द का प्रयोग 'अलंकार' शब्द के समानार्थक रूप में किया है। ऐसा लगता है कि इस विषय में वे वक्रोक्ति जीवित के लेखक कुन्तक का अनुसरण करते हैं। कुन्तक यह मानते हैं कि

---

[1] व्य० वि० व्या० १०३   [2] व्य० वि० १०३-४

विचित्ररूप अभिधा के अतिरिक्त अलंकार और कुछ भी नहीं है (विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते व० जी० २२)। वस्तुतः महिमभट्ट 'भंगीभणिति' शब्द को कुन्तक के निम्नलिखित श्लोक से लेते हैं–

'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते' (व० जी० २२)

इस प्रकार से सामान्यतः अभिधा शब्द को अलंकार के समानार्थक मानकर महिमभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार से ध्वनि-काव्य की परिभाषा में 'शब्द' एवं 'अर्थ' शब्द का उल्लेख किया गया है उसी प्रकार से 'अभिधा' शब्द का भी उल्लेख करना चाहिए। क्योंकि अन्यथा वे दृष्टान्त जिनमें उपमा आदि अलंकारों का बोध दीपक अलंकार से होता है, ध्वनि-काव्य की परिभाषा के क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाएंगे और परिभाषा में अव्याप्ति दोष आ जाएगा।

परन्तु यदि उपर्युक्त परिभाषा के समर्थक यह कहें कि 'स्वयं ध्वनि-कार ने इस प्रकार के दृष्टान्तों को ध्वनि की परिभाषा के क्षेत्र से बहिष्कृत माना है, क्योंकि एक स्थल पर वे स्वयं यह कहते हैं कि 'यद्यपि कुछ दृष्टान्तों में एक काव्यालंकार का बोध दूसरे काव्यालंकार से होता है फिर भी अभि-धेयार्थ यदि प्रमुख रूप ध्वन्यर्थ का व्यंजक नहीं है तो वह ध्वनि-काव्य कहलाने के योग्य नहीं है।'

महिमभट्ट इसका खण्डन निम्नरूप से करते हैं:—

तर्कशास्त्रीय दृष्टिकोण से उपर्युक्त कथन में हेत्वाभास यह है कि जिस कारण के आधार पर इस कथन का समर्थन किया गया है उसका अस्तित्व नहीं है। क्योंकि विचाराधीन दृष्टान्तों को ध्वनि-काव्य की परिभाषा के प्रयोग क्षेत्र से इस आधार पर बहिष्कृत किया गया है कि उनमें अभिधेयार्थ ध्वन्यर्थ को प्रधानरूप में व्यंजित नहीं करता है। परन्तु इस आधार का कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि दीपक आदि अलंकारों को भंगीभणिति के रूप में केवल इसीलिए स्वीकार किया जाता है कि उनसे उपमादि अलंकारों का बोध होता है। और क्योंकि वह काव्यालंकार जिसका बोध अन्य अलं-कार के साधन से होता है असाधारण रूप से वैसा ही चित्ताकर्षक है जैसा चित्ताकर्षक होने के कारण किसी काव्यकृति को ध्वनिकाव्य कहा जाता है, अतएव दीपक आदि अलंकारों को ध्वनिकाव्य की परिभाषा के क्षेत्र से बहिष्कृत करना न्याय संगत[1] नहीं है।

---

[1] व्य० वि० व्या० १८–२०

ध्वनिवादी के सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप

आनन्दवर्धनाचार्य के समय के बहुत पश्चात् उन कुन्तक ने अपने ग्रंथ की रचना की थी जिनका अनुसरण करते हुए महिमभट्ट यह लिखते हैं कि 'अलंकार एक विलक्षण प्रकार का अभिधेयार्थ है' (भंगीभणिति)। अतएव आनन्दवर्धनाचार्य काव्यालंकार के जिस स्वरूप को मानते हैं उसका आधार भट्ट उद्भट आदि पूर्वकालीन लक्षणकारों से लिखित शास्त्रीय ग्रंथ हैं। वे यह मानते थे कि काव्यालंकार अभिधास्वरूप न होकर शब्द एवं अर्थस्वरूप ही होते हैं। क्योंकि उनके मतानुसार 'अभिधा' या तो शब्दशक्तिस्वरूप है जिसका अनुमान हम अर्थबोध के उत्पन्न होने से करते हैं अथवा वह शब्दों को उच्चारण करने की शक्ति मात्र है। काव्यालंकार अभिधाशक्ति का कोई भिन्न स्वरूप अथवा प्रकार नहीं है। इसके प्रतिकूल काव्यालंकार एक विलक्षण प्रकार का सौन्दर्य है जिसको शास्त्रीय भाषा में "वैचित्र्य" कहते हैं। यह सौन्दर्य सहृदय के अंतःकरण में प्रतिभासित होता है। अतएव काव्यालंकार अभिधास्वरूप न होकर शब्द अथवा अर्थ स्वरूप ही होते हैं। और काव्य साहित्य तथा दार्शनिक साहित्य में जो भेद है उसका आधार अभिधा का वैचित्र्य न होकर शब्द एवं अर्थ का वैचित्र्य है। अतएव आनन्दवर्धनाचार्य जब यह कहते हैं कि 'जहां पर शब्द अथवा अर्थ व्यंजक स्वरूप है' तो शब्द अथवा अर्थ स्वरूप उन ध्वन्य काव्यालंकारों का आवश्यक रूप से बिना उल्लेख के ही शब्द अथवा अर्थ के अन्तर्गत रूप में बोध हो जाता है। और इस कारण से उनका अलग उल्लेख करना[1] अनावश्यक है।

'दीपक आदि अलंकारों में अभिधेयार्थ उपमा आदि काव्यालंकारों को प्रमुख रूप में ध्वनित नहीं करता' इस कथन में तर्कशास्त्रीय हेत्वाभास है, अर्थात् 'अतत्परत्व अस्तित्व रहित कारण हैं' यह उल्लेख महिमभट्ट ने ध्वनिवादियों के सिद्धान्त को यथार्थ रूप में न समझने के कारण किया है। क्योंकि जैसा हम एक गत उपप्रकरण में कह आए हैं ध्वनिवादी अप्रधानता को तीन प्रकार की मानते हैं। और ध्वनिवादी ने अभिधेयार्थ के अतत्परत्व का जो उल्लेख किया है उसका निहितार्थ यह है कि ध्वन्यर्थ प्रमुख नहीं होता और उसका आधार यह है कि कथित प्रसंग में दीपक काव्यालंकार से ध्वनित ध्वन्यर्थ रूप उपमा अभिधेयार्थ रूप दीपकालंकार को सौन्दर्यमय बनाने में आवश्यक रूप से सहायक होती है।

---

[1] व्य० वि० व्या० १८-९

अनौचित्य का स्वरूप

अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक के दूसरे अध्याय में महिमभट्ट ने काव्य-कृति गत अनौचित्यों का उल्लेख किया है। सामान्य रूप से शब्द अथवा अर्थ की अनुपयुक्तता ही अनौचित्य है। अनौचित्य दो प्रकार का होता है १ अन्तरंग एवं २ बहिरंग। स्थायी भाव के साथ जिनका पूर्णतया सामंजस्य नहीं है ऐसे विभावों अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों को प्रकट करना अन्तरंग अनौचित्य है। आनन्दवर्धनाचार्य ने इन अनौचित्यों का वर्णन अत्यन्त विशद रूप से अपने ग्रन्थ में किया है। अतएव महिमभट्ट ने इनकी व्याख्या अपने ग्रन्थ में नहीं की है। वे केवल बहिरंग अनौचित्यों की ही व्याख्या करते हैं। उनके मतानुसार बहिरंग अनौचित्य अनेक[1] हैं। वे इन अनौचित्यों की व्याख्या का आरम्भ उनको स्थूल रूप में पांच प्रकारों में विभाजित करने के बाद करते हैं। अनौचित्यों के वे पांच प्रकार निम्नलिखित हैं :—१ विधेयाविमर्श २ प्रक्रमभेद ३ क्रमभेद ४ पौनरुक्त्य एवं ५ वाच्यावचन। इनकी व्याख्या करने के उपरान्त महिमभट्ट उनके उपभेदों का उल्लेख करते हैं।

रुय्यक इस प्रसंग में यह कहते हैं कि उपर्युक्त अनौचित्यों का मूल रूप से प्रतिपादन महिमभट्ट ने नहीं किया था वरन् पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि[2] आदि पूर्वकालीन शास्त्रकारों के ग्रंथों में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है। अपने मत को पुष्ट करने के लिए रुय्यक ने उपर्युक्त शास्त्रकारों के ग्रन्थों से पद पद पर उद्धरण दिए हैं।

(१) प्रधानरूप से प्रकटनीय वस्तु को अप्रधानरूप में प्रकट करना विधेयाविमर्श दोष है। इस दोष को स्पष्ट करने के लिए महिमभट्ट ने जिस श्लोक को दृष्टान्त रूप में उद्धृत किया है उसके रचयिता कुन्तक हैं। कुन्तक ने इस श्लोक को दृष्टान्तरूप में यह स्पष्ट करने के लिए दिया है कि किस प्रकार से प्रकरणानुरूप शब्द चेतन चमत्कार को उत्पन्न करते हैं। महिमभट्ट के अनुसार इस श्लोक में तीन[3] दोष हैं :—

(१) असंरब्धवान् शब्द में नञ्समास (२) 'योऽसौ' शब्द का उससे अपेक्षित तत् के बिना प्रयोग एवं (३) अम्बिकाकेशरी शब्द में षष्ठीसमास।

---

[1] व्य० वि० १५० [2] व्य० वि० १५१ [3] व्य० वि० १५४

(२) प्रक्रम भेद एक प्रकार का शब्दानौचित्य है। शब्दों के प्रयोग में क्रमभंग अर्थात् जिस विचार को पहले किसी एक शब्द से प्रकट कर आए हैं बाद में उसी विचार को प्रकट करने के लिए उसी शब्द का प्रयोग न कर किसी दूसरे शब्द का प्रयोग करना, दोष होता है। यदि किसी एक रचना में एक विशेष क्रिया को प्रकट करने के लिए एक विशेष धातु का प्रयोग किया गया है तो सामंजस्यपूर्ण शब्दों (symmetrical expressions) के प्रयोग के औचित्य को ध्यान में रखने से यह आवश्यक हो जाता है कि परवर्ती स्थलों में भी उस क्रिया का बोध कराने के लिए उसी धातु का प्रयोग किया जाय। जैसे कि किसी काव्य रचना में 'बोलने' की क्रिया को प्रकट करने के लिए यदि 'भाष्' धातु का प्रयोग किया गया है तो परवर्ती स्थलों पर 'बोलने' की क्रिया को ऌप् धातु से प्रकट न कर भाष् धातु से ही प्रकट करना चाहिए। शब्दों के प्रयोग में सामंजस्य का भग्न होना एक गढ़े के समान है और इसी कारण से श्रोता को कष्ट देने वाला तथा रसानुभव[1] में बाधक है। सामंजस्य पूर्ण शब्दों के प्रयोग से पुनरुक्ति दोष उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि दोनों के अस्तित्व के क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। इस दोष के अनेक उपभेद हैं।

(३) एक रचना में ऐसे सर्वनाम का प्रयोग करना जिसके पूर्व उस नाम का प्रयोग न किया गया हो जिसके स्थान पर उस सर्वनाम का प्रयोग किया गया है शास्त्रीय भाषा में 'क्रमभेद' दोष कहा जाता है। जैसे 'तीर्थे तदीये' में 'तदीये' सर्वनाम का प्रयोग गंगा के लिए किया गया है यद्यपि इस नाम का प्रयोग पहले नहीं किया गया है।

(४) एक ही भाव अथवा विचार को अनेक बार समान शब्दों से ही प्रकट करना पौनरुक्त्य दोष है। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि महिमभट्ट के मतानुसार केवल शाब्दिक पुनरुक्ति ही पौनरुक्त्य दोष नहीं है जब तक कि उसके साथ साथ विचारों अथवा भावों की भी पुनरुक्ति न हो। इसको अक्षपाद ने भी अपने निम्नलिखित प्रसिद्ध सूत्र में एक दोष माना है। रुय्यक ने इसको उद्धृत किया है:—

'शब्दार्थयोः पुनर्वचनम् पुनरुक्तम् अन्यत्रानुवादात्'

(५) किसी वस्तु को कथनीय रूप से भिन्नरूप में कहना वाच्यावचन दोष कहा जाता है। दृष्टान्त के रूप में कालिदास विरचित विक्रमोर्वशीय नाटक

---

[1] व्य० वि० २४४

का वह श्लोक है जिसकी प्रथम पंक्ति 'नवजलधरः सन्नद्धोऽयम् न दृप्तनिशाचरः' है। इस श्लोक में इदं शब्द का प्रयोग अनेक उन सुरधनु, धारासार इत्यादि वस्तुओं के साथ है जिनके विषय में 'इदम्'[1] शब्द से सन्देह नष्ट हो जाता है। परन्तु इसके उपरान्त इस 'इदम्' शब्द का प्रयोग विद्युत के साथ में न करना इस प्रकार का दोष है जिसको शास्त्रीय भाषा में वाच्यावचन दोष कहते हैं।

इस प्रकार के रचना संबंधी दोष कालिदास की अमर रचनाओं के श्लोकों में भी प्राप्त होते हैं। महिमभट्ट ने उन श्लोकों को उपर्युक्त दोषों को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त स्वरूप में उद्धृत किया है। अतएव इन दोषों को अत्यन्त गर्हित दोष नहीं माना जा सकता है। महिमभट्ट ने इन दोषों का निराकरण करते हुए दृष्टान्तों में जो संशोधन किए हैं वे उनकी विद्वत्ता एवं निपुणता के द्योतक हैं।

कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का खण्डन

विश्लेषण करने से सिद्ध होता है कि 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ या तो औचित्य है या ध्वनि है। यदि इसका अर्थ औचित्य है तो पृथक् रूप से उसके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि काव्य की परिभाषा में औचित्य आक्षिप्त रूप से स्वयं वर्तमान है। और यदि इसका अर्थ ध्वनि[2] है तो इसकी गणना उस अनुमिति के अन्तर्गत करना चाहिए जिसको सिद्धान्तरूप में स्थापित करने की चेष्टा महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ व्यक्ति-विवेक में प्रधान रूप से की है।

ध्वनि के कुछ उपभेदों का खण्डन

महिमभट्ट ने ध्वनि के वर्गीकरण अर्थात् उसके भेदों एवं उपभेदों पर विचार विशद रूप से किया है। उन्होंने ध्वनि के कुछ भेदों को स्वीकार[3] किया है तथा अन्य भेदों का खण्डन किया है। वे यह मानते हैं कि ध्वनि के उपभेदों के लक्षणों में अनेक दोष हैं परन्तु उनका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।[4]

---

[1] व्य० वि० ३३२ [2] व्य० वि० १२७
[3] व्य० वि० ४२९ [4] व्य० वि० व्या० १०४

वस्तु एवं अलंकार ध्वनि का खण्डन

'रस' के अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग करना इस मिथ्या धारणा पर आधारित है कि रसबोध में साधन और साध्य की प्रतीति साथ साथ एक ही समय में होती है। और इसलिए विद्यमान होने पर भी रसबोध में कारणकार्य संबंध का ज्ञान नहीं होता है। परन्तु वस्तु एवं अलंकार ध्वनि के बोधों में साध्य तथा साधन के सहभाव की मिथ्या प्रतीति भी नहीं होती है। अतएव उनके संबंध में[1] ध्वनि शब्द का प्रयोग करना रंचमात्र भी न्याय संगत नहीं है।

ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य के रूपों में काव्य के वर्गीकरण का खण्डन

महिमभट्ट का अभिमत यह है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यर्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता के आधार पर एक काव्यकृति को दूसरी काव्यकृति से जो भिन्न स्वीकार किया है वह अनावश्यक है। क्योंकि इसका काव्य के मूल स्वरूप के उस निरूपण से कोई संबंध नहीं है जिसको सफलता पूर्वक करना ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त ध्वन्यर्थ की प्रधानता तथा अप्रधानता[2] के कारण वस्तु, अलंकार एवं रसादि के कलात्मक बोधों में परस्पर कोई भिन्नता नहीं होती है।

ध्वनि के जिन उपभेदों को महिमभट्ट अस्वीकार करते हैं वे निम्न लिखित हैं :—

१. अविवक्षितवाच्य
२. विवक्षितान्यपरवाच्य[3]
३. आर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
४. अत्यंततिरस्कृतवाच्य[4]
५. शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यंग्य[5]

ग्रंथ विस्तार के भय से हम इन विषयों एवं इनसे संबंधित विषयों में महिम भट्ट के अभिमतों का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में उनके मत का मूल स्वरूप यह है—ध्वनि का तात्विक स्वरूप उनसे प्रतिपादित अनुमति के क्षेत्र

---

[1] व्य० वि० ५७ [2] व्य० वि० १३६ [3] व्य० वि० १४३
[4] व्य० वि० १४७ [5] व्य० वि० ४४६–७

के अन्तर्गत है, अतएव ध्वनि के जिन भेदों का प्रतिपादन किया गया है वे अनुमिति के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और यह स्पष्ट किया जा सकता है कि ध्वनि के सभी दृष्टान्त अनुमिति के विभिन्न रूप दृष्टान्त ही है।

रुय्यक

उनका रचना काल

रुय्यक का रचना काल कोई विवादग्रस्त विषय नहीं है। क्योंकि कश्मीर साहित्य के इतिहास के उस साहित्यिक युग में उन्होंने अपनी कृतियों की रचना की थी जिस युग के लेखकों का रचना काल निश्चितरूप से उन अभिनवगुप्त के रचनाकाल के आधार पर सन्देह रहित रूप से निश्चित किया जा सकता है जिन्होंने कम से कम अपनी तीन कृतियों के रचनाकाल का उल्लेख स्पष्टरूप से किया है। कुन्तक अभिनवगुप्त के कनिष्ठ समकालीन लेखक थे। इन दोनों के बाद महिमभट्ट ने अपने ग्रंथ की रचना की जिससें उन्होंने दोनों शास्त्रकारों की कृतियों से उद्धरण दिए हैं और उनके अभिमतों का खण्डन किया है। महिमभट्टलिखित ग्रंथ के व्याख्याकार होने के कारण स्वभाविक रूप से वे उनसे परकालीन लेखक थे। परन्तु विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि रुय्यक ने अपनी कृतियों की रचना महिमभट्ट से काफी समय के बाद की थी। क्योंकि जिस समय में रुय्यक ने व्यक्तिविवेक की व्याख्या को लिखना आरम्भ किया था उस समय तक ग्रंथ के अनेक स्थलों पर पाठ भेद हो चुका था। इन पाठ भेदों का उल्लेख उन्होंने अपने 'व्याख्यान' नामक व्याख्या में किया है[1]। अतएव उनका रचनाकाल ईसा की बारहवीं शताब्दि का मध्य भाग स्वीकार किया जा सकता है।

रुय्यक ने ध्वनिसिद्धान्त का समर्थन किया था। उनका अध्ययन क्षेत्र विशाल था। उनकी चिन्तनाशक्ति गम्भीर एवं शान्त थी। आनन्दवर्धनाचार्य ने जिस ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसके विरुद्ध महिमभट्ट के आक्षेपों को निर्मूल सिद्ध करते हुए वे ध्वनिवादियों से स्थापित ध्वनि-सिद्धान्त के मूल स्वरूप को केवल स्पष्ट रूप से प्रकट ही नहीं करते हैं वरन् महिमभट्ट के भी दोषों को अपनी व्याख्या में प्रकट करते हैं। व्यक्तिविवेक में जो परस्पर विरोध हैं उनको भी रुय्यक ने स्पष्टतया प्रकट किया है। उन्होंने महिमभट्ट के इस मत का खंडन किया है कि 'काव्यकृति' के अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग अभिधेयार्थ के रूप

[1] व्य० वि० २६९

में नहीं वरन् लाक्षणिकार्थ के रूप में करना चाहिए। रुय्यक ने यह भी स्पष्ट किया है कि महिमभट्ट ने कुन्तकरचित 'संरब्धः करिकीट—' श्लोक में जिन दोषों को स्पष्ट रूप से प्रकट किया है वे दोष स्वयं उनसे रचित उस 'काव्य कांचन—' श्लोक में वर्तमान हैं जिसमें उनके उद्धत तथा दम्भी स्वभाव की गन्ध सर्वत्र व्याप्त है। रुय्यक ने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। इनका उल्लेख उन्होंने व्यक्तिविवेक की व्याख्या में अनेक प्रसंगों में किया है। जैसे (१) नाटक मीमांसा (२) साहित्य मीमांसा[1] (३) हर्षचरित वार्तिक[2] एवं (४) बृहती[3]।

ध्वनिवादी के विरुद्ध महिमभट्ट ने जो आक्षेप किए हैं उनके उन निराकरणों को पढ़ कर जिनको रुय्यक ने लिखा है यह विश्वास पाठक के मन में उत्पन्न हो जाता है कि ध्वनिसिद्धान्त का आधार दृढ़ रूप से युक्ति संगत है और इस सिद्धान्त के विरुद्ध जो आक्षेप किए गए हैं वे सर्वथा निराधार हैं। हमने उचित प्रसंगों में इन आक्षेपों के निराकरणों का उल्लेख किया है।

---

[1] व्य० वि० व्या० २४३ [2] व्य० वि० व्या० ३०२

[3] व्य० वि० व्या० ३०५

अध्याय ८

संस्कृत नाटकों का रचना-विधान

रसानुभव का विषय

अभिनवगुप्त यह स्वीकार करते हैं कि नाट्यकलाकृति के अतिरिक्त अन्य किसी स्वतन्त्रकलाकृति को रसानुभव का विषय कहना संपूर्ण रूप में उचित नहीं है। उनका मत यह है कि स्वतंत्रकलाशास्त्र की समस्याओं के अध्ययन का आधारभूत विशिष्ट अनुभव नाट्य प्रदर्शन के अतिरिक्त सामान्य रूप से अन्य प्रकार की कलाकृतियों से प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

अतएव उन्होंने इस समस्या का अध्ययन नीचे लिखे दृष्टिकोणों से किया है:—

१. दर्शक का दृष्टिकोण।

इस दृष्टिकोण से कला-समस्याओं का समाधान हम इस ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं।

२. नाटक के लेखक का दृष्टिकोण।

इस दृष्टिकोण से निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया गया है।

(क) भाषा।

(ख) नाट्य की कथावस्तु।

(ग) कथानक का भिन्न अंशों में विभाजन एवं उसका क्रम-विन्यास।

(घ) विभिन्न स्थायो भावों का प्रदर्शन।

(ङ) नायक एवं स्थायीभाव की विभिन्नता के आधार पर नाट्य प्रदर्शनों की विविधता।

(च) नायक तथा नायिकाओं के विविध भेद एवं उनके चरित्रों को चित्रित करने की विधि।

३. सूत्रधार का दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण से निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया गया है।

(क) रंगशाला का आकार, उसकी रचना एवं उसका प्रबन्ध।

(ख) मूल पात्रों के स्वभाव, आकृति की ऊँचाई, रंग, मुखाकृति, नैतिकता, बौद्धिक सम्पन्नता तथा सामान्य जीवन के अनुरूप अभिनेताओं की नियुक्ति ।

(ग) प्रदत्त भूमिकाओं का सफलतापूर्ण अभिनय अभिनेता कर सकें इसलिए उनके शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक तथा अध्यात्मिक प्रशिक्षण का स्वरूप ।

(घ) अभिनेताओं की जीवन-प्रणाली ।

(ङ) नाट्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक सामाजिक परिस्थितियाँ ।

(च) रंगमंच पर नारी का महत्त्व ।

(छ) रंगमंच पर नृत्य तथा संगीत की आवश्यकता ।

(ज) प्रदर्शन सम्बन्धी आवश्यक सामग्री ।

४. सामाजिक दृष्टिकोण

सामाजिक दृष्टिकोण से निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया गया है :—

(क) नाटक का नैतिक लक्ष्य और उसकी पूर्ति के रूप ।

(ख) नाट्य-प्रदर्शन का व्यापारमूलक नहीं वरन् संस्कृतिमूलक आधार ।

इस वर्तमान अध्याय में हम नाटक के लेखक के दृष्टिकोण से विभिन्न विषयों का प्रतिपादन करेंगे। हम स्पष्ट रूप से यह बताने की चेष्टा करेंगे कि वे कौन से पथप्रदर्शक सिद्धान्त हैं जिनको नाटक लिखते समय नाटक के लेखकों को सदैव अपने ध्यान में रखना चाहिए। नाटक के लेखक के दृष्टिकोण से नाटकीय समस्या का प्रथम विषय भाषा है। उसकी अल्पांश व्याख्या हम इस ग्रंथ के छठे अध्याय में कर चुके हैं। अतएव इस अध्याय के प्रारम्भ में हम नाट्य के कथानक का विभिन्न अंशों में विभाजन करेंगे।

नाटक का लेखक क्या प्रदर्शित करता है

नैसर्गिक रूप से नाटक का विषय ऐतिहासिक, समसामयिक अथवा काल्पनिक व्यक्ति के जीवन का कोई अंश होता है। अतएव नाटक के लेखक को सर्वप्रथम यह निश्चित करना है कि 'मुख्यरूप से प्रदर्शनीय विषय क्या है ?' इस विषय में पाश्चात्य नाटक लेखकों तथा भारतीय नाटक लेखकों में मूल भेद है। इस मूल भेद का कारण यह है कि 'दर्शकों के अन्तःकरणों में जिन अनुभवों को वे जाग्रत करना चाहते हैं वे मूल रूप से भिन्न हैं'। इसका उल्लेख हम अन्यत्र भी कर चुके हैं। अतएव शेक्सपियर आदि—योरूपीय नाटक के लेखकों का लक्ष्य उस चरित्र (character) का प्रदर्शन प्रधान

रूप से करना है जो अपने को कार्यों में प्रकट करता है। परन्तु नाटक के भारतीय लेखक अपने नाटकों में मुख्य रूप से आदर्श परिस्थितियों में उत्कृष्ट रूप से आस्वादनीय स्थायी भाव को प्रकट करने के लक्ष्य की पूर्ति की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार से योरूपीय नाटक के लेखकों का मुख्य प्रदर्शनीय विषय चारित्रिक विलक्षणता है, परन्तु नाटकों के भारतीय लेखकों का मुख्य प्रदर्शनीय विषय स्थायी-भाव है। परन्तु 'नाटक की प्रदर्शनीय कथा-वस्तु को किस प्रकार से अथवा किन रूपों में प्रदर्शित करना चाहिए' इस विषय में अधिकांश रूप में दोनों के मत लगभग एक से ही हैं।

अनौचित्य

सभी प्रकार के नाट्य प्रदर्शनों का मूल सिद्धान्त यह है कि मुख्य रूप से प्रदर्शनीय विषय के साथ जिस वस्तु का सामंजस्य नहीं है उसका परिहार करना चाहिए। यह अनौचित्य निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न होता है :—

१ ऐसी परिस्थिति अथवा उसके किसी विधायकांश का प्रदर्शन करना जिसका सामंजस्य मुख्य प्रदर्शनीय विषय अर्थात् स्थायी भाव के साथ पूर्ण रूप से न हो। उदाहरण के लिए :—

(अ) शान्त रस के निरूपण में शृंगार-विभावों का प्रदर्शन।

(आ) रति-कलह में कुपित प्रेमिका को नायक का यह कह कर शान्त करना कि संसार मूल रूप से मिथ्या एवं नाशवान् है। इस प्रकार की बात केवल शान्त रस के प्रसंग में ही उचित होती है।

(इ) शृंगार के दृश्य में प्रेमिका के कृत्रिम कोप के प्रत्युत्तर में नायक को क्रोधग्रस्त भयंकर रूप में प्रदर्शित करना।

२ अनावश्यक विस्तार।

नायक आवश्यक रूप से किसी न किसी परिस्थिति में वर्तमान होता है। वह परिस्थिति उसको एक विशेष रूप में प्रभावित करती है। इस परिस्थिति की रचना अनेक उपादेय सामग्रियों से की जाती है। उनमें से किसी एक उपादेय को अत्यन्त विस्तार प्रदान करने से स्थायी भाव के विकास में बाधा पड़ सकती है। अतएव इसको न करना चाहिए। कल्पना कीजिए कि एक नायक अपनी प्रेमिका से बिछुड़ गया है और वह एक रमणीय उपत्यका में वर्तमान है। यदि ऐसी दशा में वह प्रशंसात्मक दृष्टिकोण से अपने चारों ओर के पर्वतशिखरों का वर्णन श्लेष एवं अन्य

अलंकारों से पूर्ण भाषा में करता हुआ प्रदर्शित किया जाय तो वह आवश्यक रूप से स्थायी भाव के प्रतिकूल होगा क्योंकि ऐसा करने से नायक की वह विशेष भावदशा ही नष्ट हो जायगी।

३ अनुपयुक्त समय में भावदशा के अन्त को प्रदर्शित करना। जैसे दो व्यक्ति परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम से संबंधित हैं। उनका पारस्परिक प्रगाढ़ प्रेम एक दूसरे को भलीभाँति ज्ञात है। अवसरवश वे परस्पर[1] निकट आ जाते हैं। ऐसी दशा में बिना समुचित कारण के 'किस प्रकार से मिला जाय' इस विचार को छोड़कर उनको अन्य बातों में संलग्न प्रदर्शित करना आवश्यक रूप से मूल स्थायी भाव का विरोधी है अतएव क्षोभकारी है।

४ अनुपयुक्त समय में किसी भाव का प्रदर्शन। जैसे कि वीरस्वभाव का एक व्यक्ति किसी तरुणी से प्रेम करता है। परन्तु कर्तव्यनिष्ठता से उसको युद्ध में जाना पड़ रहा है। भीषण युद्ध हो रहा है। सैकड़ों वीर योद्धा वीरगति प्राप्त कर चुके हैं। वह अपने कर्तव्य की वेदी पर आरूढ़ है और इसलिए उसको एक प्रेमी के रूप में नहीं वरन् वीर योद्धा के रूप में प्रदर्शित किया जाना वांछित है। ऐसी दशा में बिना समुचित कारण के नायक को प्रेमिका के वियोग से उत्पन्न व्यथा के विषय में बात करते हुए[2] प्रदर्शित करना मूल स्थायीभाव के स्वभाव के प्रतिकूल है।

५. पूर्णविकसित भाव का प्रगाढ़ीकरण। जिस समय स्थायी भाव का विकास उस पराकाष्ठा तक पहुंच गया हो जहां पर भावात्मक प्रभाव के कारण दर्शकों के लिए वह आस्वादनीय बन गया हो, उस समय उसको और भी अधिक प्रगाढ़ बनाना उसी प्रकार उस भाव को ही नष्ट कर देता है जिस प्रकार से अत्यंत तीव्र उत्प्रेरणाजनक पेय के अत्यधिक पीने से पक्षाघात हो जाता है।

६. व्यवहार का अनौचित्य।

जैसे कि दो व्यक्ति परस्पर प्रेम करते हैं। वे पूर्वनियत स्थान पर मिले हैं। ऐसी दशा में सम्भोग की इच्छा को अप्रत्यक्ष रूप से कुछ आकर्षक भंगिमाओं एवं मुख के अनुभावों के साधनों से प्रकट न करते हुए शब्दों में प्रत्यक्षरूप से कहना रस विरुद्ध है।

उपर्युक्त दोष इतिहास लेखक के दृष्टिकोण से नहीं वरन् नाटक के लेखक तथा दर्शक के दृष्टिकोण से वर्णित किए गए हैं। कवि का लक्ष्य घटनाओं का

---

[1] ध्व० लो० १६१-२ [2] ध्व० लो० १६३

यथार्थ स्वरूप वर्णन करना न होकर उनको इस रूप में प्रदर्शित करना है जिससे श्रोताओं अथवा दर्शकों के अन्तःकरण में रसानुभव उत्पन्न हो सके। अतएव इस लक्ष्य के अनुसार कवि अथवा नाटककार को ऐतिहासिक घटनाचक्र में परिवर्तन करने पड़ते हैं। आगामी उपप्रकरणों में हम यह बताएंगे कि कौन सी रीति से इन परिवर्तनों को करना चाहिए।

संस्कृत नाटक में कार्य

संस्कृत नाटक के लेखक का मूल उद्देश्य आस्वादनीय स्थायी भाव को आदर्शरूप नाटकीय परिस्थितियों में प्रदर्शित करना है। उसका मूल उद्देश्य कार्य प्रदर्शन अथवा कार्यों में अपने व्यक्तित्व को प्रकट करते हुए व्यक्तियों को प्रदर्शित करना नहीं है जैसा कि आधुनिक कला समीक्षक ब्रैडले शेक्सपियर के नाटकों का मूल उद्देश्य मानते हैं। यह अत्यंत लोकप्रसिद्ध तथ्य है कि मन की अत्यन्त तीव्र क्रिया अथवा मानसिक विषय-संलग्नता यदि शारीरिक क्रियाओं को पूर्ण रूप से नष्ट नहीं कर देती तो उनकी गति को मन्द अवश्य कर देती है। अतएव यह स्वाभाविक है कि संस्कृत नाटकों में 'कार्य' उतनी मात्रा में दृष्टिगत नहीं होता जितना अंग्रेजी नाटकों में दृष्टिगोचर होता है। परन्तु इन दोनों प्रकार के नाटकों का यह पारस्परिक भेद एक को दूसरे से निम्नकोटि का प्रमाणित करने के लिए कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं है। जैसा हम इसी उपप्रकरण में कह चुके हैं इस भेद का मूल कारण प्रदर्शनीय विषय की भिन्नता है।

अंग्रेजी नाटकों के विषय में भी यह ध्यान देने योग्य है कि जब नाटक के लेखक का लक्ष्य मानसिक भाव को प्रकट करना होता है तो स्वभावतः या तो कार्य की गति मन्द हो जाती है अथवा उसकी गति रुक जाती है। जैसे कि शेक्सपियर लिखित हेमलेट नाटक में 'कार्य' की गति उस समय रुक जाती है जब नाटककार नाटक के नायक के अन्तःकरण में विद्यमान मानसिक संघर्ष को प्रकट करने की चेष्टा करता है। कला के कुछ समीक्षक यह मानते हुए प्रतीत होते हैं कि नाटक का कथित अंश पूर्ण रूप से नाटकीय नहीं है अथवा नायक के जीवन के उस अंश को नाटककार पूर्ण सफलता से प्रकट नहीं कर सका है। परन्तु क्या ऐसा नहीं है कि इस कथित अंश को नाटक के अधिकांश पाठक शेक्सपियर की सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं? और क्या ऐसा नहीं है कि प्रेक्षक नाटक के प्रदर्शन के समय 'कार्य' के अभाव का अनुभव न करते हुए नाटक

के इस अंश का आस्वादन सर्वोत्कृष्ट रूप में करते हैं ? वस्तुतः भलीभांति प्रकट की गई मानसिक भावमूलक दशा कार्य प्रदर्शन से कम आस्वादनीय नहीं होती। परन्तु उनसे उत्पन्न दो भाँति के अनुभव मूलतः परस्पर भिन्न होते हैं, क्योंकि दोनों के कारण भिन्न हैं, इसलिए उनके साक्षात्कार के लिए जिन मानसिक दशाओं की आवश्यकता होती है वे भी परस्पर पृथक् हैं।

नाट्यीकरण के नियम एवं नाटककार की प्रतिभा

नाटक के सौन्दर्य का आधार उपयुक्त सामग्री का चयन तथा उसके उपयोग में निपुणता है। क्योंकि संस्कृत नाटककार का उद्देश्य पाश्चात्य नाटककारों से भिन्न है, इसलिए उसकी नाटकीय विषय-वस्तु भी भिन्न होती है। संस्कृत नाटककार की रचना ऐसे दर्शकों के लिए है जो प्रदर्शन के मूलतत्त्व अर्थात् स्थायी भाव के मानसिक साक्षात्कार के साधन से रसानुभव को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। पाश्चात्य दर्शकों की भांति उनका लक्ष्य उस कलाजनित अनुभव की प्राप्ति नहीं है जो प्रदर्शन के वाह्यविषयरूप में साक्षात्कार करने से उत्पन्न होता है।

अतएव प्रदर्शनीय नाटक की रचना उसको इस प्रकार से करना चाहिए कि उन दर्शकों को इच्छित अनुभव प्राप्त हो सके जिनका मनोरंजन करना उसका लक्ष्य है। आगामी पृष्ठों में अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार हम यह स्पष्ट करेंगे कि भरतमुनि के मतानुसार नाट्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक मूल सामग्री का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए।

परन्तु स्पष्ट रूप से हमको यह समझ लेना चाहिए कि भरतमुनि ने किन्हीं ऐसे कठोर नियमों का निरूपण नहीं किया है जिनका अन्धानुसरण करना आवश्यक हो। ये नियम नाटक-रचना करने वाली प्रतिभा के लिए पथ-प्रदर्शक मात्र हैं। प्रत्येक विषय में नाटककार को भरतमुनि ने पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की है। नाटक का लेखक स्वेच्छानुसार जितनी मात्रा में चाहे नाटक के उन विधायक अंशों का परित्याग कर सकता है जिनका उल्लेख भरतमुनि ने किया है। इसके अतिरिक्त जितनी मात्रा में चाहे नाटक का लेखक उन नए अंशों का समावेश नाटक में कर सकता है जिनका उल्लेख भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नहीं किया है। भरतमुनि केवल इतना ही निर्धारित करते हैं कि नाटककार को अपनी कृति में सामंजस्य तथा संगठित रूपता को बनाए

रखना चाहिए। रंगमंच पर प्रदर्शनीय सभी वस्तुओं एवं विभिन्न पात्रों के संवादों का पूर्णरूप से सामंजस्य नायक के उस स्थायी भाव के साथ होना चाहिए जिसको प्रकट करना नाट्य-प्रदर्शन का प्रधान लक्ष्य है।

भरतमुनि ने जिन नियमों का प्रतिपादन किया है वे नाटक-रचना के सामान्यतः आवश्यक अंशों का निर्देश करते हैं। इन नियमों की रचना भरतमुनि ने उन अनेक नाटकों के सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर की थी जिनका अस्तित्व भरतमुनि के सूत्रों के वर्तमान रूप से पूर्व काल में रहा होगा। नाटक के विधायक अंशों का उनमें इतना विशद वर्णन है कि यह विश्वास करना वास्तव में कठिन है कि इस प्रकार के वैज्ञानिक ग्रन्थ की रचना उन विविध एवं यथेष्ट सामग्रियों के अभाव में की गई थी जिनके विश्लेषण के निष्कर्षों को इस ग्रन्थ में लिखा गया है। यह विश्वास ठीक उस विश्वास के समान है जो यह मानता है कि पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ की रचना उस संस्कृत भाषा के अस्तित्व के पूर्व की थी जिसके विविध अंशों के विषय में वे सूत्ररूप नियमों का उल्लेख करते हैं। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का मत अत्यंत स्पष्ट है। वे दो प्रकार के नाटक मानते हैं। एक प्रकार को वे नाट्य[1] और दूसरे प्रकार को वे भाण्ड कहते हैं। नाट्य सुसंस्कृत नाटक है और भाण्ड ग्राम्य है। इसी प्रकार से वे यह भी मानते हैं कि नाटकों के अभिनेता भी दो प्रकार के होते हैं। सुसंस्कृत नाटकों के अभिनेताओं को 'महानट' तथा ग्राम्य नाटकों के अभिनेताओं को वे 'भाण्ड' कहते हैं। इसके अतिरिक्त वे अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि भरत मुनि के समय से लेकर आज तक महान् अभिनेताओं की परम्परास्वरूप अविरल धारा[2] चली आ रही है।

स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि भरतमुनि ने यदि अभिनेताओं एवं नाटक के लेखकों के लिए अपने ग्रन्थ में नियम निर्धारित नहीं किए तो उन्होंने उसमें क्या प्रतिपादित किया है? अभिनवगुप्त ने इस प्रश्न का उत्तर नाट्यशास्त्र की व्याख्या के आरम्भ में ही दिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है उसको निम्नलिखित रूप में कहा जा सकता है :—

प्रतिभाशाली नाटक के लेखक की प्रतिभा को समुचित पथ-प्रदर्शन करना आवश्यक है। वर्तमान प्रतिभा-शालियों के सम्बन्ध में न तो यह माना जा सकता है कि इनके पूर्वकाल में किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति का जन्म

---

[1] अभि० भा० भाग १-३ [2] अभि० भा० भाग १-४

नहीं हुआ था और न यही विश्वास किया जा सकता है कि भविष्य में किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति का जन्म ही नहीं होगा। पूर्वकाल में प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने जन्म लिया था, भविष्य में भी लेंगे। युगविशेष का एक प्रतिभाशाली व्यक्ति पूर्वकालीन प्रतिभाशाली व्यक्तियों की कृतियों की अपेक्षा उत्कृष्टतर कृति उन नूतन तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत करता है जिनका ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि नाटक की रचना में विशेष रूप से प्रतिभाशाली व्यक्ति को नाट्य-क्षेत्र में प्रचलित सभी विचारधाराओं का ज्ञान हो। उसको उन विधियों का ज्ञान होना चाहिए जिनके अनुसार उस विशेष क्षेत्र में पूर्वकालीन प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने अपनी कृतियों की रचना की है। एक भावी नाटककार के लिए इस प्रकार का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि नंग पर्वत शिखर पर चढ़ने के लिए भावी शिखरारोहियों के दलों को पूर्वकालीन शिखरारोहियों के अनुभवों के पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता है जिससे उनको यह ज्ञात हो जाता है कि चढ़ाई के विश्रामस्थल कहां-कहां पर और कितनी दूरी पर हैं, किस प्रकार के मनुष्यों को और कौन सी सामग्रियों को अपने साथ लेना चाहिए तथा यात्रा के विभिन्न क्रम-स्थलों पर कौन सी वस्तुओं का परित्याग करना चाहिए। केवल व्यक्तिगत उत्साह और लक्ष्यनिष्ठा, एवं पर्याप्त शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ ही उनको यात्रा के अन्त तक पहुँचा नहीं सकतीं। इस प्रकार का पूर्वकालीन अनुभवों का ज्ञान उनकी यात्रा को स्वभातः उस स्थल तक सहज बना देता है जहाँ तक पूर्वकालीन शिखरारोही पहुँच चुके हैं और आगे की उस यात्रा को जो उनको लक्ष्य बिन्दुतक पहुंचा सकती है अधिक सुगम कर देता है। इसी प्रकार से नाट्यशास्त्र का प्रयोजन उन व्यक्तियों को पूर्वकालीन प्रतिभाशाली व्यक्तियों की कृतियों के रचनाविधानों को विशेष रूप से बताना है जो वस्तुतः प्रतिभाशाली थे और जिनकी मानसिक प्रवृत्ति प्रधान रूप से नाट्य की रचना करने की ओर थी। जिस प्रकार से विशेष ज्ञानक्षेत्र में गवेषणा करने में तत्पर छात्र के लिए उसके विषय से सम्बन्धित एक विशेष व्याख्यानमाला उसकी प्रतिभाशक्ति के कार्यशील होने में बाधक न होकर उसको पथप्रदर्शन करती है, उसी प्रकार से नाट्यशास्त्र[1] के नियम भी नाटककार की प्रतिभा की कार्यशीलता में सहायक ही होते हैं। भरतमुनि ने इसी प्रकार की लक्ष्यसिद्धि के लिए ही अपने नाट्यशास्त्र की रचना की थी।

[1] अभि० भा० भाग १–४

नाट्यीकरण की विधि

अतएव हम यह जानने की चेष्टा करेंगे कि भरतमुनि एक भावी नाटककार को किस प्रकार की शिक्षा देना चाहते हैं। कल्पना कर लें कि एक ऐसे व्यक्ति को जिसके पास नाटक लिखने की विशेष प्रतिभा है, एक ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक कथानक मिल जाता है। प्रश्न यह उठता है कि उस कथानक को नाटक का रूप देने के लिए वह क्या करे? क्या वह सभी ऐतिहासिक सामग्री को जैसा का तैसा प्रदर्शित कर दे अथवा उसमें कुछ परिवर्तन एवं संशोधन भी करे? यदि परिवर्तन तथा संशोधन करना आवश्यक है तो कौन सी विधियों के अनुसार इनको करना चाहिए?

संस्कृत नाटकों का लक्ष्य दर्शकों का केवल मनोरंजन करना मात्र ही नहीं है, वरन् समाज के नैतिक स्तर की रक्षा एवं उसको समुन्नत करना भी है। समाज के उन्नयन के लिए नैतिक निष्ठा को बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसी निष्ठा की सुरक्षा से समाज में व्यक्ति के प्राणों एवं सम्पत्ति की रक्षा होती है और समाज द्वारा माने हुए पुरुषार्थों की सिद्धि सुगम हो जाती है। अति प्राचीन समय से भारतीय समाज में चार पुरुषार्थों को माना गया है—(१) धर्म (२) अर्थ (३) काम एवं (४) मोक्ष। इतिहास ऐसे व्यक्तियों के वर्णनों से परिपूर्ण है जिन्होंने ये पुरुषार्थ प्राप्त कर लिये थे। वर्तमान युग में भी ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो इन पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सतत् रूप से प्रयास कर रहे हैं और प्राणपण से उनको सिद्ध कर रहे हैं। इन पुरुषार्थों की सिद्धि के अभ्रामक पथ का प्रदर्शन शास्त्र भी करते हैं। परन्तु इतिहास, वर्तमान युग की जीवनधारा अथवा शास्त्रों को देखने से यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त पुरुषार्थों की सिद्धि का पथ दुर्गम तथा कंटकाकीर्ण है। पुरुषार्थ-सिद्धि का यह मार्ग इतना अधिक बाधाओं एवं क्रूर यातनाओं से परिपूर्ण है कि जिन व्यक्तियों में अदम्य उत्साह और वीरता नहीं है वे इस पथ से विरत हो जाते हैं।

इसका कारण निम्नलिखित है :—

एक ही घटना का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों के लिए विलग-विलग होता है। उस तटस्थ व्यक्ति के लिए जो उस घटना को बहिर्मुखी होकर विषय रूप में देख रहा है—उसका एक अर्थ होता है। परन्तु उस व्यक्ति के लिए जो उसका अनुभव उस घटना के एक अंश रूप में उसमें सम्मिलित होने के कारण कर रहा है—उसका दूसरा ही अर्थ होता है। इस भेद का कारण आन्तरिक

दशाओं की विभिन्नता है। क्या उन यातनाओं का महत्त्व एवं अर्थ उस आत्म-बलिदानी व्यक्ति के लिए जो उनको सहता हुआ आत्मबलिदान करता है वही है जो उसको यातना देने वाले व्यक्तियों की दृष्टि में होता है? यदि वही महत्त्व एवं अर्थ उनकी दृष्टि में नहीं है तो इसका कारण क्या है? क्या यह कारण मानसिक दशाओं की विभिन्नता नहीं है? क्या एक आत्मबलिदानी की यातना की कठोरता का अनुभव उन व्यक्तियों को भी हो सकता है जो उसको यातनाएँ देते हैं? क्या दुःखदायी वह प्रत्येक यातना उसको सुयश अथवा पुण्य से मण्डित नहीं कर देती जिसके कारण वह सारहीन तथा अगण्य हो जाती है?

अतएव संस्कृत नाटक के लेखक का लक्ष्य वर्तमान नैतिक निष्ठा को सजीव बनाये रखना एवं उसको उन्नतिमुखी बनाना होता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वह मानवीय जीवन को कथित पुरुषार्थों में से किसी एक की प्राप्ति के लिए संघर्षशील रूप में प्रदर्शित करता है। वह इस संघर्ष को ऐसे रूप में प्रदर्शित करता है जिससे आवश्यक मानसिक दशाओं से युक्त दर्शक अपना तादात्म्य नायक के साथ में स्थापित कर सके। इसी तादात्म्य के कारण वह नायक के समान ही अनुभव करता है और परवर्ती समय में उसके विषय में विचार करता हुआ नैतिकता के मार्ग[1] पर अग्रसर होने के लिए उत्साहपूर्ण होता है।

अतएव पूर्वकालीन, वर्तमान अथवा कल्पित घटनाओं के एक समूह को नाटक का रूप देने के लिए यह सर्वप्रथम आवश्यक है कि यह निश्चित कर लिया जाय कि साध्य पुरुषार्थ कौन सा है एवं किस व्यक्ति को उसको प्राप्त करते हुए प्रदर्शित करना है। संक्षेप में यदि कहना हो तो कहेंगे कि सर्वप्रथम नायक एवं उसके पुरुषार्थ के निर्धारण के दृष्टिकोण से कथानक का विश्लेषण किया जाना आवश्यक है। इस प्रकार के विश्लेषण का महत्त्व स्पष्ट है। एक बार नायक का निर्णय कर लेने पर यह स्वाभाविक हो जाता है कि उसका प्रदर्शन प्रधानरूप से विस्तृतरूप में किया जाय एवं अन्य सभी महत्वपूर्ण अथवा महत्त्वहीन वस्तुओं को अप्रधान रूप में प्रदर्शित किया जाय। अतएव शेक्सपियर लिखित नाटक जूलियस सीज़र के नायक के सम्बन्ध में जैसा प्रश्न उठाया जाता है कि 'नाटक का नायक कौन है, जूलियस सीजर है अथवा ब्रूटस्?' वैसा प्रश्न संस्कृत नाटक के नायक के सम्बन्ध में सम्भव नहीं है।

[1] अभि० भा० भाग १-४

उपर्युक्त विधि से कथानक का विश्लेषण हो जाने पर स्वभावतः प्रधान विषयवस्तु पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना आवश्यक हो जाता है। नाटक की प्रधान कथा में भारतीय समाज में प्रतिष्ठित पुरुषार्थों में से एक की सिद्धि के लिए नायक को चेष्टा करते हुए प्रदर्शित किया जाता है। परन्तु उत्साह-युक्त व्यक्ति के लिए भी उसको सिद्ध करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसकी प्राप्ति के लिए अत्यंत गम्भीर प्रयास न किया जाय। अतएव 'कार्य' नाटक के कथानक का आवश्यक अंश है। इसलिए स्वभावतः इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि इस नाटकीय 'कार्य' का प्रदर्शन किस प्रकार से करना चाहिए? अथवा उसको प्रदर्शित करने में किस विधान का आश्रय लेना चाहिए? अर्थात् अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार भरतमुनि ने इस सम्बन्ध में कौन सी विधियों का प्रतिपादन किया है?

नाटक में प्रदर्शनीय एवं अप्रदर्शनीय

नाटक में क्या प्रदर्शनीय है और क्या अप्रदर्शनीय है? इसका उत्तर यह है कि 'कार्य' का प्रदर्शन उस स्थायी भाव के अनुरूप होना चाहिये जिसको प्रकट करना नाटक का मुख्य लक्ष्य है। अतएव संस्कृत नाटकों में उतनी ही मात्रा में 'कार्य' प्रदर्शनीय होता है जितनी मात्रा में वह स्थायी भाव के अनुरूप हो और उसको जागृत करने एवं उसकी प्रगाढ़ता को प्रकट करने में सहायक हो। परन्तु समग्ररूप कथानक की अखण्डता की रक्षा करना आवश्यक है। इसी कारण उसके उन अंशों की भी पूर्णतया उपेक्षा नहीं की जा सकती जो स्थायी भाव की प्रगाढ़ता के प्रदर्शन में पूर्णरूप से उपयोगी नहीं हैं। अतएव कार्य का विभाजन दो वर्गों में किया गया है :—

(१) रंगमंच पर प्रत्यक्षरूप से प्रदर्शनीय जिसको शास्त्रीय भाषा में 'दृश्य' कहते हैं तथा (२) कथानक का वह अंश जो अप्रदर्शनीय है अथवा जिसको सूचना रूप में दर्शकों को जताया जाता है। इसको शास्त्रीय भाषा में 'सूच्य' कहते हैं।

कथानक के दृश्य अंश को सूच्य अंश से अत्यन्त स्पष्ट रूप से विलग रखना चाहिए। क्योंकि इसी भेद के आधार पर कथानक का विभाजन अंकों एवं विभिन्न प्रकार के सूचनाप्रद दृश्यों में किया जाता है। नाटक के सूच्य अंशों का समावेश अवसरवश विभिन्न अंकों के आरम्भ अथवा अन्त में उन सूचक दृश्यों में किया जाता है, जिनके नाम १. विष्कंभक २. चूलिका ३. अंकास्य

४. अंकावतार तथा ५. प्रवेशक हैं। अतएव इस प्रकार के कार्य जैसे लम्बी यात्रा, युद्ध, विप्लव, प्रीतिभोज आदि को रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। संस्कृत नाटक के लेखकों के मतानुसार इस प्रदर्शन-विधि के महत्त्व को हम भलीभांति तभी समझ सकते हैं यदि हम निम्निलिखित तथ्यों पर ध्यान दें।

संस्कृत नाटक के लेखक यथा सम्भव इस बात में अत्यन्त सावधान रहते हैं कि रंगमंच पर कुछ भी ऐसा प्रदर्शित न किया जाय जो दर्शक को असत्य सा प्रतीत हो। रंगमंच का आकार परिमाणसीमित होता है और नाट्य प्रदर्शन की एक निश्चित अवधि होती है। अतएव नाटक का लेखक उन सब वस्तुओं का प्रदर्शन रंगमंच पर प्रत्यक्षतः नहीं करता जो रंगमंचीय प्रदर्शन की देश एवं काल सम्बन्धी सीमाओं को खण्डित करता हो। अतएव स्वभावतः महायुद्धों, दीर्घ यात्राओं, राज्य-विप्लवों आदि को सूच्य रूप में दर्शकों के सामने उपस्थित करना पड़ता है।

देश, काल एवं कार्य की एकताएँ (unities)

नाटक के लेखक को नाटक के प्रत्येक अंक में समय की एकता एवं तदनुसार देश की एकता को बनाये रखना आवश्यक है। क्योंकि भारतीय नाटक के शास्त्रकारों के मतानुसार नाटक के कार्य को उसकी क्रमिकदशाओं के आधार पर पांच भागों में विभाजित और उसकी एक क्रमिकदशा को एक सम्पूर्ण अंक में प्रदर्शित करना चाहियें। एक अंक के समाप्त हो जाने पर नाट्यीकृत कथानक की अखण्डता को बनाए रखने के लिए विन्दु[1] का प्रयोग करना चाहिये। यह विन्दु अर्थात् 'प्रधान लक्ष्य का स्मरण' सूत्र के समान होता है जो कार्य की उन विभिन्न क्रमिकदशाओं को जिनको विभिन्न अंकों में प्रदर्शित किया गया है पुष्पमाल के समान ग्रथित करता है।

नाटक के एक अंक में प्रदर्शित कार्य एवं घटनायें इस प्रकार की होनी चाहिए जो पाँच मुहूर्तों[2] से अधिक समय में घटित न हुई हों। क्योंकि काल का यही वह परिमाण है जिसमें बिना विश्राम किए हुए तथा दैनिक नित्यकर्मों को बिना खण्डित किए हुए सहज रूप में एक अभिनेता अभिनय कर सकता है

---

[1] अभि० भा० भाग २–४१५ [2] श० चि० ६३५

और एक दर्शक प्रदर्शन को देख सकता है[1]। अतएव नाटकीय कार्य की क्रम-दशाओं से संबंधित कार्य अथवा घटनाएँ यदि ऐसी हैं जिनको समय की एकता को बिना भग्न किए हुए एक अङ्क में प्रदर्शित न किया जा सकता हो तो कथानक के उस अंश को प्रदर्शित करने के लिये दो विधियाँ हैं :—

१. उसको विभाजित कर के दो अङ्कों में प्रदर्शित किया जाय।

२. उसके आपेक्षिक कम महत्त्वपूर्ण अंशों को एक सूच्य दृश्य में प्रदर्शित किया जाय[2]।

इस प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि नाटक के सूच्य अंश में भी एक वर्ष से अधिक समय की अवधि[3] में घटित घटनाओं की सूचना नहीं दी जा सकती। और यदि मूल कथानक में प्रदर्शनीय घटनाएँ नियत समय से अधिक समय की अवधि में विकीर्ण हों तो नाटक के लेखक को कथानक का संशोधन इस प्रकार से करना चाहिए कि सभी घटनाओं का समावेश निर्देशित अवधि में हो जाय।

जिस प्रकार से नाटक के एक अङ्क में समय की एकता के सिद्धान्त को माना जाता है उसी प्रकार से देश की एकता के सिद्धान्त का पालन करना भी आवश्यक है। एक अङ्क में प्रदर्शित घटनाएँ परस्पर इतने दूरस्थ स्थानों पर घटित नहीं होनी चाहिए कि नाटक का नायक एक अङ्क के प्रदर्शन के लिये नियत समय की अवधि में वहाँ तक न पहुँच सकता हो। यदि घटनाओं के घटने के स्थानों की परस्पर देशगत दूरी आवश्यकता से अधिक है तो उनको दो अङ्कों में प्रदर्शित करना चाहिए। यदि एक अंक में ऐसी घटना प्रदर्शित की गई है जिसके उपरान्त उतनी अधिक दूरी पर दूसरी घटना को प्रदर्शित करना अभीष्ट हो जहाँ तक एक अङ्क के लिये नियत समय अवधि में नायक का पहुंचना सम्भव न हो तो ऐसी परिस्थिति में अङ्क का अन्त करते हुए यह प्रदर्शित करना चाहिए कि नायक यात्रा के लिये उद्यत हो चुका है। परन्तु यदि नायक के पास विमान आदि के समान वेगगामी यात्रा—साधन हों जो नियत अवधि में उस सुदूर स्थान तक पहुंच सकते हों तो परस्पर दूरदेशस्थ होते हुए भी घटनाओं को एक ही अंक[4] में प्रदर्शित किया जा सकता है।

अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि प्रोफेसर कीथ के स्वरचित ग्रन्थ 'संस्कृत

---

[1] अभि० भा० भाग २–४१९ [2] अभि० भा० भाग २ ४२०–१
[3] ना० शा० २२८ [4] ना० शा० २२८

नाटक' में जो यह लिखा है कि संस्कृत के नाटक के लेखक देश एवं काल की एकता के सिद्धान्त से अनभिज्ञ थे उसका कारण यह ज्ञात होता है कि वे स्वयं संस्कृत नाटकों के रचना-विधान को पूर्णतया समझ नहीं सके थे।

संस्कृत नाटक में 'कार्य' की एकता के विषय में हम केवल इतना ही कहना पर्य्याप्त समझते हैं कि यही एक मात्र ऐसा सिद्धान्त है जिसकी उपेक्षा संस्कृत नाटक का लेखक किसी भी दशा में नहीं कर सकता है। 'अनौचित्य' शीर्षक वाले उपप्रकरण में हमने इस सिद्धान्त का उल्लेख आंशिक रूप में किया है। संस्कृत भाषा के नाटक के लेखक का प्रधान लक्ष्य स्थायी भाव का प्रदर्शन इस प्रकार से करना है जिससे कि सहृदय का तादात्म्य नायक के साथ स्थापित हो सके और तत्परिणाम स्वरूप वह नायक के अनुभवों का अनुभव प्राप्त कर सके। अतएव वह किसी भी ऐसे कार्य का प्रदर्शन नहीं कर सकता है जिसका सामंजस्य स्थायी भाव के साथ न हो।

संस्कृत नाटकों में 'कार्य' का प्रदर्शन साध्य रूप में नहीं किया जाता। इसका प्रदर्शन साधन रूप में किया जाता है। नायक के अन्तर्गत स्थायी भाव को प्रदर्शित करने एवं तत्समान भाव को सहृदय के अन्तःकरण में जाग्रत करने के लिये कार्य का प्रदर्शन साधन मात्र है।

संस्कृत नाटकों में कार्य की एकता अन्तर्मुखी (Subjective) एवं बहिर्मुखी (Objective) दोनों ही होती है। कार्य की अन्तर्मुखी एकता का स्वरूप यह है कि सम्पूर्ण कार्यमाला एक ही मानसिक दशा अर्थात् एक स्थायी भाव से उद्भूत होती है। इसकी बहिर्मुखी एकता का स्वरूप यह है कि कार्यों की सम्पूर्ण श्रृङ्खला की कड़ियां तर्कसम्मत सम्बन्ध द्वारा एक ही लक्ष्य के साथ जुड़ी होती हैं। कार्य की एकता के सिद्धान्त का जो तात्त्विक स्वरूप संस्कृत के नाटक के लेखकों को ज्ञात था वह यूनान और ब्रिटेन के शास्त्रकारों से प्रतिपादित तत्सम्बन्धी स्वरूप की अपेक्षा अधिक विकसित तथा न्यायसंगत है। क्योंकि यूनान और ब्रिटेन के लेखकों ने बहिर्मुखी एकता को ही माना है।

कार्य एवं भाव के आधार पर संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों में भेद

प्रदर्शनीय कार्य एवं उत्पादनीय भाव के आधार पर संस्कृत भाषा तथा अंग्रेजी भाषा के नाटकों के भेद को समझने के लिये निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिये :—

(१) एक कार्य अथवा घटना की विशेष भाव को उत्पन्न करने की शक्ति निम्नलिखित दो कारणों से भिन्न होती है :—

(अ) एक तो उस सम्बन्ध के कारण जो दर्शक तथा उस व्यक्ति के बीच है, अथवा जिसको दर्शक स्थापित करता है, जो कार्य का कर्ता है अथवा जो किसी विशेष घटना का शिकार है।

(आ) दूसरा भिन्नता का कारण मानसिक एवं हार्दिक गुण एवं उनके कार्य रूप में प्रकटन हैं जिनसे कार्यकर्ता सामाजिक के अन्तःकरण में सम्बन्धित है। अतएव जब कोई व्यक्ति एक दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को अपने से केवल सामाजिक सम्बन्धों से सम्बन्धित मानता है और उसे उसकी सामाजिक सेवाओं, उसके नैतिक, राजनैतिक और सामाजिक सिद्धान्तों, उसकी शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक गरिमाओं एवं समाज पर उनके कल्याणकारी प्रभावों एवं उससे किये हुये बड़े-बड़े कामों के आलोक में देखता है और उसको उस व्यक्ति की दुर्बलताएँ एवं असफलताएँ स्पष्ट रूप से प्रधानतया प्रत्यक्ष गोचर होती हैं तो उसके अन्तःकरण में सहानुभूति तथा दया जैसे सामाजिक भाव उत्पन्न होते हैं। परन्तु उसी व्यक्ति को जब कोई दर्शक अपने से पारिवारिक घनिष्ठ संबंधों से सम्बन्धित मानता है तो उसके अन्तःकरण में शोक जैसे अधिक गम्भीर तथा प्रगाढ़ भाव का उदय होता है। यदि दर्शक का तादात्म्य पीड़ित नायक के साथ पूर्णतया हो जाता है तो दर्शक को नायक के समान ही अनुभवों तथा भावों का अनुभव होने लगता है। अतएव कोई भी घटना, चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, तब तक दर्शकों में निश्चित भावों को उत्पन्न नहीं कर सकती जब तक उसको उचित पृष्ठभूमिका में समुचित दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि नाटकों में किन्हीं विशेष भावों को उत्पन्न करने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं का प्रदर्शन आवश्यक पृष्ठभूमि में किया जाय। ऐसा ज्ञात होता है कि शेक्सपीरियन् ट्रेजेडी नामक पुस्तक में निम्निलिखित पंक्तियों को लिखते समय ब्रैडले के मन में ऐसा ही कोई विचार था :—

'कथानक में नायक के जीवन का वह अशान्त एवं क्षुब्ध अंश प्रदर्शित किया जाता है जो उसकी मृत्यु के पूर्व होता है और उसकी मृत्यु का कारण-स्वरूप है। क्योंकि वैभव एवं समृद्धता की परिस्थिति में घटनावश तत्क्षण मृत्यु यथेष्ट रूप से नाटकीय प्रभाव को उत्पन्न नहीं कर सकती' (पृष्ठ ७)

नाटकीय प्रधान घटना की इस पृष्ठभूमिका को प्रदर्शित करने के लिये संसार के विभिन्न देशों में विभिन्न साहित्यिक परिपाटियाँ हैं। इस विषय में

संस्कृत नाटक के लेखकों तथा अंग्रेजी भाषा के नाटक के लेखकों में मूल भेद यह है कि संस्कृत भाषा के नाटक के लेखक घटनाओं का प्रदर्शन इस प्रकार से करते हैं जिससे कि नायक के साथ में दर्शक का वह तादात्म्य संभव होता है जिसके कारण नायक और दर्शक में एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। परन्तु अंग्रेजी भाषा के नाटक के लेखक चेष्टा इस बात की करते हैं कि वर्तमान सामान्य लोकगत परिस्थिति से दर्शक को हटा कर नाटकीय परिस्थिति में ले जाया जाय जिससे वह नायक को विषयरूप में उस प्रकार से देख सके जैसे कोई वह तटस्थ व्यक्ति उसको देख रहा हो जो स्वयं नायक की परिस्थितियों एवं घटनाओं का कोई अंश नहीं है। दोनों देशों के नाटककार इस बात की चेष्टा करते हैं कि यह विचार कि 'प्रदर्शन एक कलात्मक प्रदर्शन है' दर्शक के मन में परिस्फुट न होने पाए और उपचेतनांश में ही रह जाये।

२. भावों का वर्गीकरण दो वर्गों में किया गया है (अ) सामाजिक एवं (आ) वैयक्तिक। सामाजिक भावों की अपेक्षा वैयक्तिक भाव अधिक प्रगाढ़ होते हैं। क्योंकि किसी भाव को अनुभव करने वाले व्यक्ति संख्या में जितने अधिक होंगे उतना ही कम वह प्रगाढ़ होगा। जैसे कि शोक के भाव के समान सहानुभूति का भाव प्रगाढ़ नहीं होता है। इसी प्रकार से दया का वह चिरस्थायी प्रभाव व्यक्ति के अन्तःकरण एवं शरीर पर नहीं पड़ता जो प्रभाव निजी हानि का उस पर पड़ता है। इसका कारण यह है कि शोक तथा निजी हानि वैयक्तिक भाव हैं जब कि सहानुभूति तथा दया सामाजिक भाव हैं।

३. वैयक्तिक भावों के विषय में ध्यान देने योग्य एक अन्य तथ्य यह भी है कि एक विशेष सीमा विन्दु के उपरान्त भाव की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रगाढ़ता भावप्रभावित व्यक्ति के संवेदन सूत्रों एवं बुद्धि को क्रमशः क्रियाशून्य कर देती है जिसके परिणामस्वरूप भाव की प्रगाढ़ता की मात्रा के अनुसार अल्प क्रिया, सामंजस्यरहित क्रिया अथवा पूर्णरूप क्रियाशून्यता उत्पन्न होती है।

यदि उपर्युक्त तीन बातों को हम अपने ध्यान में रक्खें तो संस्कृत भाषा एवं अंग्रेजी भाषा के नाटकों का मूल भेद अत्यन्त स्पष्ट हो जाएगा।

(अ) संस्कृत भाषा का नाटक नायक के अन्तःकरण के भावों को दर्शक में उत्पन्न करता है। नाटक का नायक सामान्य व्यक्ति अ, ब, स, न होकर कविकल्पना से उद्भूत वह व्यक्ति होता है जिसका नाटक की विकसित

क्रमदशा में साधारणीभाव हो जाता है। परन्तु अंग्रेजी भाषा का नाटक उन सामाजिक भावों को उत्पन्न करता है जो उन भावों से किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं होते जो एक घटना में फँसे हुए व्यक्ति में नहीं वरन् पूर्णरूप घटना के तटस्थ (अर्थात् जो घटना में फँसा नहीं है) दर्शक में उस समय उत्पन्न होते हैं जब वह उसको विषय रूप में देख रहा हो।

(आ) यही कारण है कि संस्कृत नाटकों में कार्य की मात्रा कम होती है क्योंकि उनमें प्रधान रूप से क्रमानुसार स्थायी भाव को अत्यन्त प्रगाढ़ दशा में आस्वादनीय स्वरूप में प्रदर्शित किया जाता है। अंग्रेजी भाषा के नाटकों में कार्य की मात्रा इसलिए अधिक होती है क्योंकि उनमें नाटक के लेखक का प्रयास यह होता है कि वह सामाजिक भावों अथवा संवेदनाओं को उत्पन्न करने के लिए कलात्मक समुदायरूप सामग्री (æsthetic configuration) का प्रदर्शन करे। और यह सत्य है कि दर्शकों में सामाजिक अभिरुचि (social interest) को केवल कार्य-प्रदर्शन से ही उत्पन्न किया जा सकता है। अंग्रेजी नाटकों में भी उन स्थलों पर जहाँ पर भाव की प्रगाढ़ता को प्रदर्शित करने की चेष्टा की जाती है, कार्य की गति रुक सी जाती है। जैसे कि हेमलेट नाटक में होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि हेमलेट की क्रियाशून्यता के मनोवैज्ञानिक कारण को विना जाने हुए कुछ साहित्य-समीक्षकों ने नाटक के उस अंश में कार्य की अल्पता के लिए शेक्सपियर को दोषी ठहराया है।

(इ) यही कारण है कि संस्कृत भाषा के नाटकों के लेखकों और अङ्गरेजी भाषा के नाटकों के लेखकों के नाट्यवस्तु के प्रदर्शन के उपाय भी भिन्न हैं। संस्कृत भाषा के नाटकों के लेखक उन सब सामग्रियों को प्रदर्शित करते हैं जो नाटक के नायक में स्थायी भाव को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होती हैं। नायक के अन्तःकरण में उत्पन्न स्थायी भाव के साधन से दर्शक के अन्तःकरण में वही स्थायी भाव उत्पन्न किया जाता है। उत्कृष्ट रूप भाव कार्य-शक्ति को यदि नष्ट नहीं तो कम तो कर ही देता है। अतएव कार्य का प्रदर्शन अति-मात्रा में नहीं किया जाता है। परन्तु इसको उतनी ही मात्रा में प्रदर्शित किया जाता है जितना स्थायी भाव को प्रकट करने के लिए आवश्यक है। स्थायी भाव को विषय रूप में नहीं प्रत्यक्ष किया जा सकता, नायक के साथ में तादात्म्य स्थापित करने के साधन से इसका केवल मानसिक अनुभव अथवा साक्षात्कार करना ही संभव है। अतएव उन सब वस्तुओं का प्रदर्शन रंगमंच पर निषिद्ध है जो तादात्म्य की प्रक्रिया में विघ्न डालते हैं। अतएव संस्कृत

भाषा के नाटकों में सर्वोत्कृष्ट कलानुभावक इन्द्रियों को ही आकर्षित करने की चेष्टा की जाती है। ये इन्द्रियाँ आँख और कान हैं। स्पर्श तथा रसन इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले दृश्यों का प्रदर्शन करना शास्त्रनिषिद्ध है। इसका कारण स्पष्ट है—किसी भी संख्या में व्यक्तियाँ क्यों न हों, वे बिना किसी उस सचेतन क्रिया के, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के भाव को जाग्रत करती है, समान दृष्टिकोण से एक ही वस्तु को समान रूप में देख और सुन सकते हैं। देखने और सुनने में यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक श्रोता अथवा द्रष्टा के लिये एक भिन्न विषय हो। स्पर्श तथा जिह्वा के विषय में यह सम्भव नहीं है।

परन्तु अङ्गरेजी भाषा के नाटकों का उद्देश्य केवल सामाजिक भावों जैसे सहानुभूति एवं दया के भावों को ही उत्पन्न करना होता है। प्रदर्शन को विषय रूप में देखने से ये भाव उद्भूत होते हैं। इनको उत्पन्न करने के लिए नायक के साथ में किसी भी प्रकार के तादात्म्य की आवश्यकता नहीं होती है। अतएव वे सभी इन्द्रियों की अभिरुचियों को जाग्रत करने के लिए कार्य को बड़ी मात्रा में प्रदर्शित करते हैं। इसका कारण यह है कि विषय-स्वरूप प्रदर्शन को आकर्षक बनाये रखने के लिए कार्य का प्रदर्शन आवश्यक है क्योंकि क्रिया-शून्य वस्तु ज्योंही प्रत्यक्षरूप से दिखाई पड़ जाती है त्योंही तुरन्त ही उसका आकर्षकत्व नष्टप्राय हो जाता है।

मुख्य कथानक का विश्लेषण

गत उपप्रकरण में हमने इस बात की विवेचना की है कि प्रधान कथानक को अप्रधान कथानक से एवं दृश्यांश को सूच्यांश से विलग रूप में प्रदर्शित करना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रधान कथानक का प्रदर्शन किस प्रकार से करना चाहिए? इस प्रसंग में भी पूर्व की भांति विश्लेषणात्मक विधि का अनुसरण करना ही वांछनीय है। 'कार्य' के अन्तिम परिणाम से सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए इस 'कार्य' का विश्लेषण करना आवश्यक है। वर्तमान नाट्यसाहित्य के विश्लेषण एवं उसमें अनुसरण किए गए भरत मुनि के निर्देशों से यही विधि परिलक्षित होती है।

यदि किसी कार्य को हम उसके पूर्ण रूप में देखें तो उसके पांच भाग स्पष्ट रूप से ज्ञात होते हैं। (१) किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य के आरम्भ के पूर्व उसके साध्य का स्पष्टतया जानना उसको प्राप्त करने की उत्कण्ठा और दृढ़ प्रतिज्ञा एवं उसकी प्राप्ति के लिये साधनों एवं उपायों को निर्धारित करना

आवश्यक होता है। (२) 'कार्य' की योजना की रूपरेखा खींचने के उपरान्त उसकी स्वाभाविक रूप से दूसरी विकसित क्रम दशा योजना को कार्यरूप में परिणत करने का आरम्भ करना है। (३) इससे स्वभावतः लक्ष्य-प्राप्ति के विषय में कुछ आशा उद्भूत होती है। उपर्युक्त तीन क्रमिक कार्यावस्थाएँ प्रत्येक कार्य की होती हैं चाहे वह सफल होने जा रहा हो अथवा असफल होने जा रहा हो। (४) इस कार्यावस्था के उपरान्त शोकप्रधान अथवा हर्षप्रधान 'कार्य' का भेद स्पष्ट होने लगता है। शोकप्रधान कार्य में यह होता है कि जिस समय नायक सिद्धि के अत्यंत निकट पहुँच जाता है और सिद्धिप्राप्ति के विषय में कोई शंका नहीं रह जाती है उसी समय एक ऐसी बाधा उसके सामने आ खड़ी होती है कि उसको वह किसी भी प्रकार से हटा नहीं पाता और इसलिए वह सिद्धि प्राप्ति से विमुख होकर पीछे की ओर लौटने लगता है। इसको चौथी कार्यावस्था कहा जा सकता है। और (५) कार्य की अन्तिम अवस्था में नायक का आत्मध्वंस होता है। परन्तु सुखप्रधान कार्य की चतुर्थावस्था में यद्यपि सिद्धि के मार्ग में अनेक बाधायें आती हैं फिर भी वे अविजेय नहीं होती हैं, अथवा नायक के पास ऐसी शक्ति और साधन होते हैं कि वह आने वाली सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है और सिद्धि प्राप्ति के विषय में उसको पूर्णतया विश्वास हो जाता है। कार्य की अन्तिम क्रमदशा स्वभावतः निज लक्ष्य की प्राप्ति है।

एक उत्कृष्ट नाटक में, जिसमें कार्य को अखण्डित स्वरूप में प्रकट किया जाता है और जिसमें प्रदर्शित कार्य अपने में सर्वाङ्ग पूर्ण है, कार्य की उपर्युक्त पाँच अवस्थायें स्पष्ट रूप से अलग अलग देखी जा सकती हैं। शेक्सपियर के सभी नाटकों में उपर्युक्त कार्यावस्थाओं को स्पष्टतया प्रदर्शित किया गया है। सत्य तो यह है कि नाटक के पाँच अंकों में से प्रत्येक अंक कार्य की पाँच अवस्थाओं में से एक अवस्था को प्रकट करने के लिए होता है। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य यह तथ्य है कि संस्कृत नाटक में मूल कथानक का अंकों में विभाजन कार्य की इन्हीं पाँच अवस्थाओं के आधार पर किया जाता है। एक उत्कृष्ट नाटक में अंकों की संख्या पाँच से कम नहीं होती। जब एक नाटक में पाँच से अधिक अङ्क होते हैं तो प्रत्येक अधिक अङ्क में कार्य की पाँच अवस्थाओं में से किसी न किसी उस अवस्था के एक अंश को प्रदर्शित किया जाता है जिसको पूर्णरूप में एक ही अङ्क में प्रदर्शित करना सम्भव नहीं है। परन्तु कार्य की एक अवस्था को दो अङ्कों से अधिक अङ्कों में प्रदर्शित

नहीं किया जा सकता है। इसी कारण एक नाटक में अङ्कों की संख्या दस[1] से अधिक नहीं हो सकती है।

अंग्रेजी भाषा के सुखप्रधान नाटकों की अवस्थाओं को सामान्य रूप से (१) कारण (Cause) (२) विकास गति (Growth) (३) पराकाष्ठा (Height) (४) परिणाम (Consequence) (५) अन्त (Close) कहा जाता है। परन्तु शोकप्रधान नाटक में कार्य की गति अनिष्टोन्मुखी होती है। इसी कारण उसकी अन्तिम दो अवस्थाओं को विभिन्न नामों से पुकारा गया है। उनको क्रमशः १. पतन (Fall) एवं २. करुणाजनक अन्त (Catastrophe) कहते हैं। 'पतन' में पहुँची हुई ऊँचाई से नायक का गिरना प्रदर्शित किया जाता है। और 'करुणाजनक अन्त' में नायक का ध्वंस प्रदर्शित करते हैं। संस्कृत भाषा के नाटकों में भी कार्य की इन अवस्थाओं को उन पाँच शब्दों से अभिहित किया गया है जो लगभग उन्हीं अर्थों को प्रकट करते हैं जिन अर्थों में उपर्युक्त प्रथम शब्दों का प्रयोग किया गया है। संस्कृत नाटक के शास्त्रकारों ने कार्य की इन अवस्थाओं को निम्नलिखित शब्दों से अभिहित किया है :—

१. आरम्भ २. यत्न ३. प्राप्त्याशा ४. नियताप्ति एवं ५. फलागम[2]।

परन्तु इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि संस्कृत भाषा के नाटकों में अंग्रेजी भाषा के दुःखान्त नाटकों की भांति कार्य की अन्तिम दो अवस्थायें अर्थात् 'पतन' एवं 'करुणाजनक अन्त' नहीं होती हैं क्योंकि शास्त्रीय भाषा में जो 'दुःखान्त नाटक' (Tragedy) का अर्थ है उसके अनुरूप किसी भी नाटक का अस्तित्व संस्कृत भाषा में नहीं है।

संस्कृत नाट्य साहित्य में दुःखान्त नाटकों के अभाव का कारण

संस्कृत भाषा के नाट्य साहित्य में शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों के अनुरूप कोई नाट्य कृति इसलिए नहीं है क्योंकि कोई भी ऐसा संस्कृत नाटक नहीं है जिसमें नायक की मृत्यु उसके कर्मों के परिणामस्वरूप प्रदर्शित की गई हो। इस अभाव के निम्नलिखित कारण हैं :—

---

[1] द० रू० ७१ [2] द० रू० ५

(अ) नाटक के नायक के स्वरूप के विषय में प्राचीन शास्त्रकारों का अभिमत

भारतीय नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने प्राचीनकाल से ही उत्कृष्ट संस्कृत नाटकों के नायकों का स्वरूप निर्धारित किया है। उनके मतानुसार निम्नलिखित तीन प्रकार के नायकों में से एक प्रकार का नायक उत्कृष्ट नाटक में होना चाहिए—१. धीरोदात्त २. धीरललित एवं ३. धीरशान्त। उपर्युक्त तीन प्रकार के नायकों के विशेष एवं सामान्य गुणों का प्रतिपादन किया गया है। उपर्युक्त तीनों प्रकारों के नायकों में निम्नलिखित गुण समान रूप से वर्तमान होने चाहिए—व्यवहारगत विनम्रता, स्वभावगत मधुरता, उदारता (त्याग), कार्य में निपुणता (दक्षता), प्रियवदान्यता, लोकप्रियता, मन की अम्लानता (शुचि), वाग्मिता, अभिजातीयता, संकल्प की दृढ़ता, युवावस्था, बुद्धिमत्ता, निपुणता, उत्साह, स्मृति की प्रखरता, कलाप्रियता, स्वाभिमानता, शूरता, परिश्रमशीलता, तेजस्विता, नैतिक सिद्धान्तों के प्रति दृढ़निष्ठा एवं कर्तव्यपरायणता।

धीरोदात्त नायक में उपर्युक्त सामान्य गुणों के अतिरिक्त निम्नलिखित विशेष गुण भी होते हैं—शोक एवं क्रोध से बुद्धि की अम्लानता (शास्त्रीय भाषा में इस गुण को महासत्वता कहते हैं), अतिगम्भीरता, क्षमाशीलता, आत्मप्रशंसा से शून्यता, प्रणवीरता, एवं अहंकार की मृदुस्वभाव से प्रच्छन्नता।

इसी प्रकार से धीरललित नायक के विशेष गुण निम्नलिखित हैं—निश्चिन्तता, कला के प्रति आसक्ति, स्वाभाविक प्रसन्नता एवं मृदुता। धीरशान्त नायक में उपर्युक्त सामान्य गुण कुछ कम मात्रा में होते हैं और वह उपर्युक्त दोनों प्रकार के नायकों की भांति राजा न होकर ब्राह्मण, राजमन्त्री अथवा व्यापारी होता है।

इस प्रकार से दश प्रकार के रूपकों में से सर्वोच्च कोटि के 'नाटक' एवं 'प्रकरण' के नायक को पूर्णतया दोषहीन रूप में प्रदर्शित किया जाता है, इसलिए उनके कार्यकलाप भी पूर्ण रूप से दोषहीन ही होते हैं। परन्तु यह किस प्रकार से न्यायसंगत हो सकता है कि नैतिकरूप से एक सर्वथा निर्दोष व्यक्ति को करुणाजनक परिस्थितियों में पतित प्रदर्शित किया जाय ? इस प्रकार के व्यक्ति को ऐश्वर्य एवं समृद्धता के लोक से संकट-लोक में गिरते हुए प्रदर्शित करना नैतिकता विरोधी है और इससे भी कहीं अधिक नैतिकता विरोधी यह है कि इस प्रकार के सर्वगुणसम्पन्न नायक की निज पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए संघर्ष

करते हुए मृत्यु प्रदर्शित की जाय। इस प्रकार के प्रदर्शन से न तो सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है और न दया का भाव ही उद्भूत होता है।

इसी उपर्युक्त कारण से एरिस्टोटल ने दुःखान्त नाटक की निज पूर्व लिखित मूल परिभाषा को बाद में किंचित् संशोधित किया था। बाद में उन्होंने यह प्रतिपादित किया था कि दुःखान्त नाटक के उस नायक को जो सम्पन्नता एवं वैभव की उन्नत दशाओं से संकटों के लोक में पतित होता हो, न तो एक परमयोग्य अथवा नैतिकरूप से सर्वथा निर्दोष व्यक्ति होना चाहिए और न उसको दुष्टात्मा व्यक्ति ही होना चाहिए वरन् उसके व्यक्तित्व को अति की सीमाओं का मध्यवर्ती होना चाहिए, अर्थात् वह व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जो न तो सर्वथा दोषहीन हो एवं पुण्य और न्याय को पूर्णतया असाधारण रूप से आत्मसात् किए हुए हो, और न वह ऐसा होना चाहिए जो अपने दुष्कर्मों एवं नीचता के कारण महान् यश तथा वैभव की दशा से निन्दा और आपत्ति की दशाओं में पतित हो जाता हो। उसको ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसको किसी महान् भ्रान्तिमूलक कार्य के कारण दुर्दशाग्रस्त होना पड़ा हो—जैसे कि आइडिपस् को होना पड़ा था[1]।

इसी प्रकार से हीगेल का मत भी यही है कि दुःखान्त नाटक के उस नायक को जिसकी पीड़ा एवं दुर्भाग्य के प्रत्यक्ष से नैतिक शक्ति (Ethical power) का मनन एवं तत्परिणामस्वरूप नैतिक शक्ति के औचित्य का भाव दर्शक में उद्भूत होता है, एक ऐसा शक्तिशाली एवं चरित्रवान् व्यक्ति होना चाहिए जिसकी पीड़ा एवं दुर्भाग्य स्वरूपतः निजकर्मों के परिणाम ही हों, जो हमारे मन को आकृष्ट तो करे परन्तु दोषी इसलिए बन जाए क्योंकि जिन कर्मों के साथ वह अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है वे नैतिक शक्ति को अस्वीकार करने वाले तथा उसके विरोधी हैं। क्योंकि दुःखान्त नाटक से उद्भूत सहानुभूति सामान्य लौकिक उस सहानुभूति से भिन्न स्वरूप होती है जो ऐसे व्यक्ति के दुर्भाग्य को देखकर दर्शकों के अन्तःकरण में उत्पन्न होती है जो अकारण ही घटनावश एवं केवल उन बाह्य परिस्थितियों के कारण संकट-ग्रस्त हो जाता है जिनकी रचना वह किसी भी अंश में स्वयं नहीं करता और इसलिए जिन पर उसका कोई अधिकार नहीं होता—जैसे कि किसी दैवी दुर्घटनावश सम्पत्ति का नाश एवं मृत्यु[2] आदि।

---

* [1] कम्० ए० भाग २–५७ * [2] कम्० ए० भाग २ ४४८–९

परन्तु उच्चकोटि के संस्कृत भाषा के नाटकों के नायक नैतिक रूप से सर्वथा दोषहीन व्यक्ति होते हैं अतएव उनको लक्ष्यभ्रष्ट एवं पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए सङ्घर्ष करते हुए मृत्यु प्राप्त करते हुए प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। अतएव संस्कृत भाषा के नाटकों में दुःखान्त नाटकों का सर्वथा अभाव है।

(आ) त्रयी सम्बन्ध

संस्कृत भाषा के नाट्य साहित्य में दुःखान्त नाटक के अभाव का दूसरा कारण वह प्रक्रिया है जिसको नाट्य प्रदर्शन के देखने से रसानुभव की उत्पत्ति के लिए आवश्यक स्वीकार किया गया है। रसानुभव का मूल कारण उस स्थायी भाव का अन्तर्मुखी (Subjective) अनुभव है जिसका कारण उपचेतनांश से चेतनांश पर स्थायी भाव का प्रकट होना है, जो कि नाटक के नायक के साथ में तादात्म्य एवं तत्परिणामस्वरूप नायक की दृष्टि से सम्पूर्ण परिस्थिति को देखने से होता है। रसानुभव की उत्पत्ति त्रयी सम्बन्ध (triadic relation) से होती है। अतएव नाट्य प्रदर्शन रसानुभव का एक वैसा ही साधन है जैसा कि धार्मिक ध्यान में मूर्ति साधन रूप होती है। जिस प्रकार से मूर्ति के साधन से धर्म सम्बन्धी आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होता है उसी प्रकार से नाट्यप्रदर्शन के साधन से रसानुभव उद्भूत होता है।

रसानुभव के प्रसंग में तीन शास्त्रीय सांकेतिक शब्दों का उल्लेख किया गया है। इन शब्दों से जिस उपमिति का बोध उत्पन्न होता है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये शास्त्रीय शब्द रस, पात्र एवं आस्वाद हैं। इनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से किसी रस का आस्वादन सुन्दर प्याले के साधन से किया जाता है उसी प्रकार से रस का अनुभव नायक (प्रधान पात्र) के साधन से ही किया जाता है। अतएव जिस प्रकार से यदि सुन्दर पात्र भग्न हो जाए तो रस का आस्वादन नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार से यदि नायक की मृत्यु प्रदर्शित की जाए तो रसानुभव भी सम्भव नहीं रह जाता है।

नाटक के अभिनेता के लिए पात्र शब्द का जो प्रयोग किया गया है उससे तात्पर्य रूप में जिस उपमिति का बोध होता है उसको अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से प्रकट किया है। वे यह कहते हैं कि अभिनेता को पात्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह रस[1] के आस्वादन का उपाय अथवा साधन स्वरूप है।

---

[1] अभि० भा० भाग १–२९२

नाटकीय कार्य की अवस्थाओं के स्वरूप का विशद रूप से वर्णन

सामान्यतः भरतमुनि ने नाटक के लेखकों के लिए जिन नियमों का प्रतिपादन किया है उनको किसी दृष्टान्त से स्पष्ट नहीं किया है। इसका कारण ग्रन्थ का निजी स्वरूप है। उन्होंने सूत्ररूप में अपने ग्रन्थ की रचना की है और सूत्रों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि वे अत्यन्त संक्षिप्त रूप में होते हैं। सच तो यह है कि सूत्र साहित्य का कोई भी लेखक स्वप्रतिपादित नियमों के दृष्टान्तों का उल्लेख नहीं करता है। जैसे कि पाणिनि-विरचित व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ अष्टाध्यायी में किसी भी दृष्टान्त का उल्लेख नहीं है। परन्तु प्रतिपादित नियम दृष्टान्त के बिना सुस्पष्ट नहीं हो पाते हैं। अतएव हम नाटकीय कार्य की पाँच अवस्थाओं के स्वरूपों का स्पष्टीकरण हर्षरचित रत्नावली नाटिका के कथानक को दृष्टान्त रूप में लेकर करेंगे। अधिकांश लेखकों ने इस नाटिका के अंशों को दृष्टान्त रूप में उद्धृत किया है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि राजा हर्ष ने नाट्यशास्त्र की एक व्याख्या लिखी थी जो सम्भवतः नाट्यशास्त्र पर लिखी हुई प्रथम व्याख्या थी। इस व्याख्या का नाम हर्षवार्तिक था और इसमें उन्होंने सम्भवतः स्वरचित नाटिका रत्नावली के अंशों को दृष्टान्त रूप में उद्धृत किया था और नाट्यशास्त्र के परवर्ती टीकाकारों ने दृष्टान्त के विषय में उनका अनुसरण किया था। अतएव इस स्थल पर रत्नावली नाटिका के कथानक को संक्षिप्त रूप से लिखना इसलिए आवश्यक है कि दृष्टान्त स्पष्टतया समझ में आ सके।

उदयन एक अत्यन्त विलासप्रिय राजा थे। उनमें असाधारण सौन्दर्य एवं आकर्षण था। राज्यकार्य में उनकी अभिरुचि बहुत कम थी। परन्तु सौभाग्यवश उनके मंत्री यौगन्धरायण अत्यंत योग्य एवं स्वामिभक्त थे। अतएव राजा उदयन ने राज्य प्रबन्ध का सम्पूर्ण भार उन्हीं के हाथों में सौंप दिया था। जिस समय राजा उदयन अपने राजप्रासाद में विलास-क्रीड़ाओं में निमग्न रहते थे उस समय यौगन्धरायण विजय की योजनाओं को बनाते और राज्य का विस्तार करते थे। राज्यविस्तार की उनकी योजनाएं इस प्रकार की होती थीं कि उनसे राजा की विलासक्रीड़ाओं में कोई विघ्न नहीं पड़ता था। जिस प्रकार की परिस्थिति में प्रथम अंक का आरम्भ होता है वह निम्नलिखित है :—

एक सन्त ने यह भविष्यवाणी की थी कि सिंहल द्वीप के राजा की पुत्री के साथ में जो व्यक्ति विवाह करेगा वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा। अतएव यौगन्धरायण ने यह चेष्टा करना आरम्भ की कि उदयन का विवाह सिंहल की

राजकुमारी के साथ सम्पन्न हो जाय। परन्तु सिंहलेश्वर ने यौगन्धरायण के इस विवाह प्रस्ताव को इसलिए स्वीकार नहीं किया क्योंकि उदयन का विवाह वासवदत्ता के साथ हो चुका था और वे जीवित थीं। अतएव यौगन्धरायण ने यह मिथ्या समाचार अनेक देशों में प्रसारित किया कि लावाणक नामक स्थान पर वासवदत्ता की मृत्यु दुर्घटनावश आग लग जाने से हो गई है। इस समाचार के प्रसारित हो जाने के उपरान्त यौगन्धरायण ने सिंहलेश्वर के पास फिर से विवाह प्रस्ताव भेज दिया। यह जानकर कि उदयन की पत्नी वासवदत्ता परलोकवासिनी होगई हैं सिंहलेश्वर ने अपनी पुत्री रत्नावली के साथ उदयन के विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। और अपने राजमंत्री वसुभूति तथा वत्सराज उदयन के कंचुकी उन बाभ्रव्य के साथ राजकुमारी रत्नावली को जलपोत में बिठा कर भारत को भेज दिया जो रत्नावली के विवाह का प्रस्ताव लेकर सिंहलद्वीप गए थे। परन्तु सौभाग्यवश कहिए अथवा दुर्भाग्यवश कहिए वह जलपोत सागर में ही भग्न हो गया। रत्नावली किसी भी प्रकार से पोत के काष्ठ-फलक पर बैठकर तट से आ लगी। कौशाम्बी के एक व्यापारी ने राजकुमारी को उस करुणाजनक दशा में देखा और रत्नों से बनी माला को उनके पास देखकर यह अनुमान किया कि वह किसी देश की राजकुमारी हैं और मन्दभाग्या होने के कारण भयंकर आपत्ति में पड़ गई हैं। वह व्यापारी रत्नावली को कौशाम्बी ले आया और यौगन्धरायण से उनका परिचय कराया। यौगन्धरायण ने रत्नावलीकथित करुणकथा को सुना और तदनन्तर रत्नावली को राजप्रासाद के अन्तःपुर में ले जाकर वासवदत्ता की परिचारिका के रूप में नियुक्त कर दिया। उनका नाम भी बदल कर यौगन्धरायण ने सागरिका रख दिया। सागरिका को एक 'सारिका' की देखभाल करने का कार्यभार सौंपा गया। वासवदत्ता अपने पति उदयन की विलासप्रियता से भलीभाँति परिचित थीं अतएव सागरिका के सौन्दर्य की आकर्षकता को वह अपने पति की दृष्टि से निरन्तर बचाती ही रहती थीं। वसुभूति तथा बाभ्रव्य भी किसी न किसी उपाय से तट तक पहुँच गए और उदयन के प्रधान सेनानायक उन रुमण्वान् से जा मिले जो उस समय कोशल देश पर विजय प्राप्त करने के लिए उस पर आक्रमण कर रहे थे।

१. प्रारम्भ

संस्कृत भाषा के नाटकों का आरम्भ दो प्रकार की परिस्थितियों में होता है। (अ) वह परिस्थिति जिसमें पारलौकिक शक्तियों के अनुग्रह अथवा

निजी चेष्टाओं से नायक के परमलक्ष्य की सिद्धि के लिए साधन प्राप्त किए जा चुके हैं। (आ) अथवा वह परिस्थिति जिसमें परम लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों को प्राप्त नहीं किया गया है। प्रथम प्रकार के आरम्भ में नाटकीय कार्य का आरम्भ साधनों के पुनः संगठित अथवा उनका स्मरण करने से, इष्ट साध्य की प्राप्ति में वे साधन सफलता तक ले जाने वाले हैं या नहीं यह निश्चित करने से तथा तत्परिणाम स्वरूप उनको प्रयुक्त करने के संकल्प से होता है। दूसरे प्रकार के आरम्भ में, अर्थात् जिसमें साधन अप्राप्त हैं, उनको जानने के लिये मानसिक चेष्टा प्रदर्शित की जाती है और उनकी साध्य प्राप्ति कराने की शक्ति का निश्चय हो जाने के उपरान्त उनको प्राप्त करने की चिन्ता प्रकट की जाती है।

यह आवश्यक नहीं है कि नाटक का प्रारम्भ सदैव नायक ही करे। यदि राजा ने राज्यप्रबन्ध के कार्यभार को राजमंत्री के हाथों में सौंप दिया है तो नाटकीय कार्य का आरम्भ राजमंत्री करता है। रत्नावली नाटिका का आरम्भ नायक नहीं वरन् राजमंत्री यौगन्धरायण ही करता है। अपनी प्रारम्भिक परिस्थिति के स्वरूप के अनुसार नाटक का आरम्भ केवल नायक राजा अथवा राजमंत्री से ही नहीं अपितु नायिका, प्रतिनायक अथवा किसी दिव्यप्राणी[1] से भी किया जा सकता है।

नाटिका रत्नावली का प्रथम अंक इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए स्पष्ट दृष्टान्त है। इस नाटिका का प्रदर्शनीय स्थायीभाव रति है। अतएव राजा उदयन को एक अत्यंत विलासी राजा के रूप में प्रदर्शित करना स्वाभाविक है। राज्यप्रबन्ध का समस्त कार्य उनके राजभक्त राजमन्त्री यौगंधरायण ही करते हैं। उदयन अपनी विलासक्रीड़ाओं में ही सदैव निमग्न ,रहते हैं। अतएव नाटकीय कार्य का आरम्भ उनके राजमन्त्री ही करते हैं। नाटक का प्रधान लक्ष्य उदयन के साथ रत्नावली का पाणिग्रहण है। कोशल देश पर विजय प्राप्त करना प्रासङ्गिक है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के अधिकांश साधन प्राप्त किए जा चुके हैं। रत्नावली प्राप्त की जा चुकी हैं और उनको राजप्रासाद के अन्तःपुर में रक्खा जा चुका है अतएव नायक के साथ उनका मिलन सुगम हो गया है। रत्नावली तथा उदयन के पाणिग्रहण के सम्बन्ध में सिंहलेश्वर की सहमति पहले से ही ज्ञात है। और दैवी शक्ति भी सर्वथा अनुकूल प्रतीत होती है। अतएव रत्नावली नाटिका का आरम्भ इष्टलक्ष्यपूर्ति के साधनों के स्मरण करने से एवं

---

[1] अभि० भा० भाग ३—६

लक्ष्यसिद्धि के संबंध में उनकी शक्ति की पर्य्याप्तता के ज्ञान से उत्पन्न सन्तोष को प्रकट करने से होता है।

नाटक के आरम्भ में कार्य के जिन विभिन्न अंशों का प्रयोग किया जा सकता है उनका उल्लेख भरत मुनि ने 'सन्ध्यंग' शीर्षक के अन्तर्गत नाटक के विशदरूप विश्लेषण के प्रसंग में किया है। अतएव अब हम कार्य की दूसरी अवस्था का वर्णन करेंगे।

२. यत्न

गत उपप्रकरण में कथित कोई भी व्यक्ति नाटक का आरम्भ कर सकता है। परन्तु यत्न नाटक के नायक को ही करना पड़ता है। यह यत्न अत्यन्त शीघ्र इष्टसिद्धि के एक मात्र उपाय को जानने की चेष्टा एवं सम्पूर्ण शक्ति से उसका अनुसरण करना मात्र ही है। रत्नावली नाटिका में नाटक के लेखक ने कार्य की इस दूसरी अवस्था अर्थात् 'यत्न' को अत्यंत निपुणता के साथ प्रदर्शित किया है। यदि हम कार्य की इस दूसरी अवस्था के प्रदर्शन के प्रभाव पर विचार करें तो इस अवस्था का सम्पूर्ण महत्त्व ज्ञात हो सकता है। क्योंकि इस नाटिका के कार्य की दूसरी अवस्था 'यत्न' का स्वरूप अत्यंत सरल एवं महत्त्वहीन है। परन्तु इस 'यत्न' का स्वरूप नायिकान्तर्गत स्थायी भाव एवं उसकी निस्सहाय बाह्य परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल है।

यत्नावस्था की परिस्थिति

वत्सराज उदयन के अन्तःपुर में सागरिका के नाम से रत्नावली को वासवदत्ता की प्रिय सारिका की देखरेख करने के लिए नियुक्त किया जा चुका है। वसन्तोत्सव का पर्व आ गया है। राजप्रासाद के प्रत्येक व्यक्ति का अन्तःकरण उत्सव के आह्लाद से परिपूर्ण हो गया है। उत्सव को सम्पन्न करने के लिए भव्य साधन सज्जित किये जा चुके हैं। प्राचीन परम्परासिद्ध विधि के अनुसार राजा उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता से प्रीति उपहार लेने के लिए मकरंदोद्यान में आ चुके हैं। उस उत्सव को देखने के लिये सागरिका के नाम से रत्नावली भी उस उद्यान में आ गई है। सागरिका के असाधारण सौन्दर्य का प्रभाव विलास-प्रिय उदयन के अन्तःकरण पर कहीं न पड़ जाय इसलिए वासवदत्ता ने सागरिका को सारिका की देखभाल करने के लिये वहाँ से हटा दिया है। युवावस्था सुलभ कौतूहल से विवश होकर सागरिका वासवदत्ता के निकट से

चली जा कर भी मकरंदोद्यान के वृक्षों की आड़ में रुक कर उत्सव के दृश्य को छिप कर देख रही है।

इस अवसर पर कामदेव की अर्चना करना परम्परासिद्ध रीति है। राजमहिषी वासवदत्ता ने उदयन को मकरंदोद्यान में प्रीति उपहार लेने के लिये आमंत्रित किया है। वे आ गये हैं। वत्सराज उदयन का शारीरिक सौन्दर्य ऐसा असाधारण है कि वृक्षों की ओट में से रत्नावली जब उनको देखती हैं तो उनको यह ज्ञात होता है कि राजमहिषी वासवदत्ता के आह्वान पर स्वयं कामदेव मूर्तिमान होकर मकरंदोद्यान में आ उतरे हैं। यह समझकर सागरिका वैसा ही आचरण करती हैं जैसा कि एक कुमारी कन्या के लिए स्वाभाविक है। वे यह प्रार्थना करती हैं कि उनका दिव्य दर्शन निष्फल न हो। उत्सव समाप्त होता है। नेपथ्य से एक वैतालिक यह संवाद देता है कि राजसभा में अनेक आश्रित नृपाल उदयन के पदों में नमित होने के लिए उपस्थित हो चुके हैं। इस कथन को सुनकर सागरिका को यह ज्ञात होता है कि जिसको भ्रान्ति के कारण वह कामदेव समझ रही थी वह कामदेव न होकर स्वयं राजा उदयन हैं। उसको उसी क्षण यह याद आती है कि इन्हीं वत्सराज उदयन के साथ पाणिग्रहण करने के लिए उनके पिता सिंहलेश्वर ने उनको भारत में भेजा था। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि इस प्रकार के दृश्य का एक युवती अविवाहिता राजकुमारी के अन्तःकरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इस भूमण्डल में ऐसी कौन सी कुमारी कन्या है जो ऐसे व्यक्ति को अपने पति के रूप में वरण नहीं कर लेगी जिसके सौन्दर्य को देखकर उसके मन में कामदेव की भ्रान्ति उत्पन्न हो गई हो और जो यह जानती हो कि उसके माता-पिता की सहमति उस व्यक्ति के साथ में उसका विवाह करने की है?

ऐसी दशा में जैसा कि परम स्वाभाविक है सागरिका उसी क्षण से उदयन को अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण से प्रेम करने लगती है। परन्तु वह विदेश में एक अपरिचित के राजभवन में निवास कर रही है। उसका पद राजमहिषी की उस सेविका का पद है जिसका काम एक सारिका पक्षी का पालन पोषण करना है। स्वयं राजमहिषी सागरिका के सौन्दर्य को कितनी ईर्ष्या की दृष्टि से देखती हैं यह इसी से ज्ञात हो चुका है कि महारानी ने सागरिका को उत्सवभूमि से दूर इसलिए भेज दिया है कि वत्सराज उदयन की दृष्टि कहीं उस पर न पड़ जाय। सागरिका उस दुर्दशा की कल्पना कर सकती थी जो वासवदत्ता के हाथों से उस समय होगी जब उनको यह किसी प्रकार से ज्ञात हो जायगा

कि सागरिका उदयन से प्रेम करती है। सेविका होने के कारण वह राजप्रासाद में सर्वत्र आ जा भी नहीं सकती है जिससे कि वह किसी एक स्थान से राजा उदयन के दर्शन ही कर सके। प्रेम भाव की तीव्रता से अभिभूत होकर सागरिका उदयन को देखने के सभी उपायों की खोज करती है परन्तु उसे कोई भी एक ऐसा उपाय नहीं मिलता है जिससे वह उनका साक्षात्कार कर सके।

जब कोई भी उपाय सागरिका को ऐसा नहीं मिलता है जिससे वह राजा उदयन को प्रत्यक्ष देख सके तो वह यह निश्चय करती है कि वह स्वयं अपने प्रिय का चित्रण एक चित्र में करे और इस प्रकार से अपनी दर्शनलालसा को तृप्त करे। अतएव चित्र का अङ्कन करने के लिए वह कदली-गृह में जाकर बैठती है। यही नाटक के कार्य की दूसरी अवस्था अर्थात् यत्न है। कार्य की इस अवस्था का सम्पूर्ण महत्त्व[1] पाठक को तभी ज्ञात हो सकता है जब वह इस प्रकार के यत्न के अन्तिम प्रभाव पर विचार करे। कथानक से सुपरिचित पाठक यह भलीभांति जानते हैं कि नायिका का यह सादासीधा यत्न ऐसा था जो नायिका को उसके प्रिय से मिलाने में अन्ततोगत्वा सहायक सिद्ध हुआ था।

३. प्राप्त्याशा

नाटकीय कार्य की यत्नावस्था ही नाटक के सभी पात्रों को दो वर्गों में विभक्त कर देती है, यदि पूर्वकाल में ही उनका ऐसा विभाजन नहीं हो गया है। १. प्रथम वर्ग में वे व्यक्ति होते हैं जो लक्ष्यसिद्धि में नायक के सब प्रकार से सहायक होते हैं। एवं २. दूसरे वर्ग में वे पात्र होते हैं जो नायक की लक्ष्यसिद्धि में प्रत्येक बाधा उत्पन्न करते हैं और नायक के सभी यत्नों को विफल करने की पूर्ण चेष्टा करते हैं। अतएव नाटकीय कार्य की तीसरी अवस्था अर्थात् प्राप्त्याशा में दो विरोधी दलों के परस्पर संघर्ष को प्रदर्शित किया जाता है। इसलिए कुछ समय तक कथानक की गति से यह ज्ञात होता है कि नायक के लक्ष्य की सिद्धि अत्यन्त निकट है, परन्तु मार्ग में ऐसी बाधाएँ आती हैं जिनके कारण लक्ष्य की सिद्धि कभी सुदूर और कभी असंभव ज्ञात होने लगती है। लक्ष्यसिद्धि का यह निकट और दूर होना अनेक बार होता है। कार्य की इस अवस्था में नायक को प्राप्त साधनों की सहायता से उत्पन्न सफलता की आशा से परिपूर्ण प्रदर्शित किया जाता है परन्तु इस आशा में विफलता का

[1] अभि० भा० भाग ३–७

भय भी इसलिये मिलाजुला रहता है क्योंकि उस विरोधीदल का अस्तित्व बना रहता है जो बहुधा नायक अथवा नायिका की सभी चेष्टाओं को विफल बनाने का प्रयास अपनी पूर्ण शक्ति से निरन्तर किया करता है। यही कारण है कि नाटकीय कार्य की इस तीसरी अवस्था को शास्त्रीय भाषा में प्राप्त्याशा[1] कहते हैं।

प्राप्त्याशा का कथानकांश

राजप्रासाद की बाटिका के कदलीगृह में उदयन के चित्र को चित्रफलक पर सम्पूर्ण रूप से बनाकर सागरिका बैठी है। जैसे ही चित्र को वह पूरा करती है वैसे ही उसकी एक सखी उसके पास आ पहुंचती है। उसकी दशा को देखकर चित्र के अङ्कन का प्रयोजन उस सखी को ज्ञात हो जाता है। वह तूलिका उठाती है और उदयन के पार्श्व में सागरिका का चित्र अङ्कित कर देती है। सागरिका आश्चर्यान्वित हो जाती है। वह क्रोध को प्रकट करके अपने अन्तःकरण के भाव को छिपाने की चेष्टा करती है। परन्तु उसकी सखी सुसंगता अन्तरंग मित्रता स्थापित करते हुए सागरिका के प्रेम की प्रशंसा करती है, उसको सब प्रकार की सहायता देने का वचन देती है, और यह भी बतलाती है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति में सारिका की भी सहायता प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार से वार्त्तालाप करते ही सागरिका में प्रेमभावना इतनी अधिक उत्कट हो जाती है कि वह मूर्च्छित हो जाती है। उपचार से सुसंगता उसको सचेत करती है। अभी सागरिका कठिनता से सचेत हो पाई है कि उसको यह सुनाई पड़ता है कि एक बन्दर अपने वासस्थान से भाग निकला है। सागरिका और सुसंगता आत्मरक्षा के लिए भयभीत होकर उसी स्थान पर चित्र को ज्यों का त्यों छोड़कर भाग खड़ी होती हैं। उसी समय में वह सारिका जिसकी देख रेख का भार सागरिका पर था, अपने पिंजर से उड़ जाती है। यह विचार कर कि महारानी वासवदत्ता को वह सारिका अत्यन्त प्रिय है और उसके खो जाने पर वे भयानक रूप से रुष्ट होंगी दोनों सखियाँ उस उड़ती हुई सारिका के पीछे दौड़ने लगती हैं। ठीक इसी समय पर राजा उदयन अपने प्रिय विदूषक के साथ उस बाटिका में प्रवेश करते हैं और उस चित्रपट को देखते हैं। जिस समय उस चित्रांकन के कारण के विषय में वे परस्पर ऊहापोह

---

[1] द० रू० ६

करते हैं उसी समय जैसा कि सुसंगता ने कल्पना की थी, पिंजरमुक्त सारिका एक निकट वृक्ष की शाखा पर बैठ कर उस पूरे वार्त्तालाप को कह सुनाती है जो सागरिका और उसकी सखी सुसंगता के बीच कुछ समय पूर्व हुआ था। इससे सागरिका के अन्तःकरण का सम्पूर्ण भेद प्रकट हो जाता है। इस प्रकार से प्रकटीकृत भाव का उदयन पर क्या प्रभाव पड़ा इसको कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस समय चित्र के विषय में राजा उदयन एवं विदूषक परस्पर बातचीत कर रहे हैं, उसी समय सागरिका अपनी प्रिय सखी के साथ चित्र पट को लेने के लिए कदली-गृह की ओर लौटती है। कदली-गृह से थोड़ी दूर से राजा उदयन एवं उनके विदूषक वार्तालाप करते हुए सुनाई पड़ते हैं। एक वृक्ष की आड़ में अपने को छिपा कर दोनों उस वार्त्तालाप को सुनती हैं। सागरिका के अन्तःकरण में स्वभावतः आशा का संचार होता है।

कुछ समय के बाद सुसंगता चित्रपट लेने के बहाने कदली-गृह में जाती है और उदयन को यह समाचार देती है कि सागरिका कहीं दूर पर नहीं है। राजा उदयन तुरन्त ही सागरिका से मिलने के लिए उसके निकट जा पहुँचते हैं। इस प्रकार से प्रेमी तथा प्रेमिका का प्रथम मिलन होता है। मिलन के कुछ ही क्षण के बाद विदूषक एक ऐसे द्व्यर्थक वाक्य को कह सुनाता है कि उन दोनों में राजमहिषी वासवदत्ता के आने का भय उत्पन्न हो जाता है और वे दोनों विलग हो जाते हैं। विदूषक यह कहता है :—

'यहाँ दूसरी महारानी वासवदत्ता है'। सागरिका तथा सुसंगता दोनों उस स्थान से भाग जाती हैं। शीघ्र ही राजा उदयन को विदूषक के वाक्य की द्व्यर्थकता समझ में आ जाती है। वे विदूषक को भलाबुरा कहने लगते हैं। उसी समय स्वयं महारानी वासवदत्ता अपनी परिचारिका कांचनमाला के साथ वहां पर आती हैं। विदूषक चित्रपट को अपने उत्तरीय से ढंक कर अपनी एक बगल में छिपाता है। राजा उदयन एवं महारानी वासवदत्ता परस्पर वार्त्तालाप करने लगते हैं। वासवदत्ता के मुख से सहसा एक ऐसा वाक्य निकलता है जिसको सुनकर विदूषक इतना प्रसन्न हो जाता है कि अपने हाथ उठाकर नाचने लगता है। परिणाम यह होता है कि बगल में छिपाया गया चित्रपट भूमि पर गिर पड़ता है। कांचनमाला उस चित्रपट को उठाकर महारानी वासवदत्ता को दे देती है। चित्र को देखकर महारानी वासवदत्ता चौंक सी पड़ती हैं। वे राजा उदयन से चित्ररचना के विषय में प्रश्न करती हैं। परन्तु राजा उदयन के उत्तर से उनको कोई सन्तोष प्राप्त नहीं होता। सम्पूर्ण परिस्थिति वासवदत्ता

की दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष सी हो उठती है। 'इस चित्रफलक को देखकर मेरे शिर में भयानक पीड़ा होने लगी है' यह कह कर वह शीघ्र ही उस स्थान से चली जाती हैं। वे तुरन्त ही सागरिका को पदच्युत कर अपनी एक परिचारिका की निगरानी में उसको रख देती हैं। वासवदत्ता के दुर्भाग्य से एवं सागरिका के सौभाग्य से जिस परिचारिका की निगरानी में उसको रक्खा जाता है वह सुसंगता ही है। सुसंगता पहले से ही सागरिका की अन्तरंग सखी है और राजा उदयन से उसको मिलाने का वचन दे चुकी है। इस प्रकार से हम यह देखते हैं कि नाटक के लगभग सभी पात्र दो परस्पर विरोधी दलों में विभाजित हो गए हैं और उनमें संघर्ष का आरम्भ हो गया है।

महारानी वासवदत्ता और उनकी दो परिचारिकाएं कांचनमाला तथा मदनिका एक दल में हैं और सागरिका, राजा उदयन, विदूषक एवं सुसंगता दूसरे दल में हैं। राजा उदयन प्रेमभावना से आहत होकर शय्यालीन हो चुके हैं। और जैसा कि सागरिका के पक्ष वाले भलीभांति जानते हैं सागरिका का जीवन भी दुर्भर हो गया है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं महारानी वासवदत्ता ने आशंकित होकर सब प्रकार से ऐसा प्रवन्ध किया है कि राजा उदयन के साथ सागरिका का मिलन न हो सके। इसी के लिए उन्होंने सागरिका को निज दुर्भाग्यवश उस सुसंगता की निगरानी में रक्खा था जो सागरिका के पक्ष में थी। परन्तु विदूषक सुसंगता से मिलकर राजा उदयन से सागरिका को मिलाने की एक प्रच्छन्न योजना बनाता है। यह तय किया जाता है कि सागरिका वासवदत्ता का और सुसंगता कांचनमाला का वेश धारण करेंगी, सौभाग्य से पूर्व समय में महारानी वासवदत्ता ने प्रसन्न होकर सुसंगता को अपने जो वस्त्रादि उपहार स्वरूप भेंट किए थे उन्हीं को पहन कर सागरिका वासवदत्ता का रूप बना लेगी और विदूषक उन दोनों को लेकर राजा उदयन के निकट जाएगा। इस प्रकार से एक दल लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

परन्तु विरोधीदल भी सर्वथा निश्चेष्ट नहीं है। कांचनमाला को यह छल-योजना किसी प्रकार से ज्ञात हो जाती है। वह महारानी वासवदत्ता से सब कह सुनाती है। दोनों तुरन्त यह तय करती हैं कि वे सागरिका के पहिले ही राजा उदयन के निकट पहुंच जांएगी। अतएव वासवदत्ता कांचनमाला के साथ अन्यवेषधारिणी सागरिका के आने से कुछ समय पूर्व निर्धारित स्थान पर पहुँच जाती हैं। विदूषक यह नहीं जान पाता है कि उसकी छल-योजना प्रकट हो चुकी है और महारानी वासवदत्ता सागरिका के आने के पहिले ही आ पहुंची हैं।

अतएव वह उनको राजा उदयन के पास ले जाता है। राजा उदयन जब वासवदत्ता को कांचनमाला के साथ आया देखते हैं तो वह यह समझते हैं कि वासवदत्ता के वेश को धारण कर सागरिका ही आ गई है। वे वेशरचना की सफलता के लिए सागरिका को बधाई देते हैं और अपनी प्रेमव्यथा को कहना आरम्भ करते हैं। इस प्रकार के आचरण से महारानी वासवदत्ता का अन्तरतम तक क्षुभित हो उठता है। वे राजा उदयन से यह बताती हैं कि वे छद्मवेश-धारिणी सागरिका न होकर स्वयं वासवदत्ता हैं। उदयन उनके चित्त को शान्त करने की बहुत चेष्टा करते हैं परन्तु वे कुपित होकर उदयन के निकट से चली जाती हैं। इस प्रकार से सागरिका की लक्ष्यसिद्धि और भी दूर हो जाती है।

सागरिका को यह ज्ञात हो जाता है कि उसकी छद्मयोजना को महारानी जान चुकी हैं और उनकी मनोवृत्ति भयंकर हो उठी है। जीवन के प्रति एक कटु अवहेलना का भाव उसमें उत्पन्न हो जाता है। और वह गले में फांसी लगाकर आत्महत्या करने की ठान लेती है। ऐसा करने के लिये वह एक वृक्ष के निकट जाती है।

राजा उदयन जो महारानी वासवदत्ता के उस क्षोभ की तीव्रता को देख चुके थे जिसको लेकर वे उनके निकट से चली गई थीं, यह तय करते हैं कि वासवदत्ता के प्रासाद में जाकर वे उनको सन्तुष्ट करें। जब वे महारानी के भवन की ओर जा रहे हैं तो विदूषक वासवदत्ता के वेश में सागरिका को आत्महत्या करने के लिए अपने को तैयार करते देखता है। विदूषक यह समझता है कि राजमहिषी ही राजा से क्रुद्ध होकर आत्महत्या करने जा रही हैं। वह राजा से उनकी प्राणरक्षा करने के लिए आग्रह करता है। राजा उदयन शीघ्रता से उनकी ओर जाते हैं। निकट पहुंच कर वे यह देखते हैं कि वह वासवदत्ता न होकर वस्तुतः सागरिका है। वे उसके गले से फांसी के फन्दे को दूर करते हैं और ऐसी दशा में जैसा स्वाभाविक होता है सागरिका का आलिंगन भी करते हैं। इस प्रकार से प्रेमी तथा प्रेमिका का मिलन फिर एक बार सम्भव होता है और नायिका की लक्ष्यसिद्धि निकट दिखाई देने लगती है।

इसी बीच में महारानी वासवदत्ता के मन में यह विचार आता है कि उन्होंने राजा के प्रति अत्यन्त कठोर व्यवहार किया है। पश्चात्ताप से पीड़ित होकर वे अपने पति को प्रसन्न करने के लिए चल देती हैं। कुछ ही दूर तक चलने पर वे राजा उदयन की वाणी को सुनती हैं और यह तय करती हैं कि

पीछे से जाकर वे उदयन का आलिंगन कर उनको प्रसन्नता से अवाक् करें। परन्तु कुछ और निकट आने पर वे सागरिका का नाम सुनती हैं अतएव यह तय करती हैं कि वे छिपे हुए उनके परस्पर वार्त्तालाप को सुनें। उनके प्रेमालाप से क्रुद्ध होकर वे उन दोनों के सम्मुख पहुंचती हैं और अपने क्रोध को प्रकट करती हैं। उदयन उनके क्रोध को शान्त करने का भरसक प्रयत्न करते हैं परन्तु वे अपने पति की एक नहीं सुनतीं। महारानी वासवदत्ता सागरिका को बन्दिनी बनाने का आदेश देती हैं और स्वयं उस स्थल से चली जाती हैं। इस प्रकार से विरोधी दल की फिर विजय होती है और सागरिका को ऐसा लगता है कि लक्ष्यसिद्धि असंभव है।

इस प्रकार से नाटकीय कार्य की तीसरी अवस्था अर्थात् प्राप्त्याशा को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है :—(अ) कार्य एवं (आ) भाव। कार्य के दृष्टिकोण से यह अवस्था दो परस्पर विरोधी दलों का संघर्ष है जिसमें एक दल की विजय का अर्थ दूसरे दल की पराजय है। भाव के दृष्टिकोण से कार्य की यह वह अवस्था है जिसमें नायक अथवा नायिका के अन्तःकरण में लक्ष्य सिद्धि की आशा का संचार इसलिए होता है क्योंकि इष्टसिद्धि के साधन ज्ञात हो जाते हैं। परन्तु इस आशा के साथ-साथ विफलता का भय भी बना रहता है क्योंकि शक्तिशाली विरोधीदल के अस्तित्व का भान भी होता रहता है। इस भाव को सागरिका शब्दों में अत्यन्त निपुणता से उस समय प्रकट करती है जब उसको प्रिय[1] से मिलने के लिए वेशपरिवर्तन एक उपाय के रूप में ज्ञात होता है।

४. नियताप्ति

गत उपप्रकरण से हमें यह ज्ञात हो चुका है कि नाटकीय कार्य की तीसरी अवस्था 'यत्न' में विरोधी दल की जागरूकता एवं क्रियाशीलता के कारण नायक अथवा नायिका की लक्ष्यसिद्धि के मार्ग में अनेक भयंकर आपदाएं उत्पन्न होती हैं। इससे स्वभावतः होता यह है कि नायक, नायिका अथवा उनके सहायक लक्ष्यसिद्धि के नए सम्भावित उपायों की खोज करते हैं और सभी उन विरोधों अथवा आपदाओं को नष्ट करने के लिए उपलब्ध साधनों का प्रयोग करना आरम्भ कर देते हैं जो उनके मार्ग में बाधा स्वरूप होकर आए हैं। संस्कृत भाषा के नाटकों में नायक को सदैव उन आपत्तियों तथा बाधाओं पर विजय

---

[1] द० रू० ६

प्राप्त करता हुआ प्रदर्शित किया जाता है जो कुछ समय तक उसकी लक्ष्यसिद्धि के मार्ग में अवरोध स्वरूप बनकर वर्तमान रहतीं हैं और उसकी योजनाओं तथा चेष्टाओं को विफल बनाया करतीं हैं। क्योंकि जैसा कि हम कह चुके हैं संस्कृत भाषा में दुःखान्त नाटक नहीं हैं।

लक्ष्यप्राप्ति में रुकावट डालने वाली बाधाओं का हटाना दो प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है :—(अ) उसे पूर्णरूप से नष्ट कर—जिन नाटकों में रावण के अधिकार से सीता का प्रतिलाभ प्रदर्शित किया जाता है उनमें इस प्रकार के अवरोध का नष्टीकरण ही प्रदर्शित किया जाता है। ऐसे नाटकों में प्रकट-नीय मुख्य स्थायी भाव वीररसोत्पादक उत्साह होता है। (आ) विरोधी दल के नेता को अनुकूल बनाकर—रत्नावली में इस दूसरे प्रकार का अवरोधनाश प्रदर्शित किया गया है। ऐसी दशा में 'रति' के स्थायी भाव को मुख्यरूप से प्रकट किया जाता है। इस दूसरे प्रकार के अवरोधनाशन का प्रदर्शन अत्यन्त सुन्दर रीति से रत्नावली नाटिका के उस अंश में किया गया है जिसका आरम्भ राजा उदयन के इस निर्णय से होता है कि सागरिका के साथ उनका पाणिग्रहण[1] केवल एक ही उपाय से सम्पन्न हो सकता है और वह उपाय वासवदत्ता को प्रसन्न करना है (वयस्य ! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि)।

अवरोध के अभाव का अर्थ यह नहीं है कि अवरोध के नष्ट होते ही तुरन्त मिलन हो जाय अथवा लक्ष्य की सिद्धि सम्पन्न हो जाय। ऐसा प्रदर्शित करना अनाटकीय होगा। विरोध के दूरीकरण से लेकर वास्तविक मिलन तक नाटक के अंश में कथानक के अस्फुट अथवा रहस्यमय भागों की अस्फुटता और रहस्यमयता को दूर किया जाता है।

राजमहिषी वासवदत्ता जब राजा उदयन के सर्वथा अनुकूल हो जाती हैं और उनका मनोमालिन्य नष्ट हो जाता है तो रत्नावली नाटिका में रहस्यो-द्घाटन का अंश बड़ी निपुणता से प्रदर्शित किया गया है। इसका आरम्भ कोशल विजय का शुभ समाचार लेकर विजयवर्म्मन के प्रवेश करने से होता है। कोशल के विरूद्ध युद्ध के प्रधान संचालक महासेनाधिपति रुमण्वान् ने उनको महाराज उदयन के निकट विजय के संदेश को पहुंचाने के लिए जिस विजयवर्मन् को भेजा था वह महासेनाध्यक्ष का संवाद राजा को ज्योंही

---

[1] द० रू० ६

सुनाता है त्योंही एक ऐन्द्रजालिक आकर राजा से अपने विस्मयकारी इन्द्रजाल को देखने की प्रार्थना करता है। इन्द्रजाल को देखने के लिए प्रसादित महारानी वासवदत्ता राजा उदयन के वाम पार्श्व में बैठती हैं। इन्द्रजाल प्रदर्शन के आरम्भ होते ही राजा उदयन को यह समाचार प्राप्त होता है कि सिंहलेश्वर के सैनिक पदाधिकारी वसुभूति उनसे मिलने की प्रतीक्षा में हैं। राजा उदयन की आज्ञा पाकर विदूषक वसुभूति को राजा के निकट लाने जाता है। वे विदूषक के कण्ठ में उस मणिमाला को देखते हैं जो रत्नावली की उस मणिमाला से बहुत अंशों में मिलती जुलती है जो उनको उदयन के प्रासाद को प्रस्थान करने के समय प्रदान की गई थी। अतएव उनके मनमें यह विचार आता है कि संभवतः रत्नावली उदयन के राजप्रासाद में वर्तमान हैं। उनके इस विचार को उनका एक दूसरा साथी निर्मूल ठहराता है। वे राजा उदयन के निकट लाये जाते हैं और राजकुमारी रत्नावली के जलपोत के भग्न हो जाने की करुण कथा कह सुनाते हैं। उनकी करुण कथा समाप्ति के समनन्तर ही सहसा भयंकर कोलाहल सुनाई पड़ता है। कोलाहल का कारण यह ज्ञात होता है कि राजप्रासाद के उस भाग में आग लग गई है जिसमें सागरिका बन्दिनी है। महारानी वासवदत्ता यह समाचार सुनकर भ्रमितमति हो जाती हैं। वे राजा उदयन से यह कहतीं हैं कि राजप्रासाद के जलते हुए भाग में शृङ्खलाबद्ध सागरिका बन्दिनी है। अपने प्राणों की परवाह न करते हुए महाराज उदयन अग्नि से प्रज्वलित अन्तःपुर के उस अंश में दौड़कर घुस जाते हैं। राजमहिषी वासवदत्ता, विदूषक, वसुभूति एवं उनके मित्र सभी राजा उदयन के पीछे, अपने प्राणों को देकर भी, सागरिका को अग्नि की लपटों से बचाने के लिए दौड़ पड़ते हैं। वे सागरिका के कक्ष तक पहुँच जाते हैं। जैसे ही राजा उदयन आग से बाहर निकालने के लिए सागरिका के शरीर का स्पर्श करते हैं वैसे ही अग्नि शान्त हो जाती है। यह अग्नि ऐन्द्रजालिक का ही एक चमत्कार थी। सभी लोग विस्मय से मुग्ध रह जाते हैं। सिंहलेश्वर के सेनानायक वसुभूति सागरिका के रूप में रत्नावली को पहचान लेते हैं। इस प्रकार से कथानक के एक अस्फुट अंश का प्रकटन हो जाता है। इसके उपरान्त अमात्य यौगन्धरायण उस स्थल पर आकर उपस्थित जनों के समक्ष यह स्पष्ट करते हैं कि रत्नावली को सागरिका के नाम से छद्मवेश में अन्तःपुर में नियुक्त करने का उनका वास्तविक प्रयोजन क्या था। इस प्रकार से सम्पूर्ण कथानक में कोई भी रहस्यमय अंश अवशेष नहीं रह जाता है।

५. फलागम

कार्य की विभिन्न अवस्थाओं का प्रदर्शन इस प्रकार से करते हैं कि फल-प्राप्ति तक एक अवस्था स्वाभाविक रूप से दूसरी अवस्था की ओर ले जाती है। कार्य की अन्तिम अवस्था का प्रदर्शन अधिक समय नहीं लेता। जब विरोधी दल पराजित हो जाता है अथवा लक्ष्यसिद्धि के सभी अवरोध नष्ट हो जाते हैं एवं कथानक के सभी रहस्य खुल जाते हैं तब कार्य के फलागम को अधिक समय लेते हुए प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। रत्नावली नाटिका में फलागम का यह अंश रत्नावली का महाराजा उदयन के साथ पाणिग्रहण[1] एवं चक्रवर्ती सम्राट् के पद की प्राप्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

अर्थप्रकृति[2]

वर्तमान नाट्य साहित्य के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि रूपकों में केवल वह मूल कथानक ही नहीं होता जिसकी पांच अवस्थाओं का वर्णन हमने गत उपप्रकरणों में किया है, वरन् उनमें मूल कथा से भिन्न कुछ ऐसे अंश भी होते हैं जिनको मूलकथानक का आवश्यक विधायक अंश नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार के कथांश संस्कृत भाषा के नाटकों में ही उपलब्ध नहीं होते हैं वरन् अंग्रेजी भाषा के नाटकों में भी प्राप्त होते हैं। जैसे कि शेक्सपियर की प्रौढ़ प्रतिभा से उत्पन्न नाट्यकृतियों में हमको ये कथांश प्राप्त होते हैं। शेक्सपियर के इन नाटकों में नाटकीय कार्य की केवल वे पांच अवस्थाएं ही नहीं देख पड़ती हैं जिनका वर्णन हमने गत उपप्रकरणों में किया है वरन् इनसे भिन्न बहुधा एक छठी अवस्था भी देख पड़ती है जो प्रस्तावना (Introduction) अथवा स्पष्टीकरण (Exposition) कही जा सकती है। इसमें बीज स्वरूप अथवा कारणस्वरूप वे परिस्थितियां प्रदर्शित की जाती हैं जिनसे मूल कथानक का 'कार्य' उत्पन्न होता है। जैसे कि जूलियस सीज़र नाटक का प्रस्तावना-स्वरूप प्रथम दृश्य है। ऐसा ज्ञात होता है कि नाटककार शेक्सपियर दर्शकों को राजधानी के मुख्य भाग के दृश्य में ले जाना चाहते हैं, परन्तु उसी समय में वे वस्तुतः अपने नाटक के मूल कथानक की आधारभूमि का सृजन करते हैं। इसके अतिरिक्त उनके 'ऐज़ यू लाइक् इट' नामक नाटक में हम निम्नलिखित मूलकथानक से भिन्न उपकथांशों को पाते हैं :—

---

[1] द० रु० ६ [2] अभि० भा० भाग ३–१२

१. सीलिया एवं ओलीवर की प्रेम कथा ।
२. फेवी तथा सिल्वियस् की प्रेम-कथा ।
३. ओड्री और टचस्टोन की प्रेम-कथा ।

इसी प्रकार से संस्कृत भाषा के नाटकों में भी साधारणतः हम प्रारम्भ में ही एक विशेष प्रस्तावना स्वरूप दृश्य पाते हैं जिसको शास्त्रीय भाषा में विष्कंभक कहते हैं । रत्नावली नाटिका के मूल कथानक का आरम्भ विष्कंभक से ही होता है । यह दृश्य शेक्सपियर लिखित उस जूलियस् सीज़र के प्रस्तावनारूप दृश्य के बहुत कुछ समान है जिसका उल्लेख हमने उपरिलिखित पंक्तियों में किया है । इसके अतिरिक्त उन नाटकों में जिनके प्रधान नायक राम हैं उपकथायें (पताका) एवं अन्तर्कथाएं (प्रकरी) प्राप्त होती हैं जैसे वालि और सुग्रीव की एवं श्रवणकुमार की कथाएँ ।

स्वभावतः इस प्रसंग में प्रश्न यह होता है कि मूल कथानक से भिन्न इन अंशों को प्रदर्शित करने का नाटकीय प्रयोजन क्या है ? संस्कृत भाषा के नाट्य-शास्त्र के शास्त्रकारों ने इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर दिया है । ये अंश इष्टलक्ष्य की 'प्राप्ति' के साधन होते हैं । शास्त्रीय भाषा में इनको अर्थप्रकृति अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति के साधन कहा जाता है । संस्कृत भाषा के नाट्यशास्त्र के लक्षणकारों ने पाँच प्रकार की अर्थप्रकृतियों का उल्लेख किया है । १ बीज, २ बिन्दु ३ पताका ४ प्रकरी एवं ५ कार्य । ये अर्थप्रकृतियां या तो नायक के इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होतीं हैं अथवा कथानक को नाटकीय रूप देने में नाटककार के लिए साधनस्वरूप होती हैं ।

१. बीज–एवं उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता

भारतीय शास्त्रकारों के मतानुसार रसानुभव का कारण स्थायीभाव का अन्तर्मुखी साक्षात्कार है । नाटकीय प्रदर्शन के साक्षात्कार में दर्शक अपने को स्वीय व्यक्तिगत भावों से प्रभावित नहीं होने देता । रसानुभव करते समय सहृदय की स्वतंत्र-निर्णयकारिणी मानसिक शक्ति सर्वथा व्यापार शून्य होती है और उसकी व्यक्तिगत इच्छाशक्ति पूर्णरूप से अपनी क्रियाशीलता को स्थगित कर देती है । इन बातों का होना इसलिए परमावश्यक है क्योंकि स्थायीभाव के अन्तर्मुखी साक्षात्कार का कारण नायक के साथ में सहृदय का तादात्म्य है । नाटकीय प्रदर्शन ही दर्शक की मानसिक शक्ति एवं इच्छाशक्ति के व्यापारों के पथ का निर्धारक होता है । सहृदय, एक विशिष्ट व्यक्ति स्वरूप अ, ब, अथवा

स के स्वतंत्र दृष्टिकोण से प्रदर्शन को नहीं देखता, वरन् उस दृष्टिकोण से देखता है जिससे उसका नायक अथवा नाटक का लेखक उसको देखता है। अतएव नाटक के लेखक के लिए यह परमावश्यक है कि स्वरचित नाटक के प्रदर्शन के प्रति दर्शन के मनोभाव (attitude) को वह यथासम्भव प्रदर्शन के आदि भाग में ही निर्धारित कर दे। अत्यन्त प्राचीन समय से मान्य रूप में चली आती हुई शास्त्रीय विधि का अनुसरण करते हुए नाटक के भारतीय लेखक दर्शक के मूल मनोभाव का निर्धारण नीरस रूप से न कर सरस नाटकीय रूप में करते हैं। प्रदर्शन के प्रति नाटक के दर्शकों का मूल मनोभाव क्या हो ? इसको निर्धारित करने का जो साधन है उसी को शास्त्रीय भाषा में बीज कहते हैं।

नाटक के बीज अंश का प्रयोजन एवं अभिप्रेत साध्य केवल एक ही नहीं होता है। दर्शक के मूल मनोभाव का निर्धारण उसका अनेक प्रयोजनों में से केवल एक ही प्रयोजन है। इसका दूसरा प्रयोजन दर्शक को सूचनाएँ प्रदान करना भी है। मूल कथानक में नायक के जीवन का एक विशिष्ट अंश ही प्रदर्शित किया जाता है। अतएव दर्शक को यह जताना आवश्यक है कि वे कौन सी परिस्थितियां अथवा घटनायें हैं जिनसे नाटकीय 'कार्य' की उत्पत्ति होती है। दर्शकों अथवा पाठकों को ऐसी घटनाओं की सूचना देना 'बीज' का दूसरा प्रयोजन है।

यदि हम रत्नावली के विशेष प्रस्तावना रूप दृश्य का विश्लेषण करें तो नाटक के लेखक का दोहरा प्रयोजन प्रकट हो जाता है। यह दृश्य नाटक के दर्शकों में भाग्यवादी मनोभाव को उत्प्रेरित करता है। इस मनोभाव के कारण वह प्रदर्शित अथवा सूचित घटनाओं को किसी स्वेच्छाचारी विधि अथवा दैव द्वारा पहले ही से नियोजित स्वीकार कर लेता है। अतएव प्रदर्शित घटनाओं के कारण के विषय में उसे कोई जिज्ञासा नहीं उठती है। इस मनोभाव का उत्प्रेरण उस प्रथम श्लोक से ही हो जाता है जिसका भावार्थ निम्नलिखित है—

'यदि भाग्य अनुकूल हो तो अभिप्रेत वस्तु दूर के द्वीप से, महासागर के मध्य से यहाँ तक कि दिशाओं के अन्त से भी निकट आ जाती है।'

नाटक के प्रारम्भ में ही इस प्रकार के कथन के पूर्ण महत्त्व एवं दर्शकों पर उसके प्रभाव को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि इस कथन के वक्ता के सामाजिक पद एवं व्यक्तिगत गौरव पर अपने ध्यान को केन्द्रित किया जाय। रत्नावली नाटिका के लेखक राजा हर्ष हैं। वर्तमान युग की आधुनिक लोकतंत्रवादी विचारधारा से वे परिचित नहीं हैं। नाटक के

संभावित तत्कालीन दर्शक भी ऐसी विचारधारा से अपरिचित ही हैं। साम्राज्यशाही शासन व्यवस्था में प्रधान मंत्री के महत्त्व को हम आज भी जानते हैं। उसका सर्वाधिक महत्त्व इस बात में है कि सामान्य लोकगत सर्वप्रधान विचारधारा का नेतृत्व उसके हाथों में होता है। इस प्रकार के प्रतिष्ठित व्यक्ति के भाषण का प्रदर्शन के प्रति दर्शक के मनोभाव को निर्धारित करने में मानसिक महत्त्व निस्सन्देह रूप से बहुत अधिक होता है।

'बीज' का दूसरा प्रयोजन भी यौगन्धरायण के उस कथन से पूर्णतया सिद्ध है जो उन्होंने इस श्लोक में कथित सिद्धान्त को लोक घटना से सिद्ध करते हुए दृष्टान्त रूप में कहा है। यौगन्धरायण का यह कथन दर्शकों को उन घटनाओं की सूचना देता है जिनसे नाटकीय कार्य की उत्पत्ति होती है। यौगन्धरायण यह कहते हैं कि "यदि यह सत्य न होता तो यह किस प्रकार से सम्भव हो सकता था कि सिंहलेश्वर की राजकुमारी महासमुद्र में जलपोत के भग्न हो जाने पर भी पोत के ही काष्ठफलक पर बैठकर भारतवर्ष के सागर तट पर आ पहुँचती, और यह किस प्रकार से सम्भव हो सकता था कि सिंहल द्वीप से लौटते हुए एक व्यापारी की दृष्टि उनके कण्ठहार पर पड़ती जिसके कारण उनको राजकुमारी पहचान कर इस देश में लाकर वह मुझको सौंप देता। मैंने भी उनको महारानी वासवदत्ता[1] की परिचारिका के रूप में नियुक्त कर दिया है। ऐसी परिस्थिति में इससे अधिक उचित कार्य और कोई नहीं हो सकता था—आदि—।"

इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि संस्कृत भाषा के सभी नाटकों में विशेष प्रस्तावना रूप दृश्य सर्वदा आवश्यक नहीं होता है। कथानक के स्वरूप के अनुसार इस दृश्य का प्रयोग करना चाहिए। यदि मूल कथानक को इस विशेष प्रस्तावनारूप दृश्य की आवश्यकता न हो तो इसको प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मूल कथानक का आरम्भ बिना ऐसी किसी विशेष प्रस्तावना के तुरन्त किया जा सकता है। नाटक के आरम्भ में विशेष प्रस्तावना रूप दृश्य तभी आवश्यक होता है जब नाटकीय रूप लेने वाले मूल-कथानक का प्रारम्भिक भाग नीरस हो। कथानक के इसी अंश को विशेष प्रस्तावना रूप दृश्य में प्रकट किया जाता है। परन्तु कथानक यदि अपने प्रारम्भिक अंश में ही सरस[2] है तो इस विशेष प्रस्तावना रूप दृश्य की कोई

[1] द० रू० ५ [2] द० रू० ७०

आवश्यकता नहीं होती है। जैसे कि कालिदास रचित प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में इस प्रकार का कोई भी प्रस्तावना रूप दृश्य नहीं है।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रस्तावना रूप दृश्य दो प्रकार के होते हैं। एक को हम सामान्यरूप प्रस्तावना कह सकते हैं जिसको शास्त्रीय भाषा में केवल 'प्रस्तावना' ही कहा जाता है। दूसरे को हम विशेष रूप प्रस्तावना कह सकते हैं जिसको शास्त्रीय भाषा में 'विष्कम्भक' कहा जाता है। यह विष्कम्भक अथवा विशेष रूप प्रस्तावना उन्हीं नाटकों में आवश्यक होती है जिनके कथानक का प्रारम्भिक अंश नीरस है। सामान्य प्रस्तावना में रंगमंच पर वे पात्र प्रवेश करते हैं जिनका अस्तित्व सभी नाटकों में होता है—जैसे नान्दी, सूत्रधार उसकी पत्नी तथा अनुचर आदि। यह 'प्रस्तावना' प्रत्येक नाटक के आदि में होती है चाहे उसके कथानक का प्रारम्भिक अंश नीरस हो चाहे सरस हो। विशेष प्रस्तावना अथवा विष्कंभक में मूल कथानक के एक अथवा अनेक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते हैं और नाटक के आरम्भ में कथानक के सूच्यांश के विषय में वार्तालाप करते हैं जिससे कि उसका बोध दर्शकों को हो जाता है। विशेष प्रस्तावना का नाटक में होना अथवा न होना मूल कथानक के स्वरूप पर निर्भर होता है। विशेष प्रस्तावना अथवा विष्कम्भक की ही तुलना शेक्सपियर के कतिपय नाटकों के आरम्भिक दृश्यों से की जा सकती है। शेक्सपियर लिखित नाटकों में वैसा कोई अंश नहीं होता जैसा कि सामान्य प्रस्तावना के रूप में संस्कृत भाषा के नाटकों में होता है। इस प्रकार के सामान्य प्रस्तावना की नाटकीय आवश्यकता क्या है इसका उल्लेख हम इसके विशद वर्णन के प्रसंग में करेंगे।

इस प्रसंग में आवश्यक रूप से उल्लेखनीय एक तथ्य यह है कि जिस नाटक के कथानक का प्रारम्भ करने के लिए विष्कम्भक अनावश्यक है उस नाटक में विष्कम्भक के कथित दो प्रयोजनों में से एक प्रयोजन की सिद्धि अर्थात् दर्शकों में आवश्यक मनोभाव का उत्प्रेरण सामान्य प्रस्तावना के साधन से पूरा किया जाता है।

शेक्सपियर लिखित जूलियस सीज़र नाटक के प्रथम दृश्य की वस्तु का विश्लेषण यदि हम करें तो हमको यह ज्ञात होता है कि संस्कृत भाषा के नाटकों में उपलब्ध विशेष प्रस्तावना अर्थात् विष्कम्भक के समान ही यह दृश्य है। इस दृश्य से दर्शकों को नाटकीय 'कार्य' की उत्पादिका परिस्थितियों का ज्ञान होता है। हम यह भली भांति जानते हैं कि इस नाटक के सम्पूर्ण कार्य

का मूल कारण जनसमूह अथवा सामान्य लोगों की मनोवृत्तियों की चंचलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि मनोवृत्ति की यह चंचलता नाटक के कार्य का बीजस्वरूप है। इसी चंचलता के कारण उस 'कार्य' का विकास होता है जिसका अन्त नाटक के नायक की दुखद मृत्यु में होता है। 'प्रस्तावनारूप' दृश्य में इस चंचलता को अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया गया है। इससे दर्शकों को इस बात का ज्ञान पहले ही से हो जाता है कि वह वस्तु अनिश्चित है जिसका आधार सामान्य लोगों की मनोवृत्ति जैसी चंचल वस्तु है। इस प्रकार से यह सिद्ध है कि शेक्सपियर के नाटकों में 'प्रस्तावनारूप' दृश्य संस्कृत नाटकों के विष्कम्भक दृश्य के समान ही होते हैं। ऐसे 'प्रस्तावनारूप' दृश्य शेक्सपियर के कुछ नाटकों में प्राप्त हैं और कुछ में नहीं प्राप्त हैं—इसका कारण भी वही सिद्धान्त है जिसके आधार पर संस्कृत भाषा के कुछ नाटकों में ये विष्कम्भक उपलब्ध नहीं होते हैं, और कुछ में होते हैं।

२. बिन्दु

नाटक में प्रदर्शित 'कार्य' एवं घटनाओं का प्रयोजन यह है कि वे नायक के प्रधान अथवा अप्रधान फल की प्राप्ति में सहायक हों। नायक के प्रधान प्रयोजन की सिद्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक कि उसकी सिद्धि की अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न न हो जाँय। परन्तु इस प्रकार की परिस्थितियाँ उपप्रयोजनों की सिद्धियों से उत्पन्न होतीं हैं। अतएव उपप्रयोजनों की सिद्धि की विधायक घटनाओं को प्रदर्शित करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इन घटनाओं के प्रदर्शन से होता यह है कि प्रधान कार्य कुछ समय के लिए अन्तर्लीन सा हो जाता है और उसकी निरंतरता भग्न सी हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में नाटक के लेखक के सामने मुख्य प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि प्रधान कार्य के प्रदर्शन का आरम्भ फिर से किस प्रकार से किया जाय? भरत मुनि के अनुसार संस्कृत भाषा के नाटकों के लेखकों का इस प्रसंग में माननीय सिद्धान्त यह रहा है कि जितनी बार मुख्य कार्य में भग्नता उत्पन्न हो अथवा जितनी बार परिस्थिति—परिवर्तन हो उतनी ही बार नाटक के नायक को मुख्य कार्य की प्रयोजक शक्ति का स्मरण एवं अनुसंधान करते हुए, प्रयोजक शक्ति (Motive force) के इस अनुसंधान के अनुसार अपने को परिवर्त्तित[1] परिस्थितियों के अनुकूल बनाते हुए, प्राप्त साधनों का उपयोग करते हुए एवं वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार का आचरण करते हुए प्रदर्शित करना चाहिये

---

[1] अभि० भा० भाग ३–१३

जिससे कि वह सिद्धिप्राप्ति के और भी अधिक निकट पहुँच जाय। लक्ष्य को निश्चित करने से लेकर उसकी वास्तविक सिद्धि तक प्रयोजक शक्ति का स्मरण एवं अनुसंधान आवश्यक है। घटनाओं के प्रत्येक महत्वपूर्ण परिवर्तन के अवसर पर इस प्रकार का अनुसंधान इसलिए आवश्यक है क्योंकि जबतक नाटक का प्रधान नायक आदि से लेकर अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन-जनक अवसर तक की निज प्रयोजन से सम्बन्धित सम्पूर्ण परिस्थिति का मानसिक पर्यवेक्षण नहीं कर लेता तब तक निज साधनों को भली भाँति प्रयुक्त करना उसके लिए संभव नहीं हो सकता है।

यदि हम तापस वत्सराज को दृष्टान्त रूप में देखें तो हमें यह ज्ञात होता है कि नाटक के कार्य की प्रयोजक शक्ति अर्थात् वासवदत्ता[1] के प्रति अपने प्रेम को उदयन प्रत्येक अंक में स्मरण करते हैं। परन्तु इस प्रसंग में रत्नावली नाटिका संभवतः अधिक उपयुक्त उदाहरण है। नाटिका में प्रस्तावना के उपरान्त वह विष्कम्भक है जिसमें महामात्य यौगंधरायण उन घटनाओं का वर्णन करते हैं जिनसे 'कार्य' की उत्पत्ति होती है। इस विष्कम्भक के बाद उस मकरंदोद्यान के दृश्य को प्रदर्शित किया गया है जो वसन्तोत्सव की उत्सव भूमि है। इस दृश्य का उद्देश्य दर्शकों को नाटक के सभी पात्रों का परिचय कराना है। परन्तु इस दृश्य के उपरान्त नाटक के मूल कथानक का प्रवाह रुक सा जाता है। अतएव एक वैतालिक को यह प्रकट करते हुए प्रदर्शित किया जाता है कि जिसको राजकुमारी रत्नावली भ्रान्तिवश अब तक कामदेव समझ रही थी वे वस्तुतः राजा उदयन ही हैं। जिस समय रत्नावली यह जानती हैं कि राजा उदयन यहीं हैं उसी समय उनको यह तत्क्षण याद हो आता है कि इन्हीं के साथ उनका पाणिग्रहण करने के लिए उनके पिता ने उनको भारतवर्ष को भेजा था। इस स्मृति के परिणाम स्वरूप प्रधान कथानक का आरम्भ हो जाता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि प्रयोजक शक्ति का यह अनुसंधान सदैव नाटक का एक ही पात्र नहीं करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जब एक ही पात्र के कार्य पर मूल सिद्धि निर्भर होती है तो प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर उसका स्मरण एवं अनुसंधान वही एक व्यक्ति करता है। परन्तु जहां पर लक्ष्यसिद्धि अनेक व्यक्तियों के सहयोग के कारण सम्पन्न होती है वहाँ पर अवसर की आवश्यकता के अनुसार उनमें से किसी भी एक व्यक्ति को उस

---

[1] अभि० भा० भाग ३–१४

प्रयोजक शक्ति का अनेक बार स्मरण करते हुए प्रदर्शित किया जाता है। जैसे कि रत्नावली नाटिका में राजा उदयन[1] ही एक मात्र व्यक्ति हैं जिनको नाटिका के प्रत्येक अङ्क में रत्नावली के प्रति अपने प्रेम को स्मरण करते हुए तथा अवसर की आवश्यकता के अनुकूल अपने साधनों का उपयोग करते हुए प्रदर्शित किया गया है क्योंकि रत्नावली स्वयं नितांत असहाय दशा में है।

शेक्सपियर भी अपने नाटकों में प्रयोजक शक्ति का अनुसंधान प्रदर्शित करते हैं। जैसे कि हेमलेट नाटक में परिस्थिति के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के अवसरपर हेमलेट को अपने पिता की उस हत्या को याद करते हुए जो नाटकीय कार्य की प्रयोजक शक्ति है, प्रदर्शित किया गया है।

नाटक के प्रधान कार्य के रुके हुए प्रवाह को फिर से संचालित करने के लिए प्रयोजक शक्ति के स्मरण एवं अनुसंधान को शास्त्रीय भाषा में जल की सतह पर गिराए गए तेल बिन्दु के उपमान के आधार पर 'बिन्दु' कहते हैं। क्योंकि जिस प्रकार से पानी की सतह पर गिराया गया तेल पूरी सतह पर पसर जाता है उसी प्रकार से कार्य की प्रयोजक शक्ति का स्मरण एवं अनुसंधान पूरे नाटक[2] पर पसरा होता है।

३. पताका

प्रायः ऐसा होता है कि नाटक के मुख्य नायक की लक्ष्यसिद्धि उन व्यक्तियों के सहयोग पर निर्भर होती है जो राजमंत्री अथवा अन्य भृत्यों की भांति उसके आश्रित न होकर स्वतंत्र व्यक्ति होते हैं। वे या तो किसी निजी लक्ष्यसिद्धि के लिए या बिना किसी महत्त्वपूर्ण निजी लक्ष्यसिद्धि को मन में रक्खे हुए भी नाटक के प्रधान नायक के सहयोगी बन जाते हैं। जैसा कि पूर्व उपप्रकरण में लिखित उन नाटकों में जिनके प्रधान नायक राम हैं, रावण की लंका से सीता की प्राप्ति सुग्रीव के सहयोग पर अवलम्बित है। परन्तु सुग्रीव का अपना एक निजी लक्ष्य भी है और उसकी सिद्धि भी उनको हो जाती है अर्थात् राम के सहयोग से वे अपने राज्य को पुनः प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार से नाटक के उस उपकथानक को जिसका प्रधान नायक मूल कथानक के नायक को सहयोग प्रदान करता है और किसी निजी लक्ष्य की सिद्धि भी नाटक के प्रधान नायक के सहयोग से करता है, शास्त्रीय भाषा में पताका कहते हैं।

---

[1] अभि० भा० भाग ३-१४ [2] अभि० भा० भाग ३-१४

इस प्रकार के उपकथानकों का अस्तित्व शेक्सपियर के नाटकों में भी है। जैसे कि शेक्सपियर लिखित नाटक 'ऐज यू लाइक इट' में सिलिया की उपकथा सुग्रीव की ही उपकथा के समान है। क्योंकि वह यथाशक्ति रोज़ालिंड को उसकी लक्ष्यसिद्धि में अपना सहयोग देती है और इस सहयोगदान से वह स्वयं अपने उद्देश्य की सिद्धि करती है अर्थात् अपने प्रेमी आलीवर को पा लेती है। क्योंकि सिलिया तथा ओर्लैण्डो की उपकथा की उत्पत्ति निम्न लिखित कारणों से हुई है :—

१. स्वदेश निष्कासित रोज़ालिण्ड के साथ सिलिया का जाना।

२. ओलिवर का स्वदेश निष्कासन।

३. ओलिवर तथा ओर्लैण्डो का मिलन और उनके परस्पर विरोध का नाश।

४. ओरलैण्डो का वह घाव जो उसको रोज़लिण्ड से मिलने के लिए नियत समय पर जाने से रोकता है और विवशता के कारण उसे ओलिवर को रोज़ालिण्ड के निकट संदेश देकर भेजने के लिए मजबूर करता है। ओलिवर के रोज़लिण्ड के निकट जाने से सिलिया से उसका मिलन और परस्पर प्रेम का आरम्भ।

४. प्रकरी

परन्तु नाटक में जब किसी उपकथानक का नायक किसी निजी लक्ष्य की सिद्धि मूल कथानक के प्रधान नायक के सहयोग से नहीं करता, वरन् किसी न किसी रूप में नाटक के प्रधान नायक का सहयोगी बनता है तो उसको शास्त्रीय भाषा में प्रकरी[1] कहते हैं। 'पताका' के रूप में जो उपकथानक है वह नाटक के मूल कथानक के साथ घनिष्ट रूप से संबंधित होता है और मूल कथानक के कार्य की आरम्भिक दशा से लेकर उसकी तीसरी अथवा चौथी कार्यावस्था तक वह विस्तारित रहता है। परन्तु 'प्रकरी' रूप उपकथानक नाटक के एक ही स्थल पर वर्तमान होता है और उसी स्थल पर उसका अन्त भी हो जाता है। अतएव प्रकरी को एक अन्तर्कथा भी कह सकते हैं। जैसे कि वेणीसंहार नाटक में कृष्ण[2] की अन्तर्कथा है।

शेक्सपियर के नाटकों में अन्तर्कथाएँ बहुधा इसी कोटि की हैं जैसे कि 'ऐज़ यू लाइक इट' में ड्यूक फ्रेड्रिक की अन्तर्कथा है।

---

[1] ना० शा० अध्याय २१, श्लो० २५–६ [2] अभि० भा० भाग ३ –१५

पताका एवं प्रकरी में मूल भेद यह है कि 'पताका' के रूप में जो उप-कथानक होता है वह नाटक के लेखक के ध्यान में चिरस्थायी रूप से विद्यमान रहता है और उसका उल्लेख वह मूल कथानक की ही भांति केवल कुछ कम विशद रूप में करता है, क्योंकि इसमें मूल कथानक से कम सन्धियां होती हैं। प्रकरी रूप अन्तर्कथा को अत्यंत[1] संक्षिप्त रूप में प्रकट किया जाता है और उसमें किसी सन्धि का समावेश नहीं करते हैं।

इस विषय में ध्यान देने योग्य यह है कि 'प्रकरी' के जिस स्वरूप का प्रतिपादन धनंजय ने अपने ग्रंथ में किया है वह अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित उसके स्वरूप से कुछ अंशों में भिन्न है। धनंजय के मतानुसार पताका तथा प्रकरी में केवल इतना भेद है कि पताका[2] की अपेक्षा प्रकरी का कथानक अधिक छोटा होता है। धनंजय प्रकरी की विशेषता यह नहीं मानते हैं कि उसका नायक मूल कथानक के प्रधान नायक का स्वलक्ष्य सिद्धि के प्रयोजन के बिना सहयोगी होता है। अतएव रामकथा में उपलब्ध श्रवणकुमार की कथा को वे 'प्रकरी' का दृष्टान्त मानते हैं।

५. कार्य

पाँच अर्थप्रकृतियों में से अन्तिम अर्थप्रकृति 'कार्य' है। इस प्रसंग में 'कार्य' शब्द का शास्त्रीय अर्थ उसके सामान्य अर्थ से भिन्न है। अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए जिन साधनों का उपयोग करते हुए प्रधान नायक को नाटक का लेखक प्रदर्शित करता है उनमें शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ तथा वे भौतिक वस्तुएं भी होती हैं जो उसकी निजी सम्पत्ति हैं[3]। साधनों के इस समूह का उपयोग वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए करता है। इस प्रसंग में 'कार्य' शब्द का शास्त्रीय अर्थ उपयुक्त साधन स्वरूप वे सभी वस्तुएं हैं जिन पर नायक का निजी अधिकार है। (कार्यम्, करणीयम्, प्रयोक्तव्यमित्यर्थः अभि० भा० भाग ३, १२)। बिना कार्य के किसी भी प्रकार के नाटक की रचना नहीं की जा सकती है क्योंकि प्रत्येक नाटक का उद्देश्य प्रधान नायक के जीवन का वह विशिष्ट अंश प्रदर्शित करना है जिसमें वह किसी लक्ष्य की सिद्धि करता है अतएव उसकी लक्ष्यसिद्धि के उन विविध साधनों का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है जिनकी सहायता से वह अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है।

---

[1] द० रू० ७० [2] द० रू० ४

[3] अभि० भा० भाग ३–१५–६

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय यह है कि प्रत्येक नाटक में 'कार्य' की पाँच अवस्थाओं की भांति उपर्युक्त पाँच अर्थप्रकृतियों का वर्तमान होना आवश्यक नहीं है। अतएव होता यह है कि विभिन्न नाटकों में केवल उतनी ही अर्थ-प्रकृतियां वर्तमान होती हैं जितनी नायक की लक्ष्यसिद्धि के लिए आवश्यक हैं। जैसे कि जिन नाटकों में लक्ष्यसिद्धि को प्राप्त करते हुए नायक को बिना किसी सहयोगी के स्वतंत्ररूप में प्रदर्शित करते हैं उनमें पताका एवं प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियां अनावश्यक होती हैं। परन्तु (१) बीज[1] (२) बिन्दु तथा (३) कार्य रूप अर्थप्रकृतियों का प्रत्येक नाटक में वर्तमान होना परमावश्यक है।

संस्कृत नाटक में सन्धियां

संस्कृत भाषा में नाटकों का स्वरूप एक सजीव शरीर जैसा माना गया है। अतएव जब हम सावधान होकर विविध दृष्टिकोणों से नाटक का विश्लेषण करते हैं तो ज्ञात यह होता है कि नाटक के विविध विधायक तत्त्व परस्पर उसी प्रकार से संबन्धित होते हैं जिस प्रकार से प्राणवन्त शरीर के विभिन्न विधायक अंग परस्पर संबंधित हैं। प्रयास इस बात का भी किया गया है कि नाटक के इन अंगों का नामकरण मनुष्य शरीर के अंगों के समान ही किया जाय।

नाटक का इतिवृत्त और उसको प्रकट करने वाली भाषा नाटक के लिए शरीरस्वरूप हैं। भाषा को नाटक का शरीर इसलिए मानते हैं क्योंकि यह अर्थ का द्योतक होती है और इसलिए भी मानते हैं क्योंकि इस पर अर्थ का अध्यास किया जाता है। इसको नाटक का शरीर कहने का एक कारण यह भी है कि अर्थ[2] को छोड़ कर इसका कोई निजी स्वतंत्र महत्त्व नहीं होता है। स्थायीभाव अथवा रस नाटक की आत्मा है क्योंकि जिस प्रकार से शरीर को प्रकट होने अथवा उसको विशिष्ट स्वरूप की प्राप्ति का मूल कारण आत्मा है ठीक उसी प्रकार से नाटक में प्रदर्शित कथानक के विशिष्ट स्वरूप का मूल कारण स्थायी भाव है। जिस प्रकार[3] से प्रत्येक प्राणवान शरीर में सजीव आत्मा का होना अनिवार्य है उसी प्रकार से नाटक में स्थायी भाव का होना परमावश्यक है।

शरीर के विधायक भाग मुख, स्कन्ध, उदर आदि अंग हैं। पूर्ण शरीर के लिए सभी अंगों का होना परमावश्यक है। एक उत्कृष्ट नाटक में स्वभावतः

---

[1] अभि० भा० भाग ३–१६ [2] अभि० भा० भाग ३–२

[3] अभि० भा० भाग ३–१–२

सभी विधायक अंगों का होना परमावश्यक है क्योंकि उसको मानव शरीर के समान मान लिया गया है। मानव शरीर के अंगों के नामानुसार ही यथासम्भव नाटक के इन विविध अंगों का भी नामकरण किया गया है। जैसे कि नाटक का प्रथम अंग 'मुख' है, उसका दूसरा अंग 'प्रतिमुख' है एवं उसका तीसरा अंग 'गर्भ' है। परन्तु नाटक के चौथे तथा पाँचवें अंगों का नाम मानव शरीर के किसी अंग का नाम नहीं है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि मानव शरीर के किसी अन्य अंग के नाम को कल्पना शक्ति से नाटक के इन अंगों के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। नाटक के अवशिष्ट दो अंगों को अवमर्श अथवा विमर्श तथा उपसंहृति कहते हैं।

उपर्युक्त प्रसंग में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

१. केवल पूर्णांग नाट्यकृति अर्थात् शास्त्रीय भाषा में जिनको नाटक एवं प्रकरण कहते हैं उन्हीं में उपर्युक्त सभी सन्धियां[1] वर्तमान् होती हैं। अल्पांग नाटकों में सभी सन्धियों का अस्तित्व नहीं होता है। डिम तथा समवकार में चार, व्यायोग एवं ईहामृग में तीन, और प्रहसन तथा भाण में केवल दो सन्धियाँ ही वर्तमान होती हैं।

२. स्वरचित ग्रन्थ दशरूपक में धनंजय ने यह प्रतिपादित किया है कि जब नाटक के कार्य की पाँच अवस्थाओं में से एक को स्वलिखित[2] क्रमानुसार एक अर्थ प्रकृति से संयुक्त किया जाता है तो उनसे पांच सन्धियों की उत्पत्ति होती है। यह मत भरतमुनि के मत से भिन्न है। भरतमुनि के मतानुसार ऐसी कोई क्रमानुसारता अपेक्षित नहीं है। क्योंकि जैसा कि हम गत उपप्रकरण में कह चुके हैं भरतमुनि ने प्रतिपादित यह किया है कि प्रत्येक नाटक में पताका एवं प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियों का होना आवश्यक नहीं है। और तथ्य यह है कि प्रत्येक नाटक में वे वर्तमान नहीं हैं। यदि सन्धियों के स्वरूप के विषय में धनंजय का मत स्वीकार कर लें तो उन नाटकों में जिनमें पताका तथा प्रकरी वर्तमान नहीं है इनसे सम्बन्धित सन्धियों का होना भी असंभव है। परन्तु तथ्य यह है कि चाहे उपर्युक्त अर्थप्रकृतियां अर्थात् पताका तथा प्रकरी किसी नाटक में वर्तमान हों अथवा न हों सभी आवश्यक सन्धियाँ[3] प्रत्येक नाटक में उपलब्ध होती हैं।

---

[1] ना० शा० २४१ [2] द० रू० ६

[3] अभि० भा० भाग ३–१६

३. विभिन्न सन्धियों के रूप में नाटक का विश्लेषण इतिवृत्त के दृष्टिकोण से उसी प्रकार से किया गया है जिस प्रकार से नाटकीय 'कार्य' के दृष्टिकोण से उसका विश्लेषण विभिन्न कार्यावस्थाओं में एवं साधनों के दृष्टिकोण से उसका विश्लेषण विभिन्न अर्थप्रकृतियों में किया गया है।

१. मुख सन्धि

नाटक के कथानक का वह अंश शास्त्रीयभाषा में मुखसन्धि कहा जाता है जो बीज को प्रदर्शित करता है, कार्य के आरम्भक भाग को विशिष्टरूप में स्पष्ट करता है, उन सब आवश्यक रूप से प्रदर्शनीय वस्तुओं को प्रदर्शित करता है जो कार्य अथवा बीज से साक्षात् अथवा परम्परा रूप से सम्बन्धित हैं एवं विभिन्न स्थायी भावों के सीमित उत्थान का कारण होता है। रत्नावली नाटिका का आरम्भ से लेकर उस स्थल तक का अंश जब रत्नावली वैतालिक के वचनों को सुनकर राजा उदयन को उदयन के रूप में पहचानती है मुख सन्धि का उत्कृष्टतम दृष्टान्त है। उपर्युक्त मुखसन्धि विषयक सभी तथ्यों के उदाहरण नाटक के इस अंश में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। बीज के जिन दो प्रयोजनों का उल्लेख हम एक गत उपप्रकरण में कर आए हैं वे इसी अंश से प्रकट किए जाते हैं। इसी अंश से नाटक के कार्य का आरम्भ होता है। वसन्तोत्सव के मनाए जाने के समान इसमें विविध घटनाओं का प्रदर्शन किया गया है। नाटक का यह अंश अत्यन्त सुन्दरता के साथ नाटक के मुख्य पात्रों[1] के स्थायी भावों को विद्यमान परिस्थिति के प्रसंग में विभिन्न परिमाणों में उद्बुद्ध प्रदर्शित करता है। जैसे कि महामात्य यौगन्धरायण में उत्साह, राजा उदयन में रति, सागरिका में आश्चर्य के स्थायी भावों को स्फुट रुप में इस अंश में प्रदर्शित किया गया है।

२. प्रतिमुख सन्धि

आरम्भ में ही यह उल्लेखनीय है कि प्रतिमुख सन्धि के स्वरूप के विषय में धनंजय तथा अभिनवगुप्त में परस्पर मतभेद है। वस्तुतः अभिनवगुप्त अभिनव भारती में धनंजय[2] प्रतिपादित अभिमत का खण्डन यह कह कर करते हैं कि 'कतिपय (केचित्) शास्त्रकारों का यह मत है'। यह बताना कठिन है कि

---

[1] अभि० भा० भाग ३–२३–४ [2] अभि० भा० भाग ३–२४

'केचित्' शब्द से अभिनवगुप्त का अभिप्राय धनंजय से है अथवा अन्य किसी शास्त्रकार से है । प्रतिमुख सन्धि के विषय में धनंजय के मत का उल्लेख निम्न-लिखित रूप में किया जा सकता है :—

बीज की वह विकसित दशा प्रतिमुख सन्धि का विधायक होती है जिसमें उसका कुछ अंश प्रकटरूप तथा कुछ अंश अप्रकट रूप है । रत्नावली नाटिका का दूसरा अंक प्रतिमुख सन्धि का एक स्पष्ट दृष्टान्त है । इस अंक में बीज अर्थात् 'राजा उदयन से विवाह का मूल कारण सागरिका प्रेम' विकसित होता है । सागरिका का यह प्रेमभाव आंशिक रूप से प्रकट तथा आंशिक रूप से अप्रकट दशा में है । यह प्रकट रूप है क्योंकि उसकी सखी सुसंगता एवं राजा उदयन के मित्र विदूषक इस प्रेमभाव को जानते हैं । परन्तु यह अप्रकट भी है क्योंकि चित्रफलक[1] के प्रत्यक्ष के आधार पर महारानी वासवदत्ता उस प्रेम भाव को अनुमान प्रमाण की सहायता से ही जान सकतीं हैं ।

अभिनवगुप्त अपने उपाध्याय के मत को ग्राह्य मानते हुए यह कहते हैं कि उपर्युक्त मत माननीय नहीं है । उनके मत के अनुसार विभिन्न सन्धियाँ बीज[2] की विभिन्न विकास दशाओं को प्रदर्शित करतीं हैं और स्फुटता ही को प्रतिमुख सन्धि में प्रदर्शित करना चाहिये ।

अतएव अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि बीज का आंशिक रूप से प्रत्यक्ष होना और आंशिक रूप में अप्रत्यक्ष होना मुख सन्धि में प्रदर्शित करना चाहिये । रत्नावली नाटिका के प्रथम अंक में हम इसी तथ्य को प्रकटरूप में देखते हैं । इस अङ्क में महामात्य यौगन्धरायण ने सागरिका की जिस क्रिया का वर्णन किया है वह सभी भावी विकासों की जननी होने के कारण बीज स्वरूप है । वसन्तोत्सव के दृश्य के प्रदर्शन के कारण यह क्रिया पृष्ठभूमि में पड़ जाती है । जिस प्रकार से बीज को भूमि ढंक लेती है उसी प्रकार से रत्नावली की क्रिया को वसन्तोत्सव का यह दृश्य ढंक लेता है । और जिस प्रकार से बीज को अपने में ढंक कर भूमि यथार्थ में उसको विकसित करने में सहायक होती है उसी प्रकार से वसन्तोत्सव का दृश्य भी सागरिका[3] की क्रिया को विकसित करने में सहायक होता है । इस प्रकार से प्रथम अङ्क में कार्य का बीज जो प्रारम्भ में स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष है वसन्तोत्सव के दृश्य से प्रच्छन्न कर दिया जाता है । अतएव अभिनवगुप्त का अभिमत यह है कि प्रतिमुख सन्धि का मुख्य काम उस बीज

---

[1] द० रू० ११ [2] अभि० भा० भा० ३–२४

[3] अभि० भा० भाग ३–२४

को पूर्ण रूप से स्फुट करना है जो सुख सन्धि में प्रत्यक्ष होते हुए भी इस प्रकार से पृष्ठभूमि में पटक दिया जाता है कि वह अप्रत्यक्ष के समान रह जाता है।

इस सन्धि को प्रतिमुख सन्धि कहने का सीधा सा कारण यह है कि नाटक का लेखक इस सन्धि में मुख सन्धि से विपरीत[1] चेष्टा करता है। क्योंकि मुख सन्धि में उसकी चेष्टा बीज को प्रच्छन्न करने को होती है परन्तु प्रतिमुख सन्धि में उसकी चेष्टा बीज को प्रत्यक्ष प्रदर्शित करने की ओर होती है।

३. गर्भ सन्धि

प्रतिमुख संधि के उपरान्त बीज की अगली विकसित क्रम दशा को गर्भ सन्धि प्रकट करती है। प्रतिमुख सन्धि बीज की अंकुरित दशा को परन्तु गर्भ सन्धि में उस में फल उत्पन्न करने की उन्मुखता को प्रदर्शित करती है। इस गर्भ सन्धि का विधायक नाट्य कथानक का वह भाग है जिसमें नायक को लक्ष्य को प्राप्त करते हुए और उसको खोते हुए, फिर प्राप्त करते हुए और फिर खोते हुए अनेक बार प्रदर्शित किया जाता है। जब जब इष्ट लक्ष्य खो जाता है तब तब उसको प्राप्त करने की नूतन चेष्टाएं फिर से आरम्भ की जाती हैं। यदि हम रत्नावली नाटिका के दूसरे अङ्क तथा तीसरे अङ्क के कुछ अंशों को उदाहरण के रूप में देखें तो उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जायगा। नाटक के इसी अंश में प्रथम बार राजा उदयन सागरिका से उस वाटिका में मिलते हैं जहां पर चित्रपट को छोड़ कर सागरिका अपनी सखी के साथ भाग गई थी। परन्तु वासवदत्ता के सहसा उस स्थल पर आ जाने से वह मिलन अल्पकालीन ही रह जाता है। वेश परिवर्तन के दृश्य में उदयन का सागरिका से मिलन भ्रान्ति रूप में होता है। वे महारानी वासवदत्ता को तब तक सागरिका समझते रहते हैं जब तक वासवदत्ता अपना आत्म स्वरूप प्रकट नहीं कर देती हैं। भ्रांन्ति के मिट जाने पर वे सागरिका से फिर विलग से हो जाते हैं। उस दृश्य में जिसमें सागरिका आत्महत्या करने के लिए फांसी लगाने के लिये उद्यत है उसका जो मिलन राजा उदयन के साथ होता है वह महारानी वासवदत्ता[2] के आ जाने से फिर क्षणभंगुर ही रह जाता है। गर्भसन्धि का विशेष लक्षण यह है कि प्राप्त इष्ट खो जाय। क्योंकि यदि इसमें प्राप्त इष्ट का खोना प्रदर्शित न किया जाय तो यह अवमर्श

---

[1] अभि० भा० ३–९४, ५ [2] अभि० भा० भाग ३–२५

सन्धि से किसी भी बात में भिन्न नहीं होगी। इसका कारण यह है कि अवमर्श सन्धि में इष्ट प्राप्ति को सन्देह शून्य रूप में प्रकट किया जाता है।

४. अवमर्श सन्धि

अवमर्श सन्धि का मूल लक्षण 'सन्देह' है। क्योंकि इसका विधायक वह कथानकांश होता है जिसमें उस परिस्थिति का चिन्तन अथवा मनन किया जाता है जो लक्ष्यसिद्धि की ओर ले जाती हुई प्रतीत नहीं होती। ऐसा होने के कारण नाटक के 'कार्य' की उस विकासावस्था पर इसका प्रदर्शन करना जहां पर नायक के अन्तःकरण में आशा का संचार हो गया है और इष्टसिद्धि की प्राप्ति सम्भावना के क्षेत्र में प्रदर्शित की जा चुकी है, मानवीय मनोविज्ञान के अध्ययन से ज्ञात तथ्यों के विरुद्ध भात होता है। यदि हम किसी लौकिक अनुभव का विश्लेषण करें तो हमको यह ज्ञात होता है कि (१) सन्देह (२) सम्भावना एवं (३) निश्चय परस्पर एक दूसरे का अनुसरण करते हैं। इसके अतिरिक्त नियताप्ति अवमर्श का विधायक तत्व है। नियताप्ति एवं संशय का संयोग किस प्रकार से हो सकता है?

अवमर्श सन्धि के विषय में जिस समालोचक ने उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया है उसने उस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भिन्न तथ्य को आधार रूप में स्वीकार किया है जिसके आधार पर संशय को अवमर्श सन्धि का विशेष लक्षण प्रतिपादित किया गया है। अवमर्श का प्रयोजन नाटक के कार्य के चरमोत्कर्ष को प्रकट करना है। और चरमोत्कर्ष तभी प्रकट किया जा सकता है जब प्रदर्शित परिस्थिति ऐसी हो जो नायक के चरित्र के सर्वोत्तम विशेष गुणों को प्रकट कर सकती हो। नायक के इन विशेष गुणों का प्रकटीकरण स्पष्टतम रूप में उसी समय होता है जब वह संघर्ष जिसे उसने संचालित किया है तीव्रतम रूप में चल रहा हो और जिसमें वह उस बाधा को परास्त करता हो जो अपनी दुर्दमनीयता में अपूर्व हो। इसके अतिरिक्त सर्वोत्कृष्ट गुण उसी समय प्रकट होते हैं जब अनेक घटनायें परस्पर मिल कर इष्ट सिद्धि के संबंध में एक प्रबल आशा का संचार नायक के अन्तःकरण में करती हैं परन्तु सहसा एक ऐसा विकट विघ्न आ घेरता है कि वह उस आशा पर पूरा पानी फेर देता है जिसके परिणाम स्वरूप सफलता के विषय में नायक के अन्तःकरण में भारी सन्देह उठता है। इस रूप में अवमर्श सन्धि में 'संशय' का होना परमावश्यक है क्योंकि इसका होना अनुभव सिद्ध है। परन्तु इस प्रसंग में समझ यह लेना चाहिए कि अवमर्श

सन्धि की विधायिका वह 'चिन्तना' (reflection) नहीं है जिसकी उत्पत्ति काम्य वस्तु के प्रथम दर्शन से होती है वरन् यह वह चिन्तना है जो इष्टप्राप्ति की आशा के जागृत होने के बाद उपस्थित होने वाली बाधा से उत्पन्न होती है। नियताप्ति के साथ अवमर्श का मेल भली भाँति खाता है, क्योंकि अवमर्श में अन्तिम अवरोध पर विजय को प्रदर्शित करते हैं। नाटक के नायक के सर्वोत्तम गुणों को प्रकट करने के लिए अवमर्श सन्धि के आरम्भ में इष्ट प्राप्ति के कुछ अवरोधों को प्रदर्शित किया जाता है, यह कथन पूर्णतया उन सन्ध्यंगों से सिद्ध है जिनका उल्लेख अवमर्श सन्धि के अन्तर्गत किया गया है। नाटक का कथानक चाहे रतिप्रधान हो और चाहे 'उत्साह' प्रधान हो उसके मुख्य पात्रों को दो विरोधी दलों में विभाजित करना आवश्यक है। अर्थात् कम से कम सभी नाटकों के आरम्भ में दो दलों के उद्देश्यों के परस्पर विरोध का प्रदर्शन अवश्य करना चाहिए। अतएव यह स्वभाव सिद्ध है कि संघर्षरत एक दल अपने पथ को दूसरे दल से अवरुद्ध पाकर उसकी निन्दा करे, जब दूसरे दल के लोगों से मिले तो क्रोध के आवेश में दुर्वचनों का आदान प्रदान करे एवं एक दल अवरोधजनक दल के प्रमुख बाधाजनक व्यक्ति का वध कर डाले अथवा उसको बन्दी बना ले और इसी प्रकार के अन्य कार्यों को करे। इस प्रकार से जिस समय नायक के दल के उपनेता के समान किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का वध विरोधी दल का नेता कर देता है अथवा उसको बन्दी गृह में डाल देता है उस समय नायक के मन में निज इष्ट प्राप्ति की सफलता के विषय में घोर शंकाएं उत्पन्न होती हैं। अतएव वह अपनी शक्तियों का प्रयोग सर्वोत्कृष्ट रूप में करता है। इसी क्रियाशीलता के कारण नायक के सर्वोत्तम गुण प्रकट हो जाते हैं।

अवमर्श सन्धि का दृष्टान्त रत्नावली नाटिका का वह अंश[1] है जिसका आरम्भ राजा उदयन के उस परिस्थिति के विषय में चिन्तना करने से होता है जिसको महारानी वासवदत्ता ने क्रोधावेश में सागरिका को बन्दिनी बना कर उत्पन्न किया था और जिसका अन्त ऐन्द्रजालिक से उत्पन्न किए गए अग्निकाण्ड से होता है।

५. निर्वहणसन्धि (उपसंहृति)

निर्वहण वह सन्धि है जिसमें नाटकीय कार्य की प्रथम चार अवस्थाओं के प्रदर्शन में समावेशित सभी सामग्री को, अर्थात् पूर्वावस्थाओं एवं पूर्वप्रदर्शित

[1] द० रू० २१

सन्धियों में प्रयुक्त सभी साधनों को, उस एक परिणाम की उत्पत्ति में सहयोगी के रूप में प्रदर्शित किया जाता है जिसकी नाटक के नायक से प्राप्ति को प्रदर्शित करना नाटक के लेखक का मुख्य उद्देश्य रहता है। रत्नावली नाटिका में अग्निकाण्ड दृश्य के बाद से लेकर नाटक के अन्त तक का अंश निर्वहण सन्धि का दृष्टान्त है।

सन्ध्यंग की परिभाषा

सम्पूर्ण नाटक के एक अंश को एक सन्धि प्रकट करती है। इस अंश को विभिन्न कार्यों एवं घटनाओं में और भी उपविभाजित किया जाता है। सन्धियों के इन उपविभाजित अंशों को शास्त्रीय भाषा में सन्ध्यंग कहते हैं। भरत मुनि ने अपने ग्रंथ में एक क्रम के अनुसार इनका उल्लेख किया है। उल्लिखित क्रम के अनुसार नहीं वरन् उस क्रम के अनुसार जो इन संधियों को रंगमंच पर प्रदर्शित करने के योग्य बना देता है, इन सब कार्यों तथा घटनाओं को संगठित करने से कथित सन्धियों की उत्पत्ति होती है। अतएव सन्धियों के विधायक अंग होने के कारण इनको शास्त्रीय भाषा में सन्ध्यंग[1] कहते हैं।

सन्ध्यंगों का सामान्य प्रयोजन

सन्ध्यंगों का सामान्य प्रयोजन यह है कि नाटक के लेखक एवं अभिनेता सरलता पूर्वक नाटकीय वस्तु प्रदर्शित कर सकें और दर्शकगण सरलता से उसको समझ सकें। यह सामान्य अनुभव से सिद्ध तथ्य है कि जब ऐसी किसी वस्तु को प्रदर्शित करने की चेष्टा की जाती है जो बृहदाकार एवं जटिल है तो उसको सरल बनाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उसको अंशों में विभाजित कर दिया जाय। एक श्रेष्ठ निबन्ध-लेखक यही करता है। वह पहले उन विचार सूत्रों को लिख लेता है जिनको निबंध में विशद रूप से उसको लिखना है। आधुनिक पुस्तकों में भी हम इस तथ्य को स्पष्ट रूप से देखते हैं। पुस्तक के वर्ण्य विषय उपशीर्षकों में विभाजित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार का विभाजन प्रदर्शन करने तथा उसको समझने, दोनों में सहायक सिद्ध होता है। प्रत्येक शिक्षक को इस बात का अनुभव है कि जब किसी दुरूह समस्या को विद्यार्थियों को समझाना होता है तो उसको सरल बनाने का सीधा सा उपाय यह है कि उसको

[1] अभि० भा० भाग ३–३१

खण्डों में विभाजित करते हुए विद्यार्थियों के सामने उसके प्रत्येक खण्ड को विलग रूप में उपस्थित किया जाय।

इस प्रकार का विभाजन उस प्रसंग में और भी आवश्यक है जहाँ पर प्रदर्शन को दिखाने की चेष्टा ऐसे अनेक व्यक्ति करते हैं जो परस्पर बौद्धिक शक्तियों, लिंगों, तथा अवस्थाओं में भिन्न हों और विभिन्न भाषायें बोलते हों। नाट्य प्रदर्शन एक इसी कोटि का प्रदर्शन है। यह सर्वज्ञात है कि नाटक को रंगमंच पर प्रदर्शित करने में शारीरिक परिचालनों, मुख एवं शरीर के अन्य अंगों के अनुभावों, सात्विक भावों, शब्द उच्चारण के उतार चढ़ावों, एवं उनके स्वर विन्यासों, वाणी के अभिनयों तथा उस स्थायी भाव को जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और जो सब नाटकीय वस्तुओं का स्रोत स्वरूप है व्यभिचारी भावों के साथ प्रदर्शित करने में अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि एवं सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। अतएव नाटक के प्रत्येक अभिनेता के लिए यह जानना परमावश्यक है कि कौन सी भावावस्था में कितना किस प्रकार से बोलना और अभिनय करना चाहिए। उपर्युक्त विभाजन से इस ज्ञान को प्राप्त करना सरल हो जाता है।

इस प्रकार के विभाजन से नाटक के लेखक का भी काम सरल हो जाता है क्योंकि इस ज्ञान के कारण वह सरलता से यह जान लेता है कि किस विशेष पात्र को कौन सा रंगमंचीय निर्देश देना चाहिए, कौन सी भाषा में उसके पाठ्य (वक्तव्य) को लिखना चाहिए एवं कथनीय वस्तु क्या होना चाहिए। इस प्रकार के उपविभाजन से नाटक के प्रत्येक अंश की ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है, इसलिए स्वभावतः प्रदर्शन की स्पष्टता में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार से उक्त उपविभाजन, दर्शक, अभिनेता एवं नाटक के लेखक सभी के लिए सहायक सिद्ध होता है।

नाटक के लेखक के दृष्टिकोण से सन्ध्यंगों का प्रयोजन

१. नाटक के कथानक को रसानुभवोत्पादक रूप में प्रदर्शित करना।

२. धीरे-धीरे नाटक के कथानक को क्रमशः प्रकट करना।

३. नाटक के कथानक को इस प्रकार से प्रकट करना कि उसका प्रत्येक अंश अपने में मनोरंजक हो और संयोजित रूप में देखे जाने पर वे अंश परस्पर एक दूसरे को उससे अधिक मनोरंजनकारी बनाते हों जितना कि अपने पृथक् रूप में प्रत्येक अंश है।

४. अत्यन्त सामान्य रूप होने के कारण किसी नीरस घटना को इस रूप में प्रदर्शित करना कि उसको प्रदर्शित करने की विधि की मौलिकता दर्शकों को विस्मयाभिभूत कर दे।

५. आवश्यक भाव को उत्पन्न करने के लिए परमावश्यक सामग्री को प्रदर्शित करना।

६. रंग मंच के लिए जो अनुपयुक्त है उसको प्रदर्शित न करना।

जिस प्रकार से अंगविहीन व्यक्ति युद्ध भूमि पर युद्धक्षम नहीं होता उसी प्रकार से सन्ध्यंगों से रहित नाटक भी रंगमंच पर भली भांति प्रयोगक्षम नहीं होता।

हास्यप्रधान नाटक के नायक के समान जब किसी नाटक में नायक को किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु को लक्ष्यरूप में प्राप्त करते हुए प्रदर्शित नहीं किया जाता है तो भी कथित सन्ध्यंगों की सहायता से प्रदर्शन को अत्यन्त मनोरंजनकारी बनाया जा सकता है। क्योंकि संध्यंगों के प्रयोग के कारण उसके सब अंग स्फुटरूप में प्रकट हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि एक नाटक में नायक को किसी मानवीय चरमलक्ष्य अर्थात् पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त करते हुए प्रदर्शित किया गया है और सन्ध्यंगों के रूप में उसके विभिन्न अंगों को स्फुट रूप में प्रदर्शित नहीं किया गया है तो मनोरंजक रूप में उसको प्रदर्शित करना असंभव हो जाता है। ऐसा नाटक न तो नाटक के लेखक को, न अभिनेता को और न दर्शक[1] को ही रुचता है।

सन्ध्यंगों के प्रयोग में स्वतंत्रता

अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार भरतमुनि ने सन्ध्यंगों के प्रयोग के संबंध में नाटक के लेखक को यथेष्ट स्वतंत्रता प्रदान की है।

भ्रम को दूर रखने के लिए निम्नलिखित तथ्यों का ज्ञान परमावश्यक है :—

१. सन्ध्यंगों का उल्लेख एक विशेष क्रम के अनुसार किया गया है। भरत मुनि ने जिस क्रम में इनका उल्लेख किया है वह धनंजय से लिखित क्रम से भिन्न है। परन्तु उनके प्रदर्शन के क्रम को उपर्युक्त क्रमों के अनुसार होना आवश्यक नहीं है[2]। नाटक के लेखक की आवश्यकता के अनुसार एक सन्धि में उसके किसी भी सन्ध्यंग का किसी स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है।

---

[1] ना० शा० २४२ एवं अभि० भा० भाग ३–३२

[2] अभि० भा० भाग ३–३६–७

२. यह आवश्यक नहीं है कि एक सन्धि के सभी सन्ध्यंगों का प्रयोग उसके अन्तर्गत किया जाय। आवश्यकता के अनुसार उसमें किसी भी सन्ध्यंग का परित्याग किया जा सकता है।

३. आवश्यकता का अनुभव होने पर एक सन्धि में उसके किसी एक सन्ध्यंग का प्रयोग अनेक बार किया जा सकता है। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि नाटकों के उन अनेक लेखकों ने जिनकी कृतियों से दृष्टान्त उद्धृत किए गए हैं वस्तुतः ऐसा ही किया है। हम यह देखते हैं कि किसी एक ही नाटक से एक विशेष सन्ध्यंग का दृष्टान्त देते हुए दो प्रामाणिक आचार्य, अर्थात् अभिनवगुप्त एवं धनिक, अपनी व्याख्याओं—अभिनवभारती तथा दशरूपक व्याख्यान में उस नाटक के विभिन्न अंशों को उद्धृत करते हैं। इस भेद के कारण का स्पष्टीकरण पूर्वकथित मान्यता के आधार पर ही किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप में 'द्रव' के दृष्टान्त रूप में एक ही नाटक के भिन्न भिन्न अंशों को उद्धृत किया गया है। परन्तु पुनरावृत्ति बहुत अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिए। एक सन्ध्यंग की पुनरावृत्ति तीन बारतक की जा सकती है।

४. एक सन्धि के अन्तर्गत जिन सन्ध्यंगों का उल्लेख किया गया है उनका प्रयोग अन्य सन्धि में भी किया जा सकता है।

५. यदि दो[1] सन्ध्यंगों का प्रयोजन एक ही से सिद्ध हो जाय तो दूसरे की उपेक्षा कर देना चाहिये।

प्रत्येक सन्ध्यंग का पृथक रूप से वर्णन करना ग्रन्थ के वर्तमान आकार परिमाण में संभव नहीं है। अतएव अन्य किसी भावी ग्रन्थ में उनका विस्तार-पूर्वक उल्लेख करने की आशा को लेकर हम इस संक्षिप्त विवरण को समाप्त करते हैं।

[1] अभि० भा० भाग ३–६२–३

अध्याय ९

रूपक के भेद

रंगमंच[1] पर दर्शनीय वस्तु को भाषा में प्रकट करने के कारण काव्य को रूपक कहते हैं। जैसे संगीत में एक ग्राम अथवा स्वरसमुदाय की दूसरे ग्राम से भिन्नता स्वरों की विभिन्न योजनाओं के कारण उत्पन्न होती है, उसी प्रकार से वृत्तियों की विभिन्न योजनाओं के कारण रूपकों के विभिन्न भेद उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त ठीक जिस प्रकार से यद्यपि सभी ग्रामों की विधायक श्रुतियाँ होती हैं (यदि अधिक उपयुक्त शब्द का प्रयोग करें तो कहना होगा कि स्वर होते हैं) फिर भी उन ग्रामों की परस्पर भिन्नता का कारण किसी एक स्वर में विभिन्न संख्या में श्रुतियों का होना है, जैसे कि अन्य सब बातों के समानरूप होते हुए भी यदि पंचम में चार के स्थान पर तीन श्रुतियाँ हैं तो एक भिन्न ग्राम की रचना हो जाती है, उसी प्रकार से एक ही वृत्ति का प्रयोग जब उसके सभी अंगों से पूर्ण रूप में अथवा कुछ अंगों से रहित रूप में किया जाता है तो रूपक के विभिन्न भेद[2] उत्पन्न होते हैं। भरत मुनि ने जिन दस प्रकार के रूपकों का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप में किया है वे परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वरूप हैं। वे नाट्य रचना के मूल रूप हैं। भरतमुनि लिखित रूपक के भेदों की इस सूची में उन रूपकों की गणना नहीं की गई है जिनमें दो प्रकार के रूपकों के विशेष गुणों का सम्मिश्रण होता है, जैसे कि वह नाटिका जिसमें नाटक तथा प्रकरण के विशेष लक्षणों का सम्मिश्रण होता है। भरतमुनि ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि दो प्रकार के रूपकों के विशेष लक्षणों को मिलाकर रूपक के अन्य अप्रधान स्वरूपों को उत्पन्न किया जा सकता है। अतएव यह कहा जाता है कि नाट्यरचना के अन्य भेदों जैसे त्रोटक, सट्टक, रासक आदि को भी भरतमुनि स्वीकार करते थे। कोहल आदि शास्त्रकारों ने रूपक के इन भेदों के विशेष लक्षणों का वर्णन किया है और इनकी परिभाषाओं का भी उल्लेख किया है।

---

[1] अभि० भा० भाग २–४०६ [2] अभि० भा० भाग २–४०९

रूपक के दो प्रधान भेद

सर्वप्रथम रूपकों का विभाजन दो प्रमुख वर्गों में किया गया है। १ पूर्ण-वृत्तिवृत्त्यंग अर्थात् वे रूपक जो सर्वांग सम्पन्न विभिन्न वृत्तिओं से परिपूर्ण हैं एवं २ वृत्तिन्यून अर्थात् वे रूपक जिनमें एक अथवा दो वृत्तिओं को कुछ अंगों से रहित रूपों में प्रदर्शित किया गया है। नाटक तथा प्रकरण प्रथम कोटि की नाट्यरचनाएं हैं और अवशिष्ट आठ प्रकार के रूपक दूसरी कोटि की कृतियाँ हैं। रूपकों के उपर्युक्त दो भागों में वर्गीकरण को स्पष्ट करने के लिए अभिनवगुप्त ने संगीतशास्त्र की सहायता ली है। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त के मतानुसार ग्राम शब्द का अर्थ जातियों[1] का समुदाय है। अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि ग्रामविधायक जात्यंशों में कुछ स्वरों की कमी होने पर भी ग्राम की पूर्णता नष्ट नहीं होती है। अतएव वे यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार से सामंजस्यपूर्ण मेल होने के कारण सुन्दर स्वरसमुदाय मात्र स्वरूप दो ग्रामों के सभी स्वरों के विश्लेषण करने से उन जात्यंशकों की उत्पत्ति होती है जिनका विशेष लक्षण अपूर्ण एवं पूर्ण स्वरों से युक्त होना इसलिए है क्योंकि उनकी उत्पत्ति अखण्डरूप कथित ग्रामों के विश्लेषण से होती है, उसी प्रकार से वृत्तिओं और वृत्त्यंगों को संपूर्ण रूपों में प्रदर्शित करने वाले नाटक एवं प्रकरण से वीथी आदि वे नाट्यरचनाएं उत्पन्न होतीं हैं जिनका विशेष लक्षण कुछ ही वृत्तिओं को कुछ अंशों में अपूर्ण रूपमें ही प्रदर्शित करना होता है। इस प्रकार से दूसरी कोटि के रूपकों में आवश्यक रूप से सौन्दर्यपूर्ण 'कार्य' का अभाव रहता है।

१. नाटक

नाट्यकृति के जितने भी भेद हैं उनमें 'नाटक' सर्वोत्कृष्ट है। इसकी प्रदर्शनीय कथावस्तु ऐतिहासिक होती है। इसमें नाटक के लेखक की कल्पना का नियंत्रण लोक प्रसिद्ध घटनाएँ करतीं हैं। अतएव वह वस्तु जिसे इसमें प्रदर्शित किया जाता है सम्भावित प्रतीत होती है।

नाटक के विषय में श्री शंकुक का मत यह है कि इसमें इतिहास की अत्यन्त प्रसिद्ध घटनाओं का ही प्रदर्शन किया जाता है एवं जो अप्रसिद्ध घटनाएँ हैं उनका उपयोग इसमें नहीं किया जाता है। अभिनवगुप्त एवं उनके आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि नाटक की प्रदर्शनीय वस्तु लोक प्रसिद्ध घटनायें तो हैं

[1] अभि० भा० भाग २–४१०

ही परन्तु इसके साथ साथ इन घटनाओं से संबंधित लोकप्रिय नायक को अधिकांश रूप में उसी के समान लोकप्रसिद्ध स्थानों में वर्तमान प्रदर्शित करना चाहिए। एक लोकप्रसिद्ध नायक को रसानुभव के दृष्टिकोण से[1] महत्त्वपूर्ण किसी प्रयोजन के विना एक अप्रसिद्ध स्थान पर चिरकाल तक वर्तमान प्रदर्शित करना युक्त नहीं है।

नाटक का नायक ऐसा होना चाहिए जो वीर रस के प्रदर्शन के लिए सर्वथा उपयोगी हो। उसको किसी राजर्षि का वंशधर होना चाहिए। उसको कोई देवता नहीं होना चाहिए जो निज इष्ट वस्तु की सिद्धि दिव्य शक्ति[2] की सहायता से कर लेता हो। क्योंकि शास्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि नाटक का एक उपप्रयोजन दुःखों को नष्ट करने के उपायों की शिक्षा देना भी है। देवता दुःख शून्य होते हैं। अतएव इस अंश में देवता स्वरूप नायक शिक्षाप्रद नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त देवतारूप नायक को ऐसी परिस्थितियों से सम्बन्धित प्रदर्शित नहीं किया जा सकता जो करुण, विप्रलम्भ, अद्भुत, भयानक आदि रसों को उत्पन्न करने वाले भावों के उत्पादन के लिये आवश्यक हैं। क्योंकि यदि उनको इस प्रकार की परिस्थितियों से संलग्न प्रदर्शित किया जाय तो वे वस्तुतः दिव्य स्वरूप नहीं रह जाते, वरन् दिव्य नायक की अपेक्षा अधिक मात्रा में वे मानवीय नायक ही बन कर रह जाते हैं। रसानुभव के लिए जो तादात्म्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है उसका भी दिव्य नायकों के साथ स्थापित होना संभव नहीं है।

परन्तु दिव्य प्राणियों को नाटक के नायक के सहायक रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। उचित प्रसंग में हम इस बात का उल्लेख करेंगें कि 'डिम' वर्ग के रूपकों में देवता को नायक रूप में प्रदर्शित करने का शास्त्रीय आदेश क्यों दिया गया है?

नाटक में घटनाओं का प्रदर्शन इस प्रकार से करना चाहिए कि वे नायक को पुरुषार्थ सिद्धि की ओर ले जाने में सहायक प्रतीत हों। परन्तु क्योंकि अधिकांश सामान्य लोग धन एवं प्रेमपात्र को प्राप्त करने की कामना से युक्त होते हैं इसलिए नाटक के लेखक को ऐसी घटनाओं का प्रदर्शन अपने नाटक में करना चाहिए जो अर्थ अथवा काम के पुरुषार्थों की सिद्धि में सहायक हों जिससे कि वह नाटक अधिक लोकप्रिय हो सके। नाटक में नायक के जीवन की उन

---

[1] अभि० भा० भाग २–४११ [2] अभि० भा० भाग २–४१२

घटनाओं को प्रदर्शित नहीं करना चाहिए जो पुरुषार्थ-सिद्धि में प्रत्यक्ष रूप से सहायक नहीं हैं।

'नाटक' नाम का स्पष्टीकरण

विभिन्नरूप नाट्यकृतियों की रचना उन विभिन्न सामाजिक समुदायों के लिए की जाती है जिनका कि झुकाव विभिन्न स्थायीभावों की तरफ है। इस प्रकार से नाटक की रचना राजवंशियों के सामने प्रदर्शित करने के लिए की जाती है। क्योंकि रसानुभव को उत्पन्न करने का जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण 'तादात्म्य' है वह मनोवैज्ञानिक रूप में उसी नायक के साथ संभव है जिसका सामाजिक पद एवं स्थायिभाव की तरफ झुकाव दर्शक के ही समान है। जिन कार्यों एवं घटनाओं का सम्बन्ध राजाओं के साथ है वे उन्हीं व्यक्तियों के लिए अधिक चित्ताकर्षक होते हैं जिनका सामाजिक पद राजाओं के ही तुल्य है। ऐसे ही दर्शकों का हृदय नाटक के प्रदर्शन को देखकर उल्लास से पूर्ण हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप उसका शरीर भी हर्ष से प्रफुल्लित हो जाता है। अतएव ऐसी रचना को 'नाटक' कहने का कारण यह है कि राजाओं के अन्तःकरणों को यह प्रदर्शन आह्लाद से परिपूर्ण कर देता है (यदि शब्दशः अर्थ कहें तो कहना होगा कि आह्लाद से दर्शक के मनों तथा शरीरों को नचाने[1] लगता है।)

२. प्रकरण

निम्नलिखित बातों में 'प्रकरण' 'नाटक' से भिन्न है :—

(अ) कथानक

नाटक के कथानक के समान प्रकरण का कथानक ऐतिहासिक न होकर कविकल्पित होता है। प्रकरण के नायक, साध्य एवं साधन सभी पूर्ण रूप से कविकल्पित होते हैं। पुराण एवं इतिहास से प्रकरण का कथानक नहीं लिया जाता। इसका कथानक बृहत्कथा अथवा पूर्व कवियों या नाटककारों की कृतियों के आधार पर रचित होता है। परन्तु इस प्रकार के रूपक के कथानकों में ऐसे गुणों का समावेश करते हैं जिनका मूल-कथा में अभाव है।

---

[1] अभि० भा० भाग २–४१२

नाटक प्रधान रूप में प्रकरण से इसलिए भिन्न है क्योंकि नाटक का कथानक ऐतिहासिक होता है और प्रकरण का कथानक नाटककार की कल्पना से उद्भूत होता है। इन दोनों प्रकार के नाट्य प्रदर्शनों में प्रत्येक का प्रयोजन विभिन्न रुचियों के दर्शकों को शिक्षा प्रदान करना है। जो लोग ऐतिहासिक कथानकों के प्रेमी हैं उनकी शिक्षा नाटक से तथा जो लोग कल्पनाप्रसूत कथावस्तु के प्रेमी हैं उनकी शिक्षा प्रकरण से संभव होती है। नाट्यप्रदर्शन का एक उपप्रधान प्रयोजन दर्शकों को चार पुरुषार्थों में से किसी एक पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए साधनों एवं उपायों के विषय में शिक्षा देना एवं तत्परिणामस्वरूप उनके नैतिक चरित्र को बनाना है। और नाट्य प्रदर्शन दर्शक के चरित्र का उत्थान धर्मोपदेश के साधन से न कर नायक के साथ दर्शक का तादात्म्य स्थापन के साधन से करते हैं। नाटक का यह नायक किसी नैतिक उद्देश्य की सिद्धि की प्राप्ति की चेष्टा करते हुए प्रदर्शित किया जाता है। दर्शक उस नायक के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर स्वयं नैतिक जीवन के महत्त्व एवं गौरव का साक्षात्कार कर लेता है। नायक के साथ दर्शक का यह तादात्म्य बिना प्रदर्शन के प्रति आकर्षित हुए नहीं संभव है। और मनुष्य आकर्षित उसी वस्तु की ओर होता है जिसके प्रति उसकी रुचि होती है। अतएव प्राचीन नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने दो स्वरूपों के रूपकों का उल्लेख किया था—ऐतिहासिक तथा कल्पनाप्रसूत—। इनकी रचना विभिन्न रुचियों[1] के व्यक्तियों को ध्यान में रखकर रूपक के लेखक करते हैं।

(आ) नायक एवं उसके सहायक

प्रकरण का नायक राजा अथवा दिव्य प्राणी न होकर स्वदेशी अथवा विदेशी वस्तुओं का व्यापारी अर्थात् सार्थवाह, ब्राह्मण, सचिव, पुरोहित अथवा राज्य का उच्च पदाधिकारी होता है। उसके चरित्र को भव्य नहीं होना चाहिए और अत्यंत वैभवशाली होने पर भी राजाओं के समान उसको भोग विलास में लिप्त भी प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। कंचुकी के स्थान पर एक अनुचर, विदूषक के स्थान पर विट् (कलानिपुण उपजीवी) एवं आमात्य के स्थान पर श्रेष्ठी उसके सहायक होने चाहिए। इसलिए इसके सूच्य दृश्यों में अन्तःपुर की रमणियों एवं कंचुकी आदि के स्थान पर चेट अनुचर आदि पात्रों को प्रदर्शित करते हैं।

---

[1] अभि० भा० भा० २–४१०

(इ) नायिका

प्रकरण में प्रेम के प्रसंग में प्रेमिका के रूप में जो प्रधान नायिका है उसको गणिका अथवा अद्विजवर्णा स्त्री होना चाहिए। अन्य प्रसंगों में अभिजातीय वंश की रमणी भी नायिका हो सकती है। मध्यम वर्गीय दर्शकों को शिक्षित करना प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है।

(ई) प्रकरण के उपभेद

प्रकरण के इक्कीस उपभेद हैं। सात प्रकार के प्रधान नायकों के आधार पर इसके सात उपभेद हैं। (१) ब्राह्मण (२) सचिव, (३) राजकीय उच्च पदाधिकारी (४) पुरोहित (५) स्वदेशी वस्तुओं का व्यापारी (६) विदेशी वस्तुओं का व्यापारी एवं (७) विट्। इन सात उपभेदों में से प्रत्येक के तीन उपभेद और भी किए गए हैं। ये उपभेद नायक के तीन प्रकार की नायिकाओं से सम्बन्ध के आधार पर किये गये हैं। नायिका द्विजवर्णा, अद्विजवर्णा अथवा गणिका हो सकती है। उपर्युक्त प्रथम दो प्रकारों की नायिका में से कोई एक गृहस्थजीवन के प्रदर्शन में लाई जा सकती है। गणिका नायिका केवल उस प्रणय प्रसंग में सम्भव है जिसका गृहस्थ जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं।

यदि प्रकरण का प्रधान नायक अब्राह्मण है तो उसके गृहस्थजीवन के प्रदर्शन में वेश्या के समागम को प्रदर्शित किया जा सकता है। परन्तु सावधान इस बात में रहना चाहिए कि यदि नायक की पत्नी अभिजात वंशीया है तो वेश्या नायिका के साथ उसका मिलन कभी भी प्रदर्शित न किया जाय। शूद्रक ने मृच्छकटिक प्रकरण में इस सिद्धान्त का पालन सावधानी से किया है। मृच्छकटिक में नायक चारुदत्त की अभिजातीया पत्नी धूता के साथ वसन्तसेना, जो एक गणिका है, की भेंट कभी नहीं होती। नायक की प्रेमिका होने के कारण वसन्तसेना मृच्छकटिक प्रकरण की प्रधान नायिका है।

३. समवकार

भरतमुनि ने रूपक के भेदों की जो सूची लिखी है उसमें यद्यपि 'समवकार' का उल्लेख प्रकरण के बाद नहीं वरन् भाण आदि के बाद किया गया है, फिर भी अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में समवकार की व्याख्या नाटिका के बाद की है। इसका कारण निम्नलिखित है :—

एक ही अंक में पूर्ण होने के कारण एकांकी नाटकों का उद्देश्य दर्शकों को तीन पुरुषार्थों में से किसी एक पुरुषार्थ की सिद्धि के साधनों एवं उपायों के विषय में शिक्षित करना नहीं होता है। प्रकरण के उपरान्त समवकार की व्याख्या इसलिए अभिनवगुप्त ने की है क्योंकि समवकार का उद्देश्य इस प्रकार की शिक्षा दर्शकों को प्रदान करना है तथा इसमें अनेक अंक होते हैं। समुचित प्रसंग में हम इस तथ्य के कारण का उल्लेख करेंगे कि चार अंक से युक्त होने पर भी डिम की व्याख्या बाद में क्यों की गई है?

समवकार का उद्देश्य किसी देवता से संबंधित घटनाओं के समुदाय का प्रदर्शन है। इसमें किसी देवता को नायक के स्वरूप में प्रदर्शित किया जाता है और उसे किसी लक्ष्य सिद्धि में प्रवृत्त तथा लक्ष्य को प्राप्त करते हुए दिखाया जाता है। इसका उद्देश्य प्रदर्शित देवता के भक्तों के अन्तःकरण में उन साधनों के प्रति उपादेयता का भाव उत्पन्न करना है जिनका उपयोग वह देवता निज लक्ष्य सिद्धि के लिए करता है। इसमें उन सब विस्तीर्ण जीवन की घटनाओं का प्रदर्शन नहीं किया जाता जो देवता के जीवन के अनुकूल नहीं है। इसमें उन्हीं घटनाओं को प्रदर्शित करते हैं जो शिक्षाप्रद तथा मनोरंजक हैं। समवकार में तीन अंक होते हैं। इसका नायक तीन प्रकार के देव-नायकों में से किसी एक प्रकार का नायक हो सकता है अर्थात् शिव की भाँति उदात्त नायक, ब्रह्मा की भाँति प्रशान्त नायक अथवा नृसिंह की भांति उद्धत नायक इसमें प्रदर्शित किया जा सकता है। इसके प्रत्येक अंक में साधन के रूप में छल, आपत्तिकाल में प्रत्यावर्तन, (विद्रव) एवं लक्ष्य के रूप में प्रेम प्रदर्शित किया जाता है। छल, प्रत्यावर्तन एवं प्रेम तीन प्रकार[1] के होते हैं। इनके भेदों का उल्लेख आगामी एक उपप्रकरण में करेंगें। कुछ शास्त्रकारों का मत यह है कि इसमें कुल बारह पात्र होने चाहिये अर्थात् प्रत्येक अंक में चार पात्र होने चाहिये, परन्तु अन्य आचार्यों का यह मत है कि इसके प्रत्येक अंक में बारह पात्र होने चाहिये।

समवकार के तीन अंकों में से प्रथम में हास्योत्पादक वस्तु को प्रदर्शित करना चाहिये अतएव इस अंक में किसी एक व्यक्ति को अपने से भिन्नलिङ्ग व्यक्ति के साथ प्रेम जनित आनन्द प्राप्त करते हुए प्रदर्शित करना चाहिए। क्योंकि ऐसे ही प्रसंग में हास उत्पादक तथ्यों का प्रदर्शन किया जाना संभव है।

[1] अभि० भा० भाग २–४३७

एक अंक की प्रदर्शन अवधि

समवकार के प्रथम अंक का प्रदर्शन चार घंटे और अड़तालीस मिनटों में, दूसरे अंक का प्रदर्शन एक घण्टे छत्तीस मिनटों में तथा तीसरे अंक का प्रदर्शन अड़तालीस मिनटों में करना चाहिए। समवकार का प्रत्येक अङ्क अन्य रूपकों के अङ्कों के साथ तुलना करने पर स्वयं एक पूर्ण रूपक प्रतीत होता है। इसके प्रत्येक अंक में कथा-वस्तु समाप्त सी हो जाती है। इसके विभिन्न अङ्कों का परस्पर संबंध घनिष्ठ नहीं होता है।

'समवकार' शब्द का अर्थ

इस प्रकार की नाट्य कृति को 'समवकार' कहने का कारण यह है कि व्यापक दृष्टिकोण के दर्शकों को तो इसके अंकों की कथावस्तु में संबद्धत्ता का ज्ञान होता है परन्तु अव्यापक दृष्टिकोण[१] के दर्शक को इसके अंकों के कथानक परस्पर असंबद्ध स्वरूप ही ज्ञात होते हैं।

तीन प्रकार के प्रत्यावर्तन, कपट एवं शृंगार

निम्नलिखित तीन कारणों के आधार पर प्रत्यावर्तन तीन प्रकार का कहा गया है (१) जड़ वस्तुओं के कारण जैसे आग, आंधी एवं वर्षा के कारण प्रत्यावर्तन। (२) चेतन वस्तु के कारण जैसे विशाल हाथी के बन्धनमुक्त होने पर उसके भय से प्रत्यावर्तन एवं (३) चित्-अचित् दोनों के कारण जैसे आक्रमणकारियों से किसी नगर के घिर जाने पर किया गया प्रत्यावर्तन।

कपट भी तीन प्रकार का होता है। निर्दोष के प्रति किया गया कपट एक प्रकार का है। दोषी के प्रति किया गया कपट दूसरे प्रकार का है। तीसरे प्रकार का कपट वह है जो दैववशात् हो जाता है। जैसे कि दो व्यक्ति एक ही वस्तु को पाने की चेष्टा कर रहे हों और उनमें से एक सफल हो जाय और दूसरा असफल हो जाय[२]। यदि इस प्रकार की चेष्टा में एक व्यक्ति की सफलता का कारण यह हो कि दूसरा व्यक्ति उस अपने प्रतिद्वंद्वी के आचरण से वंचित हो गया हो जिसके मन में कपट न हो तो वह दैववश कपट कहा जायगा।

सामान्य लोक जीवन के तल पर प्रतिष्ठित तीन पुरुषार्थों में से किसी एक से संबंधित होने के कारण श्रृङ्गार रस भी तीन प्रकार का माना गया है।

---

[१] अभि० भा० भाग २-४३८ [२] अभि० भा० भाग २-४३९

समवकार में कैशिकीवृत्ति का अभाव

यह प्रतिपादित किया गया है कि समवकार में श्रृंगार को प्रदर्शित करना चाहिए परन्तु साथ ही साथ इसकी परिभाषा में यह भी कहा गया है कि इसमें कैशिकी वृत्ति अर्थात् नृत्य, गीत, विलासचेष्टा आदि श्रृंगार संबंधी मृदु कार्यों का अभाव रहता है। परन्तु बिना कैशिकी वृत्ति के श्रृंगार का प्रदर्शन किस प्रकार से किया जा सकता है ? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। ग्रंथ के उस स्थल पर जहाँ आठ प्रकार की निम्नकोटि की नाट्यकृतियों के सामान्य लक्षणों का उल्लेख है 'कैशिकीवृत्तिहीनानि' लिखा है। इसको दो अर्थों में समझाया गया है। कुछ शास्त्रकार इस समास का विग्रह 'कैशिक्याम् वृत्तौ हीनानि' रूप में करते हैं। इसके अनुसार इसका अर्थ वे यह लगाते हैं कि इन आठ प्रकार के निम्नकोटि के रूप में कैशिकीवृत्ति उत्कृष्ट रूप में इसलिए नहीं होती क्योंकि इन नाट्य-कृतियों में उन चार प्रकार की रतिक्रीड़ाओं को सर्वांगीण रूप में प्रदर्शित नहीं किया जाता जिनको शास्त्र की भाषा में 'नर्म' कहते हैं और जो संगीत एवं नृत्य के संसर्ग से और भी अधिक आनन्द प्रद[1] तथा मनोहारी बन जाती हैं। परन्तु अभिनवगुप्त के आचार्य समास का विग्रह 'कैशिकीवृत्त्या हीनानि' के रूप में करते हैं जिसका अर्थ यह है कि इन नाट्यकृत्तियों में कैशिकीवृत्ति का सर्वथा अभाव होता है। उनका मत यह है कि सभी प्रकार के श्रृङ्गारों में कैशिकी वृत्ति का होना आवश्यक नहीं है। इस वृत्ति का होना उस श्रृङ्गार में परमावश्यक है जो अपने को रतिक्रीडाओं के रूपों में प्रकट करता है। अतएव रौद्र प्रकृति के व्यक्तियों से संबंधित श्रृङ्गार अपने को अधिकांश रूप में रति-क्रीड़ाओं में प्रकट नहीं करता। परन्तु कैशिकी वृत्ति की विधायिका नृत्य गीत एवं विलासचेष्टाओं की प्रधानता ही कैशिकी वृत्ति का सृजन करती है। अधर-कोटि के रूपकों में कैशिकी वृत्ति का अभाव इसलिए होता है क्योंकि जिस कार्य का प्रदर्शन उनमें करते हैं उसमें श्रृङ्गार रस से सम्बन्धित मृदुकार्य (गीत नृत्यादि) की प्रधानता नहीं होती है।

समवकार का प्रदर्शन उस दिन करना चाहिए जिस दिन देव मूर्ति की रथ-यात्रा होती है जिससे कि जिन लोगों का उस देवता पर पूर्ण विश्वास है उनका कल्याण हो सके और उन नारियों तथा बालकों का मनोरंजन हो सके जो सम्पूर्ण रूपक प्रदर्शन को व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देख सकते हैं।

---

[1] अभि० भा० भाग २–४४०–१

४. ईहामृग

ईहामृग का नायक वह देवता होना चाहिए जो एक दिव्य नारी को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहा हो। ईहामृग और समवकार में यद्यपि समान रूप से किसी न किसी देवता को ही नायक के रूप में प्रदर्शित किया जाता है फिर भी दोनों में मूल भेद यह है कि ईहामृग का कथानक समवकार के कथानक की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित होता है और इसके विभिन्न अंग समवकार से अधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होते हैं। ईहामृग अत्यन्त यथार्थ परक नाट्यकृति है। इस सम्बन्ध में दो भिन्न पाठ हैं (१) "विप्रत्ययकारकश्चैव" (२) "विप्रत्ययकारणश्चैव" और तदनुसार दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है—(१) सन्देहशून्य विश्वासोत्पादक तथा (२) विश्वासोत्पाक युक्तियों से शून्य। इसमें उद्धत स्वभाव के अनेक पात्र होते हैं। ईहामृग का प्रदर्शन किसी नारी से संबंधित क्रोध, क्षोभ, प्रत्यावर्तन एवं कोपजनित कटु वचनों से परिपूर्ण होता है। इसके कथानक में श्रृङ्गार का रूप यह होता है कि किसी रमणी को विमोहित कर, प्रतिनायक[1] को छल से पराजित कर नायक उसको (रमणी को) अपने साथ ले जाता है। इसकी नाटकीय रचना सुगठित होती है। ईहामृग के पात्रों की संख्या, कार्य का स्वरूप एवं रस व्यायोग के समान ही होते हैं, अर्थात् ईहामृग में एक अंक होता है जिसमें बारह पात्र होते हैं और इसमें उपयुक्त कार्यों के साधन से वीर अथवा रौद्र रस को प्रकट करते हैं। व्यायोग से ईहामृग केवल इस एक बात में भिन्न है कि ईहामृग में नायक के साथ किसी दिव्य नारी के मिलन को प्रदर्शित करते हैं। इसमें उस युद्ध को जिसमें योद्धा एक दूसरे का वध करने में उद्यत हों और इसी लिये घात-प्रतिघात हो रहे हों किसी न किसी कारण से शान्त होते हुए प्रदर्शित करना चाहिए।

५. डिम

डिम का कथानक ऐतिहासिक तथा लोकप्रसिद्ध होता है। नाटक के नायक के समान डिम का नायक भी उदात्तचरित्र होता है। डिम में चार अंक होते हैं। इसमें छ उत्तेजक रसों को प्रकट किया जाता है। इसमें श्रृङ्गार, हास्य एवं शान्त तीन रसों को प्रकट नहीं करते हैं। डिम में भूकम्प, उल्कापात, सूर्य तथा चन्द्रगृहण, युद्ध, द्वन्द्व युद्ध, चुनौती, वाग्-युद्ध, छल तथा इन्द्रजाल

[1] अभि० भा० भाग २–४४२

का प्रदर्शन करते हैं। इसमें दृश्य चित्रों का प्रयोग बहुत मात्रा में किया जाता है। इस प्रसंग में विभिन्न मतों के स्थापक दो भिन्न ग्रन्थपाठ हैं। १—बहुपुरुषोत्थानयोगयुक्तश्च तथा २—बहुपुरुषोत्थानभेदयुक्तश्च। प्रथम ग्रंथ पाठ के आधार पर उपर्युक्त मत की स्थापना की गई है। द्वितीय ग्रन्थपाठ के अनुसार डिम में अनेक पुरुषों के शक्ति पूर्ण कार्यों एवं परस्पर विरोधों को प्रदर्शित करना चाहिए। डिम में पात्रों की संख्या सोलह होती है जिनमें देवता, नागराज, असुर, यक्ष, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाचादि होते हैं। इस प्रकार के रूपकों में प्रधान रूप से शास्त्रकथित सात्वती एवं आरभटी वृत्तियों अर्थात् मानसिक एवं शक्तिसंभूत कार्यों को ही प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार की नाट्यकृति को 'डिम' कहने का कारण यह है कि इसमें प्रधानतया प्रत्यावर्तन[२] अर्थात् विद्रव को प्रदर्शित करते हैं। अथवा इसका कारण यह है कि इसमें उद्धत तथा उन्मत्त नायक के कार्यों को प्रदर्शित करते हैं।

डिम में चार अंक होते हैं। फिर भी इसका उल्लेख नाटक तथा प्रकरण के समनन्तर ही नहीं किया गया है। इस अनुल्लेख का प्रयोजन यह सूचित करना है कि (१) इसमें प्रस्तावना स्वरूप वह दृश्य नहीं होता जिसको शास्त्रीय भाषा में प्रवेशक कहते हैं और जिसका प्रयोजन दर्शकों के सामने रूपक के कथानक के उन सूच्यांशों को प्रकट करना होता है जो अत्यन्त विस्तृत समयावधि में घटित होने के कारण रंगमंच पर अप्रदर्शनीय होते हैं परन्तु दर्शकों के लिए उनको जानना इसलिए आवश्यक होता है क्योंकि उनको जाने बिना उनको गतांक एवं आगामी अंक की घटनाओं में परस्पर सम्बन्ध ज्ञात नहीं हो सकता। (२) यह नाट्यकृति के दूसरे भेद अर्थात् प्रकरण से अधिक निम्न-कोटि का होता है (३) डिम में जिन घटनाओं का प्रदर्शन किया जाता है वे सब चार दिन से अधिक समय में घटित हुई नहीं होतीं।

वस्तुतः डिम में प्रवेशक के उल्लेख करने का कोई स्थान ही नहीं है। इसका कारण यह है कि डिम का पूरा कथानक सरस होता है और इसलिए इसके सभी अंक सुसंगठित होते हैं—समवकार की भांति वे परस्पर असम्बद्ध नहीं होते। प्रकरण के बहुत बाद इसकी व्याख्या करने का निम्नलिखित कारण है :—

सर्वोत्कृष्ट स्वरूप नाट्यकृति होने के कारण 'नाटक' की व्याख्या सर्वप्रथम की गई है। नाटक के समकक्ष होने के कारण दूसरा स्थान प्रकरण को दिया

[२] अभि० भा० भाग २–४४३–४

गया है। प्रकरण के उपरान्त नाटिका की व्याख्या इसलिए की गई है क्योंकि जो कुछ भी इसके प्रसंग में कहना आवश्यक है उसको अधिकांश रूप में पूर्व-कथित नाटक तथा प्रकरण[1] के विषय में सामान्य रूप से पहले ही कहा जा चुका है। यदि नाटिका की व्याख्या नाट्यकृतियों के अन्य भेदों के उपरान्त की गई होती तो नाटक तथा प्रकरण के विषय में जो कहा जा चुका है उसकी पुनरावृत्ति करना आवश्यक हो जाता। नाटिका का प्रधानगुण यह है कि इसमें नारी पात्रों की संख्या बहुत अधिक होती है और प्रधान रूप से इसमें श्रृङ्गार रस को प्रदर्शित किया जाता है। इसीलिए नाटिका के बाद समवकार की व्याख्या की गई है क्योंकि इसमें तीन प्रकार के श्रृङ्गार को प्रदर्शित करते हैं। इसके बाद ईहामृग की व्याख्या करने का कारण यह है कि समवकार की भांति इसके भी पात्र दिव्य पुरुष और नारियाँ होते हैं। इसके उपरान्त नाट्यरचना का कोई ऐसा भेद नहीं है जिसमें किसी देवता को नायक के रूप में प्रदर्शित किया जा सके, अतएव अवशिष्ट प्रकार की नाट्यकृतियों के पूर्व डिम[2] की व्याख्या इसलिए की गई है क्योंकि इसमें अनेक रसों का प्रदर्शन किया जाता है और इसका कथानक व्यापक होता है।

६. व्यायोग

व्यायोग एकांकी रूप है। इसका नायक उदात्तस्वरूप न होकर लोकप्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष होता है। इसमें नारी पात्रों की संख्या बहुत कम होती है। इसमें सब मिला कर बारह पात्र होते हैं। व्यायोग का नायक[3] देवता, राजा अथवा ऋषि नहीं होता है। इसमें शस्त्रयुद्ध, द्वन्द्वयुद्ध, वीरतोत्पन्न ईर्ष्या, विद्वत्ता, विश्रुत वंशीयता अथवा शारीरिक सौन्दर्य का प्रदर्शन किया जाता है। इसमें प्रधानतया वीर अथवा रौद्र रस को व्यक्त करने वाले कथानक का प्रदर्शन करते हैं।

७. उत्सृष्टिकांक

उत्सृष्टिकांक की कथावस्तु लोकप्रसिद्ध भी हो सकती है और लोकअप्रसिद्ध भी हो सकती है। इसका कोई पात्र दिव्य-प्राणी नहीं होता। यह प्रधानतया करुण रस को प्रकट करता है। यह युद्ध के समाप्त होने के बाद की अवस्था को

---

[1] अभि० भा० भाग २–४३५ [2] अभि० भा० भाग २–४४४
[3] अभि० भा० भाग २–४४५

अर्थात् नारियों के विलाप को एवं दुःखप्रताड़ित व्यक्तियों के करुणोत्पादक परस्पर संवाद को प्रदर्शित करता है। इसमें सात्वती, आरभटी, तथा कैशिकी तीनों वृत्तियों का अभाव रहता है। इस प्रकार की नाट्यकृति को उत्सृष्टिकांक कहने का कारण यह है कि दुःखतापिता[1] नारियों का इसमें प्राधान्य रहता है। अन्य शास्त्रकारों का अभिमत यह है कि इसको उत्सृष्टिकांक कहने का कारण यह है कि इसमें तीनों प्रकार की वृत्तियों का अभाव होता है। इसका प्रयोजन शोक-संतप्त दर्शकों के शोकभार को और भी अधिक तीव्र शोक को दिखा कर हल्का करना एवं इस प्रकार से उनको शान्त[2] करना है।

८. प्रहसन

प्रहसन दो प्रकार के होते हैं १—शुद्ध तथा २—सङ्कीर्ण। शुद्ध प्रहसन में एक निन्दित मिथ्याचारी के जीवन को प्रदर्शित करते हैं। इसका नायक एक सन्त, तपस्वी, गृहस्थ, बौद्ध भिक्षु अथवा शैव संन्यासी हो सकता है। इसके संलाप परिहासात्मक कथनों से परिपूर्ण होते हैं। अतएव दर्शकों में वे हास्य को उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। प्रहसन में मिथ्याचारी नायक को अत्यन्त सुसंस्कृत भाषा में बोलते हुए एवं धार्मिक कृत्यों को सूक्ष्म विस्तारों के सहित करते हुए प्रदर्शित करते हैं। नाटकीकृत कथानक के कुछ अंश में एक विशेष भाव को प्रकट करते हैं एवं उसके अवशिष्ट भागों में मिथ्याचारी दम्भी नायक के जीवन के उन अंशों को प्रदर्शित करते हैं जिनकी खिल्ली उड़ाना नाटक का एक उद्देश्य है।

इस प्रकार की नाट्यकृति को प्रहसन इसलिए कहते हैं क्योंकि यह हास्यो-त्पादक कथनों से परिपूर्ण होता है। शुद्ध प्रहसन उसको कहते हैं जिसमें अपने दुष्ट स्वभाव[3] के कारण प्रमुखरूप से केवल एक व्यक्ति के जीवन को ही हास्या-स्पद प्रदर्शित किया गया हो। परन्तु उस नाट्यकृति को संकीर्ण प्रहसन कहते हैं जिस में एक धार्मिक दम्भी व्यक्ति को वेश्याओं आदि से सम्बन्धित प्रदर्शित किया जाता है और उनमें आत्मसंयम का अभाव ऐसे स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया जाता है कि परिणामतः केवल मिथ्याचारी नायक ही नहीं वरन् उसके

---

[1] अभि० भा० भाग २–४४६ [2] अभि० भा० भाग २–२४७

[3] अभि० भा० भाग २–४४८

संगी साथी भी हास्यास्पद हो जाते हैं। अन्य शास्त्रकारों का मत यह है कि संकीर्ण प्रहसन वह है जिसमें उन पात्रों को प्रदर्शित करते हैं जिनका जीवन अत्यन्त संस्कृति शून्य होने के कारण स्वभावतः सुसंस्कृत व्यक्तियों के बीच हास्यजनक होता है। परन्तु जब इसके पात्र निज स्वरूप के कारण स्वभावतः हास्योत्पादक नहीं होते वरन् किसी दुष्ट व्यक्ति के संसर्ग में आने के कारण हास्यजनक हो जाते हैं तब उसको शुद्ध[1] प्रहसन कहते हैं।

भरतमुनि के मतानुसार संकीर्ण प्रहसन वह है जिसमें वेश्याओं, परस्व-जीवियों, क्लीबों, व्यभिचारिणी नारियों, धूर्तों, एवं कुलटाओं के निर्लज्ज वेश-भूषा, चाल ढाल तथा मुखाकृति को प्रदर्शित करते हैं। इसमें जो प्रदर्शित किया जाता है वह साधारण जन की दृष्टि में हास्यास्पद ही होता है। जैसे कि एक बौद्ध भिक्षु का किसी रमणी से प्रेम अथवा उन लोगों के मिथ्याचरण जिनको प्रदर्शित कर दर्शकों को ऐसे व्यक्तियों के मिथ्याचरणों के शिकार बनने से रोकने की चेष्टा की जाती है। अवसर की आवश्यकता के अनुसार इसमें वीथी के भी कुछ अंशों को प्रदर्शित किया जा सकता है।

कुछ शास्त्रकारों का मत यह है कि शुद्ध प्रहसन में एक ही अंक होता है। और धार्मिक मिथ्याचारी[2] व्यक्ति के वेश्या आदि कुसंगियों की संख्या के अनुसार संकीर्ण प्रहसन में अनेक अङ्क होते हैं।

कुछ अन्य शास्त्रकार यह प्रतिपादित करते हैं कि प्रहसन में केवल एक ही अङ्क होना चाहिए क्योंकि इसकी व्याख्या एकांकी नाटकों के प्रसंग में की गई है और प्रसंगविरुद्ध मत के प्रतिपादन के लिए कोई सन्तोषप्रद संगत कारण नहीं है।

९. भाण

भाण में केवल एक ही अङ्क नहीं होता वरन् केवल एक ही पात्र भी होता है। इसमें एक ही अभिनेता रूपक के सम्पूर्ण कथानक को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार की नाव्यकृति को शास्त्रीय भाषा में भाण इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें रंगमंच पर वर्तमान एक ही नायक कथानक के अन्यपात्रों के भाषणों को स्वयं ही कहता है। भाण में रंगमंच पर स्थित पात्र अपने अथवा दूसरे लोगों[3] के अनुभवों का वर्णन करता है। दर्शकों को वे अन्य पात्र न तो दृष्टिगत होते

[1] अभि० भा० भाग २–४४८–४९ [2] अभि० भा० भाग २–४४८–४९

[3] अभि० भा० भाग २–४५०

हैं और न उनकी वाणी ही सुन पड़ती है जिनके अनुभवों का रंगमंच स्थित पात्र वर्णन करता है एवं जिनके भाषणों को वह दोहराता है। परन्तु रंगमंच पर वर्तमान अभिनेता उन पात्रों को प्रत्यक्ष देखता हुआ सा एवं उनकी वाणी को सुनता हुआ सा दिखाई देता है। वह उन अदृश्य पात्रों से संलाप करता है, उनको सम्बोधित करता है, उनके प्रतिकथनों को सुनता हुआ सा दिखाई पड़ता है और उन प्रतिकथनों को समुचित अंगाभिनयों एवं इंगितों के साथ दोहराता भी है। इसके साथ साथ वह उन अदृश्य पात्रों के कार्यों को निज अभिनयसे प्रकट भी करता है। भाण के कथानक का अभिनेता दुष्टस्वभाव का व्यक्ति अथवा परस्वजीवी होता है। वह 'कार्य' से परिपूर्ण होता है और उसमें अनेक भावों का प्रदर्शन किया जाता है। भाण का मुख्य उद्देश्य दुष्टस्वभाव एवं चरित्र-हीन व्यक्तियों के स्वरूप का प्रदर्शन है जिससे कि सामान्य लोग उनके चंगुल[१] में न पड़ जावें।

१०. वीथी

वीथी में प्रत्येक रस को प्रकट किया जाता है। इसमें तेरह भाग होते हैं। यह एकांकी होती है। बीथी में एक अथवा दो पात्र होते हैं जो समाज के उच्च, मध्य अथवा निम्न तल के होते हैं। नाट्यकृतियों के अन्य भेदों की अपेक्षा यह सर्वाधिक छोटे आकार की होती है। बीथी दर्शकों को संक्षिप्त रूप में[२] शिक्षा प्रदान करती है।

इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि बीथी के भाग लक्षण एवं अलंकार[६] से भिन्न स्वरूप होते हैं। नाट्यकृति के उस प्रस्तावना स्वरूप दृश्य में जिसको शास्त्रीय भाषा में आमुख कहते हैं बीथी के अंशों का उपयोग किया जाता है।

नाट्यकृति के विभिन्न भेदों में प्रकटनीय रस

नाट्यकृति के प्रत्येक भेद में प्रधानतया केवल एक ही रस को प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि नाटक एवं प्रकरण में प्रत्येक प्रकार के रस को प्रदर्शित करने की शक्ति होती है फिर भी धार्मिक अथवा सामाजिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए

---

[१] अभि० भा० भाग २–४५० [२] अभि० भा० भाग २–४५२

[६] अभि० भा० भाग २–४५४

किए जाने वाले संघर्षों से सम्बन्धित वीर रस को मुख्यतया इनमें प्रकट किया जाता है। वस्तुतः वह उत्साह प्रत्येक प्रकार के नायक का विशेषगुण है जो वीर रस का स्थायीभाव है और जो प्रत्येक प्रकार की उद्देश्यसिद्धि के लिये परमावश्यक है। अतएव प्रत्येक प्रकार की नाट्यकृति में किसी न किसी अंश में वीर रस को अवश्य प्रकट किया जाता है। परन्तु एक नाट्यकृति को उस विशेष रस को प्रकट करने वाली माना जाता है जिसका स्थायीभाव नायक की विशेष लक्ष्य सिद्धि के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है अथवा जिस स्थायीभाव को उपर्युक्त प्रकार के सम्बन्ध से रहित होते हुए भी नाटक का लेखक प्रधान रूप में प्रकट करता है।

इस प्रकार से नाटक एवं प्रकरण में किसी भी एक रस को प्रधान रूप में तथा अन्य रसों को अप्रधान रूप में प्रकट किया जा सकता है। समवकार में वीर अथवा रौद्र रस को प्रमुख रूप से प्रकट करते हैं। यद्यपि समवकार की परिभाषा के अनुसार इसमें इसमें तीन प्रकारों के श्रृङ्गार रस को प्रकट किया जाता है फिर भी यह रस अप्रधान ही रहता है। डिम तथा व्यायोग में भी वीर अथवा रौद्र रस को ही प्रकट करते हैं। ईहामृग में प्रधान रूप से रौद्र रस को प्रकट किया जाता है। नाटिका का प्रधान रूप से प्रकटनीय रस श्रृङ्गार है। उत्सृष्टिकांक, प्रहसन एवं भाण क्रमशः करुण, हास्य तथा अद्भुत रस को प्रकट करते हैं। नायक के उच्च, मध्यम अथवा निम्न सामाजिक तल[1] के अनुसार वीथी में किसी भी रस को प्रमुख रूप से प्रकट किया जा सकता है।

इस प्रकार से निम्नकोटि के तीन पुरुषार्थों से क्रमशः सम्बन्धित वीर, रौद्र एवं श्रृङ्गार रस हैं। इनमें से विलगरूप से वह रस नाट्यकृति का प्राणस्वरूप होता है जिसके स्थायी भाव पर नायक की लक्ष्यसिद्धि निर्भरहोती है और जो नाट्यकृति का केन्द्रविन्दु होता है।

शान्त तथा बीभत्स रसों का सम्बन्ध मोक्ष नामक पुरुषार्थ से है। इसकी सिद्धि को प्राप्त करने की चेष्टा बहुत कम लोग करते हैं। ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनको संसार में फिर से जन्म लेना नहीं होता। अतएव दर्शकों में भी ऐसे लोग अल्पसंख्यक ही होते हैं जिनमें शान्त एवं बीभत्स रसों को अनुभव करने के लिए आवश्यक संस्कार वर्तमान हों। अतएव उस 'नाटक' में जिसमें नायक को मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये चेष्टा करते हुए प्रदर्शित किया जाता है

---

[1] अभि० भा० भाग २–४५९

शान्त एवं वीभत्स रसों को प्रमुख रूप में प्रकट किया जा सकता है। परन्तु ऐसी नाट्यरचनाएं संख्या में अधिक नहीं हैं जिनमें इन रसों को प्रधानतया प्रकट किया गया हो। सामान्यतः इन रसों को हम वीर, शृङ्गार अथवा रौद्र[1] रस के अधीनस्थ रूप में प्रकट होते हुए देखते हैं।

---

[1] अभि० भा० भाग २-४५१

अध्याय १०

संस्कृत नाट्य-प्रदर्शन के आवश्यक तत्त्व

भरत मुनि ने संक्षिप्त रूप से निम्नलिखित तत्त्वों को नाट्य-प्रदर्शन के लिये आवश्यक बताया है :—

१. व्यभिचारी भावों, अनुभावों, विभावों एवं प्रधानभूत स्थायी भाव का रसानुभवोत्पादक मिश्रित समुदाय अर्थात् रस।

२. उन्चास प्रकार के भाव अर्थात् आठ स्थायी भाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव एवं आठ सात्त्विक भाव।

३. अभिनय के चार प्रकार अर्थात् आंगिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य।

४. परम्परागत अभिनय के दो वर्ग, अथात् लोकधर्मी और नाटयधर्मी।

५. चार प्रकार की वृत्तियाँ अर्थात् सात्त्वती, आरभटी, भारती, एवं कैशिकी।

६. वेश भूषा, आचरण, विशेषरुचि, रीतिरिवाज़, चालढाल, जीवनोपाय आदि के विषय में सुविख्यात प्रादेशिक विलक्षणताएँ (प्रवृत्ति)।

७. नाट्य-प्रदर्शन की दो प्रकार की सिद्धियाँ अर्थात् मानुषी सिद्धि एवं दैवी सिद्धि। मानुषी सिद्धि वह है जो दर्शकों में प्रशंसात्मक शब्दों को जैसे 'वाह वाह' अथवा करतलध्वनि उत्पन्न करती है, एवं दैवी सिद्धि वह है जो मर्मस्पर्शी भावप्रदर्शन से दर्शकों को मूक अथवा निस्तब्ध बना देती है।

८. षड्ज आदि संगीत के प्रसिद्ध सात स्वर।

९. वाद्य ध्वनि (आतोद्य)।

१०. गान।

११. रंगमंच।

रस, भाव तथा रंगमंच के विषय में विशद रूप से हम गत अध्यायों में लिख आए हैं। संगीत कला-विषयक विशद वर्णन हम आगामी दो अध्यायों में करेंगे जिसमें स्वर एवं जाति जैसे महत्त्व पूर्ण विषयों की व्याख्या विशद रूप से करेगें। सिद्धि एवं धर्मी आदि के विषय में जो महत्त्वपूर्ण बातें हैं उनका उल्लेख हम गत पंक्तियों में कर चुके हैं। अतएव इस अध्याय में हम वृत्ति, प्रवृत्ति, अभिनय एवं इनसे सम्बन्धित विषयों की ही व्याख्या करेंगे।

'वृत्ति' शब्द का अर्थ

काव्यलक्षणकारों एवं नाट्यशास्त्र के आचार्यों दोनों ने वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु उनके मतानुसार इस शब्द के अर्थ भिन्न हैं। सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग जिस काव्यलक्षणशास्त्र के प्रतिपादक ने किया था वे उद्भट थे। अभिनवगुप्त के कथनानुसार उद्भट ने अनुप्रास कोटि के शब्दालंकारों को तीन वर्गों में विभाजित किया था। यह वर्गीकरण उन्होंने उन विभिन्न ध्वनियों की पुनरावृत्ति के अनुसार किया था जिनका विभिन्न भावोत्पादकता के कारण दीप्त, मसृण एवं मध्यम अथवा अपरुष नामक वर्गों में विभाजन किया था। अनुप्रासों को तीन वर्गों में विभाजित करने के लिए उन्होंने परुषा, उपनागरिका एवं ग्राम्या नामक तीन वृत्तियाँ मानी थीं। परुषा में दीप्त ध्वनियों की बहुलता होती है। उपनागरिका में ऐसी ध्वनियों की पुनरावृत्ति होती है जो सुसभ्य रमणी के समान कोमल होती हैं। ग्राम्या वृत्ति ग्रामीण नारी की भांति होती है। इस प्रकार से उद्भट के मतानुसार विभिन्न प्रकार की ध्वनियों की पुनरावृत्तियों को ही विभिन्न वृत्तियां कहते हैं (वर्तन्ते अनुप्रासभेदाः आसु[१])।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैयाकरण अत्यन्त प्राचीन समय से अर्थबोध के सिद्धान्त के सम्बन्ध में वृत्ति शब्द का प्रयोग करते आ रहे थे। उन्होंने अपने शास्त्र में अभिधावृत्ति (शब्द की वह शक्ति अथवा व्यापार जिससे परम्परागत अर्थ का बोध होता है) एवं लक्षणावृत्ति (शब्द की वह शक्ति अथवा व्यापार जिससे परम्परागत अर्थ से भिन्न अर्थ का बोध होता है) की चर्चा की थी। और इस प्रसंग में वे बहुधा वृत्ति के लिये 'व्यापार' शब्द का प्रयोग करते थे। वैयाकरणों से प्रभावित होकर कतिपय काव्यलक्षणकारों ने 'वृत्ति' शब्द का अर्थ 'क्रिया' अथवा 'व्यापार' लगाया और तदनुसार उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि पुनरावृत्त वर्णों की ध्वनि की वह विशिष्ट क्रिया अथवा उसका व्यापार ही वृत्ति है जो एक विशेष रस[२] को प्रकट करने में सहायक होता है।

इस सम्बन्ध में यह कथनीय है कि वृत्तियों की संख्या के विषय में काव्य लक्षणकारों में परस्पर मतभेद है। क्योंकि उद्भट तथा उनका अनुसरण करते हुए मम्मट वृत्तियों की संख्या तीन मानते हैं जिनका उल्लेख हमने वर्तमान उपप्रकरण के आरम्भ में किया है। परन्तु रुद्रट पाँच वृत्तियों का प्रतिपादन

---

[१] ध्व० लो० (नि०) ५–६ [२] का० प्र० (क०) १९४

करते हैं—(१) मधुरा (२) प्रौढ़ा (३) परुषा (४) ललिता एवं (५) भद्रा[1]। इनमें से प्रथम तीन वृत्तियां तो प्रत्यक्षरूप से उद्भट प्रतिपादित वृत्तियों के समान हैं। और अन्तिम दो वृत्तियां अधिक जोड़ी गई हैं। भोज ने विभिन्न प्रसंगों में वृत्तियों की संख्या भिन्न भिन्न प्रतिपादित की है।

इस प्रकार से हमें ज्ञात यह होता है कि काव्यलक्षणकारों ने भी वृत्ति शब्द का प्रयोग उसी 'क्रिया' अथवा 'व्यापार' के अर्थ में किया था जिस अर्थ में नाट्यशास्त्रकार इस शब्द का प्रयोग विशेष रूप से करते हैं। परन्तु यह सच है कि नाट्यशास्त्रकार इसका प्रयोग पुनरावृत्त वर्णों के ध्वनिविशेष के व्यापार के अर्थ में नहीं करते हैं वरन् उस नटों की क्रिया अथवा व्यापार के अर्थ में करते हैं जिसका प्रदर्शन रूपक करता है। नाट्यशास्त्रकार नाट्यप्रदर्शन से संबंधित नट व्यापार को चार प्रकार का मानते हैं—ये ही चार वृत्तियाँ हैं—सात्वती, आरभटी, कैशिकी एवं भारती।

काव्य-कृति में वृत्ति

अभिनवगुप्त का मत यह है कि वृत्ति का प्रदर्शन करना केवल रूपक का ही उद्देश्य नहीं है वरन् काव्य का भी है। क्योंकि काव्य में उन मानवीय स्थायी भावों को प्रकट किया जाता है जो मनुष्य जीवन के चार प्रतिष्ठित पुरुषार्थों की सिद्धि की ओर अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि की ओर ले जाने में मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक व्यापारों के रूप में सहायक होते हैं। अतएव यह स्वीकार किया गया है कि व्यापार अथवा वृत्ति से काव्य की उत्पत्ति होती है (वृत्तिप्रभवत्वम्[2])। यह मानना उचित नहीं है कि केवल रूपक रूप काव्य ही का विषय वृत्तिप्रदर्शन है और महाकाव्य, गीतकाव्य तथा अन्य प्रकार के काव्यों का विषय वृत्तिप्रदर्शन नहीं है। क्योंकि वृत्ति केवल वही नहीं है जिसको शरीर के विभिन्न अङ्गों से प्रदर्शित किया जाता है वरन् मन तथा वागिन्द्रिय का व्यापार भी वृत्ति है। इस सम्बन्ध में भरतमुनि का मत अत्यन्त स्पष्ट है। वे यह घोषणा करते हैं कि सभी प्रकार के काव्यों के अस्तित्व का कारण विभिन्न स्वरूपों की वृत्तियां ही हैं। माता और उसकी सन्तान में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध वृत्ति तथा काव्य में है[3]। दृश्य काव्य एवं श्रव्य काव्य में भेद यह है कि श्रव्य काव्य में कवि के अन्तःकरण में चित्रित विभिन्न पात्रों के

---

[1] का० अध्याय २–५–१९ [2] अभि० भा० भाग २–४०७

[3] अभि० भा० भाग २–३४८

व्यापार (वृत्ति) भाषा में प्रकट किए जाते हैं परन्तु नाटयस्वरूप काव्य में अभिनेताओं की सहायता से रंगमंच पर उनको इस प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है कि दर्शकों को यह अनुभव होने लगता है कि उनकी दृष्टि के सामने घटनाएं प्रत्यक्षतः घटित हो रही हैं।

लोकगत एवं नाट्यगत वृत्ति में भेद

गीत-काव्य आदि काव्य के अनेक रूपों एवं रूपकों के परस्पर भेद का कारण उनसे प्रदर्शनीय वृत्तियों की विभिन्न स्वरूपता ही है। शारीरिक अङ्गों वागिन्द्रिय एवं मन के व्यापारों के अतिरिक्त वृत्ति और कुछ नहीं है। वृत्ति अनादि है और प्राणिलोक में सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु वह व्यापार जो नाट्यकला के सम्बन्ध में शास्त्रीय भाषा में 'वृत्ति' कहा जाता है और जो नाटय-प्रदर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है लोकगत सामान्यरूप व्यापार से इस बात में भिन्न है कि नाट्यप्रदर्शन सम्बन्धी वृत्ति का विशेषगुण वह सौन्दर्य है जो दर्शकों के मन को पूर्ण रूप[1] से मुग्ध कर देता है। नाटयप्रदर्शन गत वृत्ति सामान्य लोकगत वृत्ति से इस बात में भी भिन्न है कि लोकगत वृत्ति कम या ज्यादा दुःखद अथवा सुखद होने के कारण अधिक अथवा कम मात्रा में हृदयस्पर्शी होता है। परन्तु नाट्यगत वृत्ति दुखदायी अथवा सुखदायी होने के कारण दर्शकों के लिए हृदयस्पर्शी नहीं होती। सच तो यह है कि वह वृत्ति जो दुःखदायी अथवा सुखदायी है उस रसानुभव का कोई विधायक तत्त्व नहीं है और न बन ही सकती है जिसको दर्शकों के अन्तःकरण में उत्पन्न करना नाट्यप्रदर्शन का लक्ष्य है। सामान्यलोक में वृत्ति अथवा व्यापार का दुःखदायी अथवा सुखदायी होना इस बात पर निर्भर होता है कि एक व्यक्ति उसको निजी हित के दृष्टिकोण से देखता है। जो व्यापार उसके निजी हित को साधते हैं उनको वह सुखद एवं जो उसके निजी हित के साधन में बाधक हैं उनको वह दुःखद मान लेता है। परन्तु नाट्यगत वृत्ति का कोई सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति के हित के साथ नहीं होता। क्योंकि दर्शक व्यक्तित्व विधायक तत्त्वों से सर्वथा मुक्त होकर वृत्ति के प्रदर्शन को देखता है। अतएव इस प्रकार के व्यापारों को देखकर उसके अन्तःकरण में सुख अथवा दुःख की उत्पत्ति नहीं होती है। ये वृत्तियाँ साधारणीकृत दर्शक के अन्तःकरण में केवल प्रतिबिम्बित होती हैं और इस रूप में ये

---

[1] अभि० भा० भाग ३–८२

रसानुभव के विषयपक्ष (objective aspect) के अंश बन जाती हैं। नाट्यगत वृत्ति दर्शक के व्यक्तिस्वरूप को प्रभावित नहीं करती। यह उसके सर्वथा साधारणीभूत अन्तःकरण को ही प्रभावित करती है।

वृत्तियों का उद्गम

नाट्यगत वृत्ति वह नटव्यापार है जिसका कोई भी सम्बन्ध कर्ता के निजी हित की साधना से नहीं होता है। इस प्रकार के व्यापार को सर्वप्रथम उन विष्णु भगवान् ने किया था जो व्यक्तित्व विधायक सभी तत्त्वों से सर्वथा शून्य थे और इसलिए जिनमें किसी निजी लक्ष्य को साधने की कामना का होना असंभव था। वह पौराणिक कथा जिसमें इस प्रकार के स्वहितसाधना से शून्य प्रथम कार्य का वर्णन किया गया है निम्नरूप में कही जा सकती है।

सृष्टि की उस प्रलयावस्था में जब समग्र भौतिक संसार केवल एक महासागर के रूप में ही शेष रह गया था और विष्णु भगवान् शेषनाग की शय्या पर शयन कर रहे थे तो उस समय में मधु एवं कैटभ नामक दो विकट दानवों ने शक्ति के गर्व से उन्मत्त होकर विष्णु को युद्ध करने के लिए ललकारा। उन असुरों ने विष्णु भगवान् को युद्ध के लिए उत्तेजित करने के लिए बंधी हुई अपनी मुट्ठियों को प्रहार करने के लिए ऊपर उठाया, तालें ठोंकीं, और अनेक कटु अपशब्दों का प्रयोग करते हुए इसी प्रकार के युद्ध संबंधी अनेक हाव-भावों को प्रकट किया। विष्णु भगवान् ने प्रत्युत्तर दिया। इससे उत्तेजित होकर राक्षसों ने और भी अधिक कटु शब्दों का प्रयोग किया और अपनी शारीरिक उन क्रियाओं का प्रदर्शन किया जिससे महासागर भी काँपने लगा। ऐसी भयंकर दशा के उत्पन्न होने पर ब्रह्मा ने विष्णु से यह कहा कि 'तुम केवल वाग्व्यापार ही क्यों कर रहे हो—इन दोनों निशाचरों का वध ही क्यों नहीं कर डालते?' यह सुन कर विष्णु ने ब्रह्मा को यह उत्तर दिया—

'नाट्यप्रदर्शन में प्रयुक्त करने के लिए मैंने वाग्व्यापारस्वरूप भारती वृत्ति का सृजन किया है। यह नटक्रिया का ऐसा स्वरूप होगा जिसमें शब्दों की प्रधानता होगी। आज मैं इन दोनों निशाचरों का वध कर डालूंगा।' अतएव उचित हाव-भाव एवं हाथ-पैरों के परिचालनों से विष्णु ने उनको युद्ध के लिए आमन्त्रित किया। योद्धा के आवेश में जब विष्णु गतिमान् हुए तो भूमि अत्यन्त भारान्वित सी हो उठी। वागिन्द्रिय की क्रिया को भारतीवृत्ति इसलिए

कहते हैं क्योंकि विष्णु[1] ने जब प्रथम बार इसका प्रयोग किया था तो भूमि का भार बढ़ गया था।

इस प्रसंग में प्रश्न यह उठ सकता है कि विष्णु की उस शारीरिक क्रिया को 'भारतीवृत्ति' किस प्रकार से कह सकते हैं जो विष्णु ने दोनों यातुधानों का वध करने के लिए योद्धा के रूप में की थी और जिससे भूमि का भार बढ़ गया था ? अभिनवगुप्त के कथनानुसार इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शारीरिक कार्य को भी ऐसी अवस्था में भारतीवृत्ति कह सकते हैं जब कि उसके साथ वह विचार भी प्रधानभूत होकर साथ-साथ लगा रहता है जो वाणी के आन्तरिक रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रसंग में 'भारती' शब्द की व्युत्पत्ति 'भरत' शब्द से न होकर 'भार' शब्द से है—और इसका अर्थ इस प्रसंग में वाणी भी नहीं है।

शास्त्रीय भाषा में जिसको सात्त्वती वृत्ति कहते हैं उस मानसिक क्रिया को विष्णु ने उस समय प्रथम बार किया था जब अपने धनुष को भयंकर एवं आक्रमणकारी मुद्रा में टंकारते हुए दोनों असुरों के हनन के साधनों एवं उपायों के विषय में वे चिन्तना कर रहे थे।

शास्त्रीय भाषा में जिसको कैशिकी वृत्ति कहते हैं वह रमणीक मुग्धकारी क्रिया विष्णुकृत स्वशारीरिक अङ्गों के क्रीड़ापरक परिचालनों तथा निज अलक गुच्छों को सुन्दर रूप में बांधने से उस समय आविर्भूत हुई थी जब विष्णु युद्ध के लिए उद्यत हो रहे थे।

शास्त्रीय भाषा में जिसको आरभटी वृत्ति कहते हैं उस शारीरिक क्रिया का आविर्भाव विविध अत्यन्त ध्वंसकारी एवं विकटरूप से उत्तेजक उस द्वन्द्वयुद्ध से हुआ था जिसमें उचित शारीरिक परिचालनों को करते हुए विष्णु ने उन दोनों महासुरों का वध किया था। विष्णु ने क्रिया के जिन स्वरूपों का प्रयोग इस युद्ध में किया ब्रह्मा ने उनका नामकरण कर दिया था।

भरत मुनि ने जिन शब्दों में उपर्युक्त पौराणिक कथा का उल्लेख किया है उनकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार से की है कि स्वतंत्रकलाशास्त्र के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

१. नाट्यगत चार वृत्तियों की उत्पत्ति दोनों राक्षसों की क्रिया से नहीं वरन् विष्णु की क्रिया से ही मानी गयी है। क्योंकि नाट्यगत क्रिया का विशेष

[1] अभि० भा० भाग ३–८६

गुण यह है कि अभिनेता न तो उससे किसी निजी स्वार्थ की सिद्धि ही करना चाहता है और न उसको करते समय वह व्यक्तित्वविधायक तत्त्वों से ही युक्त होता है। एवं इस प्रकार की क्रिया केवल विष्णु[१] ही कर सकते थे जैसा कि वे स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं :—

'हे अर्जुन तीनों लोकों में मेरे लिए न तो कोई भी कारणीय कार्य है और न कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु ही है—फिर भी मैं सदैव कार्य में लगा ही रहता हूँ।'

इस प्रकार की स्वफलचिन्ता से शून्य क्रिया का राक्षसों से किया जाना इस लिए असंभव था क्योंकि एक ओर वे स्वार्थ-चिन्ता से मुक्त नहीं थे और दूसरी ओर उनका अन्तःकरण पूर्णतया अज्ञान के अभेद्य अन्धकार से ढँका हुआ था। परन्तु विष्णु का अन्तःकरण ज्ञान की निर्मल ज्योति के कारण पूर्णरूप से विकसित तथा अज्ञान के अन्धकार से सर्वथा रहित था। इसीलिए वे ऐसी क्रिया को कर सके जो निजी स्वार्थचिन्ता से शून्य पूर्णतया आनन्दमय थी। अतः इसी रूप में उसको रस के प्रदर्शन में सहायक माना जा सकता है।

२. इस प्रकार की क्रिया के प्रदर्शन से रसानुभव को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दर्शक उसी भांति से नाट्यप्रदर्शन को देखे जिस प्रकार से ब्रह्मा[२] ने विष्णु की स्वफलचिन्ता से शून्य प्रथम क्रिया को देखा था अर्थात् प्रदर्शन पर उसका पूरा ध्यान केन्द्रित रहना चाहिए।

३. ऐसी क्रिया का प्रधान लक्ष्य दर्शकों को मुग्ध करना और उनमें रसानुभव उत्पन्न करना है।

४. क्रिया के किसी भी एक रूप को उसके अन्य रूपों से पूर्णतया विलग नहीं किया जा सकता। परन्तु किसी विशिष्ट क्रिया को उस नाम से अभिहित करते हैं जिसको क्रिया के किसी एक रूप के लिये प्रयुक्त किया जाना तय किया जा चुका है। क्योंकि वह रूप उस क्रिया में प्रधान[३] होता है।

५. नाटक के लेखक का प्रधान लक्ष्य रस को प्रकट करना है। अतः क्रिया के सूक्ष्म रूपों के प्रदर्शन को प्रधान लक्ष्य के अनुसार करना चाहिए।

६. क्रिया के प्रदर्शन के कारण ही नाट्यकृति अन्य स्वरूपों की काव्य-कृतियों[४] से भिन्न होती है।

---

[१] अभि० भा० भाग० ३–८४
[२] अभि० भा० भाग ३–८५
[३] अभि० भा० भाग ३–९१
[४] अभि० भा० भाग ३–९०

७. विष्णु ने ऋग्, यजुस्, साम एवं अथर्वन् वेदों से क्रमशः भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी वृत्तियों को ग्रहण किया था।

रसों के प्रदर्शन में विभिन्न वृत्तियों का प्रयोग

यद्यपि नाट्य एवं विभिन्न रसों के प्रदर्शनों में आवश्यक रूप से एक वृत्ति अन्य वृत्तियों से मिली-जुली रहती है फिर भी विभिन्न रसों के प्रदर्शनों में प्रधानतया किस विशेष वृत्ति को प्रयुक्त करना चाहिए ? इसके विषय में निम्नलिखित मत है :—

शृङ्गार एवं हास्य रस में कैशिकी वृत्ति, वीर, अद्भुत एवं शान्त में सात्वती वृत्ति, रौद्र एवं भयानक में आरभटी वृत्ति, करुण एवं बीभत्स[1] में भारती वृत्ति का प्रयोग प्रधानतया करना चाहिये।

वृत्तियों की संख्या के विषय में मतभेद

एक गत उपप्रकरण में 'वृत्ति' शब्द के विभिन्न अर्थों का उल्लेख करते हुए हम यह बता चुके हैं कि (१) वृत्ति शब्द का प्रयोग विशिष्ट ध्वनिवाले वर्णों की पुनरावृत्ति के लिए किया गया है, एवं (२) उस क्रिया अथवा व्यापार के लिये किया गया है जिसको नाट्य तथा काव्य में प्रकट किया जाता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के तृतीय अध्याय में, जहां पर उन्होंने काव्यकृति में त्याज्य काव्य-दोषों का वर्णन किया है, वृत्ति शब्द के इन दोनों अर्थों के भेद का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया है :—(१) भरत मुनि[2] से प्रतिपादित कैशिकी आदि वृत्तियां एवं (२) एक विशेष शब्दालंकार। प्रकृत में क्रिया के विशेष स्वरूपों के लिए वृत्ति का प्रयोग किया गया है।

१. यद्यपि भरतमुनि ने आरभटी, भारती, सात्वती एवं कैशिकी चार वृत्तियों का प्रतिपादन किया है फिर भी नाट्यशास्त्र की टीका करते हुए उद्भट ने सात्वती तथा कैशिकी वृत्तियों को अस्वीकार करते हुए उनके स्थान पर एक फलसंवित्ति वृत्ति (कार्यफल का ज्ञान) को माना है। इस प्रकार से वे वृत्तियों की संख्या केवल तीन मानते हैं।

२. उद्भट के मतानुयायी पांच वृत्तियों को स्वीकार करते हैं। उन्होंने भरतमुनि से प्रतिपादित चारों वृत्तियों को मान कर उनमें एक वृत्ति, आत्म-

---

[1] अभि० भा० भाग ३–१०५ [2] ध्व० लो० १६३

संवित्ति वृत्ति (आत्मबोध) को और जोड़ दिया है। इस मत का उल्लेख दशरूपक में प्राप्त होता है यद्यपि उसमें पांचवीं वृत्ति का नाम नहीं लिया गया है (पंचमीं वृत्तिम् औद्भटाः प्रतिजानते)।

३. वृत्तियों की संख्या के विषय में भोज का कोई एक निश्चित सिद्धान्त नहीं है। सरस्वतीकण्ठाभरण के पांचवें अध्याय में वे भरत मुनि से प्रतिपादित वृत्तियों की संख्या चार स्वीकार करते हैं। परन्तु उक्त ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में वे वृत्तियों की चार संख्या में दो अन्य वृत्तियों—(१) मध्यमारभटी (२) मध्यम कैशिकी को मिलाकर उनकी संख्या छः मानते हैं। शृङ्गारप्रकाश के बारहवें अध्याय में भरतमुनि प्रतिपादित चार वृत्तियों में एक अन्य वृत्ति अर्थात् मिश्र अथवा विमिश्र को जोड़ कर उनकी संख्या वे पांच मानते हैं। उपर्युक्त अभिमतों की विशदरूप व्याख्या हम आगामी उपप्रकरणों में करेंगे।

उद्भट प्रतिपादित फलसंवित्ति वृत्ति

उद्भट ने यह प्रतिपादित किया है कि आरभटी, भारती एवं फलसंवित्ति तीन ही वृत्तियां हैं। अन्यशास्त्रकारों से असामान्य फलसंवित्ति वृत्ति की स्थापना निम्नलिखित युक्ति के आधार पर उन्होंने की है :—

करुण रस के प्रकट करने में प्रधानरूप से कायिक चेष्टारूप[1] आरभटी वृत्ति का अस्तित्व नहीं होता है। शोक को प्रकट करने वाले शब्दों में प्रकटित विलाप करुण रस को प्रकट करने का साधन है। इसी कारण इसमें भारती वृत्ति का प्रयोग करते हैं। अतएव आवश्यक यह है कि अन्य शास्त्रकारों से अमान्य एक और वृत्ति का प्रतिपादन किया जाय। इसको फलसंवित्ति वृत्ति कह सकते हैं। इस वृत्ति की परिभाषा यह है–'वह वृत्ति जिसका स्वरूप आरभटी तथा भारती वृत्ति के फलों का अनुभव करना है'। क्योंकि यदि फलसंवित्ति वृत्ति को न माना जाय तो मृत्यु तथा मूर्छा की दशाओं को प्रदर्शित करने वाले नाट्य के अंश वृत्ति शून्य ही रह जाएंगे।

अतएव उद्भट यह मानते हैं कि वृत्तियों की संख्या तीन ही है।

१. आरभटी—नैतिक एवं धार्मिक नियमों के आधार पर इसके दो भेद हैं। नैतिक एवं धार्मिक नियमों के अनुकूल होने पर 'न्याय वृत्ति' एवं उनके प्रतिकूल होने पर 'अन्याय वृत्ति' होती है।

२. भारती—वागिन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण यद्यपि भारतीवृत्ति कम

---

[1] अभि० भा० भाग २–४५१

शारीरिक नहीं होती फिर भी भारतीय नीतिशास्त्र में प्रतिपादित कार्य के वर्गीकरण के आधार पर इसको एक भिन्न वृत्ति माना गया है। आचारशास्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि पाप कर्म तीन प्रकार के होते हैं—मन से किए गए पाप, वाणी से किए गए पाप एवं शरीर से किए गए पाप (वाङ्-मनःकायकर्मजम्)।

३. उपर्युक्त दोनों प्रकार की वृत्तियों के फलों का बोध।

उपर्युक्त मत का खण्डन

नाटकीय वृत्तिविषयक उद्भट के अभिमत का खण्डन अभिनवगुप्त एवं उनके अग्रजों ने किया है।

अभिनवगुप्त के अग्रजों ने उक्त मत का खंडन निम्न प्रकार से किया था—

यद्यपि कैशिकी वृत्ति को सात्वतीवृत्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है फिर भी इसको एक भिन्न वृत्ति इसलिए प्रतिपादित किया गया है क्योंकि अपने संगीत स्वरों एवं सुखानुभावों में यह अत्यन्त मुग्धकारी[1] वृत्ति है। और आचारशास्त्र विरोधी कार्य को एक भिन्न वृत्ति प्रतिपादित करना निश्चित रूप से असंगत है। क्योंकि इस प्रकार की वृत्ति चार प्रकार के पुरुषार्थों में से किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि में न तो सहायक होती है और न सहायक हो ही सकती है।

नाट्य-प्रदर्शन के सम्बन्ध में यदि उद्भट सात्वतीवृत्ति को इसलिए अस्वीकार करते हैं क्योंकि आरभटी एवं भारती वृत्ति के समान उसका विषय-रूप में प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है, तो उनको आरभटी एवं भारती वृत्तियों के सूक्ष्म रूपों को स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि इस प्रकार की सूक्ष्म स्वरूप वृत्ति मूर्च्छा तथा मृत्यु की दशा में वर्तमान रहती है, क्योंकि इस प्रकार की सूक्ष्म क्रिया को प्राणशक्ति उक्त दोनों दशाओं में करती रहती है और इसकी सत्ता को दर्शकों को जताने के लिये गीत, विचित्र विराम तथा लयताल का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त उद्भट का सात्वती वृत्ति को अमान्य ठहराना फलसंवित्ति वृत्ति नामक एक अन्य वृत्ति के प्रतिपादन से असंगत है। क्योंकि फलसंवित्ति वृत्ति मानसिक क्रिया के अतिरिक्त और क्या है?

---

[1] अभि० भा० भाग २, ४५१

उद्भट के मतानुयायियों का वृत्तियों के विषय में अभिमत

उद्भट के मतानुयायियों ने अपने गुरु के वृत्तिविषयक सिद्धान्त के खण्डन के औचित्य को मान कर उनके मत का संशोधन कर दिया। उन्होंने भरतमुनि एवं उनके अनुयायियों से प्रतिपादित वृत्तियों के चार रूपों के औचित्य को स्वीकार किया और यह प्रतिपादित किया कि रूपक वृत्तियों का प्रदर्शक इसलिए नहीं है क्योंकि इसका कोई भी अंश ऐसा नहीं होता जो वृत्ति का प्रदर्शन न करता हो वरन् वह इसलिए वृत्ति का प्रदर्शक है क्योंकि उसके अधिकांश भाग वृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। परन्तु उन्होंने यह चेष्टा भी की कि फलसंवित्ति वृत्ति का प्रतिपादन संशोधित रूप में किया जाय। फल संवित्ति वृत्तिके सम्बन्ध में किए गए खण्डन के औचित्य को वे समझ चुके थे। तदनुसार उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि मूर्च्छा आदि की दशा में एक अन्य स्वरूप की क्रिया होती रहती है जिसको हम आत्मबोध कह सकते हैं। क्योंकि यह सभी लोगों ने स्वीकार किया है कि मूर्च्छा तथा मरण की उन दशाओं में आत्मबोध वर्तमान रहता है जिनमें सभी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का सर्वथा अभाव होता है। इन दोनों ही दशाओं में जिस आत्मबोध का अस्तित्व रहता है उसका अनुमान व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया की विरति से किया जा सकता है। इस आत्मबोध रूप क्रिया को शास्त्रीय भाषा में आत्मसंवित्ति वृत्ति कहते हैं। इस आत्मसंवित्ति वृत्ति को क्रिया रूप मानने का कारण यह मान्यता है कि शारीरिक परिचालन ही केवल क्रिया रूप नहीं है।

उद्भट के मतानुयायियों ने जिस पाँचवीं वृत्ति का प्रतिपादन किया था उसका खण्डन भट्टलोल्लट एवं अन्य शास्त्रकारों ने किया है। वे यह मानते हैं कि नाटक से प्रदर्शनीय भाव अनिवार्य रूप से इस प्रकार के होने चाहिए जिनको ऐसी क्रियाओं में प्रकट किया जा सके जो ज्ञानेन्द्रियों से ग्राह्य हों। इसी प्रकार की क्रिया के वर्गीकरण के आधार पर विभिन्न वृत्तियों को निर्धारित किया गया है। परन्तु आत्मबोध कोई ऐसी क्रिया नहीं है जिसको शारीरिक अनुभावों में देखा जा सके। अतएव भरत मुनि[1] ने जिन चार वृत्तियों का प्रतिपादन किया है उनके अतिरिक्त आत्मसंवित्ति नामक वृत्ति को प्रतिपादित करना अनुचित है।

---

[1] अभि भा० भाग २–४५२

अभिनवगुप्त से किया गया खण्डन

पांचवीं वृत्ति का प्रतिपादन कुछ शास्त्रकारों ने इसलिए किया था जिससे मूर्च्छा तथा मृत्यु को क्रिया-प्रदर्शन के अन्तर्गत माना जा सके। यह चेष्टा इस मान्यता से उद्भूत हुई है कि नाटक से संबन्धित सभी चीजें किसी न किसी रूप की क्रिया ही हैं। परन्तु यह मान्यता अज्ञानमूलक है। क्योंकि रंगमंच अथवा विविध वाद्ययंत्रों को क्रिया के कौन से स्वरूप के अन्तर्गत गिना जा सकता है? सच तो यह है कि नाटक के प्रसंग में जिस वृत्तिरूप क्रिया को माना गया है उसका लक्ष्य किसी एक प्रतिष्ठित पुरुषार्थ की सिद्धि की ओर ले जाना है। नाटक का उद्देश्य इसी प्रकार की क्रिया को प्रदर्शित करना है। इसीलिए क्रिया (वृत्ति) को नाटक की जननी कहा गया है। मूर्च्छा तथा मृत्यु के प्रदर्शन के प्रसंग में भी नाटक का लक्ष्य मानसिक क्रिया का प्रदर्शन करना है। भरतमुनि की शिक्षा के अनुसार करुण रस को प्रकट करने में नाटक के लेखक को भारती वृत्ति का प्रयोग प्रधान रूप से इसीलिए ही नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसी अवस्था में अन्य कोई वृत्ति संभव नहीं है वरन् इस लिए करना चाहिए कि इस प्रसंग में भारती-वृत्ति प्रधानरूप रहती है और अन्य वृत्तियां सम्भव होने पर भी सर्वांगीण रूप में नहीं होतीं। प्रहसन तथा भाण के विषय में भी ऐसा ही है। मानसिक क्रिया को भी न प्रकट करने वाली जो मृत्यु तथा मूर्च्छा की दशाएँ हैं उनका प्रदर्शन सभी वृत्तियों से सर्वथा शून्य होता है।

वृत्तियों की संख्या के विषय में भोज का अभिमत

हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में प्रधान रूप से किया गया है :—(१) वह काव्य-नियम जिसके अनुसार एक ही ध्वनि अथवा समान ध्वनि वाले विशेष भावोत्तेजक वर्णों की पुनरावृत्ति की जाती है। (२) चार प्रकार की नट-क्रिया—आरभटी, भारती, सात्वती एवं कैशिकी। भोज ने इस शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में कथित दोनों अर्थों में किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि उन्होंने निम्नलिखित तीन प्रसंगों में वृत्ति शब्द को प्रयुक्त किया है :—१. चौबीस शब्दालंकारों की जातियों को व्याख्या के प्रसंग में, २. अनुप्रास अलंकार के प्रसंग में एवं ३. काव्य तथा नाट्यकृति (प्रबंध) के प्रसंग में।

(१) भोज ने चौबीस शब्दालंकारों की जातियों का वर्णन किया है उनमें से चौथी अलंकार जाति को वृत्ति[1] कहा है। इस प्रसंग में उनका लक्ष्य रस के प्रदर्शन में वर्णों की ध्वनियों के महत्व तथा उनकी रसानुभव[2] के लिए आवश्यक मानसिक दशा को उत्पन्न करने की शक्ति का प्रतिपादन है। इस प्रसंग में वृत्ति[3] शब्द का अर्थ काव्य अथवा नाट्य कृति में प्रयुक्त वर्णों की ध्वनियों की रससम्बन्धी क्रिया है। क्योंकि रस को प्रकट करने में अथवा उपचेतनांश से चेतनांश पर उसको लाने में वर्णध्वनि की क्रिया प्रधान कारण होती है।

वर्णध्वनियों की तीन प्रकार की विशेषताओं को भोज मानते हैं १. उत्तेजक (प्रौढ़) २. मृदुता उत्पादक (कोमल) एवं ३. मध्यम अथवा मिश्रित (कोमलप्रौढो मध्यमः—स० कं० १६०)। जिस समय तीन प्रकार की ध्वनियों को उन्हीं के प्रकार की विषय वस्तु से विविध रूपों में सम्बन्धित किया जाता है तो विभिन्न प्रकार के रसों के अनुभवों के लिए आवश्यक चार मानसिक दशाएँ उनसे उद्भूत होती हैं। ये मानसिक दशाएँ विकास (उत्फुल्लता) विक्षेप (उछलना) संकोच (संकीर्णता) तथा विस्तार[4] (विशालता) हैं।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह है कि धनंजय भी चार मूलरसों के अनुभवों में हृदय अथवा मन की चार विशेष दशाओं का प्रतिपादन करते हैं। भोज के साथ उनका मतभेद यह है कि वे संकोच के स्थान पर क्षोभ अवस्था का उल्लेख करते हैं। और उनकी भाषा ऐसी है जिसका तात्पर्य यह हो सकता है कि इन अवस्थाओं का सम्बन्ध दर्शक के हृदय (Heart) मात्र से ही है। परन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रामसिंह यह प्रतिपादित करते हैं कि भोज का अभिप्राय बुद्धि अथवा मन की दशाओं से है। इसीलिए वे इन अवस्थाओं का सम्बन्ध सत्व, रजस् एवं तमस् के साथ घनिष्ठ रूप में स्थापित करते हैं। रामसिंह के मतानुसार बुद्धि जब सत्वगुणप्रधान होती है और उसमें रजस् तथा तमस् गुण अप्रधान रूप होते हैं तो उसकी दशा 'विकाश' की होती है। शृङ्गार तथा हास्य रस में बुद्धि सत्त्वप्रधान होती है। विक्षेप की मानसिक दशा में बुद्धि का सत्त्वप्रधानता दशा से पतन होता है और उसमें रजोगुण के उत्थान का आरम्भ होने लगता है। रौद्र एवं करुण रस में मन में रजोगुण की वृद्धि होने लगती है। विस्तार में बुद्धि रजोगुणप्रधान होती है और इसी कारण

[1] स० कं०—१४१ [2] स० कं०—१५९ [3] स० कं०—१५९
[4] स० कं०—१५९

वह प्रत्येक प्रकार की क्रिया के लिए अपने को तैयार करती है। वीर एवं अद्भुत रस में बुद्धि रजस् गुण प्रधान होती है। सत्त्व एवं रजस् गुणों के अप्रधान तथा तमस् गुण के प्रधान होने पर मन की संकोच दशा उत्पन्न होती है। भयानक तथा वीभत्स रसों में बुद्धि तमोगुण[1] प्रधान होती है।

इस प्रसंग में भोज ने विभिन्न रसों के अनुभवों को उत्पन्न करने में साधन-रूप वर्णध्वनियों के व्यापारों को छ प्रकार का स्वीकार किया है। इनमें से प्रथम चार वृत्तियां अर्थात् आरभटी, कैशिकी, भारती तथा सात्वती वे ही हैं जिनका प्रतिपादन भरतमुनि ने किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मध्यम-कैशिकी एवं मध्यमारभटी दो वृत्तियों की स्थापना और की है।

उपर्युक्त छ वृत्तियों में से प्रथम चार वृत्तियों के विषय में आनन्दवर्धनाचार्य एवं उनके अनुयायियों[2] ने भोज के पहले यह मान लिया था कि ये अर्थ-व्यापार अथवा विषय-वस्तु व्यापार मात्र ही हैं (अर्थवृत्ति अथवा वाच्यवृत्ति)। वृत्ति शब्द का यह अर्थ उससे भिन्न है जिसके अनुसार इस शब्द से वर्णध्वनि के व्यापार अथवा एक प्रकार की शब्द-वृत्ति का बोध होता है जिसको शास्त्रीय भाषा में उपनागरिका आदि कहते हैं। इनका उल्लेख हम गत उपप्रकरण में कर चुके हैं। परन्तु भोज वृत्ति को वाच्य एवं शब्द सम्बन्धी दोनों ही स्वीकार करते हैं। अतएव उन्होंने शब्दवृत्ति तथा अर्थवृत्ति दोनों का प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार कैशिकी वृत्ति वह है जिसमें विषयवस्तु सुकुमार है और काव्य-कृति के वर्णों की ध्वनि सुकुमार भाव की उत्पादिका है। आरभटी वृत्ति की विषयवस्तु उत्तेजक होती है और उसकी रचना में ऐसे वर्णों को अधिकांश रूप से प्रयुक्त किया जाता है जिनकी ध्वनियां उत्तेजना उत्पन्न करती हैं (प्रौढार्थसन्दर्भा)। भारतीवृत्ति की विषयवस्तु कोमल होती है परन्तु इसमें ऐसे वर्णों का प्रयोग किया जाता है जिनकी ध्वनियां आंशिक रूप से कोमल तथा आंशिक रूप से उत्तेजक हैं। सात्वतीवृत्ति में विषयवस्तु उत्तेजक होती है परन्तु रचना के वर्णों की ध्वनियां आंशिक रूप से कोमल तथा आंशिक रूप से उत्तेजक होती हैं। मध्यमकैशिकी की विषय-वस्तु कोमल होती है परन्तु उसकी रचना के वर्णों की ध्वनियां उत्तेजक होती हैं। मध्यमारभटीवृत्ति में विषय-वस्तु उत्तेजक होती है परन्तु उसकी रचना में ऐसे वर्णों का प्रयोग करते हैं जिनकी ध्वनियाँ कोमल[3] हैं।

---

[1] स० कं० १५९–६० [2] ध्व० लो० (नि०) १८२ [3] स० कं० १६०

भोज का मत यह है कि उपर्युक्त प्रसंगों में अर्थ अथवा विषयवस्तु, रचना में प्रयुक्त वर्णों की ध्वनियों के प्रभाव की अपेक्षा, अप्रधान होती है। ध्वनियाँ शब्द का गुण हैं। इसी कारण वे विशिष्ट ध्वनिवाले वर्णों की विशिष्ट योजना की आलंकारिकता को पुष्ट करती हैं। प्राप्त साहित्य के अध्ययन से भोज को यह प्रकट होता है कि चार वृत्तियों से सामान्यतः सम्बन्धित कथावस्तु प्रायः रचना के वर्णों की ध्वनियों के प्रभावों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण होती है। इसके अनुसार जब विशेष प्रभावोत्पादक वर्णध्वनियों के विन्यास की अपेक्षा विविध प्रकार के अर्थों अथवा विषयवस्तुवों की अप्रधानता होती है तब छ प्रकार के उन शब्दालंकारों की उत्पत्ति होती है जिनका वर्णन भोज ने किया है। भोज ने स्वयं दृष्टान्तों की सहायता से इस बात को स्पष्ट किया है। इस प्रसंग में भोज के अभिमत को हम अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं यदि हम उनको शास्त्रकार की अपेक्षा साहित्यिक समालोचक मान लें। कैशिकी आदि चार वृत्तियों के आधार पर जब वे छ शब्दालंकारों का वर्णन करते हैं तो वे किन्हीं विशेष साहित्यिक तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं।

इस प्रकार से इस प्रसंग में वृत्ति शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है :—(१) रसोत्पत्ति के लिए वर्णध्वनियों का व्यापार। (वृत्तिः वर्तनम्, रसविषयो व्यापारः) (२) जो विभिन्न मानसिक दशाओं को उत्पन्न करती है। (वर्तयते इति वृत्तिः) एवं (३) जो चित्त को विभिन्न दशाओं में लाने का निमित्त कारण है (वर्तते अनया चित्तम्[1])।

(२) अनुप्रास के प्रसंग में भोज ने भिन्न प्रकार की वृत्ति का वर्णन किया है। भोज के मतानुसार श्रुत्ति, वृत्ति आदि से सम्बन्धित होने के अनुसार अनुप्रास के छ भेद हैं। इस प्रसंग में वृत्ति शब्द का अर्थ पूर्व लिखित वृत्ति नामक शब्दालंकार के प्रसंग में अभिप्रेत अर्थ से भिन्न है। दोनों प्रसंगों में ध्वनि-प्रभावों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न है। वृत्तिनामक शब्दालंकार के प्रसंग में देवनागरी के व्यंजनों को कोमल, प्रौढ एवं कोमल-प्रौढ (आंशिक रूप से मृदुताजनक तथा आंशिक रूप से उत्तेजक) वर्गों में विभाजित किया गया है। परन्तु अनुप्रास रूप शब्दालंकार के प्रसंग में भोज ने व्याकरण शास्त्र-कारों से किए गये व्यंजनों के वर्गीकरण को स्वीकार किया है। तदनुसार उन्होंने व्यंजनों को सात वर्गों में विभाजित किया है। प्रत्येक वर्ग में पाँच वर्ण हैं जिनका

---

[1] स० कं० १५९

उच्चारण स्थान समान है जैसे कि कवर्ग, चवर्ग आदि। छठे वर्ग में अन्तस्थ हैं और सातवें वर्ग में ऊष्म व्यंजन हैं। अतएव अनुप्रास नामक शब्दालंकार के वृत्तिजनित भेद के प्रसंग में वृत्ति शब्द का अर्थ वह व्यंजन है जिसका संबंध स्ववर्गीय व्यंजनों से है (यदि शब्दशः कहें तो कहना होगा कि स्ववर्गीय व्यंजनों में जिसका अस्तित्व है)—(स्ववर्ग्येषु वर्तते[1])।

इस प्रकार से उपर्युक्त सात वर्गों में से एक वर्ग के वर्णों की पुनरावृत्ति के कारण प्रथम सात प्रकार के वृत्तिजनित अनुप्रास उत्पन्न होते हैं। अवशिष्ट पांच प्रकार के वृत्तिजनित अनुप्रासों की उत्पत्ति के कारण निम्नलिखित हैं :—

१. व्यंजनों के दो अथवा तीन वर्गों के वर्णों की पुनरावृत्ति।

२. एक वर्ग के वर्णों की पुनरावृत्ति के बीच में किन्हीं दो वर्गों के वर्णों का आना।

३. उन संयुक्त व्यंजनों की पुनरावृत्ति जिनकी रचना किसी एक वर्ग के वर्ण के साथ उसी वर्ग के अन्तिम वर्ण को मिला कर की गई है।

४. एक ही प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करने वाले दो वर्गों से बनाए हुए संयुक्ताक्षर, जैसे कि त्त, ल्ल, की पुनरावृत्ति।

५. विभिन्न प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करने वाले दो वर्णों के संयुक्ताक्षर[2] की पुनरावृत्ति।

इस प्रसंग में भोज का अध्ययन-विषय प्रादेशिक अनुप्रास है। उन्होंने एक साहित्यिक समालोचक के रूप में अनुप्रास के प्रयोग की प्रादेशिक विशेषताओं का पता लगा कर उनका उल्लेख किया है। तथ्य यह है कि वृत्तिजनित अनुप्रास के बारह प्रकारों का नामकरण विभिन्न प्रदेशों के अनुसार किया गया है जैसे कि कर्णाटी, कौन्तली आदि[3]।

वृत्यनुप्रास तथा वर्णानुप्रास में वे यह भेद बताते हैं कि वृत्यनुप्रास पूर्ण रचना में होता है जब कि वर्णानुप्रास रचना के एक अंश में ही होता है।

(३) सरस्वतीकण्ठाभरण के पाँचवें अध्याय में भोज ने रसप्रदर्शन के विशेष महत्वपूर्ण साधनों का वर्णन किया है। इसी अध्याय में रस के चौबीस आवश्यक तत्वों का उल्लेख करने के पश्चात् काव्य और नाटक दोनों के विशेषगुणों का वर्णन भोज करते हैं। जिस प्रथम विशेषगुण का उल्लेख इस प्रसंग में किया गया है वह यह है कि काव्य अथवा रूपक चार प्रकार की वृत्तियों को प्रदर्शित करते हैं।

---

[1] स० कं०—२३५ [2] स० कं० २३६—८

[3] स० कं०—२३५

इस स्थल पर वृत्तियों[1] की संख्या के विषय में भरतमुनि से भोज का कोई मत-भेद नहीं है। यद्यपि उनके कुछ अंशों के स्वरूप के विषय में उनका भरतमुनि से किंचित् मतभेद प्रकट होता है।

परन्तु श्रृङ्गार प्रकाश में भोज ने एक भिन्न वृत्ति का प्रतिपादन किया है। इस वृत्ति में सभी चार वृत्तियों के विशेषगुण परस्पर मिले-जुले होते हैं और इसको मिश्र अथवा विमिश्र कहते हैं। इस प्रसंग में भोज ने वृत्ति शब्द के अर्थ को पूर्णतया स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार वृत्ति शब्द का अर्थ विभिन्न प्रकार के व्यापारों अथवा चेष्टाओं को क्रमशः[2] प्रदर्शित करने की विधि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वृत्तियों के प्रयोग के विषय में विभिन्न मत

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की प्राप्त विभिन्न पाण्डुलिपियों में वृत्ति-विषयक विभिन्न पाठों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि रस को प्रकट करने में वृत्तियों के प्रयोग के विषय में मतभेद वर्तमान था जैसा कि निम्नलिखित तालिका से ज्ञात होता है :—

रस	शास्त्रकार	वृत्ति	रस	शास्त्रकार	वृत्ति
श्रृङ्गार	अभिनवगुप्त	कैशिकी	श्रृङ्गार		कैशिकी
हास्य		...	हास्य		...
वीर		सात्वती	वीर		...
अद्भुत		...	रौद्र		सात्वती
रौद्र		आरभटी	अद्भुत		...
भयानक		...	भयानक		...
बीभत्स		भारती	बीभत्स		आरभटी
करुण		...	रौद्र		...
श्रृङ्गार	अज्ञात	कैशिकी	करुण		भारती
हास्य		...	अद्भुत		...
करुण		...	हास्य		कैशिकी
वीर		सात्वती	श्रृङ्गार		...
अद्भुत		...	करुण		...
शम		...	वीर		सात्वती

[1] स० कं०—५६९ [2] स० कं०—२०२

रस	शास्त्रकार	वृत्ति	रस	शास्त्रकार	वृत्ति
रौद्र		...	रौद्र		...
अद्भुत		...	वीर		भारती[1]
भयानक		आरभटी	हास्य		...
बीभत्स		...	अद्भुत		...

विभिन्न प्रकार की नाट्यकृतियों में विभिन्न वृत्तियां

विभिन्न प्रकार के रूपकों में प्रयुक्त की जाने वाली विभिन्न वृत्तियों के विषय में विभिन्न प्रसंगों में अनेक सतों का प्रतिपादन किया गया है। सामान्य रूप से यह माना गया है कि नाटक तथा प्रकरण में सभी वृत्तियों को प्रयुक्त करते हैं परन्तु उनमें विषयवस्तु के अनुसार सब वृत्तियों में से एक वृत्ति प्रधान होती है। अन्य शेष प्रकार के रूपकों के विषय में निषेधरूप से यह कहा गया है कि इनमें कैशिकी वृत्ति[2] का अभाव होता है। नाटक तथा प्रकरण के प्रसंग में जो विधि रूप कथन है उसको विशद रूप से निम्न प्रकार से कहा जा सकता है :—

रूपक के उत्कृष्टतम रूप 'नाटक' एवं 'प्रकरण' को एक ऐसे भाव (emotion) को प्रकट करने वाला मानते हैं जो उस लक्ष्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होता है जिसको सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए नाट्यीकृत इतिवृत के नायक को प्रदर्शित किया जाता है। क्योंकि चार प्रधान रस अर्थात् शृङ्गार, रौद्र, वीर एवं बीभत्स (और शान्त भी) क्रमशः काम, अर्थ, धर्म एवं मोक्ष के साथ सम्बन्धित हैं। इनमें से प्रत्येक रस का स्थायीभाव क्रमशः रति, क्रोध, उत्साह एवं जुगुप्सा है। ये स्थायीभाव उपर्युक्त पुरुषार्थों की सिद्धि की ओर ले जाने में सहायक होते हैं। उपर्युक्त किसी एक रस के प्रसङ्ग में अन्य रसों को भी प्रकट किया जा सकता है यदि नाटक का इतिवृत्त एवं आकार उसमें बाधक न हों। क्योंकि स्थायीभाव अपने को कार्य में प्रकट करता है इसलिए किसी एक नाट्यकृति में चार वृत्तियों में से एक वृत्ति प्रधान रूप तथा अन्य वृत्तियाँ अप्रधान रूप होती हैं।

नाट्यकृतियों के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या के प्रसंग में यह कहा गया है कि डिम,[3] ईहामृग[4] एवं व्यायोग सात्वती तथा आरभटी दो वृत्तियों के साथ

[1] अभि० भा० भाग २ प्रस्तावनाXX, XA। [2] अभि० भा० भाग २–४१०–११
[3] अभि० भा० भाग २–४४३ [4] अभि० भा० भाग २–४४२

मुख्यतया सम्बन्धित होते हैं। उत्सृष्टिकांक का सम्बन्ध भारतीवृत्ति[1] के साथ है। नाट्यकृतियों के अन्य प्रकारों में प्रकटनीय प्रधान रस से प्रयोक्तव्य वृत्ति निर्धारित होती है।

नाट्य-प्रदर्शन के संबंध में यह कहा गया है कि यह दो प्रकार का है। १. सुकुमार एवं २. आविद्ध (उग्र)। नाटक, प्रकरण, वीथी, अंक एवं भाण का नाट्य-प्रदर्शन सुकुमार है। डिम, समवकार, व्यायोग एवं ईहामृग का नाट्य-प्रदर्शन 'आविद्ध' प्रकार का है और इसमें सात्वती एवं आरभटी[2] वृत्तियों का प्राधान्य रहता है।

प्रवृत्ति अर्थात् स्थानीय आचार व्यवहार

हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि कला सामान्य (universal) को प्रकट करती है और कला-कृति सामान्य का मूर्तीकृत रूप होती है। जो स्वयं आत्मा के मूर्तीकरण का आरम्भिक बिन्दु है उस सामान्यरूप स्थायीभाव को स्वरचित नाटक में मूर्तिमान् करना नाटक के लेखक का आवश्यक कर्तव्य है। इस प्रसंग में समस्या यह है कि स्थायीभाव को नाट्य-रचना में मूर्तिमान कैसे किया जाय ? मूर्तीकरण करने की प्रथम क्रमदशा में इस स्थायीभाव को समुचित परिस्थिति में उन शारीरिक परिवर्तनों (अनुभावों) एवं उन व्यभिचारी भावों से सम्बन्धित रूप में निर्धारित किया जाता है जो उस स्थायीभाव से सर्वदा संबंधित होते हैं और जिन में वह, अपने को अभिव्यक्त करता है। दूसरी क्रमदशा में भाव जनित कार्य को निश्चित करते हैं। तीसरी क्रमदशा में नायक तथा नाटक के अन्य पात्रों के बाह्यस्वरूप के विषय में निर्णय करते हैं। इसी तीसरी क्रमदशा पर 'प्रवृत्ति' अर्थात् पात्रों की वेशभूषा, भाषा, व्यवहार विधि, प्रादेशिक प्रथाएँ और रूढ़ियाँ, जीविका के स्वरूप आदि के विषय में प्रादेशिक विशेषताएँ, अत्यन्त प्रधान रूप से आवश्यक होती हैं। नाट्य-प्रदर्शन के इस आवश्यक तत्त्व को प्रवृत्ति कहने का कारण वस्तुतः यह है कि इसका काम वेशभूषा आदि की[3] प्रादेशिक विलक्षणताओं को प्रदर्शित करना है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के चारों प्रदेशों में प्रधानतया प्रचलित मूलभूत मानसिक उन्मुखताओं का अध्ययन भली भांति किया गया था। उसके अनुसार रस सम्बन्धी चार प्रधान उन्मुखताओं को

---

[1] अभि० भा० भाग २–४४६ [2] अभि० भा० भाग २–२१२–१३
[3] अभि० भा० भाग २–२०५

प्रतिपादित किया गया था। इसीलिए स्वतंत्र रसों की संख्या भी चार प्रतिपादित की गई थी। रस को प्रकट करने वाली भारतीय नाट्यकृति यथासम्भव यथार्थमूलक होती है तथा उस नायक के स्थायीभाव से सम्बन्धित विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों को प्रदर्शित करती है जो जातीय एवं प्रादेशिक विशेषगुणों से युक्त एक व्यक्ति के रूप में परिस्थितियों से उत्प्रेरित होकर शारीरिक तथा मानसिक आचरण करता है। इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि उस नट-व्यापार के स्वरूप को निश्चित रूप में समझ लिया जाय जो सन्तोषप्रद रूप में स्थायीभाव को प्रकट कर सकता है, और उन वेशभूषा, भाषा, सामाजिक आचार व्यवहार आदि के रूपों को भी भलीभांति जान लिया जाय जो नाटक के नायक को सुस्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान कर सकते हैं। नट-व्यापार एवं नायक के व्यक्तित्व के प्रदर्शन को सुव्यवस्थित करने के लिए वृत्ति अर्थात् नट-व्यापार के रूपों एवं प्रवृत्ति अर्थात् प्रचलित वेशभूषा, भाषा, रीति रिवाज आदि के विषय में निश्चित स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। चार दिशाओं के आधार पर विभाजित चार मुख्य प्रदेशों के निवासियों की जीवनप्रणाली एवं उनकी मानसिक-शारीरिक उन्मुखताओं के गम्भीर अध्ययन के आधार पर वृत्ति एवं प्रवृत्ति के निश्चित स्वरूपों की रचना करने की चेष्टा की गई थी। तदनुसार यह माना जाता था कि दक्षिण भारत के निवासी संगीत एवं नृत्य[1] के महान अनुरागी होते हैं। उनके व्यवहार, रीति रिवाज, वेशभूषा आदि स्पष्ट रूप से भिन्न होते हैं। इस प्रकार से प्रवृत्तियां (अर्थात् वेशभूषा, व्यवहार, रीति रिवाज के प्रादेशिक प्रचलित स्वरूप) चार हैं—दाक्षिणिक, उत्तरदेशीय, प्राच्य एवं पाश्चात्य। इन्हीं के अनुसार वृत्तियों की संख्या भी चार है—कैशिकी, सात्वती, भारत्यारभटी एवं कैशिकी मिश्रित भारत्यारभटी।

रसों को प्रकट करने में वृत्तियों के प्रयोग के विषय में धनञ्जय तथा अभिनवगुप्त में मतभेद है। धनञ्जय का मत यह है कि शृङ्गार, वीर तथा रौद्र एवं बीभत्स रसों को प्रकट करने के लिए क्रमशः कैशिकी, सात्वती एवं आरभटी का प्रयोग करना चाहिए। अभिनवगुप्त के वृत्ति विषयक मत का उल्लेख गत पृष्ठों में लिखित तालिका में हम कर ही चुके हैं। वृत्तियों की संख्या के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अभिनवगुप्त ने सात्वत्यारभटी[2] जैसी संयुक्त वृत्तियों का उल्लेख किया है। इस विषय में अभिनवगुप्त का भरतमुनि से मतैक्य है। क्योंकि स्वयं भरतमुनि ने पंजाब, कश्मीर आदि राज्यों को

[1] अभि० भा० भाग २—२०६—७ [2] अभि० भा० भाग २—२०७

मिलाकर उत्तरदेशीय निवासियों की प्रादेशिक प्रवृत्तियों के उल्लेख के प्रसंग में सात्वत्यारभटी[1] संयुक्त वृत्ति के विषय में लिखा है और यह भी कहते ऐसे प्रतीत होते हैं कि इसमें कैशिकी का भी कुछ अंश मिला रहता है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि राजा भोज ने अपने ग्रंथ शृंगारप्रकाश में, जिसका उल्लेख हम एक गत उपप्रकरण में कर आए हैं, जिस वृत्ति का प्रतिपादन मिश्र अथवा विमिश्र वृत्ति के नाम से किया है वह भरतमुनि एवं अभिनवगुप्त से कुछ अंशों में समर्थित है।

वृत्ति एवं प्रवृत्ति में संबंध

प्रदेशों के आधार पर चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ अर्थात् वेशभूषा, भाषा, व्यवहार, जीवन वृत्ति आदि विषयक प्रादेशिक प्रथाओं के स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि संसार में ऐसे बहुत प्रदेश हैं जो वस्त्रभूषा व्यवहार आदि की विलक्षणताओं के कारण एक दूसरे से भिन्न माने जा सकते हैं फिर भी चार दिशाओं के अनुसार देश के चार प्रदेशों में विभाजन के आधार पर प्रवृत्तियों की संख्या चार ही मानी गई है। यह विभाजन न्यायोचित भी है। क्योंकि वस्त्रभूषा आदि के विषय में यद्यपि उपप्रादेशिक कुछ सूक्ष्म भेद होते हैं फिर भी दिशाओं के अनुसार विभाजित प्रदेशों में प्रवृत्तियां बहुत कुछ एक रूप ही होती हैं। सूक्ष्म भेदों का अध्ययन करना एवं उनको प्रकट करना दुष्कर कार्य है। दिशाओं के आधार को लेकर विभाजित प्रदेशों के निवासियों की सामान्य मानसिक उन्मुखताओं के आधार पर प्रवृत्तियों के चार स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन में इनको प्रधानतया प्रदर्शित किया जाता है। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न रसों एवं विभिन्न रूपों की वृत्तियों की लोकप्रियता विभिन्न प्रवृत्तियों की सत्ता को प्रमाणित करती है। इसीलिए चार प्रधान रसों एवं चार प्रधान वृत्तियों के अनुसार प्रवृत्तियों की भी संख्या चार[2] प्रतिपादित की गई है।

अभिनय

'अभिनय' शब्द का अर्थ है 'वह जो नाटक के लेखक के शब्दों में वर्तमान भाव को दर्शक के सामने प्रत्यक्षतः प्रदर्शित करता है'। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार इसका यही अर्थ है—'नी' धातु का अर्थ ले जाना है। 'अभि' उपसर्ग

---

[1] अभि० भा० भाग २–२१०   [2] अभि० भा० भाग २–२०६–७

का प्रयोग 'आमने-सामने' के अर्थ में होता है। पाणिनीय सूत्र 'एरच्' (३-३-५६) के अनुसार इसमें 'अच्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। अभिनय चार प्रकार का है। प्रदर्शन के साधनों की भिन्नता के आधार पर अभिनय का यह वर्गीकरण किया गया है जैसे कि १. शारीरिक विभिन्न अंग २. वागिन्द्रिय ३. अन्तःकरण तथा ४. आहार्य्य अर्थात् वेश-विन्यास, वस्त्रभूषा आदि।

भरतमुनि का मत यह है कि अभिनय को न तो पूर्णतया यथार्थ स्वरूप ही होना चाहिए और न नितांत कृत्रिम स्वरूप ही होना चाहिए। उत्कृष्ट अभिनय में यथार्थ स्वरूप एवं कृत्रिम स्वरूप का सामंजस्यपूर्ण मिश्रण होता है। भरतमुनि ने लोकधर्मी (यथार्थ स्वरूप) एवं नाट्यधर्मी (नट परम्परागत) दो स्वरूपों के अभिनयों का प्रतिपादन किया है जो उपर्युक्त तथ्य का पर्याप्त रूप से समर्थन करता है। एक महान नाटयशास्त्रज्ञ होने के नाते प्रदर्शन में यथार्थस्वरूप अभिनय के महत्व को वे स्पष्ट रूप से मानते थे। परन्तु इसके साथ-साथ उनको यह भी ज्ञात था कि रंगमंच की देश काल संबंधी सीमाएँ ऐसी होती हैं कि प्रत्येक वस्तु का यथार्थ रूप में प्रदर्शन संभव नहीं है। सच तो यह है कि भरतमुनि के बहुत समय पूर्व यथार्थ रूप से अप्रदर्शनीय वस्तुओं को कृत्रिम रूप में प्रदर्शित करने की नाटकीय परम्परा विकसित हो चुकी थी और भरतमुनि ने इस प्रकार के प्रदर्शन की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया था।

अभिनय के उपर्युक्त पुरातन दो प्रकार के विभाजन को अभिनवगुप्त ने संशोधित किया। उन्होंने लोकधर्मी को दो रूपों में विभाजित किया और नाटयधर्मी के भी दो रूपों का प्रतिपादन किया[1]। (१) चित्त की दशा को प्रकट करने वाला अभिनय जैसे कि गर्व सम्बन्धी अहम्मन्यता (अहमपि) की चित्त-दशा को प्रकट करने के लिए मस्तक की ऊँचाई तक एक हाथ को इस रूप में उठाना कि उसकी अँगुलियाँ खड़ी और परस्पर मिली हों तथा अँगूठा मुड़ा हो। (२) वह अभिनय जो किसी बाह्य वस्तु के स्वरूप को प्रकट करता है। जैसे कि हाथ को कमल के स्वरूप का बनाकर कमल के रूप को अभिनय से प्रकट करना। लोकधर्मी अभिनय के ये ही दो प्रकार हैं क्योंकि इन्हीं में अभिनेता लोकधर्मी आचरण करता है अर्थात वैसा ही आचरण करता है जैसा कि सामान्य जीवन में अहम्मन्यता अथवा कमल के भाव को प्रकट करने के लिए किया जाता है।

[1] अभि० भा० भाग २-२५-६

भाव को कृत्रिम अथवा नाट्यधर्मी रूप में भी दो प्रकारों से प्रकट किया जा सकता है। (१) पूर्णतया कृत्रिम एवं (२) आंशिक रूप से कृत्रिम तथा आंशिक रूप से लोकधर्मी। नाट्य-प्रदर्शन में प्रयुक्त भाव-प्रदर्शक नृत्य में हाथों एवं चरणों की गतियाँ पूर्णतया कृत्रिम होती हैं। विशेष रूप से वे गतियाँ पूर्णतया कृत्रिम होती हैं जिनको शास्त्रीय भाषा में 'आवेष्टित'[1] आदि कहा जाता है। आंशिक रूप से कृत्रिम (नाट्यधर्मी) और आंशिक रूप से लोकधर्मी अभिनय 'जनान्तिकम्' एवं 'स्वगतम्' में किया जाता है। बहुधा यह होता है कि जब रंगमंच पर अनेक पात्र उपस्थित होते हैं तो उनमें से दो पात्र कुछ दूर हट कर रंगमंच पर ही वार्तालाप करते हैं। परन्तु मान यह लिया जाता है कि रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र उस बातचीत को सुन नहीं रहे हैं, यद्यपि दर्शकों तक अपनी आवाज को पहुँचाने के लिए शब्दों का उच्चारण उच्च स्वर में वे पात्र करते हैं अतः यथार्थतः यह माना नहीं जा सकता कि रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र उस संलाप के शब्दों को नहीं सुन रहे हैं। रंगमंच की लम्बाई-चौड़ाई बहुत विशाल नहीं होती अतएव यह संभव नहीं है कि परस्पर गुप्त वार्तालाप करने वाले पात्रों को रंगमंच स्थित अन्य पात्रों से इतनी दूर पर ले जाया जाय कि वे उनके वार्तालाप को न सुन सकें परन्तु दर्शकगण सुन लें। अतएव यह नाट्यधर्मी अभिनय प्रचलित हुआ कि 'रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र किसी बातचीत को नहीं सुन रहे हैं' इस विचार को हाथ की तीन उँगलियों को खड़ा करके प्रकट किया जाय। इस विषय में पाठक यदि और भी अधिक विशद रूप में जानना चाहते हैं तो उनको अभिनवभारती भाग २ पृष्ठ २१४–१८ देखना चाहिए।

अभिनय में व्यक्तित्व-परिवर्तन

रंगमंच की सीमाओं के अन्दर जहाँ तक हो सकता है वहाँ तक नाटक के प्रधान नायक तथा अन्य पात्रों को यथार्थ रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा की जाती है। प्रत्येक अभिनेता को उस व्यक्ति की केवल शारीरिक वेषभूषा ही नहीं प्रदान की जाती जिसका अभिनय वह रंगमंच पर करता है वरन् उसको नाट्यशास्त्रकारों ने यह आदेश भी दिया है कि वह अपने व्यक्तित्व का परित्याग कर उस व्यक्ति के व्यक्तित्व को आत्मसात् कर ले जिसके शारीरिक रूप को उसने धारण किया है।

[1] अभि० भा० भाग २–२५–६

अभिनेता के इस व्यक्तित्व परिवर्तन के प्रकार को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए विभिन्न दार्शनिक मतों के अनुयायिओं ने अपने विशिष्ट दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर उसकी व्याख्या की है। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त यह कहते हैं—जिस प्रकार से मूलतः शुद्ध एवं पूर्ण चेतन ज्योतिस्वरूप होने के कारण आत्मा यद्यपि अनश्वर तथा स्वतन्त्र है फिर भी यह आत्मा अपने मूल स्वभाव का परित्याग कर उस स्वभाव को अपना लेती है जो उससे धारण किए गए उस शरीर के सर्वथा अनुकूल होता है जिस शरीर के साथ आत्मा अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेती है। ठीक इसी आत्मा की भांति किसी विशेष व्यक्ति का अभिनय करने वाले अभिनेता को भी अपना व्यक्तित्व छोड़कर और नाटक के पात्र के साथ पूर्ण रूप से अपना तादात्म्य स्थापित कर उस व्यक्ति के व्यक्तित्व को अपनाना चाहिये।

परन्तु सांख्यदर्शन स्वमत के अनुकूल एक उपमिति से अभिनेता के इस व्यक्तित्व-परिवर्तन के प्रकार को स्पष्ट करता है (देखिए हि० फिल० ई० वे० भाग १ पृष्ठ ४७८)। दोनों ही मत भरतमुनि[1] का अनुसरण करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि अभिनेता अपने व्यक्तित्व का परित्याग पूर्ण रूप से नहीं करता है। जिस प्रकार से आत्मा अपने मूलस्वरूप चित् का परित्याग उस समय भी नहीं करती जिस समय वह अपने को स्वात्मीकृत शरीर के अनुकूल भावनाओं, भावों आदि से प्रतिबिम्बित रूप में प्रकट करती है, ठीक उसी प्रकार से अभिनेता भी उस समय भी अपने व्यक्तित्व के मूल स्वरूप का परित्याग नहीं करता है, जिस समय वह अभिनेय मूल व्यक्ति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है। अभिनेता के शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों के कारण दर्शकगण उसको अभिनेता न मानकर वह अभिनेय मूल व्यक्ति मान लेते हैं जिसका अभिनय वह करता है। जैसे राम[2]।

चार प्रकार के अभिनय

वृत्ति और अभिनय में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों चार प्रकार के होते हैं। एवं प्रथम तीन प्रकारों के अभिनयों तथा वृत्तियों का सम्बन्ध विलग रूप से शरीर, वाणी और मन के साथ है। तदनुसार प्रथम तीन प्रकार की वृत्तियों को शास्त्र में आरभटी, भारती एवं सात्वती कहते हैं तथा प्रथम तीन प्रकार के

---

[1] अभि० भा० भाग ३-१२३ [2] अभि० भा० भाग ३-१२४

अभिनयों को आँगिक, वाचिक तथा सात्त्विक कहते हैं। वृत्ति के अन्तिम प्रकार को कैशिकी तथा अभिनय के अन्तिम प्रकार को आहार्य कहते हैं।

१ आंगिकाभिनय

प्रत्येक आंगिक अभिनय एक मनोव्यापार का परिचायक होता है। इसको स्थायी अथवा व्यभिचारीभाव या वाक्यगत मुख्य विचार को स्वाभाविक अथवा शिक्षाभ्यास द्वारा उत्पादित स्वरूपों में प्रकट करने वाला माना जाता है। अभिनय करने में शरीर के जिन अङ्गों का प्रयोग बहुधा किया जाता है वे शिर, हाथ, उरस्थल, पार्श्व, कटि, चरण, नयन, भौंहें, नासिका, अधर और चिबुक[१] हैं। प्रभावोत्पादक अभिनय करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किसी एक वाक्य को आरम्भ करने (शाखा) से पूर्व तथा उसके अन्त (अंकुर)[२] में हाथ का परिचालन किस प्रकार से करना चाहिए, और इसी के समान उन नृत्य-गतियों का ज्ञान परमावश्यक है जिनको शास्त्रीय भाषा में करण और अंगहार कहते हैं। भरत मुनि ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि आङ्गिकाभिनय के विषय में जो शिक्षा उन्होंने दी है उसका संशोधन तथा विस्तार निज भावों को[३] प्रकट करते हुए लोगों के शारीरिक परिचालनों के पर्यवेक्षण से प्राप्त ज्ञान के आधार पर करते रहना चाहिए।

२. वाचिकाभिनय

नाट्य-प्रदर्शन के प्रधान अङ्गों में से एक अङ्ग भाषा भी है। क्योंकि भाषा से उन भावों का ज्ञान प्राप्त होता है जिनको मूर्तरूप में प्रत्यक्ष किये जाने वाले आंगिकाभिनय तथा अन्य दो प्रकार के अभिनयों से प्रकट किया जाता है। भाषा वाद्य-संगीत (Instrumental music) की सहायिका होती है और गेय का अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्ग[४] होती है। भाषा को नाटक का शरीर कहते हैं। जब कि रस नाटक की आत्मा है।

इस प्रसंग में भरतमुनि ने वर्ण से लेकर विविध रचना-स्वरूपों तक की भाषा संबंधी सभी बातों का वर्णन अत्यन्त विशद रूप में किया है। उन्होंने विभिन्न छन्दों, अलंकारों, गुणों, वृत्तियों, विभिन्न भाषाओं एवं उनके प्रयोग-

---

[१] अभि० भा० भाग २—३

[२] अभि० भा० भाग २—३ तथा सं० र० अध्याय ७—८७—८

[३] अभि० भा० भाग २—६ [४] अभि० भा० भाग २—२२०—१

विषयक नियमों, विभिन्न प्रकार के पात्रों को सम्बोधित करने के रूपों, स्वर के उतार चढ़ावों, पाठ्य के पाठ करने के गुणों, स्वरों के प्रयोगों, विरामों के प्रयोगों आदि की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म एवं विशद रूप में की है। इस विषय का वर्णन भरतमुनि ने पाँच अध्यायों में किया है।

३. सात्विकाभिनय

रंगमंच पर वर्तमान एक अभिनेता कुछ अभिनेयांशों का अभिनय इसलिए कर सकता है क्योंकि किसी मानसिक गति (Psychological movement) को प्रकट करने के लिए हाथों और पैरों के विशिष्ट रूप से परिचालन करने की शिक्षा उसको दी जाती है, यद्यपि वह (मनोगति) उसके मन में वर्तमान नहीं होती है। परन्तु कुछ ऐसे अभिनय भी होते हैं जो आवश्यक रूप से आन्तरिक मनोव्यापार की सत्ता के बिना अभिनीत नहीं किए जा सकते। ये शारीरिक परिचालन तद्विषयक इच्छा के बिना ही उन भावों से स्वतः उद्भूत होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे शारीरिक परिचालन भी हैं जो जीवन की विशेष अवस्था जैसे युवावस्था में ही स्वाभाविक रूप से उद्भूत होते हैं। इसीलिए सात्त्विकाभिनय को अर्थात् मनोगत भाव से उद्भूत अभिनय को आंगिक अभिनय से भिन्न कोटि का माना गया है। रस[1] का आन्तरिक अंश होने के कारण नाट्य-प्रदर्शन में मनोगत भाव को प्रकट करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त शारीरिक एवं वाचिक अभिनयों की नियंत्रक शक्ति रूप होने के कारण भी इस प्रकार के अभिनय का बहुत महत्व है। मनोगत भाव को प्रधान रूप से प्रकट करने वाला अभिनय सर्वोत्तम माना जाता है। उत्तम अभिनय उसको कहते हैं जिसमें सात्त्विकाभिनय की मात्रा अन्य प्रकार के अभिनयों की मात्राओं के समान होती है। और सात्विकाभिनय रहित अभिनय को निकृष्टरूप मानते हैं[2]।

४. आहार्याभिनय

नाटक को रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रदर्शित करने के लिए वस्त्रादि एवं प्रसाधन (make up) परमावश्यक हैं। चित्र को अंकित करने के लिए जैसे आधार पट आवश्यक होता है उसी प्रकार से नाट्यप्रदर्शन के लिए आहार्य अर्थात् वस्त्रादि, एवं प्रसाधन परमावश्यक होते हैं। इसका कारण यह है कि

[1] अभि० भा० भाग ३–१४९–५० [2] अभि० भा० भाग ३–१५०

आहार्य का प्रयोजन विविध प्रकार के नायकों के स्थायी भावों को यथार्थमूलक रूप से प्रकट करना है। परन्तु प्रभावोत्पादक एवं स्पष्ट रूप से भाव को रंगमंच पर उसी अभिनेता द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है जिसके कार्य एवं अनुभाव भाव प्रकट कर रहे हों तथा जिसका शारीरिक रूप समुचित वस्त्रादि और प्रसाधन के द्वारा नाटक के नायक के तुल्य बना दिया गया हो। यद्यपि नायक की दशा में परिवर्तन होने के कारण उसके कार्यों और अनुभावों के स्वरूपों में परिवर्तन होते रहते हैं फिर भी उसके वस्त्रादि तथा वेश भूषा प्रायः अपरिवर्तित ही बने रहते हैं जिससे दर्शक विविध दशाओं में नायक को पहचान सके एवं तदन्तर्गत स्थायीभाव प्रतीत हो सके। यही कारण है कि वेणीसंहार नाटक में अश्वत्थामा के मनोगत उत्साह के स्थायी भाव का ज्ञान हमको उस समय भी होता रहता है जब शत्रु के हाथों से मारे गए निज पिता के मृत्यु संवाद को सुनकर वे शोकाकुल हो जाते हैं। अतएव रस[1] को प्रकट करने में आहार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है।

रंगमंच पर मृत्यु-प्रदर्शन के विषय में मतभेद

जैसे कि हम पहले कह चुके हैं रूपक के इतिवृत्त को दृश्य तथा सूच्य दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इतिवृत्त के दृश्यांश का रंगमंच पर अभिनय किया जाता है और वह विविध अंकों की विषयवस्तु होता है। इतिवृत्त के सूच्यांश को सूच्य दृश्यों की सहायता से केवल दर्शकों को सूचित ही किया जाता है। युद्ध, राज्य-विप्लव, मृत्यु तथा नगर का सैनिक अवरोध रूपक के सूच्यांश हैं। दो कारणों से ये इतिवृत्त के दृश्यांश नहीं हो सकते हैं। (१) युद्ध आदि ऐसे दृश्य हैं जिनको रंगमंच की दैशिक सीमाओं के कारण यथार्थ रूप में प्रदर्शित करना सम्भव नहीं है। (२) शव आदि के सम्बन्ध में निष्क्रान्ति-प्रदर्शन असंभव है। रंगमंच पर रतिभावसम्बन्धी चुम्बन तथा परिरम्भण भी अप्रदर्शनीय हैं। क्योंकि इस प्रकार के दृश्यों[2] को देखने से भद्रजनों में चित्तसंकोच उत्पन्न होता है। इस प्रसंग में निम्नलिखित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) रंगमंच पर मृत्यु-प्रदर्शन के निषेध के विषय में मतभेद है। एवं (२) इस विषय में मूल ग्रन्थ में पाठभेद भी है जैसे :—

१. प्रत्यक्षाणि तु नांके प्रवेशकैः संविधेयानि।

---

[1] अभि० भा० भाग ३–१०८–९ [2] अभि० भा० भाग २–४२८

एवं

२. अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि ।

जो शास्त्रकार यह प्रतिपादित करते हैं कि कुछ दशाओं में मृत्यु रंगमंच पर प्रदर्शनीय है वे दूसरे पाठ को प्रामाणिक मान कर यह प्रतिपादित करते हैं कि रंगमंच पर मनुष्यकृत घात से उत्पन्न मृत्यु अप्रदर्शनीय है परन्तु रोगजनित मृत्यु रंगमंच पर प्रदर्शनीय है। उनका कथन यह है कि अन्य मनुष्य के व्यापार से उत्पन्न मृत्यु की गणना युद्ध के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। क्योंकि बहुधा मृत्यु उस वाण के आघात से भी हो जाती है जिसको किसी एक अदृश्य व्यक्ति ने चलाया है, जैसे वालि की मृत्यु का कारण अदृश्य राम से चलाया गया वाण है (किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १७ श्लो० ४६)। निष्क्रमण के प्रसंग में उनका मत यह है कि आगामी घटना के दृश्य की प्रदर्शिका यवनिका के पातन के द्वारा निष्क्रमण प्रदर्शित किया जा सकता है।

परन्तु प्रथम पाठ को प्रामाणिक मानते हुए अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक कारण से उत्पन्न मृत्यु रंगमंच पर अप्रदर्शनीय है। इसका मूल कारण यह है कि मृत्यु का प्रदर्शन रसानुभव का सहायक न होकर उसका बाधक है। 'यदि मृत्यु रंगमंच पर सर्वथा अप्रदर्शनीय है तो भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में उसके अनुभावों का वर्णन क्यों किया है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त यह कहते हैं कि मृत्यु के अनुभावों का ज्ञान नाटक के सूच्यांश[1] दृश्य में उसको ऐसी स्पष्टता एवं सजीवता से सूचित करने के लिए परमावश्यक है जिससे उसका चित्र प्रेक्षक के सामने खड़ा हो जाय। इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने जो मृत्यु के अनुभावों का वर्णन किया है उसका औचित्य इस बात से सिद्ध हो जाता है कि केवल वही मृत्यु रंगमंच पर अप्रदर्शनीय है जिसके उपरान्त फिर कभी जीवनलाभ नहीं होता। परन्तु वह मृत्यु जिसके उपरान्त तुरन्त जीवनलाभ हो जाता है रंगमंच पर प्रदर्शनीय है जैसे कि जीमूतवाहन की मृत्यु। अतएव इस प्रकार की मृत्यु को रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए मृत्यु के अनुभावों का ज्ञान परमावश्यक है। इसी प्रकार से युद्ध की सभी दशाएँ भी रंगमंच पर अप्रदर्शनीय नहीं हैं। क्योंकि सैनिक प्रयाण को रंगमंच पर प्रदर्शित करने का आदेश है। युद्ध सम्बन्धी विविध अस्त्रों का वर्णन करना भी युद्ध की तैयारी का एक परमावश्यक अंग माना जाता है।

---

[1] अभि० भा० भाग २-४२६

रंगमंच पर युद्ध का केवल वही अंश अप्रदर्शनीय है जिसमें दो सेनाओं में परस्पर मारकाट हो रही हो।

प्रधान नायक की मृत्यु की सर्वथा अप्रदर्शनीयता

संस्कृत भाषा के रूपक के प्रधान नायक की मृत्यु का प्रदर्शन किसी भी रूप में एवं किसी भी दशा में सर्वथा वर्जित है। अतएव उसकी मृत्यु का प्रदर्शन न तो रंगमंच पर ही कर सकते हैं और न रूपक के सूच्यांश दृश्यों में ही उसको सूचित कर सकते हैं। केवल इतना ही नहीं वरन् उसको शत्रु का आघात सहते हुए भी प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। प्रबलतम शक्ति से आक्रान्त होने पर उसको पलायन करते हुए अथवा आत्मसमर्पण करते हुए प्रदर्शित किया जा सकता है। जैसे कि वासवदत्ता के पिता के सैनिकों से आक्रान्त राजा उदयन को आत्मसमर्पण करते हुए प्रदर्शित किया गया है। उसको शान्तिस्थापक सन्धि[1] करते हुए भी प्रदर्शित कर सकते हैं।

रंगमंच पर एक समय में उपस्थित पात्रों की संख्या के विषय में प्रतिबन्ध

रंगमंच का आकार परिमाण बहुत विशाल नहीं होता, इसी लिए सागर पर सेतु बनाने जैसी घटना को उस पर प्रदर्शित करना असम्भव है जिसमें असंख्य व्यक्तियों का भाग लेना परमावश्यक होता है। रंगमंच पर केवल वे ही व्यक्ति प्रदर्शित किए जाते हैं जिनका संबंध किसी एक प्रदर्शनीय घटना के साथ प्रधान रूप से है। अतएव रंगमंच पर एक समय में उपस्थित व्यक्तियों की संख्या चार अथवा पांच होती है। प्रधान अनुचरों के साथ उन व्यक्तियों की संख्या अधिक से अधिक आठ अथवा दस तक हो सकती है। रंगमंच पर उपस्थित व्यक्तियों की संख्या इससे अधिक होने पर प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट रूप से जानना उसी प्रकार से असम्भव हो जाता है जैसे कि रथयात्रा के पीछे चलते हुए जनसमूह में प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट रूप में जानना असंभव होता है।

प्राकृतिक क्षेत्रों एवं प्रेक्षागृहों में नाट्य-प्रदर्शन

भरत मुनि का मत यह है कि बिना समुचित रूप से प्रेक्षागृहों की रचना किए हुए भी रूपक को प्राकृतिक क्षेत्रों (Open air) में भी प्रदर्शित किया

[1] अभि० भा० भाग २–४२७

जा सकता है (अथ बाह्यप्रयोगे तु प्रेक्षागृहविवर्जिते। अभि० भा० भाग २—२१३)। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के दूसरे अध्याय में विभिन्न आकारों के प्रेक्षागृहों की रचना के विषय में अत्यन्त विशद रूप से शिक्षा भी दी है। इस प्रकार से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत वर्ष में रूपकों का प्रदर्शन प्राकृतिक क्षेत्रों तथा प्रेक्षागृहों दोनों स्थानों पर किया जाता था।

परन्तु ज्ञात यह होता है कि प्रारम्भिक नाट्य-प्रदर्शन प्राकृतिक क्षेत्रों में ही होते थे। वस्तुतः भरतमुनि से निर्देशित प्रथम नाट्य-प्रदर्शन प्राकृतिक क्षेत्र में ही किया गया था। परन्तु उस नाट्य-प्रदर्शन में असुरों ने अनेक विघ्न उत्पन्न किए। तब नाट्य-प्रदर्शन की प्रगति को असंभव जान कर भरतमुनि उसकी सुरक्षा[1] के लिए ब्रह्मा के निकट गए। ब्रह्मा ने प्रेक्षागृह की रचना करने का आदेश देव-शिल्पी विश्वकर्मा को दिया। तदनुसार उन्होंने प्रथम प्रेक्षागृह की रचना की।

प्रदर्शन यथासंभव यथार्थस्वरूप हो सके इसलिए रंगमंच पर ऐसे चित्रपटों का उपयोग किया जाता था जिन पर पर्वत, प्रासाद, देवालय, भवन आदि दृश्य चित्रित[2] होते थे और इनके साथ साथ वृषभों, अश्वों एवं रथों की कलापूर्ण मूर्तियों का उपयोग भी किया जाता था। पुस्त-चित्र स्वरूप रथ आदि को रंगमंच पर इस प्रकार से संचालित करते थे कि दर्शकों को ऐसा दिखाई पड़ता था कि वास्तविक रथ आदि ही चल रहे हैं।[3] अभिनवगुप्त का मत यह है कि रथ आदि के चित्रों के बिना रथ आदि में यात्रा प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए।[4]
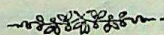
[1] अभि० भा० भाग १—३०

[2] अभि० भा० भाग ३—१४२

[3] अभि० भा० भाग २—१५१

[4] अभि० भा० भा० २—१५४

अध्याय ११

काव्यलक्षणग्रन्थों में रससम्बन्धिनी विचारधाराएँ

गत अध्यायों में हमने रस संबंधी समस्याओं का अध्ययन एवं उनकी व्याख्या भरतमुनि तथा उनके नाट्यशास्त्र के टीकाकारों से प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर की है। इन टीकाकारों ने इन समस्याओं का समाधान केवल नाट्यकला के प्रसंग में ही किया था। अन्य कलाओं को वे नाट्यकला के आश्रित ही मानते थे। अतएव उनके मत के अनुसार काव्यकला नाट्यकला की सेविका मात्र ही है।

परन्तु काव्य-कला के कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी थे जो यह मानते थे कि काव्यकला स्वयं एक स्वतंत्र कला है। काव्य के स्वरूप के विषय में प्रत्येक शास्त्रीय सम्प्रदाय का अपना एक विलग मत है। सामान्यतः यह मतभेद इस प्रश्न को लेकर है कि 'काव्य की आत्मा अथवा उसका मूलतत्व क्या है ?' भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास को देखने से यह ज्ञात होता है कि काव्य के स्वरूप का विकास क्रमशः मन्द गति से हुआ है। परन्तु अपने विकास के अन्तिम क्रम में काव्य की आत्मा को भी वह रस मान लिया गया जिसको भरतमुनि तथा उनके टीकाकारों ने नाट्य-कला की आत्मा सिद्ध कर दिया था। वर्तमान अध्याय में प्रथम आलंकारिक उन भामह से लेकर, जिनको हम उनके रचे हुए ग्रन्थ के आधार पर जानते हैं, उद्भट तक काव्यात्मा के स्वरूप का विकास किस प्रकार हुआ इसको स्पष्ट करने की चेष्टा हम करेंगे।

काव्यलक्षणग्रन्थों के लेखकों एवं नाट्यशास्त्रकारों में केवल इसी विषय में मतभेद नहीं था कि काव्य की आत्मा क्या है वरन् इस विषय में भी मतभेद था कि नाटक एवं काव्य से जो अनुभव उत्पन्न होता है उसका स्वरूप क्या है ? यद्यपि भामह लिखित 'काव्यालंकार' के समान काव्य-लक्षणविषयक प्राप्त प्राचीन ग्रन्थ इतने अधिक खण्डितरूप में उपलब्ध हुए हैं कि उनके आधार पर निश्चितरूप से यह कहना कठिन है कि उन काव्यलक्षणकारों के मतानुसार काव्यजनित अनुभव का स्वरूप क्या था। फिर भी काव्यानुभव के स्वरूप के विषय में यत्र तत्र अस्पष्टरूप उल्लेख प्राप्त हो जाते हैं जैसे कि काव्यजनित अनुभव के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग करना। जैसे कि भामह ने काव्य

जनित अनुभव को रसास्वाद न कह कर 'प्रीति' कहा है। रसास्वाद एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ में बहुत बार किया है।

नाट्यजनित एवं काव्यजनित अनुभवों में भेद

गतपृष्ठों में हमने जिस रसानुभव की व्याख्या की है वह अपने मूल स्वरूप में एक ऐसा अनुभव है जिसमें दर्शक एवं प्रदर्शन दोनों के व्यक्तित्व विधायक तत्व नष्ट हो जाते हैं। यह अनुभव विभाव आदि से युक्त साधारणीभूत स्थायी भाव का प्रमातृगत (Subjective) साक्षात्कार है। नाटक के प्रधान पात्र के साथ दर्शक का तादात्म्य स्थापित हो जाने के कारण यह रसानुभव उत्पन्न होता है। रसानुभव का यह स्वरूप मूलतः नाट्यशास्त्र सम्बन्धी है। वर्तमान ज्ञान के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भरतमुनि ने सर्वप्रथम उपर्युक्त मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया था। परन्तु काव्यलक्षणग्रन्थों के लेखकों का अभिमत इससे भिन्न था। उनके मत के अनुसार काव्यजनित अनुभव नाट्य-शास्त्रकारों से प्रतिपादित रसानुभव के समान निर्विकल्परूप न होकर सवि-कल्परूप है। अतएव उनके मत के अनुसार यह अनुभव दर्शक के आत्मविस्मरण एवं नाटक के प्रधान पात्र के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने से नहीं उत्पन्न होता वरन् इसके प्रतिकूल इस अनुभव का कारण यह है कि काव्य को पढ़ने अथवा सुनने वाला सहृदय सराहनोन्मुख होकर काव्यवर्णित विषयवस्तु का विषयरूप में साक्षात्कार करता है। विषय-पक्ष में भी इसका स्वरूप नाट्यशास्त्रकारों से प्रतिपादित विषय के स्वरूप से भिन्न है। यह आवश्यक नहीं है कि इसका विषय कोई भावपूर्ण परिस्थिति ही हो। कुछ काव्यलक्षणकारों के मतानुसार कोई भी ऐसी शाब्दिक रचना काव्यजनित अनुभव को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है जिसमें सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुकूल किसी वस्तु का केवल यथातथ्य वर्णनमात्र ही न किया गया हो, वरन् जिसमें कुछ अंशों में वक्रत्व वर्तमान हो, कुछ अंशों में कलात्मक तत्व विद्यमान हो, जिसमें वस्तु का वर्णन उस स्वरूप में किया गया हो जिस स्वरूप में वह कवि के प्रातिभ चक्षुओं के सामने उपस्थित होती है और इसलिए जो काव्यगुणग्राही सहृदय पाठकों के मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेती हो। इस प्रकार से हम यह देखते हैं कि अपने मूल स्वरूप में, एवं विषय तथा प्रमातृ पक्षों में भी काव्य जनित अनुभव का स्वरूप काव्यलक्षणकारों के मत में उस नाट्यजनित अनुभव के स्वरूप से भिन्न है जिसका प्रतिपादन नाट्यशास्त्रकारों ने अपने ग्रन्थों में किया है।

वर्तमान काल में प्राप्त साहित्य के गम्भीर अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अपने विकास के आरम्भिक काल में काव्यलक्षणशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का विकास स्वतन्त्र रूपों में हुआ था। नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नाटक में प्रदर्शित किए गए उस कलारूप वस्तु का विश्लेषण करना था जिसको शास्त्रीय भाषा में रस कहते हैं। परन्तु काव्यलक्षणशास्त्रों का प्रयोजन यह था कि भाषा की उन सभी कलापूर्ण रचनाओं के रूपों का विश्लेषण किया जाय, जिनमें वह मुक्तक भी सम्मिलित है जिसमें वर्णनीय वस्तु एक असंबंधित पृथक् रूप विषय का वह स्वरूप होता है जिसका साक्षात्कार कवि अपने प्रातिभ चक्षुओं से करता है, और काव्य का वह लक्षण प्रतिपादित किया जाय जो भाषा की कलास्वरूप सभी रचनाओं में प्राप्त है। काव्य-लक्षण के विषय में उनमें परस्पर मतभेद है। उन्होंने अलग-अलग अपने मतों के अनुसार अलंकारों, गुणों अथवा रीतियों को काव्य-कृति के मूल तत्व के रूप में प्रतिपादित किया है।

भामह

काव्यजनित अनुभव एवं तदुत्प्रेरक वस्तु दोनों के सम्बन्ध में काव्यलक्षण-प्रतिपादक ग्रन्थों में वर्तमान काव्यकलासम्बधिनी विचारधाराओं का ऐतिहासिक वर्णन करने के लिए हम भामहरचित ग्रंथ से इसलिए आरम्भ करते हैं क्योंकि सर्वसम्मति से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राप्त लक्षणग्रंथों में भामहकृत ग्रन्थ सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में राजमित्र, रामशर्मा, अच्युतोत्तर, शाखावर्धन आदि जैसे पूर्वकालीन शास्त्रकारों का उल्लेख किया है—और इस बात का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि उनके ग्रंथ की रचना का आधार काव्यलक्षणविषयक पूर्वकालीन शास्त्रकारों के ग्रंथ ही हैं। परन्तु वे ग्रन्थ हमको प्राप्त नहीं हो सके हैं। भामह के ग्रन्थ का आधार वे शास्त्रकार हैं जिन्होंने नाट्यशास्त्रविषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन न कर काव्यलक्षणशास्त्रविषयक सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया था। नाट्य-शास्त्रसम्बन्धी प्राप्त ग्रंथों में सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ भरतमुनिप्रणीत नाट्य-शास्त्र में यद्यपि उन विषयों की व्याख्या की गई है जो काव्यलक्षणग्रन्थों में विशेषतया प्रतिपादित किए जाते हैं, जैसे कि अलंकार, फिर भी भामह ने भरतमुनिरचित नाट्यशास्त्र का उल्लेख नहीं किया है। भामह ने जिस सर्वाधिक प्राचीन शास्त्रकार का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है उसके अनुसार काव्या-

लंकारों की संख्या केवल पाँच[1] ही थी। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि भरतमुनि उपर्युक्त शास्त्रकार से इसलिए अधिक प्राचीन हैं क्योंकि उनके मतानुसार काव्यालंकारों[2] की संख्या केवल चार ही है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि भामह ने नाट्यशास्त्रकारों[3] के अनुसार नहीं वरन् काव्यलक्षणकारों के मतों के आधार पर काव्य के लक्षणों का निरूपण किया है। अतएव जिस रस का प्रतिपादन नाट्यशास्त्रकार प्रधान रूप से अपने ग्रन्थों में करते हैं उसका कोई प्रधान रूप में विशिष्ट उल्लेख भामह के ग्रन्थ में नहीं है। किसी भी प्रकार से यह सिद्ध नहीं होता कि भामह रस को काव्य की आत्मा मानते थे। इसके प्रतिकूल उनका मत यह है कि रसचित्रण पूर्ण होने पर भी कुछ काव्य-रचनाएं कच्चे कैथे के फल की भांति[4] कुस्वादमय होती हैं। जिस प्रकार से भरतमुनि[5] नाट्यरस की चर्चा करते हैं उसी प्रकार से भामह भी काव्यरस का उल्लेख करते हैं और सभी रसों को महाकाव्य[6] के आवश्यक तत्व मानते हैं फिर भी भामह के मतानुसार रस उतनी प्रधान वस्तु नहीं है जितनी कि वह भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त के उत्तरकालीन काव्यलक्षणकारों की दृष्टि में है।

भामह के मतानुसार काव्य का स्वरूप

भामह ने काव्य का जो लक्षण प्रतिपादित किया है वह कुछ अंशों में भिन्न शब्दों से प्रकट किए जाने पर भी दण्डी से प्रतिपादित काव्य के लक्षण के समान ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दण्डी-प्रतिपादित काव्य का लक्षण भामह-प्रतिपादित काव्य के लक्षण से अधिक परिशुद्ध है। भामह के मतानुसार शब्द और अर्थ दोनों का साहित्य ही काव्य है। परन्तु काव्य की यह परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से दूषित है क्योंकि काव्य के अतिरिक्त भाषा की सभी अन्य रचनाओं में भी शब्द एवं अर्थ का साहित्य होता है। अतएव काव्य के विविध रूपों का उल्लेख करने के उपरान्त भामह ने यह प्रतिपादित किया है कि सहृदय व्यक्तियों को कलाजनित आनन्द प्रदान करने वाली भाषा[7] में भाव प्रकट करने की विधि जिसको शास्त्र में 'वक्रोक्ति' कहते हैं काव्य का मूल तत्व है। वक्रोक्तिहीन शाब्दिक रचना आकर्षक रीति में लिखी होने एवं माधुर्य तथा

---

[1] का० अ० ८ [2] ना० शा० २०६
[3] का० अ० ४८ [4] का० अ० ३८
[5] का० अ० ३२ [6] का० अ० ३ [7] का० अ० ४

प्रसाद गुणों से युक्त होने पर भी काव्य नहीं कही जा सकती है। इस प्रकार की शाब्दिक रचना एक गीत के समान केवल कानों को ही[1] रमणीक लगती है। इस प्रकार से भामह के मतानुसार काव्य का सर्वाधिक मूलतत्व 'अलंकार' ही है और किसी विलक्षण भाव को विलक्षण शब्दों में[2] विलक्षण रूप से प्रकट करना ही अलंकार है।

भामह के मतानुसार काव्यानुभव का स्वरूप

काव्यजनित अनुभव के विषय में भामह ने कुछ भी प्रधानतया नहीं लिखा है। उसके विषय में विशिष्ट रूप में कुछ न लिखना ही उनके लिए स्वाभाविक था क्योंकि उनके ग्रन्थ का लक्ष्य काव्यजनित अनुभव के स्वरूप[3] को प्रकट करना नहीं वरन् काव्यालंकारों[4] का उल्लेख मात्र करना ही था। काव्यानुभव के विषय में भामह के ग्रन्थ में दो स्थलों पर अप्रधानस्वरूप उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे उसके विषय में उनके अभिमत का आंशिक ज्ञान होता है। एक स्थल से यह ज्ञात होता है कि वे काव्यजनित अनुभव को एक आनन्दपूर्ण अनुभव मानते थे। यह सन्देह रहित है[5] कि प्रसंगानुसार यह अनुभव सहृदय श्रोता अथवा पाठक से सम्बन्धित रूप में नहीं वरन् कवि से सम्बन्धित रूप में प्रकट किया गया है। परन्तु परवर्ती समय में अभिनवगुप्त ने रसानुभव का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया था उससे यह ज्ञात होता है कि श्रोता अथवा पाठक का काव्यानुभव बहुत कुछ कवि के अनुभव के समान ही होता है। अतएव भामह ने जो कवि के अनुभव के विषय में लिखा है वह पाठक के अनुभव के स्वरूप का भी द्योतक माना जा सकता है। दूसरे स्थल पर भामह ने काव्यजनित आनन्द का भेद गीत अथवा संगीत जनित ऐन्द्रियबोध (Sensation) से उत्पन्न आनन्द से प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त काव्यजनित आनन्द का कारण भामह ने उत्कृष्टतम दशा में एक स्थायी भाव का प्रमातृनिष्ठ (Subjective) अनुभव न मानकर काव्यरचना में वर्णित वस्तु का विषयरूप में मानस साक्षात्कार ही माना है। क्योंकि भामह अलंकृतभाषा को एक सुसज्जित रमणी[6] के समान मानते हैं। अतएव युक्तिसंगतरूप में यह ज्ञात होता है कि काव्य-जनित आनन्द वैसा ही है जैसा कि एक सुसज्जित रमणी को देखने से उत्पन्न हो सकता है।

---

[1] का० अ० ४ [2] का० अ० ३९ [3] का० अ० ४०
[4] का० अ० १ [5] का० अ० १ [6] का० अ० २५

भामह के मतानुसार गुणों का स्वरूप

ऐसा ज्ञात होता है कि जिस प्रकार से काव्यालंकारों के विषय में भामह के मत का आधार दण्डी आदि परवर्ती शास्त्रकारों के आधारों से भिन्न था उसी प्रकार से गुणों के विषय में भी उनके मत का आधार भिन्न था। गुणों के प्रतिपादन के विषय में भी भामह ने भरतमुनि के मत की ओर ध्यान नहीं दिया है। क्योंकि भरतमुनि के मतानुसार काव्यगुणों की संख्या दस है, परन्तु भामह अपने ग्रन्थ में केवल तीन गुणों का ही उल्लेख करते हैं—माधुर्य, प्रसाद[1] एवं ओजस्। इसके अतिरिक्त काव्य के गुणों के स्वरूप के विषय में भी भरतमुनि तथा भामह में परस्पर मतभेद है।

१. भरतमुनि के मतानुसार माधुर्यगुणयुक्त वह रचना है जिसमें एक ही अर्थ के बोधक अनेक वाक्यों का प्रयोग बार-बार[2] इस प्रकार से किया गया हो कि वह पाठक अथवा श्रोता के अन्तःकरण को आनन्दपूर्ण कर देता हो। परन्तु भामह के मतानुसार माधुर्यगुण से युक्त वह रचना है जो ध्वनियों की मधुरता तथा अर्थ की सरलता अर्थात् अर्थ[3] की सुबोधता से युक्त हो।

२. भरतमुनि के मतानुसार प्रसाद गुण उस रचना में होता है जिसमें शब्दों तथा अर्थों को ऐसे विशेष रूप में सुव्यवस्थित[4] किया गया हो जिससे कि पाठक को उस अर्थ का ज्ञान स्पष्ट रूप से हो जाय जिसको शब्दों से प्रत्यक्षतः प्रकट नहीं किया गया है। परन्तु भामह के मतानुसार यह गुण उस काव्यरचना में होता है जो विद्वान् से लेकर बालक तक की समझ में[5] सरलता से आ सकती हो।

३. भरतमुनि के मतानुसार ओजस् गुण उस काव्य-रचना में होता है जिसमें ऐसे समासों का प्रयोग किया गया हो जिनके पद[6] आवश्यक रूप से परस्पर संबंधित हों और जिनमें अनुप्रासालंकार वर्तमान हों। परन्तु भामह के मतानुसार[7] ओज गुण किसी रचना में केवल समासयुक्त पदों के प्रयोग से ही उत्पन्न हो जाता है।

इस विषय में ध्यान देने योग्य यह है कि भामह लिखित तीन काव्यगुणों

---

[1] का० अ० ८
[2] ना० शा० २१२
[3] का० अ० ८
[4] ना० शा० २११
[5] का० अ० ८
[6] अभि० भा० भाग २–३४०
[7] का० अ० ८

को मम्मट भी स्वीकार करते हैं और भरतमुनि, दण्डी एवं वामन से प्रतिपादित दस गुणों को वे प्रामाणिक नहीं मानते हैं। मम्मट स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि काव्य के गुणों की संख्या दस[1] न होकर तीन ही है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उन्होंने अवशिष्ट कुछ गुणों को स्वतंत्र रूप न मान कर कुछ दोषों का अभाव मात्र ही माना है और अन्य अवशिष्ट गुणों को काव्यालंकारों के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है।

भामह के मतानुसार काव्यगुणों का महत्व

भामह के मतानुसार काव्य का प्रधान लक्षण वक्रोक्ति है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य के गुण संख्या में केवल तीन ही हैं अर्थात् माधुर्य, ओजस् तथा प्रसाद। ये गुण काव्य रचना[2] के लिए मूल रूप से आवश्यक नहीं हैं। इन गुणों का महत्व काव्यात्मक न होकर केवल संगीतात्मक ही है। वह वक्रोक्तिहीन शब्दरचना जिसमें उपर्युक्त तीनों गुण वर्तमान हों काव्य न होकर गीत मात्र ही है।

वक्रोक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में भरतमुनि का भामह पर आभार

वक्रोक्ति का प्रतिपादन भामह ने सर्वप्रथम मूल रूप से नहीं किया था। वर्तमान समय में प्राप्य ज्ञान के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति के प्रतिपादन में भामह भरतमुनि के आभारी हैं। वक्रोक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन उन्होंने जिस प्रकार से किया है उससे यह स्पष्ट है कि वे उसे एक अत्यन्त लोकप्रसिद्ध विचार धारा मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में वक्रोक्ति की परिभाषा का भी उल्लेख नहीं किया है। यदि वे अपने को वक्रोक्ति सिद्धान्त का मूल-प्रतिपादक मानते और यह न समझते कि यह सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रसिद्ध एवं सर्वमान्य है तो उन्होंने अवश्य ही स्पष्ट रूप से इसकी परिभाषा को लिखने की और उसको युक्तिसंगत सिद्ध करने की वैसी ही चेष्टा की होती जैसी कि आनन्द-वर्धनाचार्य ने ध्वनि के विषय में की थी।

हम यह कह चुके हैं कि भरतमुनि ने केवल चार अलंकारों का ही प्रतिपादन किया था, परन्तु सर्वाधिक अर्वाचीन अलंकार शास्त्र के प्रतिपादक अप्पय्यदीक्षित

[1] का० प्र० १८३ [2] का० अ० ४

ने अपने ग्रन्थ में एक सौ चौबीस अलंकारों का प्रतिपादन किया है। अतएव इस प्रसंग में स्वाभाविक रूप से प्रश्न यह उठता है कि क्या भरतमुनि को केवल चार अलंकारों का ही ज्ञान था ? क्या भरतमुनि के पूर्व नाटकों की भाषा इतनी अधिक मात्रा में अनलंकृता थी ? साहित्य का इतिहास इस मान्यता को प्रमाणित नहीं करता है। हम यह पहले कह चुके हैं कि भरतमुनिकृत नाट्य-शास्त्र का वर्तमान स्वरूप ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रचा गया था। हम ऐसी अनेक नाट्यकृतियों को जानते हैं जिनकी रचना ईसा की पाँचवीं शताब्दी से पूर्व की गई थी—जैसे भास के नाटक। हम इन नाटकों में उन अलंकारों से अधिक अलंकारों को पाते हैं जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र के लेखक ने किया है। अतएव इस विषय में प्रश्न यह उठता है कि अलंकारों का प्रतिपादन करने के पूर्व भरतमुनि ने क्या सभी साहित्यिक तथ्यों पर विचार नहीं किया था ? परन्तु नाट्यशास्त्र का गम्भीरता से अध्ययन करने पर हमको एक दूसरी ही बात ज्ञात होती है।

इसको निम्नलिखित रूप में कहा जा सकता है :—

भरतमुनि ने अलंकार और लक्षण में भेद का प्रतिपादन किया है। भरतमुनि के मतानुसार अलंकारों की संख्या चार है परन्तु लक्षणों की संख्या छत्तीस है।

षट्त्रिंशत् लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत्—(ना० शा० २००)

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र के चौखम्बा संस्करण का ग्रंथपाठ उस ग्रंथपाठ से भिन्न है जो गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़ में प्रकाशित अभिनव भारती में उपलब्ध है। अभिनव भारती के इस संस्करण में नाट्यशास्त्र का मूल पाठ प्रत्येक पृष्ठ के पूर्वार्ध भाग में मुद्रित है। नाट्यशास्त्र के चौखम्बा संस्करण के पाठ को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। अभिनव भारती का ग्रन्थपाठ निम्नलिखित है :—

षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसम्मतानि।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु॥
(अभि० भा० भाग २–२९५)

उपर्युक्त मूलपाठ की टीका लिखते हुए अभिनवगुप्त ने लक्षण की परिभाषा इसके आधार पर की है तथा इससे अधिक और क्या हो सकता है कि इस विषय में उन्होंने भामहलिखित श्लोक को उद्धृत किया है :—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
(का० अ० अध्याय २ श्लो० ८५)

वस्तुतः लक्षणप्रतिपादक अध्याय के पूर्व भाग के दो विभिन्न पाठ थे। दोनों संस्करणों में इन दोनों पाठों को मुद्रित किया गया है।

परन्तु भामह के समान अलंकारशास्त्र के प्रणेताओं ने अलंकार तथा लक्षण के इस भेद की ओर से उदासीन होकर सभी लक्षणों को अलंकारों के स्वरूप में प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त का यह मत है कि भरतमुनि ने इस सूची में सभी लक्षणों की गणना नहीं की है। अतएव यह कहना ठीक नहीं होगा कि अलंकारशास्त्र के लेखकों ने किसी भी ऐसे नए अलंकार का आविष्कार किया था जिससे भरतमुनि अनभिज्ञ थे। अतएव इस प्रसंग में वे भरतमुनि के सब प्रकार से आभारी हैं।

लक्षण तथा अलंकार में भेद

भरतमुनि ने लक्षण एवं अलंकार के भेद का प्रतिपादन उस प्रक्रिया के विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर किया है जिससे कवि प्रतिभा में भासमान वस्तु भाषा में प्रकट की जाती है एवं पाठक को उसका बोध होता है। तात्विक रूप से अलंकार, गुण, वृत्ति और लक्षण में परस्पर कोई भेद नहीं है। वस्तुतः दण्डी कुछ अलंकारों की गणना काव्य के गुणों के अन्तर्गत करते हैं। परन्तु भेद को प्रतिपादित करने का प्रयोजन काव्यरचना एवं काव्यास्वादन[1] को सरल बनाना है। भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ के जिस श्लोक में लक्षण की परिभाषा का उल्लेख किया है उसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त इन विश्लेषणकारियों के पारस्परिक मतभेद को स्पष्ट करते हैं।

अभिनवगुप्त ने काव्य रचना के विभिन्न क्रमों की तुलना प्रासाद रचना के क्रमों से की है। उनके मतानुसार काव्य-रचनाओं में लक्षणों का प्रयोग भित्ति रचना के समान है और उनमें अलंकारों का प्रयोग भित्तिचित्र रचना के तुल्य है।[2] अतएव अलंकारों की आधारभूमि लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त रमणी के स्तनों[3] की पीनता तथा कटि की क्षीणता के समान लक्षण काव्य-वस्तु की वे सुन्दर विशेषतायें हैं जो काव्य वस्तु में उसके आवश्यक अंशरूप में वर्तमान

[1] अभि० भा० भाग २–२९५
[2] अभि० भा० भाग २–२९२ [3] अभि० भा० भाग २–२९७

होती हैं। परन्तु अलंकार काव्य में प्रकटनीय वस्तु से भिन्न है जैसे कि वह चन्द्रमा जिसका प्रयोग काव्य में उस सुन्दर मुख के उपमान के रूप में किया जाता है जिसका वर्णन भाषा में किया गया है। काव्य में अलंकार उस माला के समान है जो अलंकार्य शरीर[1] से भिन्न होता है। परन्तु लक्षण स्वयं शारीरिक सुन्दर विशेषता के तुल्य है जो बिना अलंकारों के भी सुन्दर है।

लक्षण की परिभाषा

लक्षण वह अर्थ है जो कवि-व्यापार की प्रकटीकरण की प्रक्रिया से ऐसे विलक्षण आनन्दप्रद रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है कि वह अर्थ अपने सामान्य लौकिक स्वरूप से भिन्न[2] ज्ञात होने लगता है और अपने इस विलक्षण स्वरूप में यह अर्थ रस का एक समुचित विधायक अङ्ग बन कर रसानुभव को उत्पन्न करने में सहायक होता है। भरतमुनि के मतानुसार उस काव्य[3] के, जिसका एकमात्र प्रयोजन रसोत्पादक भावों[4] को प्रकट करना है, ये लक्षण सर्वाधिक आवश्यक विधायक तत्त्व होते हैं। क्योंकि इन्हीं लक्षणों के कारण रसात्मक काव्य का अरसात्मक काव्य से भेद स्पष्ट हो जाता है।

भरतमुनि के मतानुसार लक्षण छत्तीस प्रकार के हैं। परन्तु इस सूची में लक्षण के सभी भेदों[5] की गणना नहीं की गई है। इस सूची में उन्हीं लक्षणों का उल्लेख किया गया है जिनका उपयोग साहित्य में सामान्य रूप से किया जाता है। परन्तु सत्य यह है कि लक्षण के भेद असंख्य हैं।

यह वही लक्षण है जिसको अपने काव्यालंकार में भामह ने वक्रोक्ति कहा है और जिसको उन्होंने सभी काव्यालंकारों के सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व रूप में प्रतिपादित किया है। उनके मतानुसार वक्रोक्ति के कारण ही काव्यरूप रचना एवं सामान्य रचना[6] में भेद प्रकट हो जाता है।

भरत मुनि एवं भामह में मतभेद

परन्तु काव्य के स्वरूप के विषय में भरतमुनि और भामह में मतभेद है। भरतमुनि के मतानुसार केवल वही रचना काव्य है जिसमें कविव्यापार के साधन से नायक से सम्बन्धित रसोत्पादक विभाव, अनुभावों तथा व्यभिचारि

[1] अभि० भा० भाग २–३२१ [2] अभि० भा० भाग २–३२१
[3] अभि० भा० भाग २–२९८ [4] अभि० भा० भाग २–२९५–९८
[5] अभि० भा० भाग २–२९८ [6] अभि० भा० भाग २–२९८

भावों को[1] इस प्रकार से प्रकट करते हैं जिससे स्थायीभाव का आस्वादन संभव होता है। भामह काव्य के विषय में रस को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझते हैं। उनके मतानुसार उस भाषामयी रचना को न्यायसंगत रूप में काव्य कहा जा सकता है जिसमें वक्रोक्ति हो—चाहे उसमें रसानुभावक पूर्ण सामग्री का वर्णन किया गया हो अथवा न किया गया हो।

वस्तुतः भामह अलंकारशास्त्रीय पूर्ववर्ती ज्ञानपरम्परा का अनुसरण करते हैं जो कि नाट्यशास्त्रीय प्राचीन ज्ञानधारा से भिन्न है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने जब तक अपने ग्रन्थों की रचना नहीं की थी तब तक काव्य में रस का सर्वाधिक महत्व मान्य नहीं हो पाया था।

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भाषामयी उस रचना को सुनने से भी एक प्रकार का आनन्दानुभव प्राप्त किया जा सकता है जिसमें कवि प्रतिभा से साक्षात्कृत रसानुभावक सामग्री के एक ही तत्त्व को प्रकट किया गया है। यह दूसरी बात है कि रसानुभावक पूर्ण सामग्री समुदाय का अनुभव रसानुभावक सामग्री के एक अंश के अनुभव से भिन्न स्वरूप होता है। इस भिन्नता को परवर्ती समय में सम्भवतः सर्वप्रथम आनन्दवर्धनाचार्य ने देखा था। अतएव अलंकारशास्त्र के वे आदि प्रणेता जिनका अनुसरण भामह ने किया था वक्रोक्ति को काव्य का सर्वाधिक[2] मूल तत्त्व मानते थे चाहे उसमें रसानुभावक पूर्ण सामग्री समुदाय का वर्णन किया गया हो अथवा नहीं।

वक्रोक्ति के अन्य स्वरूप

परन्तु दण्डी ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग एक कोटि के काव्यालंकारों के अर्थ में किया है। उनके मतानुसार अर्थालंकार दो प्रकार के होते हैं :—(१) प्राकृतिकताप्रधान अर्थात् स्वभावोक्ति एवं (२) कृत्रिमताप्रधान अर्थात् वक्रोक्ति। उनके उपरान्त इस शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में किया जाने लगा। यह शब्द एक विशेष काव्यालंकार का नाम हो गया। वामन वे प्रथम शास्त्रकार थे जिन्होंने एक विशेष काव्यालंकार के लिये वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया था। उनके मतानुसार वक्रोक्ति वह काव्यालंकार है जिसमें एक शब्द का प्रयोग लाक्षणिकार्थ में इसलिए किया जाता है क्योंकि कवि उस शब्द को ऐसा एक अर्थ प्रदान करता है जो उस शब्द के अभिधेयार्थ के सदृश[3] है।

---

[1] अभि० भा० भाग २–२९७ [2] का० अ० १७

[3] का० लं० सू० वृ० १२९

परन्तु भोज ने अपने सरस्वती कण्ठाभरण ग्रन्थ में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग वाकोवाक्य अलंकार की एक उपकोटि के अर्थ में किया है जिसमें दो व्यक्ति वार्त्तालाप करते हुए एक दूसरे के कथन को जानबूझ कर गलत[1] समझते हुए प्रदर्शित किये जाते हैं। रुय्यक एवं अलंकारशास्त्र के अन्य ग्रन्थकार भोज का ही अनुसरण करते हैं। परवर्ती लेखकों में अकेले कुन्तक ही ऐसे शास्त्रकार हैं जिन्होंने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में भामह ने उसका प्रयोग किया था।

भामह की संक्षिप्त व्याख्याकारिता

स्वयं अपने कथन के अनुसार भामह का प्रतिपाद्य विषय उन सब प्रकारों की रचनाओं का मूल तत्त्व है जिनको वे काव्य मानते हैं। उनके मतानुसार कलाओं में से किसी एक कला के विषय में लिखा गया ग्रन्थ तथा किसी शास्त्रीय वस्तु की व्याख्या करने[2] वाला ग्रंथ काव्य है। और एक महाकाव्य उतना ही काव्य है जितना कि मुक्तक श्लोक तथा गाथायें काव्य होती हैं। मुक्तक श्लोकों तथा गाथाओं को वे अनिबद्ध[3] कहते हैं। स्वलिखित सूची में काव्य के जिन प्रकारों की गणना उन्होंने की है उनमें एक दूसरे से अधिक उत्तम अथवा प्रधान काव्य कौन सा है ? इस प्रश्न के उत्तर का उल्लेख भामह ने नहीं किया है। वे केवल इतना ही कहते हैं कि इन सब प्रकारों के काव्यों का विशेष गुण शब्द और अर्थ में वक्रोक्ति का किसी न किसी अंश में वर्तमान होना है। उन्होंने केवल अन्य प्रकार की रचनाओं का उल्लेख मात्र किया है। उनकी विशिष्टता विधायक विशेषताओं का कोई भी उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। केवल उनकी प्रत्यक्ष विशेषताओं का वर्णन किया है। रस की चर्चा वे केवल महाकाव्य के प्रसंग में ही करते हैं। नाटक के विषय में भामह ने कुछ भी नहीं लिखा है। क्योंकि भामह ने स्वयं यह लिखा है कि नाटक के विषय में अन्य शास्त्रकार अत्यन्त विशद रूप में लिख चुके हैं। 'अन्य शास्त्रकारों' से उनका अभिप्राय भरतमुनि तथा उनके अनुयायी शास्त्रकारों से है। अतएव काव्य के स्वरूप के विषय में भामह का मत यह ज्ञात होता है कि विभिन्न प्रकारों के काव्यों की परस्पर उत्कृष्टता एवं अधमता के प्रश्न को अलग रख कर यदि भाषामयी रचनाओं पर विचार किया जाय तो उन सब रचनाओं को जिनमें वक्रोक्ति

---

[1] स० कं० २९६ [2] का० अ० २

[3] का० अ० ४

वर्तमान है 'काव्य' कहा जा सकता है। काव्य की यह परिभाषा उचित ही है। यह काव्य की अत्यन्त व्यापक परिभाषा है। इसकी निर्दोषता पर किसी भी परवर्ती शास्त्रकार ने कोई आपत्ति नहीं उठाई है। यहाँ तक कि रस तथा ध्वनि-सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक अभिनवगुप्त ने भी काव्य की उक्त व्यापक परिभाषा को सर्वथा दोषहीन माना है। रस तथा ध्वनि सिद्धान्तों के आधार पर ही सर्वाधिक अर्वाचीन काव्य-परिभाषाओं की रचना की गई है—जैसे 'काव्यम् रसात्मकं वाक्यम्' 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। परवर्ती शास्त्रकारों ने केवल इतना ही किया है कि उन्होंने विभिन्न प्रकारों के काव्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है। (१) वह काव्य उत्तम कोटि का है जिसमें ध्वन्यर्थ प्रधान है—ऐसे काव्य को शास्त्रीय भाषा में ध्वनिकाव्य कहते हैं। (२) वह काव्य मध्यम कोटि का है जिसमें ध्वन्यर्थ अप्रधानस्वरूप है। ऐसे काव्य को शास्त्रीय भाषा में गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहते हैं। (३) वह काव्य अधम कोटि का है जिसमें ध्वन्यर्थ का सर्वथा अभाव है। इस काव्य को शास्त्रीय भाषा में चित्र-काव्य कहते हैं।

दण्डी के मतानुसार काव्य का स्वरूप

ऐतिहासिक एवं काव्य के तात्त्विक स्वरूप के ज्ञान के विकासक्रम सम्बन्धी दोनों दृष्टिकोणों से भामह के उपरान्त दण्डी का नाम आता है। काव्य के शरीर के स्वरूप के विषय में उनका मत वही है जो भामह का है। केवल उनकी भाषा भामह की भाषा की अपेक्षा इस विषय में अधिक स्पष्ट और निर्दोष है। परन्तु निम्नलिखित बातों में वे भामह से मतभेद रखते हैं।

१. प्रादेशिक काव्य के विषय में उनका अध्ययन भामह से अधिक गम्भीर तथा व्यापक है। यही कारण है कि भामह ने (१) वैदर्भ एवं (२) गौडीय[1] रीतियों में परस्पर किसी भेद का प्रतिपादन नहीं किया है—और इनके परस्पर भेद के स्वीकार को वे अज्ञानजनित ही मानते हैं। परन्तु दण्डी ने विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर इन रीतियों के परस्पर भेद को[2] सदा के लिए स्थापित कर दिया है।

२. दण्डी पर भामह से अधिक भरतमुनि के नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है। क्योंकि भामह अपने ग्रन्थ में केवल तीन काव्य गुणों की चर्चा करते हैं और उनको काव्य के मूल तत्त्व नहीं मानते हैं। परन्तु दण्डी ने भरत-

[1] का० अ० ४ [2] का० द० ३९

मुनि से प्रतिपादित दसों गुणों को स्वीकार करते हुए यह कहा है कि ये गुण वैदर्भी रीति के प्राण[1] के समान हैं।

३. भामह के मतानुसार केवल महाकाव्य में ही 'रस' स्वतन्त्र रूप में चित्रित होता है। अन्य प्रकार के काव्यों में यह रस प्रेयस्, रसवत् आदि काव्यालङ्कारों में गौणरूप से ही रहता है। परन्तु माधुर्य्य नामक काव्यगुण के स्वरूप का प्रतिपादन दण्डी ने ऐसा किया है जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने सब प्रकार के काव्यों में रस की महत्ता का पता लगा लिया था। क्योंकि दण्डी के मतानुसार उस माधुर्य गुण की उत्पत्ति जो वैदर्भी रीति का प्राणस्वरूप है रचना[2] में ऐसे शब्दों तथा अर्थों की सत्ता के कारण होती है जो रसोत्पादक हैं।

अतएव ज्ञात यह होता है कि दण्डी का साहित्यसमीक्षा का सैद्धान्तिक सम्प्रदाय भामह के सम्प्रदाय से अधिक उन्नत रूप में विकसित था।

काव्यगुणविषयक मतभेद की व्याख्या

काव्यगुणों के विषय में दो मत हैं। एक मत के अनुसार ये गुण या तो शब्द के होते हैं या अर्थ के होते हैं या दोनों के होते हैं। दूसरे मत के अनुसार ये गुण रसानुभव के समय आत्मा के गुणों के रूप में विद्यमान होते हैं। (गुणास्तावदात्मनि चिन्मये शृङ्गारादौ वर्तन्ते अ० भा०, भा० २, २९५)। इसके अतिरिक्त जो शास्त्रकार उक्त प्रथम मत के प्रतिपादक हैं उनके भी दो संप्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय का मत यह है कि उनसे लिखित एवं परिभाषित सभी दस गुण शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्धित हैं। इस सम्प्रदाय में भरतमुनि, वामन तथा अभिनवगुप्त हैं। दूसरे सम्प्रदाय का मत यह है कि दस गुणों में से श्लेष जैसे कुछ गुण शब्दों से, प्रसाद जैसे कुछ गुण अर्थों से एवं कुछ गुण दोनों अर्थात् शब्दों तथा अर्थों से सम्बन्धित हैं। दण्डी इसी मत के प्रतिपादक हैं।

इन गुणों की संख्या के विषय में भी दो परस्पर भिन्न मत हैं। एक मत के अनुसार काव्य-गुण संख्या में तीन हैं—अर्थात् प्रसाद, माधुर्य एवं ओजस्। वर्तमान समय में प्राप्य काव्यलक्षण-शास्त्र विषयक साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ भामहकृत काव्यालङ्कार में इस मत का उल्लेख किया गया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने इस मत को अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में, स्वीकार किया है और मम्मट ने काव्य-प्रकाश में वामन प्रतिपादित दस गुणों के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए तीन गुणों के सिद्धान्त को मान्य ठहराया है। दूसरे मत के अनुसार

[1] का० द० ४० [2] का० द० ५०

गुणों की संख्या दस है। ज्ञात शास्त्रकारों में से सर्वाधिक प्राचीन शास्त्रकार भरतमुनि ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस प्रसंग में भरतमुनि का अनुसरण वामन, दण्डी आदि करते हैं।

काव्य गुणों की संख्या एवं उनके सम्बन्ध के प्रसंग में अभिनवगुप्त के मत ध्यान देने योग्य हैं। अभिनवगुप्त ने काव्य गुणों का प्रतिपादन दो ग्रन्थों पर की हुई स्वरचित टीकाओं में किया है। एक ग्रन्थ भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्र' है जिसका विषय नाट्य है और दूसरा ग्रन्थ आनन्दवर्धनाचार्यकृत ध्वन्यालोक है। नाट्य-शास्त्र की टीका अर्थात् अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने इस मत का प्रतिपादन किया है और उसको दोषहीन सिद्ध किया है कि गुणों की संख्या दस है और उनका सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ दोनों के साथ है। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य यह है कि दस गुणों का प्रतिपादन करने में उन्होंने वामन का अनुसरण किया है। क्योंकि गुणविषयक भरतमुनि के सूत्रों की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने वामन के तद्विषयक सूत्रों के सार अर्थ को ही केवल नहीं लिखा है वरन् गुणों के स्वरूपों को स्पष्ट करने के लिए जो दृष्टान्त वामन ने दिये हैं उन्हीं को दृष्टान्त रूप में अभिनवगुप्त ने भी लिखा है। परन्तु दूसरे ग्रन्थ की टीका अर्थात् लोचन में अभिनवगुप्त ने काव्य के तीन गुणों को ही प्रतिपादित किया है और यह माना है कि इन गुणों का सम्बन्ध रसानुभव से है और इसलिए ये गुण रसानुभव के समय चित्त अथवा आत्मा की विशेष दशाओं के रूप में होते हैं।

ज्ञात यह होता है कि काव्यगुणों के विषय में दो प्राचीन परस्पर स्वतन्त्र मत थे। उनमें से एक का प्रतिपादन भरतमुनि ने और दूसरे का प्रतिपादन भामह ने किया था। भरतमुनि नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के थे और भामह काव्यलक्षणशास्त्र के सम्प्रदाय के थे। जैसा कि अभिनवगुप्त[१] ने लिखा है वास्तविकता यह है कि काव्यरचना के साधनों का जो वर्गीकरण किया गया है वह किसी एक सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। इस वर्गीकरण का प्रयोजन केवल काव्य की रचना में निपुणता प्राप्त करने के इच्छुक आरम्भिक विद्यार्थियों को शिक्षा मात्र देना ही है। अतएव दो प्राचीन शास्त्रकारों ने कवि-प्रतिभा द्वारा साक्षात्कृत वस्तु के प्रकटीकरण के साधनों को दो वर्गों अर्थात् काव्यालंकारों एवं काव्यगुणों में विभाजित किया था। यह विभाजन उन शास्त्रकारों ने अपनी-अपनी इस समझ के अनुसार किया था कि काव्यरचना के साधनों में कौन से साधन मूलरूप से प्रधान हैं और कौन से अप्रधान हैं। दोनों शास्त्रकारों में इस

[१] अभि० भा० भाग २—२९५

विषय में मतभेद था कि काव्यरचना के दो प्रकार के साधन-समुदायों में से कौन सा समुदाय अधिक आवश्यक है। भरतमुनि के मतानुसार काव्य के लिए[1] काव्यगुण मूल रूप से आवश्यक हैं जब कि काव्य के अलंकार मूल रूप से आवश्यक नहीं हैं। अतएव काव्यरचना के कुछ साधनों को, जिनकी गणना अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने अलंकारों की सूची में की है, नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्यगुणों की सूची में की है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में काव्यगुणों की संख्या अधिक प्रतिपादित की गई है। परन्तु दूसरी ओर काव्य-लक्षणशास्त्र के आचार्यों ने इस मत को स्थापित किया था कि काव्य[2] के लिए काव्यालंकार प्रधान तत्त्व हैं। अतएव उन्होंने अपनी अलंकारसूची में काव्य-रचना के उन कुछ साधनों को सम्मिलित कर लिया जिनको नाट्यशास्त्र के आचार्य स्वप्रतिपादित काव्यगुणों की सूची में गिनते थे।

नाट्यशास्त्रकारों एवं काव्यलक्षणशास्त्रकारों में परस्पर इस विषय में मतभेद है कि काव्यगुणों का सम्बन्ध विशिष्ट रूप में शब्द और अर्थ के साथ है अथवा रसानुभव के साथ है। इस मतभेद का भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। जिस समय काव्यलक्षणशास्त्र के आचार्य यह प्रतिपादित करते हैं कि काव्यगुणों का शब्द और अर्थ के साथ विशेषणविशेष्य सम्बन्ध है तो वे केवल सामान्य प्राचीन मत का अनुसरण करते हुए ही ऐसा कहते हैं। उनके मत के अनुसार माधुर्य आदि काव्यगुण उसी प्रकार से शब्द एवं अर्थ के गुण हैं जिस प्रकार से सामान्य भाषा में यह कहा जाता है कि मिठास दूध का गुण है। पर रस-सिद्धान्त के परवर्ती प्रतिपादक अद्वैत शैवमत के दृष्टिकोण से यह कहते हैं कि काव्यगुणों का सम्बन्ध रसानुभव के साथ है तो वे यह दार्शनिक सिद्धान्त के मतानुसार कहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि काव्य की मधुरता अनुभव-स्वरूप होती है अतएव शब्द अथवा अर्थ में इसकी सत्ता सम्भव नहीं है, परन्तु इसी प्रकार की दूध की भी मधुरता होती है। क्या कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि दूध की मिठास की बात करना अर्थहीन है? इस प्रकार से ज्ञात यह होता है कि काव्यगुणों के सम्बन्ध के विषय में जो मतभेद काव्यलक्षणशास्त्र-कारों तथा नाट्यशास्त्र के प्रतिपादकों में वर्तमान है उसका कारण उनकी अपने दृष्टिकोण की भिन्नता ही है। अपने अपने दृष्टिकोणों से दोनों ने ही वास्तविकता का प्रतिपादन किया है।

---

[1] अभि० भा० भाग २–३२२ [2] का० अ० २

वामन के मतानुसार काव्य का स्वरूप

इतिहास एवं काव्यस्वरूप के तात्त्विक ज्ञान के विकासक्रम के अनुसार दण्डी के उपरान्त वामन का नाम आता है। काव्य के तात्त्विक स्वरूप के विषय में वामन का सिद्धान्त भामह से बहुत अधिक विकसित तथा उन्नत है। संस्कृत काव्यलक्षणशास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम वामन ने ही काव्यशरीर से भिन्न काव्यात्मा की चर्चा अपने ग्रन्थ में की है। काव्य के शरीर के विषय में वामन का मत भामह[1] के समान ही है। परन्तु रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते हुए उन्होंने[2] केवल वक्रोक्ति को ही नहीं वरन् रस को भी काव्य का प्रधान तत्व स्वीकार किया है।

वामन के मतानुसार भाषामयी रचना की विलक्षण शैली अथवा उसकी विशिष्टता ही रीति है। निम्नलिखित विशेषतायें जिनको शास्त्रीय भाषा में गुण कहते हैं उसकी विलक्षणता के विधायक हैं :—

(१) ओजस् (२) प्रसाद (३) श्लेष (४) समता (५) समाधि (६) माधुर्य (७) सौकुमार्य (८) उदारता (९) अर्थव्यक्ति एवं (१०) कान्ति[3]।

ये गुण समान रूप से शब्द और अर्थ दोनों के हैं। और वामन के मतानुसार सर्वोत्तम काव्य वह है जिसमें उपर्युक्त दसों गुण वर्तमान हों। यही कारण है कि वे काव्य में वैदर्भी[4] रीति का अनुसरण करने की शिक्षा अपने ग्रन्थ में देते हैं। क्योंकि वैदर्भी रीति सर्वगुणसम्पन्न[5] है। गौडीय एवं पाँचाली दोनों रीतियों को वे इसलिए उपादेय स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनमें उपर्युक्त गुणों में से केवल कुछ गुण ही वर्तमान होते हैं।

दसों गुणों की परिभाषा का उल्लेख वामन ने अपने ग्रन्थ में किया है। उनमें से दो गुणों की परिभाषाओं को स्पष्ट रूप से यहां पर लिखने की आवश्यकता है। इन दो गुणों की परिभाषाओं में से एक गुण की परिभाषा ऐसी है जो उनसे प्रतिपादित काव्यस्वरूप को भामहकथित काव्यस्वरूप के समकक्ष बना देती है और दूसरे गुण की परिभाषा इस प्रकार की है जो उनके काव्य के तात्त्विक स्वरूप के ज्ञान को भामह के तद्विषयक ज्ञान की अपेक्षा अधिक विकसित तथा उन्नत सिद्ध कर देती है। इन दो गुणों में से एक गुण माधुर्य

[1] का० सू० ५ [2] का० सू० १४
[3] का० सू० ७० [4] का० सू० २०
[5] का० सू० २१

है और दूसरा गुण कान्ति है। भामह के मतानुसार काव्य का सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व जो वक्रोक्ति है वह वामन के मतानुसार काव्य के माधुर्य गुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि वामनलिखित परिभाषा के अनुसार एक अर्थ अथवा भाव को इस प्रकार से प्रकट करना कि उसमें एक रुचिकारी[1] अपना वैचित्र्य उत्पन्न हो जाय, काव्य का माधुर्य गुण है। वक्रोक्ति शब्द का भामह ठीक यही अर्थ लगाते हैं। भामह के यशस्वी अनुयायी कुन्तक ने वैचित्र्य तथा वक्रत्व को समानार्थक शब्द माना है। वामन ने कान्ति गुण की जो परिभाषा लिखी है उसके अनुसार वामनप्रतिपादित काव्य का स्वरूप अधिक विकसित अथवा उन्नत सिद्ध होता है क्योंकि काव्य में कान्ति गुण की उत्पत्ति, भरतमुनि से प्रतिपादित किए गए रस के अनुभव को उत्पन्न करने वाले सामग्री-समुदाय को प्रकट करने से ही होती है। और यह रस काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है। विविध रसों को सुस्पष्ट रूप में प्रकट करना ही काव्य में कान्ति[2] गुण है।

वामन का मौलिकत्व

वामन ने जिस काव्यसिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वह पूर्ववर्ती काव्यलक्षणशास्त्र के प्रतिपादकों के सिद्धान्त से निम्नलिखित बातों में अधिक विकसित था:—

(१) उन्होंने अपने काव्य के तात्त्विक स्वरूप के प्रतिपादन में काव्यगुणों को भी उल्लिखित किया था। वामन के मतानुसार भामह प्रतिपादित काव्य स्वरूप विषयक यह सिद्धान्त कि 'काव्य केवल वक्रोक्तियुक्त शब्दों एवं अर्थों का शरीर मात्र है' ठीक नहीं है। उनके मतानुसार अलङ्कारों एवं गुणों[3] द्वारा सुसंस्कृत शब्दों का शरीर काव्य है।

(२) प्रादेशिक काव्यरचनाओं का उनका अध्ययन अधिक व्यापक तथा गम्भीर था। दण्डी केवल दो प्रदेशों अर्थात् विदर्भ तथा गौड़—के काव्यों की विशेषताओं का उल्लेख स्पष्ट रूप से अपने ग्रन्थ में कर सके थे। परन्तु वामन ने पांचाल[4] प्रदेश के काव्य का भी अध्ययन किया था और उसकी विशेषताओं को स्पष्टरूप से लिखा था। इस प्रकार से वामन तीन प्रादेशिक रीतियों के प्रतिपादक थे।

---

[1] का० सू० ९२ [2] का० सू० ९४
[3] का० सू० ५ [4] का० सू० १५

(३) भारतीय साहित्यसमीक्षा के काव्यलक्षण विभाग के इतिहास में वामन ने सर्वप्रथम काव्य की आत्मा (काव्यस्यात्मा) की चर्चा की और यह प्रतिपादित किया कि काव्य की आत्मा रीति[१] है।

(४) वामन ने काव्य में अलङ्कारों एवं गुणों के परस्पर आपेक्षिक महत्व का निर्णय कर दिया था। भामह ने काव्य के स्वरूप को मुग्धकारी रूप में सुसज्जिता रमणी के समान प्रतिपादित किया था। क्योंकि भामह के मतानुसार काव्य के शरीर को काव्यालंकार उसी प्रकार से शोभित करते हैं जैसे एक सुन्दर रमणी के शरीर को अलङ्कार शोभित करते हैं। अलङ्कारों से शून्य होने पर एक सुंदर नारी भी सुन्दर नहीं दिखाई देती है। काव्य स्वरूप के विषय में वामन ने सुसज्जिता रमणी को उपमान नहीं स्वीकार किया है। वे काव्य को अलंकृता रमणी के समान न मान कर एक चित्र के समान मानते हैं। और उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में अलङ्कारों तथा गुणों का आपेक्षिक महत्व वही है जो चित्र[२] में क्रमशः रङ्गों एवं रेखाओं का आपेक्षिक महत्व है। जिस प्रकार से आकृति की रचना करनेवाली रेखायें चित्र के सौन्दर्य का आधार होती हैं और रंग केवल उस सौन्दर्य को और भी बढ़ाने वाले ही होते हैं उसी प्रकार से काव्यकृति के सौन्दर्य का आधार रीतियों के आवश्यक तत्वों-स्वरूप काव्य के गुण हैं और काव्यालङ्कार केवल उस सौन्दर्य को बढ़ाने वाले[३] ही होते हैं। काव्यालङ्कारों के महत्व के विषय में यह मत दण्डी के उस मत का विरोधी ज्ञात होता है जिसके अनुसार काव्यालङ्कारों को काव्यसौन्दर्य का कारण मानते हैं (काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते) का० द० १००

परन्तु वामन के मतानुसार बिना काव्यगुणों[४] के कोई भी काव्य-सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

(५) भरतमुनि के नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय का प्रभाव वामन पर दण्डी से भी अधिक पड़ा था। क्योंकि भरतमुनि से प्रतिपादित दस गुणों को ही वामन केवल स्वीकार नहीं करते हैं वरन् वे यह भी मानते हैं कि सन्दर्भों में नाटक सर्वोत्कृष्ट[५] है।

(६) अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका लोचन में यह स्वयं लिखा है कि अन्य आलङ्कारिकों की अपेक्षा वामन का ध्वनिविषयक मत अधिक

---

[१] का० सू० १४ [२] का० सू० २०

[३] का० सू० ६८–९ [४] का० सू० ७०

[५] का० सू० ८५

सारगर्भित है। वामन की गणना उन शास्त्रकारों की सूची में नहीं की जाती जो 'ध्वन्यर्थ' को सर्वथा अस्तित्वहीन मानते हैं। वामन उन शास्त्रकारों में से एक हैं जो यह मानते हैं कि ध्वन्यर्थ का अस्तित्व तो है परन्तु यह प्रतिपादित करते हैं कि भाषा की लक्षणा शक्ति से ही ध्वन्यर्थ का बोध[1] हो सकता है।

उद्भट के मतानुसार काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप के विषय में उद्भट का मत काव्यलक्षणशास्त्रीय एवं नाट्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों के परम्परागत भेद की अन्तिम क्रमदशा का परिचायक है। हम यह जान चुके हैं कि जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे भरत मुनि द्वारा व्याख्यात नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय की मान्यताएं एवं सिद्धान्त काव्यलक्षणशास्त्र के संप्रदाय की व्याख्या करने वाले शास्त्रकारों से शनैः शनैः मान्य होते गये थे और नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से जो उनका विरोध था वह दुर्बल होता गया था। सर्वप्रथम भामह ने यह प्रतिपादित किया कि काव्यरचना का विशेष लक्षण वक्रोक्ति मात्र ही है। बिना वक्रोक्ति के काव्य काव्य ही नहीं हो सकता। भामह के उपरान्त दण्डी ने यह प्रतिपादित किया कि काव्यगुण प्रधानतः काव्यरचना के विधायक मूल तत्त्व हैं। दण्डी के उपरान्त वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। वामन के उपरान्त उद्भट ने काव्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया था। अतएव काव्यस्वरूपविषयक उनका अभिमत उनसे पूर्वकालीन शास्त्रकारों के मतों से अधिक विकसित है। काव्य के तात्त्विक स्वरूप के विषय में जो विकास पूर्व समय से होता चला आ रहा था उसके अन्तिम क्रम का परिचायक तो उद्भट प्रतिपादित काव्यस्वरूप नहीं है फिर भी वह अन्तिम क्रम से एक पूर्व क्रम का द्योतक अवश्य है। क्योंकि उद्भट के उपरान्त काव्य एवं नाटक के स्वरूपों में जो मतभेद पूर्वकाल से चले आ रहे थे वे लगभग सभी नष्ट हो गए थे। केवल एक भेद ऐसा था जो मिट नहीं सका। वह भेद यह था कि नाटक रंगमंच पर प्रदर्शनीय होता है परन्तु काव्य पठनीय मात्र ही होता है।

संक्षिप्त रूप में उद्भटप्रतिपादित काव्यस्वरूपविषयक मान्यताओं की विशेषताओं का उल्लेख निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

---

[1] ध्व० लो० १०

(१) काव्यलक्षणशास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम उन्होंने वृत्तियों अर्थात् १ परुषा, २ उपनागरिका एवं ३ कोमला[1] का उल्लेख किया था।

(२) अभिनवगुप्त के मतानुसार ध्वनि के विषय में उद्‌भट का मत वही है जो वामन का तद्विषयक मत है। अर्थात् उद्‌भट भी यह स्वीकार करते हैं कि 'ध्वन्यर्थ' कहे जाने वाले अर्थ की उत्पत्ति भाषा की लक्षणा शक्ति से हो जाती है।

(३) रस के स्वरूप के विषय में उद्‌भट का मत अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। अभिनवगुप्त ने इस बात का उल्लेख किया है कि उद्‌भट ने भामह कृत काव्यालङ्कार एवं भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र दोनों ग्रन्थों पर टीकायें लिखी थीं। अतएव साहित्यसमीक्षा के काव्यलक्षणशास्त्रीय सम्प्रदाय तथा नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय दोनों के सिद्धान्तों से उनका पूर्ण परिचय था। परन्तु उद्‌भट कृत दोनों टीकायें अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। अतएव उन टीकाओं के आधार पर हम उनके रसविषयक सिद्धान्त का उल्लेख करने में अक्षम हैं। परन्तु उनका काव्यालङ्कार संग्रह नामक मूलग्रन्थ मुद्रित हुआ है। यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में उद्‌भट ने काव्य के लगभग उसी स्वरूप को माना है जिस स्वरूप को भरतमुनि से व्याख्यात नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया था।

रसवत् नामक काव्यालङ्कार के स्वरूप के विषय में उनका मत बहुत कुछ भामह प्रतिपादित तद्विषयक स्वरूप के समान है। जब विभिन्न रसों को (१) स्थायीभावों (२) व्यभिचारिभावों (३) अनुभावों एवं (४) विभावों के मिश्रितरूप समुदाय से स्पष्ट रूप[2] में प्रकट किया जाता है तो उसी को रसवत् अलङ्कार कहते हैं। परन्तु उद्‌भट के मतानुसार रस काव्य की आत्मा नहीं है। यह केवल एक अलङ्कार मात्र है।

परन्तु इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने योग्य है। उद्‌भट ने जिस समय में अपने ग्रन्थों की रचना की थी उस समय तक ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन पर्याप्त रूप में नहीं किया जा सका था। जैसा कि हम कह चुके हैं उद्‌भट को ध्वनि सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय का शास्त्रकार माना गया है। अतएव उद्‌भट के लिए यह मानना स्वाभाविक था कि रसानुभावक

---

[1] का० लं० सं० ४९   [2] का० लं० सं० ४९

मिश्रितरूप समुदाय के सभी अंश यहाँ तक कि स्थायी भाव भी भाषा की लक्षणा शक्ति की सहायता से प्रकट किए जा सकते हैं। ध्वनि सिद्धान्त के समर्थकों ने उपर्युक्त मत का खण्डन अत्यन्त प्रखर रूप में किया है।

उद्भट एवं आनन्दवर्धनाचार्य के रचनाकालों के मध्य में साहित्य समीक्षक ऐसा कोई आचार्य नहीं उत्पन्न हुआ जिसने किसी महत्वपूर्ण मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हो। वस्तुतः अभिनवगुप्त एवं आनन्दवर्धनाचार्य ने अपनी टीकाओं और ग्रन्थों में उपर्युक्त शास्त्रकारों के मतों का ही उल्लेख करते हुए उनकी समीक्षा की है। अतएव हमारे अपने दृष्टिकोण से अन्य शास्त्रकारों के मतों का प्रतिपादन करना और उनकी व्याख्या करना अनावश्यक है।

अध्याय १२

संगीत-कला

संगीत तथा काव्य

काव्य के साथ संगीत का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है[1]। दोनों ही कलायें उस ध्वनि अथवा स्वर का माध्यम रूप से उपयोग समान रूप से करती हैं जो इन्द्रियज्ञेय है। छन्दोबद्ध काव्य का अस्तित्व संगीत की आधारभूमि है। क्योंकि तालयोजन अर्थात् स्वरोच्चारण की समयावधि का निर्धारण एवं स्वरों का उच्चारण अवधि के आधार पर सुव्यवस्थित समूहीकरण उस छान्दिक गति पर निर्भर हैं जो छन्द के एक चरण में लघु एवं गुरु अथवा उदात्त एवं अनुदात्त अक्षरों के सम्बन्ध से निर्धारित होती है। संगीत का प्रयोजन न तो काव्यगत विचार-सौन्दर्य को प्रकट करना है, न काव्यगत अर्थ[2] को प्रकट करना है और न अक्षरों की मधुरता को ही व्यक्त करना है। वस्तुतः भरतमुनि ने यह शास्त्रीय निर्देश दिया है कि केवल काव्यसौन्दर्य से रहित[3] छन्दोबद्ध काव्य को ही गेय स्वरों के रूप में बदलना चाहिए। केवल श्रवणेन्द्रिय को सुखी करने के लिए ही संगीत का उपयोग नहीं करना चाहिए वरन् उन भावों और रसों को प्रकट करने के लिए उसका उपयोग करना चाहिए जिनको किसी कारणवश भाषा[4] में प्रकट करना संभव नहीं है।

काव्य में उच्चारण स्थानों से उत्पन्न की हुई ध्वनियाँ उन विचारों की प्रतीक मात्र ही होती हैं जिनके साथ परम्परागत रूप में वे ध्वनियाँ सम्बन्धित हैं। ये ध्वनियां प्रकटनीय विचारों के चिह्न के रूप में ही होती हैं। अपने आप में इन ध्वनियों की कोई सार्थकता नहीं होती। अपने आप में ये ध्वनियां बाह्यरूप तथा विषय रूप होती हैं। ये ध्वनियाँ जिनकी प्रतीक मात्र होती हैं वे विचार भी उन ध्वनियों से कम मात्रा में विषय रूप नहीं होते हैं, क्योंकि कल्पना प्रधान अन्तःकरण के सामने वे विषयरूप में उपस्थित होते हैं और अभीष्ट प्रतिक्रिया (Necessary reaction) को पाठक के अन्तःकरण में जागृत करने के लिए इन विचारों के सभी अभिप्रेत अंशों को प्रकटित किया जाता है। परन्तु संगीत के स्वर मानवीय भावों को अव्यवहित अथवा प्रत्यक्ष

---

[1] फिल० आ० भाग ३–३५२ [2] अभि० भा० अ० २९ श्लो० ४७

[3] अभि० भा० भाग २–२८७

[4] अभि० भा० अ० ३२ श्लो० ३५१

रूप से प्रकट करते हैं। संगीत के ये स्वर विचारों को प्रकट करने के लिए प्रतीक स्वरूप नहीं होते। संगीत रूप स्वर आत्म-जीवन (Soul-life) के तात्कालिक मूर्तरूप हैं और चैतन्यस्वरूप जीव की कल्पनाशक्ति (ideality) की आधारभूमि पर निर्भर हैं। उनकी सत्ता अन्तर्लोक के लिए ही होती है। वे अन्तःकरण की गहराइयों में ध्वनित होते हैं। स्वरों और भाव के बीच में किसी अर्थ-बोध की उत्पत्ति नहीं होती। वे भावोत्पत्ति के तात्कालिक अव्यवहित कारण होते हैं। संगीतगत स्वर की तात्कालिक भावोत्पादकता के कारण ही संगीत काव्य से अधिक व्यापक रूप में हृदयग्राही होता है। क्योंकि काव्य उन्हीं को प्रभावित करता है जिनमें अभिधेयार्थ के ज्ञान के कारण काव्य को सुनने अथवा पढ़ने से अर्थों अथवा विचारों का अबाध एवं विशाल प्रवाह उद्भूत हो सकता है। परन्तु संगीत अपनी ओर सबको आकर्षित करता है, क्योंकि संगीत के स्वर उस श्रोता को भी प्रभावित कर सकते हैं जो अभिधेयार्थ के ज्ञान से सर्वथा रहित है। यही कारण है कि संगीत गोद के दुधमुंहे शिशुओं को प्रभावित करता है और मृगों एवं सर्पों को भी प्रभावित करता है।

संगीत कला का इतिहास और विकास

गत उपप्रकरण में हम यह कह चुके हैं कि संगीत कला का आधार छन्दोबद्ध काव्य है। इस कथन की सत्यता उस सामवेद से प्रमाणित होती है जो मानव जाति का सर्वाधिक प्राचीन प्राप्त ग्रन्थ है। क्योंकि सामवेद के सामन् अथवा गीत लगभग पूर्णांश में ऋग्वेद से ली गई ऋचायें अथवा मन्त्र हैं। वेद-रचना के समय से लेकर वर्तमान समय तक भारतीय संगीत कला का इतिहास सतत प्रवाह के रूप में चला आ रहा है। स्वयं ऋग्वेद के दसवें मंडल[१] में 'सामन्' का उल्लेख प्राप्त होता है। यजुर्वेद में वैराज[२], बृहत्, रथन्तर[३], एवं अन्य बहुत से[४] विशेष सामनों का उल्लेख है। अथर्ववेद भी 'सामन्'[५] के उल्लेखों से सर्वथा रहित नहीं है। ऋग्वेद में विविध वाद्य यन्त्रों का भी उल्लेख प्राप्त है, जैसे कि दुन्दुभि, कर्करी, क्षोणी, वीणा, वाण आदि[६]।

संगीत-कला को देवताओं तथा मनुष्यों दोनों का स्नेह प्राप्त है। देवताओं

---

१ ऋ० वे० १०–९०–९
२ य० वे० १८–२९
३ य० वे० १५–१३
४ य० वे० १३–५४–५८
५ अ० वे० १०–७–२०
६ ऋ० वे० ६–४७ २९–३१

में डमरूधारी शिव, शंखधर विष्णु, वीणाधारिणी सरस्वती एवं वंशीधर कृष्ण, ऋषियों में नारद, स्वाति, भरत और मतंग, मनुष्यों में वे सब शास्त्रकार और संगीत कला में निपुण व्यक्ति जिन्होंने संगीत कला विषयक उस इतने विशाल साहित्य की रचना की है—जिसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णन हम इस वर्तमान अध्याय में करेंगे—संगीत कला के प्रेमियों में गिने जा सकते हैं।

संगीत-कला का सामवेदीय सम्प्रदाय

शौनक मुनि रचित चरणव्यूह के परिशिष्ट में इस बात का उल्लेख है कि सामवेदिक संगीत के एक सहस्र सम्प्रदाय थे (सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति)। इस कथन की व्याख्या पुराणों[1] तथा सीतोपनिषद[2] में विशद रूप से की गई है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि वर्तमान समय में केवल तीन सम्प्रदाय ही सजीव रह सके हैं—१ कौथुम २ राणायणीय एवं ३ जैमिनीय।

कौथुम सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ

१. कौथुम सम्प्रदाय के चार गान-ग्रन्थ हैं :—

(१) ग्रामे गेयगान अथवा वेयगान। ग्रामों में गाए जाने के लिए गीत-संग्रह।

(२) अरण्ये गेयगान अथवा अरण्यगान। अरण्य अथवा वनों में गाए जाने के लिए गीत-संग्रह।

(३) ऊहगान। इनमें उन गीतों का संग्रह है जो ग्रामे गेयगान गीतों से लिए गए हैं और उनको इस प्रकार से गीतस्वरों में लाया गया है कि समयानुसार उनको विभिन्न यज्ञों में गाया जा सके। ये गीत उत्तरार्चिक एवं ग्रामे गेयगान के समानान्तर ही चलते हैं।

(४) ऊह्यगान अथवा ऊह रहस्यगान—इसमें गीतों का संग्रह उसी क्रम में है जिसमें कि ये आरण्यक संहिता एवं अरण्ये गेयगान में आते हैं। इसमें अरण्ये गेयगान के गीतों को उन गान-स्वरों में लाया गया है जिनके अनुसार उनको विभिन्न यज्ञों में गाना चाहिए।

---

[1] कू० पु० ४९, ५१-२ (यजुर्वेद की प्रस्तावना)

[2] शै० शा० उ० ९७

२. आर्चिक अथवा मन्त्रों के संग्रह तीन हैं :—

(१) पूर्वार्चिक—छन्दों का वह संग्रह जिसके आधार पर ग्रामे गेयगान के गीतों की रचना की गई है।

(२) आरण्यक संहिता—छन्दों का वह संग्रह जिसके आधार पर कुछ अरण्ये गेयगानों के गीतों की रचना की गई है।

(३) उत्तरार्चिक[1]—छन्दों का वह संग्रह जिसकी रचना विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न प्रयोजनों से की गई है। पूर्वार्चिक के समान इसमें मुक्तक छन्दों का उल्लेख नहीं किया गया है। इसमें अधिकांश रूप में त्रिच् अथवा त्रिस्तिच् अर्थात् तीन ऋचाओं के संग्रहरूप में एवं प्रगाथा अर्थात् दो ऋचाओं के संग्रह रूप में गीतों को संकलित किया गया है। प्रगाथा की दोनों ऋचाओं के छन्द औरों की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं इसलिए जब इनका प्रयोग यज्ञों में किया जाता है तो दो ऋचाओं को तीन भागों में विभक्त कर दिया जाता है। इनके अतिरिक्त ४, ६, ७, ९ और १० पद्यों के भी गीत हैं।

उत्तरार्चिक का एक व्यवहारिक प्रयोजन है। यह उन ऋचाओं का संग्रह है जिनके आधार पर विभिन्न यज्ञों में गाए जाने वाले गीतों की रचना की गई है। सामान्यतः इसमें तीन ऋचाओं के समुदायों में प्रथम छन्द को पूर्वार्चिक से इसलिए लिया गया है कि यह ज्ञात हो जाय कि जिस राग में यह प्रथम ऋचा गाई जाती है उसी राग में समुदाय[2] की तीनों ऋचाओं को गाना चाहिए।

३. स्तोभों का भी एक संग्रह है।

बहुत सम्भव है कि इन मूलपाठों का उपयोग राणायणीय सम्प्रदाय में भी किया जाता था परन्तु यह निश्चित है कि जैमिनीय सम्प्रदाय के पास अपने मूलग्रन्थ थे। वे सभी उपलब्ध हैं।

सामवेदीय ग्रन्थों का सापेक्षिक ऐतिहासिक क्रम

इस विषय में कोई मतभेद नहीं है कि ऋग्वेद सभी अन्य वेदों से अधिक प्राचीन है और सामवेद संहिता में जितने भी सामन् हैं वे लगभग सभी ऋग्वेद की ऋचायें ही हैं। वेदों का एक धार्मिक प्रयोजन था। विभिन्न यज्ञों को करते समय उनके विभिन्न पुरोहित अर्थात्, होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा वेद के

---

[1] पं० विं० ब्रा० XI [2] पं० विं० ब्रा० X

विभिन्न मंत्रों का पाठ करते थे। इस प्रकार से ऋग्वेद की कुछ विशेष ऋचाओं का पाठ करना अथवा गाना उद्गाता का कर्तव्य था। यज्ञ का उद्देश्य या तो कोई लौकिक सिद्धि होती थी या पारलौकिक सिद्धि होती थी। अतएव साध्य लक्ष्य के अनुसार विभिन्न गीतसमुदायों को गाया जाता था। प्रयोजनानुसार इन गीतसमुदायों को गांवों में, जनसमूहों में एवं निर्जन बनों में गायक गाते थे। इन गीतों का संग्रह ग्रामेगेयगान एवं अरण्येगेयगान में किया गया था। और इसके उपरान्त गीतों की आधारभूत ऋचाओं का संकलन पाठ्य ग्रन्थों में किया गया। भावी उद्गाताओं को इन पाठ्यग्रंथों को कण्ठाग्र करना आवश्यक था। इन पाठ्य पुस्तकों को पूर्वार्चिक एवं आरण्यक संहिता कहते थे। इस प्रसंग में यह और कहा जा सकता है कि ग्रामेगेयगान एवं अरण्येगेयगान में लगभग वे ही सब गीत संग्रहीत हैं जो उत्तरार्चिक के तीन अथवा तीन से अधिक गीतों के उन समुदायों के प्रथम गीत हैं जिनको विभिन्न यज्ञों में विभिन्न समयों पर गाया जाता था। और पूर्वार्चिक तथा आरण्यक संहिता उन ऋचाओं के संग्रह हैं जिनके आधार पर गीतों की रचना की गई थी।

इस प्रकार से ऐसा ज्ञात होता है कि अरण्येगेयगान से पूर्व ग्रामेगेयगान वर्तमान थे क्योंकि पारलौकिक साधनविधि के पूर्व लौकिक साधन विधियों का अस्तित्व होता है। इसके अनुसार आरण्यक संहिता के पूर्व पूर्वार्चिक की रचना की गई थी। और इसके बाद उत्तरार्चिक की रचना की गई जैसा कि ग्रन्थ के नाम में प्रयुक्त 'उत्तर' शब्द से स्वयं प्रकट है। और सब के अन्त में ऊहगान एवं ऊह्यगान की रचना की गई। प्रोफेसर कालेण्ड के मतानुसार इन कृतियों की रचना सामवेद से सम्बन्धित उत्तरकालीन साहित्य[1] रचना के अन्तर्गत आती है। इनकी रचना ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान के बाद में की गई थी। पञ्चविंश ब्राह्मण, आर्षेय और क्षुद्र कल्पों की रचना इनसे पूर्व हो चुकी थी। लाट्यायन-द्राह्यायण सूत्र एवं पुष्पसूत्र भी इनसे पूर्व रचे जा चुके थे।

सामवेदीय कौथुम परम्परा के अनुसार अक्षरों के स्वर-भेद सूचक चिन्ह

सामवेद के कौथुम सम्प्रदाय में अक्षर के स्वर के परिमाण भेद को जिन संख्याओं से प्रकट करते हैं वे संख्याएं १, २, ३, ४, ५, ६, ७, और ११ हैं।

---

[1] पं० विं० ब्रा० XI

प्रधान स्वर को सूचित करने के लिए संख्या को अक्षर के शीर्ष भाग पर लिखा जाता है। अन्य स्वरों के परिमाणों को दो प्रकार से प्रकट करते हैं (अ) वर्ण के स्वर के बाद में संख्या को लिखने से तथा (आ) खण्डित संयुक्तस्वर अर्थात् आ—इ एवं आ—उ के प्रथम अंश के बाद संख्या को लिखने से।

जैसे स्वार्य के उच्चारण में प्रयोज्य स्वरों का अवरोहक्रम उदाहरणतः १, २, ३, ४, ५ आदि से सूचित होता है, वैसे ही एक से लेकर छ तक की संख्या सप्तक के अवरोह क्रम को प्रकट करती है। वे अक्षर जिनके गायन का आरम्भ संख्या २ से द्योतित स्वर से होता है परन्तु द्रुत गति से इस स्वर को संख्या १ से द्योतित स्वर पर लाया जाता है उन पर संख्या सात लिखते हैं। परन्तु संख्या एक से द्योतित होने वाले स्वरपरिमाण से अधिक ऊँचे स्वर को संख्या ग्यारह से प्रकट करते हैं। संख्या ग्यारह का प्रयोग केवल दो बार ही किया गया है[1]। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि संख्या एक से लेकर छ तक का प्रयोग स्वर के किन स्वरूपों अथवा परिमाणों को प्रकट करने के लिए किया जाता था। सामवेद के वर्तमान गायकों के गीतों से हम उनके स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं जान सकते हैं। क्योंकि सामवेद की पाण्डुलिपि में जो स्वर-चिन्ह अंकित हैं उनसे वर्तमान सामन् गायकों के स्वरों से भेद बहुत स्पष्ट है।

एकस्वर गान

ब्राह्मणग्रंथों के अनुसार महायज्ञों में तीन मन्त्रगायक होते थे जो कुछ मंत्रों का गान अलग अलग व्यक्ति रूप में और कुछ मंत्रों का गान एक साथ में करते थे। निधनांशों का पाठ एक साथ में होता था।

इन तीन प्रधान गायकों के मन्त्रगानों के साथ साथ तीन उपगातृ भी गान करते थे। ये उपगातृ 'हो' पद को पञ्चम स्वर से गाते थे। इनके साथ साथ यज्ञपति 'ओम्' पद का गान पञ्चम स्वर में करता था।

संगीत और काव्य के छन्द

सामान्यतः संगीत के छन्द काव्य-छन्दों पर आधारित हैं। इन दोनों प्रकारों के छन्दों के विशेष भेदों को निम्नरूप में लिखा जा सकता है—

* [1] स्ट० सा० ९

काव्य छन्द में केवल लघु और गुरु का भेद माना जाता है। जैसा कि लोक प्रसिद्ध ग्रंथ श्रुतबोध से ज्ञात है। गुरु के विषय में यह प्रतिपादित किया गया है कि संयुक्त व्यंजन के पूर्व आने वाला स्वर दीर्घ अथवा गुरु है (संयुक्ताद्यं दीर्घम्) परन्तु गीत छन्द में संयुक्त व्यंजन के पूर्व वर्तमान स्वर दीर्घ नहीं हो जाता है। लघुस्वर से युक्त अक्षर को एक मात्रा का मानते हैं। गुरु स्वर से युक्त अक्षर में दो मात्राएं मानी जाती है। वह गुरु स्वर जिसके ऊपर रेफ है अथवा—अनुस्वार है अपनी स्वाभाविक मात्रा से अधिक दीर्घ है। 'एक पर्वन् अथवा गेयपद के अन्त में वर्ण गत स्वर तीन मात्राओं का होता है और यदि इसके वाद विकृति स्वर हो तो प्रकृति स्वर तीन मात्राओं का बना रहता है।' कभी कभी धार्मिक गीत सम्बन्धी कारणों से लघु को गुरु, गुरु को लघु आदि[1] भी कर देते हैं।

उद्गाताकृत गान संबंधी परिवर्तन

विभिन्न कारणों से उद्‌गाता गानों में निम्नलिखित परिवर्तन करते हैं :—

१. किसी विशेष प्रसंग में सब वर्णों के स्थान पर वे 'ओ' का उच्चारण करते हैं।

२. बहुधा वे वर्णों के स्वरों का ही उच्चारण करते हैं और सभी व्यंजन अथवा व्यंजन समूहों के स्थान पर 'भ' का प्रयोग करते हैं।

३. बहुधा वे 'आ' को 'आ—इ' के रूप में और 'ओ' को 'ओ—इ' के रूप में सुदीर्घ बना कर उच्चारण करते हैं।

४. 'इ ई' स्वरों एवं 'ए' संयुक्त स्वर को वे 'आ—इ' अथवा 'आ—ये' में परिवर्तित कर देते हैं।

५. पदों के परस्पर अर्थविषयक सम्बन्ध की ओर से उदासीन[2] होकर वे उनको पर्वों में विभाजित कर देते हैं।

६. अर्थशून्य परन्तु धार्मिक दृष्टि से पवित्र पदों को जिनको शास्त्रीय भाषा में स्तोभ कहते हैं वे प्रसंग की ओर बिना ध्यान दिए हुए ही गेय पदों में जोड़ देते हैं। ये स्तोभ कामना को प्रकट करते हैं।

वैदिक-भाषा के गेय और भाषणीय स्वरूपों में भेद

भाषणीय वैदिक भाषा तीन स्वरों में बोली जाती है। सामान्यतः वैदिक युग में बोली जाने वाली भाषा और मन्त्रजाप दोनों में ही ये तीन स्वर थे।

---

* [1] स्ट० सा० १४ * [2] स्ट० सा० १५

यज्ञ करते समय पुरोहितों को एक ही स्वरपरिमाण (Pitch) पर एक ही स्वर में मंत्रों का उच्चारण करने की अनुज्ञा थी। परन्तु लोक भाषा की स्वर-गति से कुछ अंशों में धार्मिक नियमों के अनुसार भिन्न, तरंग के समान उठते गिरते हुए स्वर संचार की आवश्यकता मंत्रों को रटने तथा गाने के लिए[1] होती थी।

पाणिनि[2] एवं कात्यायन ने अपने ग्रंथों में स्वर संचार विषयक उन नियमों का प्रतिपादन किया है जो वेदकालीन लोक भाषा तथा वैदिक मंत्रों पर समान रूप से प्रयुक्त किये जा सकते हैं और उन नियमों का भी प्रतिपादन किया है जो वेद मन्त्र पाठ में विशेष रूप से लागू होते हैं। भट्टोजी दीक्षित ने अपनी 'स्वर प्रक्रिया' में यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार से उक्त नियम वैदिक मंत्र पाठ में स्वर संचार का नियंत्रण करते हैं।

मंत्रों को कण्ठाग्र करने के लिए सामवेद के स्वर संचार के विषय में निम्न-लिखित बातों को याद रखना आवश्यक है।

१. जिस पद पर स्वरस्वरूपसूचक कोई चिन्ह न हो उसका स्वरस्वरूप वही होता है जो उसके पूर्व स्वर स्वरूप चिन्हित पद का स्वर है। उदाहरण के लिए अ[3]ग्निम्[1] ई[2] डे में ई[2] डे शब्द का दूसरा वर्ण अर्थात् डे स्वरस्वरूपसूचक चिन्ह से रहित है। अतएव इसका स्वर स्वरूप वही है जो ई[2] वर्ण का है अर्थात् संख्या २ से सूचित स्वर स्वरूप डे का है।

२. कुछ प्रसंगों में 'उदात्त' स्वर के स्थान पर अनुदात्त या स्वरित स्वर हो जाता है जैसे वैदिक लोक भाषा का देवम्[1] शब्द दे[3]वम् हो जाता है। नियम यह है कि संख्या १ से सूचित स्वर के स्थान पर संख्या दो से सूचित स्वर हो जाता है यदि संख्या १ से सूचित स्वर आगामी अक्षर में संख्या २ से सूचित स्वर तक प्रवाहमान होने का अवसर नहीं पाता है। संख्या १ से सूचित स्वरों की पूरी श्रृंखला तक इस नियम के अनुसार बदली जा सकती है।

३. स्वरित स्वर संख्या दो से सूचित स्वरपरिमाण में बदल जाते हैं। जैसे [1]ईडे शब्द [2]ईडे में बदल जाता है।

---

* [1] स्ट० सा० १५ [2] पा० १–२–३४

सामवेदिक गीतीकरण

मन्त्रों को गेय बनाने के लिए दो प्रधान साधन हैं—(१) उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन जिनको शास्त्रीय भाषा में 'पुष्प' कहते हैं जैसे कि 'ए' को 'आ—इ' में और 'ओ' को 'आ—उ' आदि में बदलना एवं (२) अलंकरण स्वरूप उन पदों को प्रयुक्त करना जिनको शास्त्रीय भाषा में स्तोभ कहते हैं जैसे कि हाउ आदि ।[1]

मन्त्रों को गेय बनाने के लिए जो परिवर्तन आवश्यक रूप से ध्यान देने योग्य हैं उनका उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :—

१. गेय गीत का पर्वों अर्थात् संगीत सम्बन्धी इकाइयों में किया गया विभाजन या तो पदों से मेल खाता है या नहीं खाता है । जैसे कि 'अग्निम् ईडे' इस गेय गीत का पर्वों में जो विभाजन किया गया है वह पदों से मेल खाता है । परन्तु (यज्ञ स्यदे) में वैसा कोई मेल वर्तमान नहीं है ।

२. प्रायः लोक भाषा के स्वरोच्चारण को बदल देते हैं । जैसे कि 'अग्निम्' शब्द में दूसरे वर्ण पर उदात्त स्वर लोक भाषा के समान ही है । परन्तु आरम्भिक अनुदात्त स्वर को मध्यम उदात्त स्वर में अर्थात् ३—१ को २—१ में बदल देते हैं ।

३. कभी कभी लोक भाषा के स्वरोच्चारण को पूर्णतया बदल देते हैं जैसे कि ईडे शब्द का आरम्भ संख्या १ से सूचित स्वर से होता है, यह स्वर आगामी वर्ण के आरम्भ तक व्याप्त रहता है और उसके बाद संख्या २ से सूचित स्वर पर उतर जाता है (१—१—२)

४. स्वार्य :—बहुधा पद स्वरान्त होते हैं जैसे कि महाः । और इन को गायक मन्द गति से ३, २, ३, ४, ५ स्वरों में गाता है । इस प्रकार के अवरोह को जो पहले २ की ओर चलता हो और अन्त में संख्या ५ से द्योतित स्वर पर पहुंच जाता हो शास्त्रीय भाषा में 'स्वार्य' कहते हैं । और संख्या ६ सूचित उस स्वर को जो इस स्वर श्रेणी के नीचे होता है शास्त्रीय भाषा में अति-स्वार्य कहते हैं ।

५. प्रायः स्वार्य बीच में ही खण्डित हो जाता है । इस कारण अवरोह रूप स्वरसमूह[2] जिसका आरम्भ संख्या २ से द्योतित स्वर से होता है संख्या ५ तक नहीं पहुँच पाता वरन् ४ पर ही रुक जाता है । जैसे कि तरेम (३, २, ३, ४)

* [1] स्ट० सा० १८ * [2] स्ट० सा० २०

स्वर संख्या का विकास

संगीत सम्बन्धी आधुनिक स्वर-परिमाणद्योतक स्वरसमूह अर्थात् सप्तक सात स्वरों का होता है।

परन्तु पूर्व काल में ज्ञात संगीत-स्वरों की संख्या कम थी। सर्वाधिक प्राचीन परिमाण द्योतक स्वरसमूह तीन स्वरों का था—क्योंकि सभी वेदों में तीन प्रकार के स्वरों को स्वीकार किया गया है। सर्व सम्मत रूप से ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन वेद है। ऋग्वेद में जो ऋचाएँ अथवा मन्त्र हैं जिनका पाठ तीन स्वरों में वैदिक काल में किया जाता था। सामवेद के अधिकांश सामन् ऋग्वेद के ही सूक्त और मन्त्र हैं। ये सामन् सात स्वरों में गाए जाते थे। ऋग्वेदिक युग के मूल तीन स्वरों के आधार पर ही सामवेद के संगीत स्वरों की रचना की गई थी।

इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य यह है कि पाणिनि ने दो और स्वरों का उल्लेख किया है। (१) उच्चैस्तर[1] यह उदात्त स्वर से अधिक ऊँचा होता है जैसा कि तत्त्वबोधिनी नामक टीका (पृ० ५९२) से स्पष्ट है। इसमें उच्चैस्तर का अर्थ उदात्ततर बताया गया है। इस प्रकार से यह स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाता है कि उच्चैस्तर स्वर वही है जिसको सामवेदीय ग्रन्थ में संख्या ११ से सूचित करते हैं। (२) सन्नतर[2]—यह अनुदात्त से भी नीचा स्वर है। तथा हम इस प्रसंग में इतना और कह सकते हैं कि संख्या ७ से जिस स्वर को सूचित करते हैं वह स्वरित स्वर का प्रतिकूल स्वर मात्र है। क्योंकि पाणिनि का मत यह है कि स्वरित स्वर उदात्त से अनुदात्त[3] की ओर उतरता हुआ स्वर है जब कि संख्या सात से सूचित स्वर २ से १ की ओर उठता हुआ स्वर है। इसके अतिरिक्त पुष्प सूत्र[4] के अनुसार स्वर ४–६ स्वर १–३ के समानान्तर हैं। क्या हम यह कहें कि स्वर १–३ क्रमशः ४–६ के उदूह अर्थात् सामंजस्य पूर्ण विकसित रूप उसी प्रकार से हैं जिस प्रकार से, जैसा कि प्रतिष्ठित शास्त्रकार[5] मानते हैं, निषाद, धैवत और पंचम (बी, ए, जी) क्रमशः गान्धार, ऋषभ और षड्ज (इ, डी, सी) के उदूह हैं।

ऊपर जो कुछ हम कह चुके हैं उससे यह स्पष्ट है कि उदात्त, अनुदात्त

---

[1] सि० कौ० ५९२
[2] सि० कौ० ५९३
[3] सि० कौ० ४
[4] पु० सू० (प्र० ८) १६४
* [5] स्ट० सा० ५३

और स्वरित स्वरों का एक सांगीतिक महत्त्व था। ये तीन स्वर ही वे मूल स्वर थे जिनसे अन्य स्वरों का विकास हुआ था।

इस मत का समर्थन कि मूलस्वरों की संख्या तीन ही थी एक अन्य तथ्य से भी होता है। पाणिनि ने अपनी पाणिनीय शिक्षा में यह लिखा है कि लोक संगीत के स्वर उदात्त आदि मूल स्वरों से या तो विकसित हुए हैं या उन पर आधारित हैं। उनके मतानुसार निषाद और गान्धार उदात्त पर, ऋषभ और धैवत अनुदात्त पर एवं षड्ज, मध्यम तथा पंचम स्वरित[1] स्वर पर आधारित हैं।

गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद

चारों वेदों से सम्बन्धित चार उपवेद हैं। शौनक ने अपने ग्रन्थ चरणव्यूह[2] में इनका उल्लेख किया है। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है। यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है। गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद है और शस्त्रशास्त्र अथर्ववेद का उपवेद है। सीतोपनिषद् में पाँच उपवेदों[3] का उल्लेख है। यद्यपि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के उपवेदों के विषय में मतभेद है क्योंकि सुश्रुत के मतानुसार आयुर्वेद अथर्ववेद का पूरक अंश है और एक अन्य प्रामाणिक शास्त्रकार के मतानुसार अर्थशास्त्र अथर्ववेद का उपवेद है फिर भी इस विषय में दो मत नहीं हैं कि गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद है।

सामवेद के उपवेद गान्धर्ववेद में ३६००० छत्तीस हज़ार ग्रन्थ थे और इसमें उन मूल सिद्धान्तों का उल्लेख था जिनके अनुसार विभिन्न वाद्यों को बजाना चाहिए, इसमें स्वरों के मिश्रण आदि का भी उल्लेख किया गया था और इसके साथ साथ नृत्य एवं अभिनय में शरीर के विभिन्न अङ्गों की परिचालन विधि का भी (अङ्गहार[4]) वर्णन था। भरतमुनि के मतानुसार यह गान्धर्ववेद उनके नाट्यवेद के[5] आवश्यक आधार स्वरूपी शास्त्रों में से एक शास्त्र था।

भरतमुनि गान को गान्धर्व से भिन्न प्रतिपादित करते हैं। उनके मतानुसार गान गान्धर्व का स्रोत है। और अभिनवगुप्त ने गान का अर्थ सामन्[6] बताया है। वाद्य यंत्रों के साथ जो वागिन्द्रियों से गाया जाता है वह गान्धर्व है।

---

[1] सि० कौ० ६४३
[2] श० चि० भाग १-३९२
[3] शै० शा० उप० ९८
[4] अभि० भा० भाग १ (प्रस्तावना) ६
[5] अभि० भा० भाग १-१५
[6] अभि० भा० अध्याय २८-श्लोक १०

इस प्रकार से गान्धर्व वेद सामन् से संगीत[1] के विकास के प्रथम रूप को प्रदर्शित करता है। अतएव ऐसा ज्ञात होता है कि संगीत का सर्वाधिक प्राचीन स्वरूप वागिन्द्रिय जनित गीत था। यज्ञ करते समय उसके चार पुरोहितों में से एक पुरोहित उद्गाता इसी प्रकार के गीत का उपयोग करता था। गन्धर्वों के समूह इन्हीं गीतों को वाद्य यंत्रों के वादन के साथ साथ गाते थे। वागिन्द्रिय-जनित गीत के वाद्य वादन से मिश्रित स्वरूप को परवर्ती समय में मनुष्य जाति ने अपनाया और इसको गान्धर्व के नाम से इसलिए अभिहित किया क्योंकि इसके प्रसंग में गन्धर्वों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया था।

गान्धर्व स्वरूप का संगीत देवों को बहुत प्रिय है। मनुष्य जाति को इस स्वरूप का संगीत इसलिए सुखदायी है क्योंकि यह देवों को प्रसन्न करता है। देवताओं को प्रसन्नता प्रदान करने के कारण यह गायक को धार्मिक पुण्य प्रदान करने वाला है। इस प्रकार के संगीत से देवगण विना बहुत धन व्यय के ही प्रसन्न हो जाते हैं। यज्ञों को करने में इससे कहीं अधिक धन का व्यय होता है। इस प्रकार के संगीत से गायक और श्रोता दोनों के चित्त एकाग्र होते हैं। और इसलिए दोनों में चित्त विश्रान्ति की दशा उत्पन्न हो जाती है। इस दशा से अन्तःकरण में परममोक्ष स्वरूप आनन्द उद्भूत होता है।

यद्यपि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अश्वमेध जैसी कुछ यज्ञों में सामनों को वाद्यवादन[2] के साथ साथ गाया जाता था, फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक कर्मकाण्ड में वाद्यवादन का प्रारम्भ परवर्ती समय में ही हो सका था। और इस लिए यह कहा जा सकता है कि वाद्य शून्य सामन् गान के युग तथा गान्धर्व स्वरूप संगीत के युग के मध्यवर्ती संक्रान्ति काल में वाद्यवादन के प्रयोग का आरम्भ वैदिक कर्मकाण्ड में किया गया होगा।

गान्धर्वस्वरूप के संगीत के आधार[3] पर नारद आदि शास्त्रकारों ने संगीत की रचना विधि (Technique) का प्रतिपादन किया था। उन्होंने संगीत के मूल विधायक तत्वों को निर्धारित किया। संगीत के गान्धर्व स्वरूप के विधायक तत्वों को विभिन्न रूपों में व्यवस्थित करने से ध्रुवा आदि रूपों में संगीत का विकास परवर्ती समय में हुआ था।

---

[1] अभि० भा० अध्याय २८—श्लोक ८

[2] सं० र० (टीका) (आन०) ८

[3] अभि० भा० अध्याय ३२—श्लो०—१

ब्राह्मण साहित्य में संगीतविकास का प्रतिबिम्ब

सामवेद से संबंधित ब्राह्मण साहित्य में पंचविंश और जैमिनीय ब्राह्मण हमारे दृष्टिकोण से विशेषरूप से महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि पंचविंश ब्राह्मण में सामवेदीय उस सांगीतिक प्राचीन स्वरूप को प्रकट किया गया है जिसका अनुसरण कौथुम सम्प्रदाय करता था। इस प्रसंग में सम्भवतः यह भी कहा जा सकता है कि राणायणीय सम्प्रदाय भी इसी सांगीतिक स्वरूप को मान्य मानता था। क्योंकि इन दोनों सम्प्रदायों में आवश्यक बातों में कोई मूल भेद नहीं था। जैसा कि ग्रंथ के नाम से ही प्रकट होता है, जैमिनीय ब्राह्मण में जैमिनीयों से मान्य सांगीतिक परम्परा को प्रदर्शित किया गया था। ब्राह्मण साहित्य के इस रचनायुग में संगीत कला की जो प्रगति हुई उसकी सूचक निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

१. ऐसा ज्ञात होता है कि पूर्व वैदिक समय में सामवेदीय गीत वाद्यवादन रहित शुद्ध रूप से वागिन्द्रियजनित गान मात्र ही था। और प्रतीत यह होता है कि इस युग में जो यज्ञ होते थे उनमें किसी भी प्रकार के वाद्ययंत्र का उपयोग नहीं किया जाता था। कुछ ऐसे यज्ञ थे जिनको करते समय सबसे पहले दुन्दुभि अर्थात् ढोल का उपयोग किया जाता था। परन्तु दुन्दुभि-वादन का वागिन्द्रिय जनित गान से न तो कोई सम्बन्ध था और न कण्ठगान से उसकी धुन ही मिल सकती थी। दुन्दुभिवादन का उल्लेख हम निम्नलिखित इस प्रकार के कथनों में पाते हैं :—'बृहतः स्तोत्रे दुन्दुभीनुद्वादयन्ति' जै० ब्रा० ६० (वे बृहत् की स्तुति का गान करते समय दुन्दुभी को बजाते हैं)।

अथवा—

'महावेदी के सब कोणों पर दुन्दुभियों को बजाते हैं।' पं० वि० ८३

परन्तु परवर्ती युगों में वाद्यवादन का विकास पर्याप्त ऊँचाई तक हुआ। सौ तारों से युक्त वीणा का आविष्कार किया गया और सामवेदीय सामनों का गान उसके वादन के साथ होने लगा। (अथास्मा आरूढाय वाणं शततंत्रिम् आहरन्ति, तम् एतेन सन्तानेन सन्तनोति—जै० ब्रा० १७४) वीणा[१] के विभिन्न भागों का वर्णन भी सूक्ष्म एवं विशद रूप में किया गया है। इसके अतिरिक्त वीणावादन के साथ साथ केवल गीत ही नहीं गाए जाते थे वरन् नृत्य के आयोजन भी होते थे, यद्यपि ऐसा ज्ञात होता है कि इस प्रकार के आयोजनों

[१] जै० ब्रा०–१८७

को बहुत भला नहीं माना जाता था (यद् वीणायाम् गीयते यत् नृत्यते यद् वृथाचर्यते सा मृत्योः सेनास—जै० ब्रा०-१८६)

२. परन्तु वागिन्द्रिय जनित गान के विकास के विना वाद्यवादन का विकास असंभव है। हमें यह भी ज्ञात होता है कि वागिन्द्रिय जनित गानकला का विकास ब्राह्मण साहित्य के रचनाकाल में यथेष्ट मात्रा में हो चुका था। पंचविंश ब्राह्मण (७-१-७) में एक स्थल पर तीन स्वर परिमाणों का उल्लेख है जैसे मन्द्र, तारतर एवं तारतम[1]।

ऐसा ज्ञात होता है कि इन तीन स्वरपरिमाणों का सम्बन्ध उन तीन ग्रामों (स्वरसप्तकों) के साथ था जिनको तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२२, ११) में मन्द्र, मध्यम और तार कहा गया है। नारदी शिक्षा में (१-७) इस बात का उल्लेख है कि इनके उत्पत्ति-स्थान क्रमशः वक्ष, कण्ठ तथा शिर हैं।

पाणिनीय शिक्षा में भी मन्द्र, मध्य एवं तार[2] का उल्लेख है। इस प्रकार से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि वागिन्द्रियजनित गान की भारतीय विधि में संभवतः ब्राह्मणों के रचनाकाल तक तथा निश्चित रूप से प्रातिशाख्य के रचना समय तक वाणी के तीन ग्रामों को स्वीकार कर लिया गया था।

३. हम पहले यह लिख चुके हैं कि सामवेदिक युग में एककण्ठगीत एवं समवेतगीत दोनों अत्यन्त प्रसिद्ध थे। क्योंकि उस युग में एक सामन् का प्रधान अंश एक पुरोहित अकेला पढ़ता था और उसके निधनों का गान तीन पुरोहित समवेत स्वर में करते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना काल में कण्ठगान में प्रयुक्त की गई नई रीति यह थी कि अनेक गायक एक ही गीत के विभिन्न अंशों का गान अलग-अलग करते थे। इस प्रकार से एक पुरोहित एक सामन् के प्रमुख अंश को गाता था और अन्य पुरोहित केवल स्तोभों का ही गान करता था[3]।

४. इस स्थल पर हमको सांगीतिक अलंकार के स्वरूप के विषय में सर्व प्रथम ज्ञान होता है। यह कहा गया है कि वैदिक गानों के अलंकरण स्तोभ हैं (स्तोभा ह वा आसाम् अलंकाराः ताः अलंकुर्वन्निव शोभयन्निव गायेत्। जै० ब्रा० ४०२)। सांगीतिक अलंकार के स्वरूप का अत्यन्त विकसित रूप हमें भरतमुनि के नाट्य शास्त्र एवं शार्ङ्गदेव के संगीत रत्नाकर ग्रंथों में लिखा हुआ प्राप्त होता है।

५ उद्वंशीय तथा उद्वंशी पुत्र सामनों[4] के प्रसंग में पञ्चविंश ब्राह्मण में

---

* [1] स्ट० सा० ३९
[2] सि० कौ० ६४३
* [3] पं० विं० ब्रा० ५६
* [4] पं० विं० ब्रा० ३४७-८

सांगीतिक एक स्वर के अथवा अनेक स्वरों के अतिक्रमण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। शास्त्र की भाषा में इसको अतिस्वार अथवा अतिक्रम कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार एक सांगीतिक स्वर से दूसरे सांगीतिक स्वर तक पहुँचना नियमित स्वरक्रमगति से नहीं होता। इस प्रकार से उद्वंशीय सामन में स्वर संख्या ४ को छोड़ कर स्वर संख्या ३ से स्वर संख्या ५ पर पहुंच जाते हैं।

इस विषय को और अधिक विषद रूप में प्रतिपादित न कर हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों ब्राह्मण ग्रंथों में सामवेदीय सांगीतिक विधि के विषय में पर्याप्त व्याख्या उपलब्ध हो जाती है। जैसे कि जैमिनीय ब्राह्मण में इस बात का उल्लेख किया गया है कि गायत्री आदि[1] छन्दों को गेय किस प्रकार से बनाना चाहिए अथवा उनको किस प्रकार से गाना चाहिए। इसमें सामवेदीय सांगीतिक रचना विज्ञान का विशदरूप में वर्णन है। सामन्[2] को गेय बनाने के लिए सांगीतिक स्वर के महत्व का प्रतिपादन इसमें स्पष्ट रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ में सामनों को दो प्रकार का माना गया है (अ) स्तोभ युक्त एवं (आ) स्तोभशून्य। और इसमें इस बात का भी उल्लेख है कि स्तोभों का आविष्कार[3] किस प्रकार से किया गया था। इस ग्रन्थ में सामनों का उल्लेख यह बताते हुए किया गया है कि एक सामन् के विभिन्न अंशों[4] में कौन से स्तोभों को मिलाना आवश्यक है। इस में विभिन्न छन्दों के रचनाविधान को स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि प्रत्येक छन्द में कितने विधायक वर्ण होते हैं।[5] इस ग्रन्थ में आह्वान के लिए गाए गए वेदमंत्रों के गानों में प्रयुक्त किये जाने वाले स्तोभ पदों के कुछ मिश्रित समुदायों जैसे हे, ये, हो, वा, हा हो का उल्लेख है और उन स्तोभ पदों के मिश्रित समुदाय का भी वर्णन है जो आह्वान के उत्तर[6] में कहे जाते हैं, जैसे हा, वा, ओ वा। इसमें लिखा है कि 'वैदिक गीतों के अलंकरण स्तोभपद हैं।[7]

---

[1] जै० ब्रा० ४४
[2] जै० ब्रा० ४८
[3] जै० ब्रा० ५२
[4] जै० ब्रा० ५९
[5] जै० ब्रा० ९९
[6] जै० ब्रा० ३७३–७५
[7] जै० ब्रा० ४०२

सूत्र-साहित्य के रचनाकाल में सामवेदीय संगीत का विकास

सूत्र–साहित्य में पुष्प सूत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसग्रन्थ में उन नियमों का प्रतिपादन किया गया है जिनके अनुसार ग्रामेगेयगान और अरण्ये-गेयगान ग्रन्थों में लिखे हुए स्वरक्रम के आधार पर उन ऋचाओं को गेय बनाया जाता है जो दोनों मूल ग्रंथों की ऋचाओं से भिन्न हैं।

पुष्प–सूत्र की तीन टीकाएं हैं—१ अजातशत्रुकृत पुष्पभाष्य २ त्रिपाठिन् दामोदर के पुत्र दीक्षित रामकृष्ण उपनाम नाना भाई कृत फुल्लदीप एवं ३ अजा-तशत्रुकृत फुल्ल विवरण। फुल्ल विवरण नामक टीका में ईसा की दसवीं शताब्दि में उत्पन्न कोषकार हलायुध रचित ग्रन्थ से एक उद्धरण दिया गया है। दीक्षित रामकृष्ण इन अजातशत्रु[1] से पूर्व उत्पन्न हुए थे।

पुष्प सूत्र ग्रन्थ के रचयिता के विषय में मतभेद है। फुल्लविवरण नामक टीका के अनुसार इसके लेखक वे कात्यायन थे जो पाणिनि के पश्चात् तथा पतंजलि से पूर्व उत्पन्न हुए थे। परन्तु पुष्प भाष्य के अनुसार सामवेद से संबंधित गृह्य सूत्र के रचयिता गोभिल ने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

यह ज्ञात होता है कि सामवेदिक युग में जन–गीतों को प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। क्योंकि गानों के सर्वाधिक प्राचीन रूप दो ही थे—१ ग्रामेगेयगान (गांवों में गाए जाने वाले गीत) तथा २ अरण्येगेयगान (बनों में गाए जाने वाले गीत)। गान के अन्य दो भेद अर्थात् (अ) ऊहगान तथा (आ) ऊह-रहस्यगान परवर्ती समय में विकसित हुए थे। तथ्य यह है कि गान के एक प्रसिद्ध स्वरूप को निपुण गायक नए रूपों की रचना करने के लिए परिवर्तित कर देते हैं। अतएव परवर्ती समय में सामवेदिक गायकों ने मूल त्रिच् अर्थात् तीन छन्दों के समुदाय रूप गीतों एवं प्रगाथाओं को नए गानों में परिवर्तित कर दिया था। इन्हीं के आधार पर गानों को नए रूप प्रदान करने के नियमों की रचना की गई। पुष्प सूत्र में इन्हीं नियमों को पुष्ट करते हुए सुव्यवस्थित रूप में प्रकट किया गया है।

जैसे कि:—

योनि में (न्याये) आर्चिक शब्द अथवा स्तोभ से निधन की रचना करते हैं। निधन का अन्तिम स्वर चाहे कृष्ट हो अथवा अकृष्ट हो 'स्वार्य' हो जाता है। परन्तु यह जब उदात्त होता है तो वृधेस्वर[2] हो जाता है।

---

* [1] स्ट० सा० ३९ [2] पु० सू० (प्रस्तावना ८) २००

विभिन्न प्रसंगों में इस स्वार्य का प्रसार परिमाण भी भिन्न होता है। जैसे १ से ५ तक २ से ५ तक, २ अथवा ३ से ५ तक। बृधेस्वर को ३ २, अथवा २ २, रूप में प्रकट करते हैं। इसका सम्बन्ध अन्तोदात्त शब्द के साथ है।

मध्यावकाश का निर्धारण

संगीत–कला के दो स्वरों के बीच के अवकाश की समस्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव भारतीय संगीत के इतिहास के दृष्टिकोण से पुष्प सूत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। क्योंकि इस ग्रन्थ में प्रथम बार सांगीतिक मध्यावकाश का उल्लेख हमको प्राप्त है। जैसे कि :—

'उदूह (आरोहस्वरूप सामंजस्यपूर्ण स्वरान्तर का विकसितरूप स्वर) वह स्वर है जो चौथे स्वर, मन्द्र एवं अतिस्वार्य[1] से दो अन्तरस्थ स्वरों की मात्रा में ऊँचा होता है।

इससे यह सिद्ध है कि ४ से लेकर ६ स्वर तक का क्रम वही है जो १ से लेकर ३ स्वर तक का है।

पाणिनीय शिक्षा में सात स्वर

सूत्र रचना काल में वैदिक कालोत्तर संगीत के सात स्वर अत्यन्त प्रसिद्ध थे। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि पाणिनीय शिक्षा में पाणिनि से प्रतिष्ठापित ज्ञान परम्परा को ही संग्रहीत किया गया है तो हम यह कह सकते हैं कि पाणिनि को संगीत के ये सात स्वर ज्ञात थे। हम यह नहीं मान सकते हैं कि पाणिनीय शिक्षा के लेखक स्वयं पाणिनि हैं क्योंकि इसमें पाणिनि के प्रति एक स्तुति भी लिखी हुई है। और यह मानना अनुचित सा लगता है कि पाणिनि ने स्वयं अपनी स्तुति को लिखा होगा। इस ग्रन्थ में हमको सभी सात स्वरों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इन स्वरों का सम्बन्ध श्रुतियों से जोड़ा है। परन्तु पाणिनीय शिक्षा में इन स्वरों का सम्बन्ध श्रुतियों से न होकर उदात्त आदि स्वरों के साथ स्थापित किया गया है। तीन स्वरपरिमाणों अर्थात् मन्द्र, मध्यम और तार का उल्लेख इस ग्रंथ में है। अंगूठे से विभिन्न अंगुलियों के विभिन्न भागों के स्पर्श से स्वरों के प्रतीकीकरण का उपाय भी इस ग्रन्थ में वर्णित है,

---

[1] पु० सू० (प्रस्तावना ८) १६४–५

फिर भी स्वरों का उल्लेख 'क्रुष्ट' आदि संज्ञाओं से न करते हुए उन उदात्त आदि स्वरों से किया गया है जिनका प्रयोग पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में किया है।

नन्दिकेश्वर के मतानुसार सातस्वरों एवं तीन स्वरपरिमाणों का स्वरूप

नन्दिकेश्वर पाणिनि के समकालीन थे। नन्दिकेश्वर काशिका के व्याख्याकार उपमन्यु ने प्राचीन प्रामाणिक परम्परागत ज्ञान के आधार पर इस तथ्य को अपनी व्याख्या में लिखा है। स्वयं नन्दिकेश्वर काशिका स्वातंत्र्यवादी शैवमत का प्रतिपादक ग्रन्थ है। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी के आरम्भ में जिन माहेश्वर सूत्रों का उल्लेख किया है उनके आधार पर नन्दिकेश्वर ने अपने इस ग्रन्थ में शैवस्वातंत्र्यवाद दार्शनिक मत का प्रतिपादन किया था। महाभाष्य[1] में पतंजलि से नन्दिकेश्वर काशिका के अप्रत्यक्ष रूप से किए गए उल्लेख से यह परंपरागत मत[2] समर्थित होता सा मालूम पड़ता है। इसमें कोई संशय नहीं है कि इस ग्रन्थ में भरतमुनि का उल्लेख है, परन्तु इस उल्लेख से नन्दिकेश्वर का प्रमाणित जीवनकाल असिद्ध नहीं हो जाता। क्योंकि बहुत सम्भव है कि यह उल्लेख उन 'आदि भरत' से सम्बन्धित हो जिनका अनुसरण मुद्रित नाट्यशास्त्र के लेखक ने अपने ग्रन्थ में किया था।

नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर सूत्रों की व्याख्या दो स्वरूपों में की है। उनकी एक व्याख्या शैवदार्शनिक मत के दृष्टिकोण के अनुसार है। इसका सारांश हमने भास्करी के तीसरे भाग की प्रस्तावना पृष्ठ C Lxxxi–C Lxxxv पर लिखा है। माहेश्वर सूत्रों की उनकी दूसरी व्याख्या भारतीय संगीत कला के दृष्टिकोण से की गई है। संगीत कला के दृष्टिकोण से जिस ग्रन्थ में माहेश्वर सूत्रों की व्याख्या की गई है उसका नाम 'रुद्र डमरूद्भव सूत्र' है। इस ग्रन्थ के दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं (१) एक संस्करण को के० माधवकृष्ण शर्मा ने न्यू इंडियन एंटीक्वेरी के जून १९४३ के अंक में प्रकाशित करवाया है एवं (२) प्रोफेसर आलेन दानीलो ने इस ग्रन्थ का एक दूसरा संस्करण मद्रास म्यूज़िक अकेदमी के मुखपत्र (१९५२) में मुद्रित करवाया है।

भारतीय संगीत कला के इतिहास के दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें पाणिनीय शिक्षा से अधिक विस्तार पूर्वक स्वरों तथा स्वर

---

* [1] भा० भा० ३ (प्रस्ता०) XXXXIX

परिमाणों के विषय में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में सांगीतिक स्वरों और ताल के उद्भव का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ के मतानुसार माहेश्वर सूत्रों से इनका उद्भव हुआ था।

माहेश्वर सूत्रों में से चार प्रथम सूत्रों अर्थात् अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच् में नौ स्वर हैं। परन्तु नन्दिकेश्वर के मतानुसार असली स्वर सात ही हैं। ऋ तथा लृ नपुंसक ध्वनियां हैं। इन स्वरों में से 'अ इ उ' लघु हैं और इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की एक इकाई है। ए और ओ गुरु हैं और इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की दो इकाइयां हैं। ऐ और औ अतिदीर्घ स्वर हैं इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की तीन इकाइयां हैं। अ इ उ—सा रि गा के ए ओ—म प के और ऐ औ—ध नि के समान स्वर ध्वनियां हैं।

सांगीतिक स्वरों के विषय में पाणिनीय शिक्षा में जो कुछ लिखा गया है उससे कुछ अधिक तद्विषयक व्याख्या इस ग्रन्थ में नहीं की गई है। क्योंकि सा रि आदि स्वरों के विषय में पाणिनि ने जो कुछ लिखा है उसको इस ग्रन्थ में केवल दोहरा भर ही दिया गया है। वस्तुतः यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रसंग में नन्दिकेश्वर ने पाणिनीय शिक्षा के शब्दों को केवल दोहरा ही दिया है अथवा हम इसके प्रतिकूल भी कह सकते हैं अर्थात् पाणिनीय शिक्षा ने नन्दिकेश्वर के शब्दों को ज्यों का त्यों लिख दिया है। दोनों मूल ग्रन्थों में निम्नलिखित श्लोक लिखा हुआ मिलता है :—

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

पाणिनीय शिक्षा से जो कुछ हमें ज्ञात होता है उससे निम्नलिखित बातें हमें नन्दिकेश्वर कृत ग्रंथ से और अधिक ज्ञात होती हैं।

१. नन्दिकेश्वर ने केवल तीन स्वरों को ही प्रतिपादित नहीं किया है वरन् उनके आपेक्षिक सांगीतिक महत्त्व का भी उल्लेख किया है। पाण्डुलिपि में श्लोक संख्या २७ का पूर्वार्ध खण्डित है। प्रोफेसर दानीली के मतानुसार यह ज्ञात होता है कि ग्रंथ के इस खण्डितांश में अतिमन्द्र स्वर की परिभाषा का उल्लेख था। अतिमन्द्र स्वर की परिभाषा के सम्यक् ज्ञान के बिना अन्य स्वरों की परिभाषाएँ भी अस्पष्ट स्वरूप रह जाती हैं। क्योंकि मन्द्र, मध्य और तार स्वरों की परिभाषाओं में यह कहा गया है कि प्रत्येक स्वर अपने

पूर्व स्वर के परिमाण से दूना होता है। इस प्रकार से प्रथम स्वर उस स्वर का दूना है जिसका उल्लेख खण्डितांश में किया गया होगा। दूसरा स्वर प्रथम स्वर का दूना है और तीसरा स्वर दूसरे स्वर का दूना है।

परन्तु खण्डित पंक्ति के विषय में प्रोफेसर दानीलो के उपर्युक्त अनुमान के प्रसंग में हम यह कह सकते हैं कि यदि हम यह मान लें कि श्लोक के खण्डितांश में अतिमन्द्र स्वर की परिभाषा का उल्लेख था तो स्वरों की संख्या चार हो जाती है। परन्तु नन्दिकेश्वर ने केवल तीन स्वरों का ही प्रतिपादन किया है—क्योंकि इस प्रसंग में वे 'तृतीयकम्' शब्द का उपयोग करते हैं।

२. नन्दिकेश्वर ने श्रुति व्यवस्था के आधार पर सात स्वरों का प्रतिपादन किया है। पाण्डुलिपि में श्लोक संख्या २९ का उत्तरार्ध खण्डित है। इसमें सम्भवतः श्रुति की परिभाषा का उल्लेख किया गया था। इस खण्डितांश के होने पर भी अगले श्लोक को सम्यक् रूप से समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इस अगले श्लोक में श्रुतियों के आधार पर स्वरों की परिभाषा का उल्लेख किया गया है। इस प्रसंग[1] में नन्दिकेश्वर के कथन का पूर्ण समर्थन अपने ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने किया है अर्थात् चौथी, सातवीं, नवीं, तेरहवीं, सतरहवीं, बीसवीं और बाइसवीं वीणा जनित श्रुति पर जो स्वर हैं वे क्रमशः स रि ग म प धा नी हैं।

३. नन्दिकेश्वर ने शुद्ध स्वर एवं विकृतस्वर के भेद को अपने ग्रंथ में प्रतिपादित किया है। उनके मत के अनुसार श्रुतियों पर आधारित स्वर शुद्ध हैं तथा वे स्वर अशुद्ध हैं जिनका आधार श्रुतियां नहीं हैं।

४. यह ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर को दो मूल ग्राम अर्थात् षड्ज एवं मध्यम का ज्ञान था। इस विषय का प्रतिपादक ग्रन्थ आंशिक रूप से खण्डित है। यह ध्यान देने योग्य है कि नन्दिकेश्वर ने गान्धारग्राम का उल्लेख नहीं किया है।

५. नन्दिकेश्वर ने ५०४० मूर्च्छनाओं का उल्लेख किया है।

६. स्वर साधारण का भी वर्णन उन्होंने किया है।

७. प्रथम चार माहेश्वर सूत्रों की व्याख्या नन्दिकेश्वर ने स्वर के दृष्टिकोण से ही नहीं की है वरन् ताल के दृष्टिकोण से भी की है। इस प्रकार से सर्वप्रथम उन्होंने विभिन्न सूत्रों के उच्चारण काल की इकाइयों का उल्लेख किया है और तदुपरान्त स्वरताल तथा तिथिताल का वर्णन उन्होंने किया है।

---

[1] सं० र० (आन०) ३४

८. अन्त में नन्दिकेश्वर ने ताल के निम्नलिखित दस प्राणों का उल्लेख किया है :—काल (समय), मार्ग (काल विभाजन), क्रियांग—(प्रकटीकरण), ग्रह (आरम्भिक स्वर), जाति, कला (समय की इकाई), लय, यति (विराम), एवं प्रस्तार (विकास)

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि नन्दिकेश्वर के समय तक वे विषय विवाद ग्रस्त हो चुके थे जिनका प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया था। पूर्वोक्त प्रथम दो माहेश्वर सूत्रों के उच्चारण काल में लगने वाली समय की इकाइयों में जो दो मत उत्पन्न हो चुके थे उनका उल्लेख स्वयं नन्दिकेश्वर ने किया है। उन शास्त्रकारों के मतानुसार जो कथित सूत्रों के अन्त में प्रयुक्त व्यंजनस्वरूप अर्धाचरों को नहीं गिनते हैं, दोनों सूत्रों के उच्चारण में समय की पांच इकाइयां लगती हैं। अन्य शास्त्रकार जो अन्त में प्रयुक्त अर्धाचरों को गिनते हैं, यह प्रतिपादित करते हैं कि दोनों सूत्रों के उच्चारण में समय की छ इकाइयां लगती हैं। दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि जाति का उल्लेख तो किया गया है परन्तु राग का उल्लेख नहीं है।

इस प्रसंग में यह कथनीय है कि ताल के दश प्राणों के विषय में पोलुरी गोविन्द कवि कृत 'ताल-दशप्राणप्रदीपिका' नामक एक ग्रन्थ तेलुगू भाषा में है। और जिन दश प्राणों की व्याख्या पोलुरी गोविन्द कवि ने की है वे वही हैं जिनका उल्लेख नन्दिकेश्वर ने अपने ग्रन्थ में किया है। केवल क्रियांग के विषय में कुछ मतभेद है। प्रोफेसर दानीलो क्रियांग को ताल का एक प्राण मानते हैं यद्यपि क्रिया और अङ्ग के बीच में अन्तरचिह्न (हाइफन) (—) देकर उन्होंने क्रियांग को अलग अलग लिखा है। तालदशप्राण-प्रदीपिका की प्रस्तावना में के० वासुदेव शास्त्री ने क्रिया और अङ्ग को ताल के दो प्राणों के रूप में प्रतिपादित किया है। शास्त्री जी का मत अधिक निर्दोष ज्ञात होता है। क्योंकि यदि क्रियांग को हम ताल का एक प्राण मानते हैं तो प्राणों की संख्या दस न होकर नौ ही रह जाती है। परन्तु मूल ग्रन्थ के अनुसार यह संख्या दस होना चाहिए। अपने संगीत दर्पण[1] नामक ग्रन्थ में चतुर दामोदर ने भी इन दस प्राणों का उल्लेख किया है और क्रिया तथा अङ्ग की व्याख्या अलग अलग की है।

---

[1] सं० द० ११०

सामवेदिक एवं वैदिकोत्तर सांगीतिक स्वरों के भेद का विलयन

ज्ञात यह होता है कि महाभारत के समय तक सामवेदिक स्वरों को वैदिकोत्तर समय के सांगीतिक स्वरों अर्थात् स रि ग आदि के समरूप माना जाने लगा था और उनका भेद पूर्णतया नष्ट हो चुका था। इस तथ्य का निरूपण नारदीशिक्षा और महाभारत में एक ही प्रकार से किया गया है। नारदीशिक्षा में प्रतिपादित यह समरूपता निम्नरूप में कही गई है :—

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीयः स गान्धारः तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥
चतुर्थः षड्ज इत्युक्तः पंचमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पंचमः स्मृतः॥

सामवेदिक और वैदिकोत्तर संगीत

सामवेदिक और वैदिकोत्तर सङ्गीत में जो सर्वाधिक मुख्य भेद है वह श्रुति—व्यवस्था है। प्रत्येक स्वर में जो तरंग-खण्डरूप स्पन्दन होते हैं उनके अध्ययन पर यह श्रुति-व्यवस्था आधारित है। क्योंकि एक सांगीतिक स्वर की उत्पत्ति का कारण वे तरंग-खण्डरूप कम्पन हैं जो ध्वनिस्रोत में उत्पन्न होते हैं। यह ध्वनिस्रोत या तो मनुष्य की वागिन्द्रिय है अथवा सांगीतिक वाद्य है। और सांगीतिक अवकाश अर्थात् दो स्वरों के बीच में स्वरपरिमाण (Pitch) का भेद, दो स्वरों के तरंग स्वरूप कम्पनों की संख्या के गणितशास्त्रीय गणन पर निर्भर रहता है।

यद्यपि हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं कि सामवेदिक संगीत से वैदिकोत्तर शास्त्रीय संगीत के विकास का आरम्भ कब से हुआ, फिर भी यह बहुत अधिक शंकास्पद नहीं है कि वैदिकोत्तर शास्त्रीय संगीत पाणिनि के युग में (लगभग ईसा से ४०० वर्ष पूर्व) अत्यन्त विकसित दशा में वर्तमान था। क्योंकि पाणिनीय शिक्षा में हम वैदिकोत्तर शास्त्रीय संगीत के स्वरों का उल्लेख ही नहीं पाते हैं वरन् यह भी देखते हैं कि नन्दिकेश्वर ने श्रुति को इन स्वरों का आधार प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त श्रुतियों के आधार पर नन्दिकेश्वर ने शुद्ध और विकृत स्वरों के भेद को स्पष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर को दो ग्रामों—षड्ज और मध्यम का ज्ञान था। उन्होंने मूर्च्छनाओं का उल्लेख किया है, विभिन्न तालों का वर्णन किया है और जाति, लय, ग्रह, यति, प्रस्तार आदि का भी उल्लेख किया है।

इस संबंध में वाल्मीकीय रामायण का कथन भी ध्यान देने योग्य है। वाल्मीकि को वैदिकोत्तर काव्य का आदि कवि मानते हैं। उन्होंने स्वयं उस घटना का वर्णन रामायण में किया है जिसने वैदिकोत्तर शास्त्रीय काव्य रचना करने की सर्वप्रथम आन्तरप्रेरणा प्रदान की थी। सामान्यतः रामायण को ४०० वर्ष ईसा पूर्व रचित कृति माना जाता है। संगीत कला के दृष्टिकोण से बालकाण्ड का चौथा सर्ग विशेष महत्वपूर्ण है। क्योंकि इस सर्ग में वाल्मीकि ने स्वयं यह कहा है कि उनका काव्य पाठ्य भी है और वीणावादन[१] के साथ गेय भी है। इसी सर्ग में उन्होंने मूर्च्छनाओं, स्थानों[२], श्रुतियों[३] एवं मार्ग[४] का उल्लेख किया है।

भरत मुनि के पूर्व वैदिकोत्तर शास्त्रीय संगीत-कला के शास्त्रकार

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में नाट्यकला शास्त्र के दो शास्त्रकारों कृशाश्व और शिलालि के ग्रंथों का उल्लेख किया है। परन्तु ये दोनों ग्रंथ अप्राप्य हैं। इन ग्रन्थों में वर्णित विषय भी अज्ञात हैं। अनुमान यह कर सकते हैं कि इन ग्रन्थों की रचना भी प्राप्त नाट्य शास्त्र की रूपरेखा के अनुसार की गई होगी। यह विचारना भी युक्तिसंगत है कि संगीत सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन भी उनमें किया गया होगा। जिस संगीत के विषयों का प्रतिपादन उन्होंने किया होगा वह वैदिकोत्तर शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त अन्य किसी रूप का संगीत नहीं हो सकता है। कुछ भी हो, यद्यपि भरतमुनि कृत आधुनिक काल में मुद्रित वह नाट्य शास्त्र जो मूलग्रन्थ का अन्तिम संशोधित संस्करण है, ईसा की पांचवी शताब्दी में रचा गया माना जाता है, फिर भी जैसा कि हम इस ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में लिख आए हैं भरतमुनि के पूर्व भी ब्रह्मभरत, सदाशिव भरत एवं आदिभरत नाट्य कला का प्रतिपादन कर चुके थे। अभिनवगुप्त ने यह निश्चित रूप में लिखा है कि सदाशिव भरत ने संगीत कला के विषय में लिखा था। क्योंकि अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में उन तथ्यों का उल्लेख किया है जिनके विषय में नाट्यशास्त्र के लेखक भरतमुनि तथा सदाशिव भरत[५] में मतभेद है।

---

[१] रा० १–४–८ [२] रा० १–४–१०

[३] रा० १–४–२७ [४] रा० १–४–३६

[५] अभि० भा० अध्याय २९—श्लो० ४३

१. भरतमुनि के पूर्व नारद ने संगीत कला शास्त्र का प्रतिपादन किया था। अपने नाट्यशास्त्र के बत्तीसवें अध्याय की अन्तिम पंक्ति में भरतमुनि ने यह लिखा है 'गान्धर्व' का प्रतिपादन उन्होंने नारद[1] निरूपित तद्विषयक सिद्धान्तों के आधार पर किया है।

ध्रुवा के स्वरूप के विषय में भी नारद तथा अन्य ऋषियों के आभार को इस ग्रंथ में स्वीकार किया गया है। क्योंकि वह ध्रुवा जिसको पाँच प्रकार[2] का मानते हैं एक सांगीतिक संगठन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसकी रचना नारदकृत समानरचनाओं जैसे कि पाणिका, सप्तरूप आदि के खण्डों को मिलाकर की जाती है। इनका प्रयोजन दर्शकों[3] को विशेष रूप से मुग्ध करना होता है। नारद का अनुसरण करते हुए भरतमुनि ने स्वयं अपने ग्रन्थ के इकतीसवें अध्याय में सप्तरूप एवं पाणिका का उल्लेख किया है और यह लिखा है कि सप्तरूप ब्रह्मा से कहा गया था और सामवेद[4] से उत्पन्न हुआ था।

अभिनवगुप्त भी यह मानते हैं कि नारद भरत मुनि के पूर्ववर्ती शास्त्रकार थे। क्योंकि भरतमुनि के इस श्लोक—अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा प्रीतिविवर्धनम् (ना० शा० ३१७) की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त यह कहते हैं कि निम्नलिखित रूप में तद्विषयक नारद के शब्दों का उपयोग इसमें किया गया है :—

प्रीतिविवर्धनमिति नारदीय-निर्वचनं सूचितम्
अभि० भा० अध्याय २८—श्लो० ९।

भरतमुनि नारद को वाद्य संगीत का[5] भी प्रामाणिक शास्त्रकार मानते हैं।

२. स्वाति भी सङ्गीत शास्त्र के एक प्रामाणिक शास्त्रकार थे उनके मत का अनुसरण भरतमुनि ने आघात से बजने वाले अर्थात् 'आतोद्य' वाद्ययन्त्रों को बजाने की विधि के प्रतिपादन में किया था। इस प्रकार के वाद्यों में दुन्दुभि[6] एक प्रधान वाद्य है। कमल के दलों पर गिरती हुई वर्षा के बून्दों से उत्पन्न मधुर तालमय ध्वनि के उस प्रकृति जन्य रूप को सुन्दरता से स्वाति ने अपने ग्रन्थ में वर्णन किया है जिससे आघात से बजने वाले (आतोद्य) वाद्ययंत्रों के

---

[1] ना० शा० ४२८
[2] ना० शा० ३८३
[3] अभि० भा० (पाण्डु०) अध्याय ३२ श्लो० १–२
[4] ना० शा० ३७३
[5] ना० शा० ४२९
[6] ना० शा० ४२९

आविष्कार की प्रेरणा उनको प्राप्त हुई थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह कहा जाता है कि विश्वकर्मा के सहयोग से स्वाति ने दुन्दुभि के समान अनेक आतोद्य वाद्यों की रचना की थी। क्योंकि इससे प्रकट यह होता है कि एक नए प्रकार के सांगीतिक वाद्य की रचना करने के लिए एक निपुण यंत्रशास्त्री[१] इञ्जीनियर (विश्वकर्मा) का सहयोग परमावश्यक है।

३. सांगीतिक वाद्य–वादन की विधि के विषय में विशाखिलाचार्य भरतमुनि से पूर्ववर्ती शास्त्रकार ज्ञात होते हैं। अभिनवगुप्त का भी यही मत प्रतीत होता है। क्योंकि "धातूंश्चैव निबोधत" में (इस प्रसंग में चौखम्बा संस्करण के अध्याय २९ के श्लोक ८१ का पाठ भिन्न है) अभिनवगुप्त के मतानुसार 'एव' शब्द को प्रयुक्त करने का अभिप्राय यह है कि विशाखिलाचार्य से इस विषय में उल्लिखित बहुत सी बातों का उल्लेख इस स्थल[२] पर नहीं किया गया है। अभिनव गुप्त ने विशाखिलाचार्य का उल्लेख विभिन्न प्रसंगों में किया है जैसे कि गान्धर्व[३] आश्रवणा[४], ताल, सांगीतिक स्वर[५] आदि।

भरतमुनि और उनके समकालीन शास्त्रकार

भरतमुनि एवं उनके कुछ समकालीन जैसे नन्दिन् तथा कोहल आदि शास्त्रकारों के विषय में हमने 'अभिनवगुप्त—एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासोफिकल स्टडी' नामक स्वरचित एक पूर्वग्रन्थ में यथेष्ट रूप में लिखा है। इनके विषय में जानने के लिए पाठकों को उक्त ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण पृष्ट १७८–१८६ देखना उचित है। भरत मुनि के समकालीन कुछ शास्त्रकारों जैसे 'काश्यप' आदि का उल्लेख उक्त ग्रंथ में नहीं है–परन्तु वे संगीत कला शास्त्र के दृष्टिकोण से बहुत महत्व पूर्ण हैं।

१ काश्यप

अभिनव भारती के उन्तीसवे अध्याय में विविध रसों को प्रकट करने के प्रसंग में विभिन्न जातियों के प्रयोग का उल्लेख है। ग्रन्थ के इस अंश से यह स्पष्ट है

---

[१] ना० शा० ४२९ [२] अभि० भा० अध्या० २९ श्लो० ५०

[३] अभि० भा० अध्या० २८–श्लो० ९

[४] अभि० भा० अध्या० २९–श्लो० ८४

[५] अभि० भा० अध्या० ३०–श्लो० ४

कि अभिनवगुप्त यह मानते थे कि कोहल के समान काश्यप भी भरतमुनि के समकालीन थे और भरतमुनि उनके मतों को स्वमतों[1] के तुल्य ही प्रतिष्ठित मानते थे।

यह ध्यान देने योग्य है कि अध्याय २९ के तेरहवें श्लोक की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने एक लंबा उद्धरण दिया है जिसमें विविध प्रसंगों में विभिन्न जातियों एवं रागों के प्रयोग के विषय में काश्यप आदि शास्त्रकारों के मतों का वर्णन है। इस उद्धरण में हमको भिन्नकैशिक, भिन्नकैशिकमध्यम, टकराग, सौवीर, भम्भाणपंचम, मालवकैशिक आदि रागों का भी वर्णन है। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि इस उद्धरण में काश्यप के उन मतों का उल्लेख है जिनको अन्य शास्त्रकार भी मानते थे, और काश्यप भरत मुनि के समकालीन थे तो इस प्रश्न का उत्तर सहज में ही प्राप्त हो जाता है कि 'क्या भरतमुनि के समय में राग विषयक ज्ञान वर्तमान था ?'

क्या भरतमुनि को रागों का ज्ञान था ?

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि भरतमुनि के समकालीन शास्त्रकारों को रागों का ज्ञान था। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या भरतमुनि को स्वयं उनका ज्ञान था ? नाट्य शास्त्र में राग शब्द का प्रयोग इतनी कम बार किया गया है कि अनेक विद्वानों का यह मत है कि भरतमुनि को रागों का ज्ञान नहीं था। क्योंकि ध्यान पूर्वक न पढ़ने के कारण उनको नाट्यशास्त्र में 'राग' शब्द का प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता है। परन्तु मूलग्रन्थ का अध्ययन यदि ध्यानपूर्वक किया जाय तो 'अंश' के प्रसंग में इस शब्द का उल्लेख उपलब्ध होता है—'यस्मिन् भवति रागश्च यस्माच्चैव प्रवर्तते' अध्याय २८ श्लो० ६८।

हमारे पास अभिनव भारती की जो पाण्डुलिपि है उसमें दुर्भाग्यवश अट्टाइसवें अध्याय के दसवें श्लोक से ग्रन्थ खण्डित है। परन्तु मुद्रित अभिनव भारती में इस अंश की टीका निम्न लिखित है :—"यस्मिन् विद्यमाने रागो रक्तिजातिस्वरूपं भवति शिरसीव पुरुषस्वरूपम्"। संगीत रत्नाकर (१–७–३२) में 'यो रक्तिव्यंजकः' के रूप में भरत मुनि के मत का उल्लेख किया गया है। कल्लिनाथ ने उपर्युक्त कथन की व्याख्या करते हुए भरतमुनि के श्लोकों को उद्धृत किया है जिनमें ऊपर उद्धृत पंक्ति भी है तथा 'रक्ति' के प्रयोजनार्थ को स्पष्ट

[1] अभि० भा० अध्या० २९–श्लो० ८

करने के लिए वे यह कहते हैं कि 'स्वरसंदर्भभेदप्रतिनियतरक्तिविशेषव्यंजकत्वस्य विवक्षितत्वात् ।'

इस प्रकार से ज्ञात यह होता है कि, जैसा कि कल्लिनाथ ने अपनी उपर्युक्त टीका में समझाया है, शार्ङ्गदेव ने राग के अर्थ को प्रकट करने के लिए 'रक्ति' शब्द का प्रयोग किया है। यह मत अभिनवगुप्त के निम्नलिखित कथन से समर्थित हो जाता है (अभि० भा० (पाण्डु०) अध्या० २९-१०)—

'अतएव हि एते ग्रामरागा इत्युक्ताः ग्रामो जातिसमूहस्तस्य सम्बन्धिनो रक्त्यतिशया इति ।'

इस प्रकार से यह पर्याप्त स्पष्टता से ज्ञात हो जाता है कि भरतमुनि के मतानुसार जातियों के अत्यन्त मनोहर संगठित रूप से राग संबद्ध है तथा इस राग का विशेष गुण यह है कि यह असाधारण रूप से आकर्षक होता है तथा ऐसे आनन्द को देने की शक्ति उसमें होती है जिसको शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता है। राग का यह स्वरूप प्रमेय वस्तु के दृष्टि कोण से (objective point of view) प्रतिपादित किया गया है। प्रमाता के दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि राग जातियों के रमणीक संगठनों से उत्पन्न विलक्षण आनन्द का अनुभव है। इस प्रसंग में मतंग के एक उद्धरण को देकर कल्लिनाथ[1] ने उपर्युक्त मत को पुष्ट किया है।

शार्ङ्गदेव के इस कथन की व्याख्या करते हुए कि ग्रामरागों की संख्या तीस है, कल्लिनाथ ने उस प्रश्न को उद्‌धृत किया है जिसको मतंग ने उठाया था—'इस मान्यता का आधार क्या है कि ये राग निश्चित रूप से जातियों के विशेष संगठनों से सम्बन्धित हैं ?' कल्लिनाथ ने उनके इस प्रश्न के उत्तर को भी उद्‌धृत किया है जो इस प्रकार है—'इस मान्यता का आधार स्वयं भरतमुनि का यह प्रमाण सिद्ध कथन है कि 'जातियों (के संगठित रूपों) से उत्पन्न होने के कारण ही इनको ग्रामरागों के नाम से अभिहित करते हैं।'

इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य यह है कि भरतमुनि के शब्दों को ही कुछ अंशों में संशोधित करते हुए सिंह भूपाल ने इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है—'जातिसम्भूतत्वाद् रागाणाम् ।'

इसके अतिरिक्त शुद्धकैशिक राग के प्रसंग में कल्लिनाथ यह प्रश्न उठाते हैं कि 'यह हम किस प्रकार से जानते हैं कि कैशिकजाति से शुद्ध कैशिकराग उत्पन्न होता है ?' और इस मत की पुष्टि में (कि कैशिक जाति से शुद्धकैशिक

[1] सं० र० (व्याख्या) २-१-१

राग की उत्पत्ति होती है) वे युक्तियों का उल्लेख करने के बाद यह कहते हैं कि भरत मुनि आदि[1] की प्रामाणिकता के आधार पर भी यह सिद्ध है।

इस प्रसंग में हम यह कह सकते हैं कि प्रादेशिक संगीत की उन्मुखताओं को प्रकट करने वाले देशी रागों को भरतमुनि नहीं मानते थे। रागों के क्षेत्र में उनका विकास परवर्ती समय में हुआ था। और देशी रागों की संख्या सतत रूप से इतनी बढ़ती गई कि शार्ङ्गदेव ने इनको दो वर्गों में विभाजित किया—१ प्राक् प्रसिद्ध, पूर्ववर्ती शास्त्रकारों में प्रसिद्ध, तथा २ अधुना प्रसिद्ध[2] (तत्समय में प्रसिद्ध)। वस्तुतः मतंग देशी रागों की संख्या असंख्य[3] मानते थे।

२ शार्दूल

शार्दूल भरतमुनि के दूसरे समकालीन शास्त्रकार थे। क्योंकि संगीत मेरु में नृत्य विषयक शार्दूल[4] कोहल संवाद है। यह कहा जाता है कि शार्दूल 'भाषा' अर्थात् विभिन्न रागों में विभिन्न प्रकारों के आलाप, की उत्पत्ति के कारण-स्वरूप ग्रामरागों की संख्या केवल चार मानते थे। मतङ्ग इनकी संख्या छ, काश्यप बारह एवं याष्टिक पन्द्रह[5] मानते थे।

३ दत्तिल

ऐसा ज्ञात होता है कि दत्तिल भरत मुनि के तीसरे समकालीन शास्त्रकार थे। क्योंकि सरस्वती महल पुस्तकालय, तंजोर में एक पाण्डुलिपि सुरक्षित है जिसका नाम दत्तिल-कोहलीयम् है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसको दत्तिल अथवा दंतिल और कोहल ने मिल कर लिखा था। यह ग्रन्थ नृत्यकला के विषय में है। दत्तिल सङ्गीत शास्त्र के अत्यन्त प्रामाणिक शास्त्रकार थे। यह इससे सिद्ध है कि अभिनव भारती में अभिनवगुप्त ने अनेक बार उनका उल्लेख किया है। उनका विशेषरूप से उल्लेख उन्होंने सङ्गीत कला प्रतिपादक अध्याय २८ में किया है। उदाहरण के लिए गान्धर्व, दक्षिणावृत्ति, ताल, हस्तांगुलि-विकल्पन आदि विषयों पर दत्तिल के मतों का उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है।

---

[1] सं० र० (व्याख्या) २–२–३१ [2] सं० र० २—२–९
[3] सं० र० (व्याख्या) २–२–१९
[4] सं० र० (व्याख्या) ७–१–३५२
[5] सं० र० (परिशिष्ट) २० सं० र० (आनंद) ८६१

हमारा मत इस बात से भी कुछ अंशों में सिद्ध है कि भरतमुनि के जिन सौ शिष्यों के नामों की सूची प्राप्त होती है उसमें कोहल के उपरान्त दत्तिल का नाम लिखा हुआ है।

भरतमुनि के उत्तर कालीन शास्त्रकार

भरतमुनि के उत्तर कालीन शास्त्रकारों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) उनके नाट्यशास्त्र के टीकाकार एवं (२) सङ्गीत कला के वे शास्त्रकार जो उनके सम्प्रदाय को मान्य मानते हैं अथवा उनके मतों का संशोधन करते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के कुछ टीकाकारों के विषय में हमने अपने पूर्वलिखित ग्रन्थ अभिनवगुप्त—एन हिस्टारिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी—द्वितीय संस्करण पृष्ठ १८५–२०० में किया है। उस ग्रन्थ में हमने उनका विभाजन दो वर्गों में किया है—(१) वे शास्त्रकार जिनका रचनाकाल हमको निश्चित रूप से ज्ञात है, जैसे हर्ष, उद्भट, भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। तथा (२) वे शास्त्रकार जिनके विषय में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वे अभिनवगुप्त के पूर्वकालीन शास्त्रकार थे क्योंकि अभिनवगुप्त ने उनका उल्लेख अपनी टीकाओं में किया है, जैसे भट्ट यंत्र, कीर्त्तिधर एवं नान्यदेव। कीर्तिधर के विषय में इस स्थल पर यह और कह सकते हैं कि अभिनव-भारती के २९ वें अध्याय के श्लोक संख्या ११२ में अभिनवगुप्त ने अपने गुरुओं के उस कथन को उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने कीर्तिधर के मत को अमान्य सिद्ध किया है। वह उद्धरण इस प्रकार है :—

उपाध्यायास्त्वाहुः······त्रीण्येवात्र
मन्तव्यानि न तु चत्वारि यथा कीर्तिधरोऽभ्यधात्।

इस प्रकार से यह सिद्ध है कि कीर्तिधर अभिनव गुप्त से कम से कम दो पीढ़ी पूर्व हुए थे।

इस स्थल पर नान्यदेव के विषय में यह कह सकते हैं कि एक विद्वान ने जो यह लिखा है कि 'अभिनव भारती में उद्धृत एक अंश उन नान्यदेव की कृति में उपलब्ध है जो मिथिला देश के शासक थे और जिन्होंने १०९७ ई० से लेकर ११४७ ई० तक शासन किया था' ठीक नहीं है। अतएव दो नान्यदेव अर्थात् एक वे जिनको अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है और दूसरे वे जो मिथिला

देश के शासक थे और जिनकी लिखी हुई नाट्यशास्त्र पर टीका अध्याय २७ से लेकर अध्याय ३४ तक उपलब्ध हुई है, दो भिन्न व्यक्ति हैं।

उत्पलाचार्य

अभिनवगुप्त के मतानुसार उत्पलाचार्य सङ्गीत कला के एक प्रामाणिक शास्त्रकार थे। उनका जीवन काल नवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध भाग तक है। वे ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका तथा उस पर दो टीकाओं अर्थात् 'वृत्ति' और 'विवृत्ति' के प्रसिद्ध लेखक हैं। उत्पलाचार्य का उल्लेख अभिनवगुप्त सङ्गीत सम्बन्धी विभिन्न विषयों जैसे गीत[1] के अलंकरणों, ध्रुवा[2] आदि की व्याख्या के प्रसंग में करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्पलाचार्य ने कम से कम नाट्य शास्त्र के कुछ अंशों की एक टीका लिखी थी। क्योंकि अभिनव गुप्त ने मूलग्रन्थ की उत्पलाचार्य कृत व्याख्या का उल्लेख किया है और उसमें से विशदरूप[3] उद्धरण भी दिए हैं।

भरतमुनि के उपरान्त संगीत विषयक स्वतंत्र ग्रन्थों के लेखक शास्त्रकार

१. मतंग भरत मुनि के उत्तर कालीन शास्त्रकार थे। (१) क्योंकि मतंग ने भरतमुनि का उल्लेख 'मुनि' के नाम से किया है। यह उल्लेख उन्होंने उस प्रसंग में किया है जिसमें वे यह सिद्ध करते हैं कि दो ग्रामों में षड्ज प्रधान है क्योंकि 'मुनि ऐसा[4] कहते हैं।' (२) ग्राम-राग[5] के विषय में वे भरत मुनि को उद्धृत करते हैं। यह कहा जाता है कि अन्य संगीतकारों के साथ उन्होंने शिव को प्रसन्न करने के लिए[6] एक बांसुरी का आविष्कार किया था। बांसुरी को वंश इसलिए कहते हैं क्योंकि यह 'बांस' की बनी होती है। अपनी कृति बृहद्देशी में उन्होंने देशी रागों को सुव्यवस्थित किया था। यह

---

[1] अभि० भा० अध्या०–२९–श्लोक ३०
[2] अभि० भा० अध्या० ३२ श्लो० ४–६
[3] अभि० भा० अध्या० ३१ श्लो०–२६
[4] सं० र० (टीका) (अद्य०) भाग १–१०१
[5] सं० र० (टीका) (अद्य०) भा० २–१–१४
[6] अभि० भा० अध्या० ३० श्लो० १

एक अन्य कारण है जिससे यह सिद्ध है कि वे भरतमुनि के उत्तर-कालीन शास्त्रकार थे क्योंकि हम यह पूर्व लिखित एक उपप्रकरण में सिद्ध कर चुके हैं कि भरतमुनि देशी रागों को नहीं मानते थे ।

२–३. कम्बल और अश्वतर भरतमुनि के उत्तर कालीन शास्त्रकार हैं । क्योंकि स्वीकार यह किया जाता है कि पंचमी, मध्यमा एवं षड्जमध्यमा जैसी जातियों में स्वर-साधारण (वह स्वर जो दो स्वरों में इसलिए समान रूप से वर्तमान है क्योंकि यह स्वर विभिन्न स्वरों की श्रुतियों से रचित है जैसे कालकी और अन्तरा) के प्रयोग के विषय में भरतमुनि के सिद्धान्त में उन्होंने सुधार किया था । भरतमुनि ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि तीन जातियों में तत्संबन्धी स्वरसाधारणों को प्रयुक्त करना चाहिए । कम्बल और अश्वतर का मत यह है कि इनका प्रयोग रागभाषा आदि[1] में भी करना चाहिए ।

४. आंजनेय भरतमुनि के उत्तरकालीन शास्त्रकार थे, क्योंकि उन्होंने उस देशी राग की परिभाषा लिखी है जिसको भरतमुनि[2] ने स्वीकार नहीं किया था ।

अभिनव भारती में संगीत कला विषयक अनेक प्रामाणिक शास्त्रकारों का उल्लेख है जैसे भट्ट मातृगुप्त, लाट मुनि, विधात्राचार्य आदि । संगीत रत्नाकर की दो टीकाओं में विश्वावसु, उमापति, पार्श्वदेव आदि शास्त्रकारों का उल्लेख है । शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में[3] संगीत शास्त्र के उन प्रामाणिक शास्त्रकारों का उल्लेख किया है जिनके अभिमतों का अध्ययन उन्होंने अपने ग्रन्थ को लिखने के पूर्व किया था । उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि इन शास्त्रकारों का वस्तुतः अस्तित्व था एवं उनसे लिखित ग्रन्थ शार्ङ्गदेव को प्राप्त थे ।

अभिनव गुप्त

अभिनवगुप्त के विषय में उल्लेखनीय का अधिकांश भाग हम अपने पूर्व लिखित ग्रन्थ, अभिनवगुप्त–एन हिस्टारिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी, में लिख चुके हैं । उनके उन कुछ ग्रंथों से उनका जीवन समय ज्ञात होता है जिनमें उन ग्रन्थों का रचना काल लिखा हुआ है । अभिनवगुप्त का साहित्यिक जीवन

---

[1] सं० र० टीका (अद्य०) भा० १, अध्याय ७, २२

[2] सं० र० टीका (अद्य) भा० २–१५८–५९

[3] सं० र० भा० १, १५–१९

९९१ ई० से लेकर १०१५ ई० तक है। भारतीय संगीत कला के इतिहास में उनका स्थान सीमाचिह्न की भांति अत्यन्त महत्त्व पूर्ण और गौरवास्पद है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र के विषय में की गई अन्य टीकाओं का ज्ञान हमें अभिनवगुप्तकृत टीका से ही प्राप्त होता है। संगीत शास्त्र के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने जिन प्रामाणिक शास्त्रकारों का उल्लेख अपनी टीका में किया है उनके रचना काल के सम्बन्ध में हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना ईसा की दसवीं शताब्दी के पूर्व की थी।

वे केवल संगीत कला शास्त्र के सिद्धान्त प्रतिपादक ही नहीं थे वरन् स्वयं एक उच्चकोटि के गायक एवं वादक भी थे। संगीत विषयक अध्यायों की उनकी टीका से ही यह ज्ञात नहीं होता वरन् मधुराज योगिन् ने उनका एक शाब्दिक चित्र भी लिखा है जिससे यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। इस शाब्दिक चित्र में अभिनवगुप्त चेमराज आदि अपने सुप्रसिद्ध शिष्यों को नादवीणा बजाते हुए संगीत कला की शिक्षा दे रहे हैं। यह वर्णन अपनी सूक्ष्मताओं के प्रदर्शन से इतना अधिक पूर्ण है कि उक्त वर्णन के आधार पर अभिनवगुप्त का एक चित्र अंकित करवाकर मैंने अभिनवगुप्त नामक अपनी पुस्तक के द्वितीय संस्करण में प्रकाशित भी किया है। शाब्दिक चित्र का आवश्यक अंश निम्नलिखित है :—

आसीनः चेमराजप्रभृतिभिरखिलैः सेवितः शिष्यवर्गैः पादोपान्ते निषण्णैरवहितहृदयैरुक्तमुक्तं लिखद्भिः । वामश्रीपाणिपद्मस्फुरितनखमुखैर्वादयन् नादवीणाम् ।

जयदेव

जयदेव उन पांच रत्नों में से एक थे जिन्होंने बंगाल के शासक लक्ष्मणसेन (११७५–१२०० ई०) की राजसभा को अलंकृत किया था। भारतीय संगीत कला के इतिहास के दृष्टिकोण से उनका गीतगोविन्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि में जो गीत लिखे हैं उनके रागों तथा तालों को संक्षिप्त रूप से शास्त्रीय शब्दों में प्रकट किया गया है एवं उन नृत्यों का भी उल्लेख है जिनके साथ उनको गाना चाहिए। उन्होंने भरतमुनि प्रतिपादित इस सिद्धान्त को खण्डित कर दिया था कि उन्हीं छान्दिक रचनाओं को गेय बनाना चाहिए जिनमें काव्य-सौन्दर्य की कमी हो। काव्य-सौन्दर्य को संगीत की मधुरता से संश्लिष्ट करने की उनके पास आश्चर्य जनक प्रतिभा थी।

उनकी कलात्मक प्रतिभा की महानता इससे सिद्ध होती है कि सन् १२९२ ई० के एक शिला लेख में उनके ग्रन्थ[1] से एक श्लोक उद्धृत किया गया था और शताब्दियों तक उनके जन्म स्थान पर वार्षिक महोत्सव लोग मनाते थे जिसमें रात के समय उनकी कविताओं को निपुण गायक गाते थे।

संगीत-रत्नाकर के लेखक—शार्ङ्गदेव

काश्मीर देश में सन्त वार्षगण ने जिस वंश की स्थापना मूल रूप में की थी उसमें शार्ङ्गदेव का जन्म हुआ था। उनके एक प्राचीन पूर्वज भास्कर काश्मीर से दक्षिण भारत चले गए थे। सोढल नामक उनका एक पुत्र था। सोढल के उत्कृष्ट गुणों से यादववंशीय सिंहणदेव जो देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) के शासक थे (सन् १२१० ई० से लेकर सन् १२४७ ई० तक) उनकी ओर अत्यन्त आकृष्ट हुए थे। शार्ङ्गदेव इन्हीं सोढल के पुत्र थे। वे केवल विद्वान् ही नहीं थे वरन् पर्य्याप्त रूप से धनी भी थे। उन्होंने दरिद्र ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणायें दी थीं। जो उनसे शिक्षा लेने आते थे उनको वे ज्ञान भी देते थे। वे एक महान् चिकित्सक भी थे एवं अपनी गुणकारी औषधियों से विभिन्न प्रकार के रोगियों के कष्टों को दूर कर देते थे। वे ईसा की तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुए थे।

भारतीय संगीत के विषय में 'संगीत रत्नाकर' बृहद् विश्वकोष की भांति एक बृहदाकार ग्रन्थ है। इसकी रचना उन्होंने संगीत कला विषयक पूर्वकालीन प्रामाणिक शास्त्रकारों से रचित ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर की थी। ऐसे पूर्वकालीन प्रामाणिक शास्त्रकारों की तालिका ग्रन्थ के आरम्भ में लिखी हुई है। इस ग्रन्थ में संगीत कला के तीन परम्परागत अंशों अर्थात् वागिन्द्रिय जनित गान, वाद्य-यंत्र जनित गान एवं नृत्य की विशद रूप व्याख्या की गई है। संगीत रत्नाकर में विभिन्न रसों की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है और शार्ङ्गदेव ने यह स्पष्ट किया है कि अमुक रस को प्रकट करने में अमुक राग का प्रयोग करना चाहिए। भरतमुनि तथा मतंग के ग्रन्थों से अधिक विस्तार पूर्वक संगीत के सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में प्राप्त है। परन्तु इस ग्रन्थ का उन ग्रन्थों से सैद्धान्तिक भेद नहीं है। शार्ङ्गदेव ने इस ग्रन्थ में तेरहवीं शताब्दी की संगीतकला को भरत मुनि एवं मतंग की संगीत कला से सम्बन्धित करने का प्रयास किया था। परन्तु इस ग्रन्थ में शार्ङ्गदेव ने यह कहा है कि

* [1] हि० सं० लि० १९१–२

प्राचीन कालीन संगीत उनके समय में नष्ट हो चुका था। आधुनिक सङ्गीत में उन तत्वों का अभाव है जिनका प्रतिपादन शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ में किया था। अतएव वर्तमान समय में उनका सङ्गीत स्पष्टरूप से समझ में नहीं आता। आज उनसे विशदरूप में प्रतिपादित अधिकांश रागों को पहचानना भी असंभव सा है। परन्तु यह ग्रन्थ अत्यन्त आदरणीय इसलिए समझा जाता है क्योंकि तेरहवीं शताब्दी तक सङ्गीत कला के जिन रूपों एवं कृतियों का ज्ञान वर्तमान था उस सब की व्याख्या इस बृहदाकार ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाती है। इसी कारण से यह ग्रन्थ अनेक रूपों में एक उपयोगी पथ-प्रदर्शक का काम करता है। ज्ञात यह होता है कि शार्ङ्गदेव ने अन्य विषयों पर भी कुछ ग्रन्थ लिखे थे। उन्होंने शरीर-विज्ञान पर अध्यात्मविवेक नामक एक बृहदाकार ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ का उल्लेख शार्ङ्गदेव ने सङ्गीत रत्नाकर[1] में किया है।

भारतीय संगीत कला पर इस्लाम का प्रभाव

तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जब राजा सिंहण (सन् १२१०-१२४७ ई०) के आश्रय में रहते हुए शार्ङ्गदेव ने अपने सङ्गीत रत्नाकर की रचना की थी तभी देहली के सुलतान अलाउद्दीन ने उस नर्मदा नदी को पार किया (सन् १२९४ ई०) जो यादव राज्य[2] की उत्तरी सीमा थी। उन्होंने उस राज्य के तत्कालीन शासक रामचन्द्र को आत्म समर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया। इस घटना का भारतीय सङ्गीत पर विशेष प्रभाव पड़ा।

अलाउद्दीन (तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग तक) स्वयं सङ्गीत कला के एक महान् प्रेमी थे। अमीर खुसरो उनकी राजसभा में एक अद्वितीय गायक थे। उनमें सङ्गीत कला की एक विलक्षण प्रतिभा थी। उन्होंने रागों के नए एवं रमणीक तथा सूक्ष्म भेद युक्त रूपों के प्रयोग का आरम्भ किया था। अमीर खुसरो अनेक नए वाद्यों के आविष्कारक थे। उनमें से सितार सबसे अधिक प्रमुख है जो आज भी बहुत प्रचलित है। राजधानी होने के कारण देहली अमीर खुसरो के प्रभाव की केन्द्रस्थली थी। फारस देशीय सङ्गीत के वे महान् प्रतिपादक थे। इस सङ्गीत कला ने उत्तरी भारत के सङ्गीत को मुख्य रूप से प्रभावित किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि सङ्गीत के उत्तर भारतीय सम्प्रदाय ने एक नए स्वर-ग्राम अथवा सप्तक को अपना लिया। इसके कारण उत्तर एवं दक्षिण भारत के

[1] सं० र० (आन०) २५ * [2] अ० हि० इ० ४५२

सङ्गीत में एक भेद उत्पन्न हो गया। क्योंकि दक्षिणी भारत में प्राचीन स्वर-ग्राम ही प्रचलित रहा। यह लोक स्वीकृत तथ्य है कि सितार का शुद्ध स्वर-ग्राम उत्तरी भारतीय सङ्गीत सम्प्रदाय[1] के शुद्ध स्वर-ग्राम के तुल्य है।

गोपाल नायक

गोपाल नायक सम्भवतः अमीर खुसरो के समकालीन सङ्गीत-कला के एक अन्य महान् कलाकार थे। उनके समय का निश्चित प्रमाण इस तथ्य से ज्ञात है कि कल्लिनाथ ने सङ्गीत रत्नाकर की अपनी टीका में उनका उल्लेख[2] किया है। स्वयं कल्लिनाथ उन इम्मडिदेव के समकालीन थे जिन्होंने कर्णाट् की विद्यानगरी में सन् १४४६ ई० से लेकर सन् १४६५ ई० तक राज्य किया था। कल्लिनाथ के समय तक सङ्गीत कला के प्रामाणिक मर्मज्ञ के रूप में गोपाल नायक महान् ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अतएव यदि हम यह स्वीकार कर लें कि गोपाल नायक कल्लिनाथ से एक शताब्दी पूर्व हुए थे तो उनका जीवन-समय तेरहवीं शताब्दीका अन्तिम एवं चौदहवीं शताब्दी का पूर्व-भाग निर्धारित किया जा सकता है।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि मुसलमान इतिहासकारों का यह अभिमत है कि जब सन् १२९४ ई० में अलाउद्दीन ने दक्षिणी भारत पर आक्रमण किया उस समय उस प्रदेश में सङ्गीत कला उत्तरभारतीय सङ्गीतकला से इतनी अधिक समृद्ध थी कि लौटती हुई राजसेना के साथ वहां के सङ्गीतकार भी लाए गए थे और उनको उत्तर भारत में बसाया गया था। इसके अतिरिक्त कैप्टन विलर्ड[3] से उद्धृत एक कथा यह भी प्रचलित है कि अमीर खुसरो और गोपाल नायक में सङ्गीतकला सम्बन्धी प्रतिद्वन्द्विता का प्रदर्शन किया गया था। संग्रहीत प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध है कि गोपाल नायक दक्षिण भारत के एक लोक प्रसिद्ध महान् गायक थे और दक्षिण भारत के विजेता मुसलमान शासक तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में उनको उत्तर भारत को ले आए थे।

संगीत-रत्नाकर के टीकाकार

ऐसा सुनते हैं कि सङ्गीत रत्नाकर ग्रन्थ पर छ अथवा सात टीकाएँ लिखी गई थीं। परन्तु हमको चार टीकाओं के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण उपलब्ध

---

* [1] हिन्दू० म्यू० ८ [2] सं० र० टीका (आन०) अध्या० ५–२६१
* [3] म्यू० अ० इ० १२

होते हैं। १. सिंहभूपाल कृत सुधाकर नामक टीका। २. कल्लिनाथ कृत कलानिधि नामक टीका। इन दोनों टीकाओं को अडयार पुस्तकालय ने प्रकाशित किया है। ३. केशव रचित कौस्तुभ नामक टीका। गोविन्द दीक्षित कृत सङ्गीत सुधाकर में इस टीका का उल्लेख प्राप्त है (एनां स्फुटीकर्तुमिह प्रवृत्तौ यौ ब्राह्मणौ केशवकल्लिनाथौ) तथा ४. पण्डित गंगाराम रचित सेतुनामक टीका। इस टीका की एक प्रतिलिपि हमारे पास है जिसे हमने तंजोर पुस्तकालय से प्राप्त किया है। यह टीका बृज भाषा में लिखी है। समुचित प्रसंग में हम इसका उल्लेख करेंगे।

सिंह भूपाल

सङ्गीत रत्नाकर ग्रन्थ पर टीका लिखते हुए प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखित समाप्ति श्लोकों के अनुसार सिंह भूपाल उन राजा अनपोत के पुत्र थे जिनकी राजधानी इतिहासकारों के मतानुसार देवर कोंड़ा थी। अतएव वे ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अवसान भाग में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने विभिन्न विषयों पर अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना की थी—१. रसार्णव सुधाकर २. कुवलयावली ३. वेलुगोटिवारिवंशावली (तेलुगु भाषा में) ४. कन्दर्प सम्भव—इस ग्रन्थ का ज्ञान हमको केवल रसार्णव सुधाकर[1] में तत्सम्बन्धी उल्लेख से होता है। रसार्णव सुधाकर में सिंहभूपाल ने अपने वंश तथा परिवार का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है।

वे सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले विद्वान् थे और उन्होंने सङ्गीतकला[2] एवं संगीत शास्त्र दोनों का अध्ययन किया था। टीका लिखने के पूर्व तत्सम्बन्धी कठिन समस्याओं के विषय में उन्होंने समकालीन शास्त्रकारों[3] एवं संगीत मर्मज्ञों से वादविवाद तथा समस्यासमाधान भी किया था। उनका मत यह था कि भरत-मुनि आदि से स्थापित संगीत विषयक प्राचीन परम्परा इस कारण से नष्ट हो गई थी क्योंकि उनसे किये गये सङ्गीत शास्त्र का प्रतिपादन दुर्बोध हो चुका था। अतएव शार्ङ्गदेव ने उन ग्रन्थों को सुबोध बनाने के लिए अपने ग्रन्थ की रचना की। उनका ग्रन्थ प्राचीन मूल ग्रन्थों के दुर्बोध अर्थ को जानने के लिए मानो एक पगडण्डी के समान था। सिंह भूपाल ने उसको और भी

---

[1] र० सु० १५१

[2] सं० र० (टीका) भाग १ (अद्य०) पृ० ७

[3] सं० र० (टीका) भाग १ (अद्य०) पृष्ठ६

सहजगम्य बनाकर उस पगडण्डी को राजमार्ग[1] में बदल दिया। उनसे दिए गए अनेक उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने उन सब ग्रन्थों का अध्ययन किया था जिनका उल्लेख शार्ङ्गदेव ने संगीत रत्नाकर के प्रारम्भिक श्लोकों में किया है। सिंहभूपाल की टीका से संगीत रत्नाकर के कल्लिनाथ जैसे भावी टीकाकारों का काम अत्यन्त सरल हो गया।

२ कल्लिनाथ

भारतवर्ष में कलाओं का अस्तित्व एवं विकास सामान्यतः राजाओं के आश्रय में सम्भव हुआ। अतएव कर्णाटस्थित विद्यानगरी के शासक इम्मडिदेव (सन् १४४६ ई० से लेकर सन् १४६५ ई० तक) से शिष्टाचार पूर्वक कहे जाने पर कल्लिनाथ ने सङ्गीत रत्नाकर की टीका को लिखा था। इम्मडिदेव के पिता का नाम देवराज और उनके पितामह का नाम विजय था। वे यादववंशी थे। उन्होंने महान् सङ्गीतकारों की एक सभा को संगठित किया था। कल्लिनाथ उन सब में प्रमुख तथा सुयोग्य थे। इस श्रेष्ठता के कारण ही उनको अभिनव भरताचार्य कहा जाता था। उनके गुरु का नाम चन्द्र भूषण था। कल्लिनाथ के पितामह का नाम तुत्तालेश्वरदेव, पिता का नाम लक्ष्मीधर और जननी का नाम नारायणी[2] था। उनकी टीका का नाम कलानिधि है। कल्लिनाथ संगीतशास्त्र एवं संगीतकला दोनों में निपुण थे। सिंह भूपाल कृत टीका से उनकी टीका इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने विभिन्न जातियों आदि में वर्तमान विशेष स्वरसंगठनों का भी वर्णन अपनी टीका में किया है।

लोचन कवि

यह ज्ञात होता है कि रागतरङ्गिणी के लेखक लोचन कवि का जीवन समय चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग एवं पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है, यद्यपि उन्होंने अपने ग्रन्थ के रचनाकाल का उल्लेख १०६२ शक सम्वत् दिया है जो सन् ११४० ई० होता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी टीका में संगीत शास्त्र के दो प्रमुख आचार्यों जयदेव (बारहवीं शताब्दी) एवं विद्यापति (चौदहवीं शताब्दी) का उल्लेख किया है और उनके ग्रन्थों से उद्धरण दिए हैं।

---

[1] सं० र० टीका भाग १ (अद्य०) पृष्ठ ६

[2] सं० र० टीका भाग १ (अद्य०) २–३

उत्तर भारत के आधुनिक संगीत के दृष्टिकोण से उनका स्थान महत्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने जिस शुद्ध स्वर-ग्राम, अथवा सप्तक को स्वीकार किया है वह वर्तमान समय के काफी राग के सप्तक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उन्होंने बारह जनक मेलों को स्वीकार कर उनके अन्तर्गत जन्य रागों का वर्गीकरण किया है। अपने रागों का वर्णन करने में उन्होंने बारह स्वरों का प्रयोग किया है। मध्यम ग्राम को छोड़ कर वे षड्ज ग्राम को ही केवल स्वीकार करते हैं।

रामामात्य

'स्वरमेल कलानिधि' के लेखक रामामात्य उन रामराज के समकालीन थे जो विजयनगर का शासन कार्य यथार्थ रूप में संचालित करते थे यद्यपि वास्तविक शासक सदाशिव थे। यह इस तथ्य से सिद्ध है कि सन् १५४२ ई० से लेकर सन् १५६८ ई० तक के अनेक शिलालेखों में उनको शासक स्वीकार किया गया है। अतएव यह निश्चित है कि सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उनका जन्म हुआ था। स्वर मेल कलानिधि के ग्रन्थ समाप्ति के श्लोकों से यह कथन विश्वासोत्पादक रूप से सिद्ध हो जाता है। क्योंकि इन श्लोकों में यह कहा गया है कि इस ग्रंथ की समाप्ति १४७२ शक संम्वत् अर्थात् १५५० ई०[1] में की गई थी।

रामामात्य से रामराज ने यह कहा था कि वे संगीत शास्त्र के तत्कालीन विरोधी मतों में सामंजस्य स्थापित करने के लिये एक ग्रंथ की रचना करें। स्वर मेल कलानिधि ग्रन्थ की रचना लोचन कवि ने इस कथनानुसार की थी।

वस्तुतः सिद्धान्तों की रचना का आधार विषयभूत तथ्य ही होते हैं। नए शास्त्रकार तत्कालीन उन ज्ञात तथ्यों के आधार पर सिद्धान्त स्थापित करते हैं जो उनके पूर्ववर्ती शास्त्रकारों से अनदेखे रह गए थे अथवा जिनका उनके समय में अस्तित्व नहीं था। अन्य स्वतन्त्र कलाओं की भांति संगीत भी रुचि, प्रतिभा अथवा आन्तर प्रेरणा पर अवलम्बित है। रुचि परिवर्तन शील है और संगीतकार की प्रतिभा नूतन आन्तर प्रेरणाओं से प्रेरित होती रहती है। इस प्रकार से समयानुसार संगीतकला का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहा है। नये शास्त्रकारों का कर्तव्य यह है कि आन्तरप्रेरणाप्रेरित प्रतिभाशालियों की कृतियों के आधार पर लोक की परिवर्तनशील रुचि के अनुरूप नवीन सिद्धान्तों की रचना करें।

---

[1] स्व० मे० क– ३७

अतएव यदि हम सामवेद के प्राचीनतम संगीत पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होता है कि इस संगीत के विशिष्ट स्वरूप का कारण वैदिक भाषा के उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित स्वर थे। सामवेदिक संगीत के इस स्वरूप का प्रतिपादन ब्राह्मणों, प्रातिशाख्यों शिक्षाओं तथा सूत्र ग्रन्थों में किया गया है। संगीतकला के सामवेदिक स्वरूप से गान्धर्व स्वरूप संगीत का आविर्भाव हुआ और गान्धर्ववेद में उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। संगीत के गान्धर्व स्वरूप से वैदिकोत्तर शास्त्रीय संगीत का उद्भव हुआ। इस संगीत का आधार श्रुतिव्यवस्था थी। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इस संगीत का सम्यक् प्रतिपादन किया। इसके उपरान्त देशी रागों का उत्थान हुआ और मतंग ने इनका प्रतिपादन अपने बृहद्देशी ग्रन्थ में किया। मतंग के उपरान्त संगीत कला का जो विकास हुआ उसका व्यवस्थितरूप सिद्धान्त शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में प्रतिपादित किया। परन्तु उनके उपरान्त संगीत कला के एक ऐसे स्वरूप का आगमन हुआ जो उससे भिन्न था जिस पर भरतमुनि अथवा शार्ङ्गदेव से प्रतिपादित सिद्धान्त आधारित थे। प्रचलित संगीत और प्राचीन सिद्धान्तों की इस विषमता को रामामात्य के समकालीन शास्त्रकारों ने देखा। इसीलिए उनसे ऐसे ग्रन्थ की रचना करने के लिए कहा गया जिससे प्रचलित संगीत एवं सिद्धान्त का समन्वय हो जाय। रामामात्य ने समन्वयोत्पादक इस सिद्धान्त का अनुसरण किया कि सिद्धान्त को व्यवहार का अनुगामी होना चाहिए। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक शार्ङ्गदेव[1] थे। अतएव रामामात्य ने अपने पूर्वकालीन शास्त्रकारों के सिद्धान्तों का संशोधन इस रूप में किया कि वे तत्कालीन संगीतकला के व्यावहारिक रूप के अनुकूल बन जायें। जैसे कि शार्ङ्गदेव विकृत स्वरों की संख्या बारह बताते हैं। परन्तु रामामात्य उनकी संख्या सात ही मानते हैं। इसको सिद्ध करते हुए वे यह कहते हैं कि स्वरों की संख्या सात इसलिए है क्योंकि वर्तमान काल में केवल सात स्वर ही व्यवहार में आते[2] हैं।

ग्वालियर का संगीत सम्प्रदाय

संगीत के ग्वालियर सम्प्रदाय का नेतृत्व राजा मानसिंह के हाथों में था। गायन की वर्तमान ध्रुपद रीति का आरम्भ उन्होंने ही किया था। उनके पश्चात्

---

[1] सं० र० (आन०) अध्याय० ६–५–३३

[2] स्व० मे० क० ११

भवदत्त (सन् १८०० ई०) ने ध्रुपद की परिभाषा को स्वकृत अनूप संगीत रत्नाकर नामक ग्रन्थ में लिखा था ।

इस सम्प्रदाय के एक प्रधान गायक नायक बच्चु थे । ये मानसिंह के पुत्र राजा विक्रमजीत की राजसभा के एक सदस्य थे । जब विक्रमजीत का राज्य नष्ट हो गया तो नायक बच्चु कलिंजर के शासक राजा किरत के पास चले गए । अन्त में वे वहां से गुजरात के सुलतान बहादुर (सन् १५२६-३६ ई०) की राजसभा में रहे थे ।

इस युग के संगीतकला विषयक दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । उनमें से एक रागदर्पण और दूसरा मानकुतूहल है । ज्ञात यह होता है कि रागदर्पण में अन्य विषयों के साथ महान संगीतकारों के उस सम्मेलन की कार्यवाही का उल्लेख था जो राजा मानसिंह के आश्रय में सम्पन्न हुआ था । मानकुतूहल हिन्दी भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ है जिसका प्रणयन राजा मानसिंह के आदेश से हुआ था । फ़ारसी भाषा में इसका अनुवाद फक़र उल्ला ने किया था ।

अकबर के शासनकाल में संगीतकला

अकबर (सन् १५६२-१६०४ ई०) संगीत कला के अत्यन्त प्रेमी थे और उसको विकसित करने के लिए उन्होंने यथेष्ट मात्रा में प्रोत्साहन प्रदान किया था । आइन-इ-अकबरी में अकबर की राजसभा के छत्तीस संगीत कलाकारों के नामों का उल्लेख है । उनमें चार अथवा पाँच हिन्दू[1] संगीतज्ञों के भी नाम हैं ।

अकबर के युग में अपने समय के संत-संगीतकला के सर्वश्रेष्ठ मर्मज्ञ हरिदास स्वामी वृन्दाबन में रहते थे । वे लोक प्रसिद्ध गायक तानसेन के गुरु थे । इस्लामधर्म में दीक्षित होने के पूर्व तानसेन का नाम तन्ना मिश्र था । उदयपुर के राणा की पत्नी मीराबाई जो एक महान् कवयित्री तथा गायिका थीं, अमरयशभागी सन्त तुलसीदास और पुण्डरीक विट्ठल अकबर के शासन काल में ही वर्तमान थे । पुण्डरीक विट्ठलकृत चार ग्रंथ बीकानेर पुस्तकालय में सुरक्षित हैं ।—१ षड्राग चन्द्रोदय २ रागमाला ३ रागमंजरी एवं ४ नर्तन-निर्णय । संगीत कला के शास्त्रीय पक्ष तथा व्यवहारिक पक्ष में जो विषमता और विश्रृंखलता वर्तमान थी उसका परिहार उन्होंने शार्ङ्गदेव प्रतिपादित उस मूल सिद्धान्त के अनुसार किया जिसका उल्लेख हम गत पृष्ठ में कर आए हैं ।

---

* [1] म्यू० अ० इ०-२२

षड्राग चन्द्रोदय[1] के आरम्भ में स्वयं उन्होंने यह लिखा है कि खानदेश के बुरहन खां ने उनसे ऐसे ग्रन्थ को लिखने के लिए कहा था। बुरहन खां अकबर के समकालीन थे।

जहाँगीर के शासन काल में संगीतकला

ज्ञात यह होता है कि अकबर के उत्तराधिकारी जहांगीर ने (सन् १६०५ ई०–सन् १६२७ ई०) हिन्दू संगीतकलाकारों को आश्रय नहीं दिया था। क्योंकि तुजुक एवं इकबाल नामा में जहांगीर की राजसभा के संगीतकलाकारों की जिस सूची का उल्लेख है उसमें एक भी हिन्दू संगीत कलाकार का नाम नहीं है। परन्तु संगीतकला के विषय में संस्कृत भाषा के ग्रन्थों का लिखा जाना चलता रहा। उन ग्रन्थों में संगीतकला की नवीन उन्मुखताओं एवं समकालीन विचारधाराओं को व्यवस्थित रूप में प्रकट किया गया था। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखे गए प्रमुख ग्रंथ संगीत दर्पण की रचना लक्ष्मीधर के पुत्र पण्डित दामोदर ने की थी। इस ग्रन्थ के महत्व को आगामी शताब्दी में भी संगीत-कला के अहिन्दू उत्तराधिकारियों ने स्वीकार किया था। क्योंकि इस ग्रंथ का अनुवाद फारसी भाषा में किया गया था और उसको एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था। मिर्जा खान् ने तोफ्तुलहिन्द नामक फारसी भाषा में एक संकलन ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ में संगीत कला विषयक एक विशदरूप अध्याय था। इस अध्याय में संगीत दर्पण से अनेक उद्धरण दिए गये थे।

दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ जिसकी रचना सम्भवतः सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में की गई थी संगीतपारिजात है। इसकी रचना श्रीकृष्ण के पुत्र अहोबल ने की थी। इस ग्रन्थ का भी अनुवाद फारसी भाषा में सन् १७२४ ई० में किया गया था। इसके अनुवादक वासुदेव के पुत्र दीनानाथ थे। इस ग्रंथ का महत्व यह है कि इसके लेखक ने उन बारह स्वरों का वर्णन वीणा के तारों की झङ्कार की लम्बाई के अनुसार किया है जिनका उपयोग वे स्वयं गायन में किया करते थे।

भारतीय संगीत कला पर औरंगजेब का दमन

शाहजहां (सन् १६२७ ई० से सन् १६५८ ई०) ने हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के संगीत कलाकारों को आश्रय प्रदान किया था। आइन–इ–अकबरी में यह लिखा हुआ है कि शाहजहां की राजसभा में तीन

---

* [1] म्यू० अ० इ० २२

प्रमुख संगीत कलाकार थे—१ जगन्नाथ–इनको पण्डितराज (कविराज) की उपाधि से सम्राट् ने विभूषित किया था। २. दिरंगखान और ३. लालखान–इनको गुण समुद्र की उपाधि दी गई थी। पण्डितराज जगन्नाथ तथा दिरंगखान को चांदी से तोला गया था और प्रत्येक को ४५०० रुपया राज्य की ओर से भेंट किया गया था। यह ध्यान देने योग्य है कि रसगंगाधर, भामिनीविलास आदि के सुप्रसिद्ध लेखक जगन्नाथ पण्डितराज एक यशस्वी संगीतज्ञ भी थे।

परन्तु शाहजहां के उत्तराधिकारी औरङ्गजेब ने संगीतकला और नृत्यकला का दमन यथाशक्ति किया था। ऐसा करने में उन्होंने इस्लाम धर्म के पैगम्बर के आदेश का अनुगमन किया था। स्वयं मोहम्मद साहब को स्वाभाविक रूप से संगीतकला से कोई रुचि नहीं थो अतएव बिना अधिक विचार किए हुए उन्होंने शैतान को संगीतकला की मधुरता का जनक निर्धारित कर दिया था। सम्राट् औरंगजेब ने इन कलाओं को पूर्णतया नष्ट करने का दृढ संकल्प किया और इनको नष्ट करने के लिए राजकीय कठोर आदेश जारी किए गए। संगीत सभाओं और संगीत मण्डलियों पर राजकीय पुलीस आक्रमण करने लगी और उनके वाद्ययन्त्रों को जलाया जाने लगा। एक शुक्रवार को औरंगजेब नमाज़ अदा करने मस्जिद को जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने संगीत कलाकारों की एक बड़ी भीड़ को मातम मनाते हुए एक जनाजे को ले जाते हुए देखा। वे अपने विलापों और 'हाय हाय' की आवाज़ों से जैसे आसमान को हिलाए दे रहे थे। ऐसा ज्ञात होता था कि वे एक महान शहजादे को दफनाने जा रहे हैं। सम्राट् औरंगजेब ने एक राजकर्मचारी को उस प्रदर्शन के कारण को जानने के लिए भेजा। वापस आकर उसने कहा कि "जहांपनाह! संगीत के कलाकार संगीत-कला का जनाज़ा लिए जा रहे हैं। जहांपनाह की आज्ञा से संगीतकला कत्ल की गई है। उसकी सन्ताने रो पीट रहीं हैं।" यह सुनकर औरंगजेब ने कहा "मैं उनकी धर्मनिष्ठा की प्रशंसा करता हूं—वे लोग उसको खूब गहराई में दफन करें जिससे उसकी आवाज फिर कभी सुनाई न पड़े।'

औरंगजेब की इस कठोरता का परिणाम यह हुआ कि प्रतिभावान संगीत कलाकारों को भाग कर तत्कालीन शक्तिशाली राजाओं की शरण में जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार के संगीतकलाकार वे भावभट्ट थे जो बीकानेर के शासक अनूपसिंह की राजसभा में वर्तमान थे। १. अनूप रत्नाकर २. अनूप विलास एवं ३. अनूपांकुश उनके ज्ञात ग्रन्थ हैं। हिन्दू राजाओं ने प्राचीन संगीतकला के प्रति अपनी रुचि को नष्ट नहीं होने दिया। इस प्रकार से जयपुर

के महाराणा प्रतापसिंह देव (सन् १७७९ ई० से सन् १८०४ ई० तक) ने पण्डितों तथा निपुण संगीतकलाकारों को आमंत्रित कर हिन्दुस्तानी संगीतकला के विषय में 'संगीत सार' नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना करवाई थी।

संगीतरत्नाकर व्याख्या सेतु

उन्नीसवीं शताब्दी के राजवंशों में जयपुर के महाराणा प्रतापसिंह देव संगीत प्रेमियों में अकेले व्यक्ति नहीं थे। इस शताब्दी के मध्यभाग में रीवां के शासक महाराजा विश्वनाथ सिंह दूसरे भारतीय राजा थे जो केवल संगीतकला के प्रेमी ही नहीं थे वरन् स्वयं संगीत कला[1] में दक्ष भी थे। रीवां राजवंश के अधिष्ठाता महाराजा व्याघ्रदेव से तीसवीं पीढ़ी में वे उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म सन् १७८९ ई० में हुआ था। उन्होंने सन् १८३३ ई० से लेकर सन् १८५४ ई० तक शासन किया था। उनको लोग मूर्तमान राग मानते थे (रागरूपी नृपेन्द्रः)। उनके प्रश्रय में रहते हुए उनके आदेश पर पण्डित गंगाराम ने बृजभाषा में संगीतरत्नाकर पर 'सेतु' नामक टीका लिखी थी।

पण्डित गंगाराम का जन्म मथुरानिवासी[2] एक परिवार में हुआ था। समकालीन निपुण संगीत कलाकारों के अभिमतों को पूर्णतया समझ कर उन्होंने संगीत रत्नाकर की टीका लिखी थी। इस टीका को 'सेतु' कहने का कारण यह ज्ञात होता है कि वे इस नाम से यह अर्थ प्रकट करना चाहते थे कि यह टीका संगीत रत्नाकर में वर्तमान संगीतकला विज्ञान के ज्ञान स्वरूप सागर को पार करने का अर्थात् उसको अवगत करने का साधन है। सरस्वती महल पुस्तकालय तंजौर में इस टीका की पाण्डुलिपि सुरक्षित है। इसकी संख्या $\frac{१९५८ \text{ ए}}{१०७५४}$ है। यह ग्रन्थ देवनागरी लिपि में लिखा हुआ है और पूर्ण रूप से भली दशा में है।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्वावलम्बी उत्साही संगीत कला के मर्मज्ञों ने संगीतकला विषयक ग्रन्थों को संकलनात्मक रूप में लिखा था। इस शताब्दी में लिखा गया महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ संगीत कल्पद्रुम है। इसकी रचना एक स्वावलम्बी विद्वान कृष्णानन्द व्यास ने की थी। वर्तमान शताब्दी में लिखे गए संगीतकला विषयक निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—हैदराबाद के पंडित अप्पतुलसीकृत संगीतकल्पद्रुमांकुर तथा रागचन्द्रिका एवं यशस्वी पण्डित वी० एन् भातखण्डे कृत लक्ष्यसंगीत और हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति हैं।

---

[1] सं० र० से० (पाण्डु०) २ [2] सं० र० से० (पाण्डु०) ३

संगीत कला के उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय सम्प्रदाय।

शार्ङ्गदेव के समय तक उत्तर एवं दक्षिण भारत की संगीत कला में कोई महत्त्वपूर्ण भेद वर्तमान नहीं था। क्योंकि सम्पूर्ण भारतवर्ष के संगीतज्ञ उनके शास्त्र को प्रामाणिक मानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर तथा दक्षिण भारत की संगीत कलाओं में भेद उस समय उत्पन्न हुआ जब उत्तर भारत पर मुसल्मानों के आक्रमण सफल हो चुके थे और फारस के संगीत का प्रभाव उस पर व्याप्त होने लगा था। उत्तर भारत की संगीत कला पर फ़ारस देश का जो चिरस्थायी प्रभाव पड़ा वह यह था कि उसने एक नए सप्तक को अपना लिया। दक्षिण भारत में प्राचीन सप्तक उस समय भी मान्यरूप में वर्तमान रहा। विश्वास यह किया जाता है कि उत्तर भारत में नए सप्तक का प्रचार अमीर खुसरो द्वारा फ़ारसदेशीय संगीत-कला के प्रतिपादन के कारण हुआ था। क्योंकि उत्तर भारत का मूल सप्तक वही है जो अमीर खुसरो से आविष्कृत सितार का सप्तक है।

संगीतकला के उत्तर एवं दक्षिण संम्प्रदायों का यह भेद उस समय और अधिक बढ़ गया जिस समय दक्षिण भारत की संगीतकला के शास्त्रकारों ने ग्राम, मूर्च्छना और जाति के आधार पर रागों को रचने और राग रागिनी एवं पुत्र[1] की काल्पनिक व्यवस्था में रागों के वर्गीकरण करने का भी परित्याग कर दिया। संगीत सार के लेखक विद्यारण्य (सन् १३२० से सन् १३८० ई० तक) संगीत कला के वे प्रथम शास्त्रकार हैं जिन्होंने पन्द्रह मेलों और उनसे जन्य रागों को नियमानुसार व्यवस्थितरूप में प्रकट किया है। उनसे केवल रागों के उत्पत्ति का नया सिद्धान्त ही नहीं प्राप्त होता है वरन् रागों के वर्गीकरण का वैज्ञानिक सिद्धान्त भी उपलब्ध हो जाता है।

इनके कुछ ही समय के बाद उन लोचन कवि ने जिनके विषय में हम गत पृष्ठों में लिख आए हैं अपने ग्रन्थ रागतरंगिणी में बारह मेलों का प्रतिपादन किया और उनके अन्तर्गत[2] पचहत्तर जन्यरागों का वर्गीकरण किया। ईसा की सोलहवीं शताब्दी में उत्पन्न रामामत्य ने अन्त में इस मत को स्वीकार कर लिया कि मेलों की संख्या केवल पन्द्रह है। इसके पहले उन्होंने मेलों की संख्या

---

[1] स्व० मे० क० ६०   * [2] सा० इ० म्यू० ७८

बीस स्वीकार की थी।[1] परन्तु अन्त में उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि जिन बीस मेलों का प्रतिपादन उन्होंने किया है उनमें से पांच मेल इन पन्द्रह मेलों में अन्तर्भूत हैं।

परन्तु ज्ञात यह होता है कि विद्यारण्य, लोचन कवि एवं रामामात्य ने मेलों के उद्‌भव का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया था उसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। ऐसा लगता है कि तत्समय में प्रचलित मेलों का ही उल्लेख उन्होंने किया था। मेलों के वैज्ञानिक आधार का सर्वप्रथम आविष्कार वेंकट मखिन (ईसा की सतहरवीं शताब्दी का पूर्वार्ध भाग) ने किया था। ऐसा उनके ग्रंथ चतुर्दंडिप्रकाशिका से प्रकट होता है। उन्होंने स्वरों के आधार पर मेलों का वर्गीकरण किया है। जितनी संख्या में विभिन्न स्वरों के मिश्रण सम्भव हो सकते हैं उतनी ही संख्या मेलों की भी हो सकती है। अतएव वे जब बहत्तर मेलों का वर्णन करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि इन सभी मेलों को उन्होंने व्यावहारिक रूप में देखा है वरन् गणित शास्त्रीय विधि के अनुसार वे यह निर्धारित करते हैं कि मेलों की इतनी संख्या हो सकती है और वे संगीत-कला[2] की भावी विकास दिशा को भी प्रकट करते हैं।

वस्तुतः वेंकट मखिन ने स्वयं केवल उन्नीस मेलों की व्याख्या की है और स्पष्ट रूप से यह कहा है कि अपने समय[3] में केवल इन्हीं मेलों को व्यवहारिक रूप में सुना है। रामामात्य ने जो बीस मेलों का प्रतिपादन किया था उसका खण्डन वेंकट मखिन ने प्रचण्ड रूप में किया है। क्योंकि रामामात्य के सिद्धान्त के अनुसार सारंगनाट एवं केदारगौल पूर्णतया एक स्वरूप हैं। रामामात्य ने जिन पन्द्रह मेलों को बाद में स्वीकार किया था उनका भी खण्डन वेंकट मखिन ने उसी प्रचण्डता से किया है। उनके मतानुसार रामामात्यकृत ग्रन्थ में सैकड़ों दोष[4] वर्तमान हैं।

यद्यपि सोमनाथ ने अपने रागविबोध में तथा अहोबल ने अपने संगीत-पारिजात में मेलों की विभिन्न योजनाओं का प्रतिपादन किया, फिर भी वे योजनाएं इतनी अधिक जटिल थीं कि व्यवहार में उनको लाना असंभव था। इसलिए उन योजनाओं को छोड़ दिया गया। परन्तु वैज्ञानिक आधार पर स्थित होने तथा व्यावहारिक रूप में उपयोगी सिद्ध होने के कारण वेंकटमखिन से

---

[1] स्व० मे० क० २७ [2] च० प्र० ४२-३

[3] च० प्र० ५२ [4] च० प्र० ५३

प्रतिपादित योजना को स्वीकार कर लिया गया और आज भी उसका व्यवहार प्रचलित है।

वेंकट मखिन के अनुयायिओं में से निम्नलिखित प्रमुख सङ्गीत कला के आचार्यों का नाम उल्लेखनीय है—(१) तंजौर के राजा तुलज। इन्होंने लगभग १७३५ ई० में संगीतसारामृत तथा आयुर्वेद ज्योतिष आदि विभिन्न विषयक ग्रन्थों की रचना की थी। (२) त्यागराज (३) मुत्तूस्वामी दीक्षित एवं (४) श्याम शास्त्री। इनमें से त्यागराज एवं मुत्तूस्वामी दीक्षित ने वेंकटमखिन से प्रतिपादित नूतन मेल–योजना में गाए गए अमर गीतों से उनके सिद्धान्त की सत्यता को और भी अधिक पुष्ट कर दिया है।

उत्तर भारत की संगीत कला पर मेल–मत का प्रभाव

वेंकट मखिन से प्रतिपादित मेल–कर्त्ता संगीतरीति दोषहीन, वैज्ञानिक एवं व्यवहार में सुकर है यह इससे सिद्ध है कि संगीतकला के उत्तर भारतीय सम्प्रदाय ने बिना अपने एक भी विशेषगुण को नष्ट किए इसको अपना लिया है। यह काम आधुनिक समय के सर्वश्रेष्ठ शास्त्रकार भातखण्डे ने किया है। उत्तर भारत के सांगीतिक सम्प्रदाय के वे सर्वोत्तम प्रतिपादक और प्रचारक थे। हिन्दुस्तानी संगीतकला को जो उनकी महत्त्वपूर्ण देन है और उनकी अमूल्य सेवाओं ने जो समृद्धता उसको प्रदान की उसके सम्मान में लखनऊ नगर में 'हिन्दुस्तानी संगीतकला भातखण्डे विश्वविद्यालय' की स्थापना की गई। मेल-कर्ता संगीत रीति को उन्होंने अपने संस्कृत भाषा में लिखे हुए 'लक्ष्य संगीत' नामक ग्रन्थ में मान्य स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९१० ई० में हुआ था। इसमें मुद्रित लेखक का नाम अप्रचलित है। इस ग्रन्थ में लेखक ने यह चेष्टा की है कि वर्तमान हिन्दुस्तानी संगीत को अधिक वैज्ञानिक आधार पर इसलिए प्रतिपादित किया जाय जिससे कि उसका अध्ययन सरल और उसका व्यवहार अधिक रमणीक हो जाय। अनेक दुर्बलताओं से युक्त होने पर भी भातखण्डे से प्रतिपादित संगीत कला की पद्धति एवं विधि उत्तर प्रदेश तथा बंगाल प्रदेश में अत्यन्त प्रचलित एवं आदरणीय मानी जाती है। सरलता के साथ[1] संगीत–कला का अध्ययन करने और उसकी शिक्षा प्रदान करने में इस प्रणाली की सर्वोत्कृष्ट उपयुक्तता को सभी स्वीकार करते हैं।

---

* [1] हि० म्यू० २१

अध्याय १३

संगीत कला दर्शन

भारतवर्ष में छान्दोग्य उपनिषद् से लेकर आधुनिक समय तक संगीत कला की दर्शन सम्बन्धी चिन्तना दार्शनिकों ने की है। इस चिन्तना से जिन समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की गई है वे निम्नलिखित हैं:—सांगीतिक स्वरों का मूल उद्‌गम क्या है? संगीतकलाजन्य अनुभव के अलौकिकतल पर संगीत कला जनित अनुभव का तात्विक स्वरूप क्या है? प्रभावजनक सांगीतिक स्वरों को उत्पन्न करने की शक्ति किस प्रकार से प्राप्त की जा सकती है? परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए संगीतकला को योगाभ्यास से श्रेष्ठतर क्यों माना गया है? वे कौन से प्रभाव हैं जिनके कारण संगीत कला के दर्शन का विकास हुआ?

उपर्युक्त समस्याओं के समाधान की चेष्टा प्रधानरूप से द्वैत तथा अद्वैत मतों के प्रतिपादक शैवागमों के ज्ञान के आधार पर की गई है। इनमें से कुछ समस्याओं के समाधान की चेष्टा अभिनवगुप्त ने स्वरचित ग्रन्थ तन्त्रालोक में अद्वैत शैवमत के दृष्टिकोण से की है। श्रीकण्ठ ने अपने ग्रन्थ रत्नत्रय में एवं रामकण्ठ ने अपने ग्रंथ नादकारिका में द्वैत शैवमत के आधार पर उन्हीं समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है। हठयोगप्रदीपिका जैसे योगविषयक ग्रन्थों में विविध चक्रों के वर्णन के प्रसंग में चक्रों के उन अंशों का उल्लेख किया गया है जिनपर प्राणवायु को केन्द्रित करने से संगीतकला में पूर्ण दक्षता प्राप्त की जा सकती है। संगीत रत्नाकर में शार्ङ्गदेव योगविषयक सम्प्रदाय का केवल अनुगमन ही नहीं करते वरन् संक्षिप्त रूप में नादब्रह्मवाद का भी प्रतिपादन करते हैं। कल्लिनाथ और सिंहभूपाल अपनी टीकाओं में स्वभावतया शार्ङ्गदेव के मत को ही मान्य मानते हैं। श्रीमद्‌भागवत महापुराण (स्कन्द १२ अध्याय ६) में नाद की समस्या की व्याख्या की गई है। नागेशभट्ट ने लघुमंजूषा में इसका उल्लेख सांगीतिक स्वरों के मूल उद्‌भव की व्याख्या के प्रसंग में किया है। लघुमंजूषा की टीका में पंडित सभापति उपाध्याय एवं वाक्यपदीयम् की टीका (ब्रह्मकाण्ड) में पण्डित सूर्यनारायण शास्त्री ने इस समस्या के कुछ अंशों को अधिक विस्तार में प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में संगीतकला के आध्यात्मिक महत्व की स्वीकृति

उपनिषदों के रचनाकाल में सङ्गीतकला का आध्यात्मिक महत्व पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था। क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में उद्गीथोपासना[1] की विधि का उल्लेख किया गया है। इस विधि के अनुसार उद्गीथ अर्थात् ओम् अक्षर अथवा सामवेद के दूसरे भाग का वीणा[2] वादन के साथ गान करते हुए ब्रह्म के चिन्तन करने का उपदेश है। रत्नप्रभा[3] जैसे प्रामाणिक भाष्य में भी यह प्रतिपादित किया गया था कि उद्गीथ परब्रह्म के साक्षात्कार का साधन है। याज्ञवल्क्य का भी यह अभिमत था कि संगीतकला परममोक्ष की साधिका है। इसका उल्लेख हम एक पूर्व अध्याय में कर चुके हैं।

अभिनवगुप्त का संगीतकला दर्शन

अद्वैत शैवमत के आधार पर अभिनवगुप्त ने अपने संगीतकलादर्शन का प्रतिपादन किया है। तन्त्रालोक के तीसरे आह्निक में संगीतकलादर्शन को निरूपित किया गया है। इस प्रसंग में उन्होंने अद्वैत शैवमत प्रतिपादक शैवागमों जैसे परात्रिंशिका, विज्ञान भैरव, कुलगह्वर, त्रिशिरोभैरव आदि आगमों से उद्धरण दिए हैं जिससे अद्वैत शैवमत आधार रूप सिद्ध होता है।

संगीतकला शास्त्र का विषय व्यक्त तथा अव्यक्त ध्वनियों से संबंधित है। अतएव स्वभावतः संगीतकलादर्शन की व्याख्या अभिनवगुप्त ने शैवागम ग्रन्थों के उन कथनों के आधार पर की है जिनका विषय सभी प्रकार की ध्वनियों के मूल उद्गम को प्रतिपादित करना है। क्योंकि सामान्य रूप से वे सभी शास्त्रकार जो संगीतकला विषयक गम्भीर चिन्तक हैं और जो उसके इन्द्रियानुभव के दृष्टिकोण से नहीं वरन् आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रतिपादक हैं यह स्वीकार करते हैं कि ध्वनि के इस प्रकार के मूल स्रोत का अनुभव संगीत-कला से होता है।

अभिनवगुप्त के संगीतकलादर्शन को पूर्णतया समझने के लिए अद्वैत शैव मत के तीन प्रधान सिद्धान्तों को याद रखना परमावश्यक है :—१. शैवमत में

---

[1] छां० उ० १–१–१ [2] छां० उ० १–७–६

[3] ब्र० सू० शां० भा० (टीका) ३–४–३–२१

प्रतिपादित बिम्बप्रतिबिम्बवाद का अर्थ यह है कि समग्र विश्व का परब्रह्म के साथ वही सम्बन्ध है जो बाह्य वस्तु के प्रतिबिम्ब का दर्पण के समान समतल निर्मल वस्तु के साथ है। २. परमब्रह्म अनेकता में एकता है। यह प्रकाश तथा विमर्श अर्थात् स्वातंत्र्य की अखंड एकात्मता है। ३. सृष्टि को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (क) वाचक अर्थात् अर्थप्रदायक ध्वनि एवं (ख) वाच्य अर्थात् अर्थप्रदायक ध्वनियों से प्रकट की गई वस्तुएं। अपने मूल स्वरूप में वाच्य प्रकाशमय और वाचक विमर्शमय है।

बिम्बप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त में मूलतत्त्वचिन्तनविषयक, प्रमाणमीमांसा संबंधी एवं स्वतंत्रकलाशास्त्र गत मतों के सूक्ष्मांश वर्तमान हैं। मूलतत्त्वचिन्तन के दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त से प्रकट रूप सृष्टि का परब्रह्म के साथ जो सम्बन्ध है उसको स्पष्ट करने की चेष्टा की जाती है। इस सिद्धान्त की सहायता से यह सिद्ध किया जाता है कि जिस प्रकार से दर्पण में प्रतिबिम्बित बाह्य वस्तुओं की अनेकता के कारण दर्पण की अखण्डरूपता नष्ट नहीं होती उसी प्रकार से अनेक रूपमयी सृष्टि को अपने में प्रतिबिंबित करते हुए भी परब्रह्म की एकता नष्ट नहीं होती है। यह सिद्धान्त प्रमाणित यह करता है कि प्रतिबिम्ब अपने आश्रय-स्थल से भिन्न नहीं है। अतएव सृष्टि का मूलस्वरूप वही है जो चेतना, ज्ञप्ति (idea) अथवा विचार का मूल स्वरूप है। जिस प्रकार से प्रतिबिम्ब का अस्तित्व प्रतिबिम्बग्राही दर्पण के तल से अभिन्न है ठीक उसी प्रकार से सृष्टि का अस्तित्व भी परब्रह्म से अभिन्न है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की सहायता से यह सिद्ध करते हैं कि प्रतिबिम्बित होने वाली विषयभूत वस्तु प्रतिबिम्ब का उपादान कारण न होकर उसका निमित्त कारण ही है। अतएव यह नहीं कह सकते कि विषय रूप जगत प्रतिबिम्ब का आवश्यक कारण है। क्योंकि उपादान कारण तो आवश्यक कारण कहा जा सकता है परन्तु निमित्त कारण के विषय में ऐसी किसी आवश्यकता को निर्धारित नहीं किया जा सकता है। जैसे कि केवल मिट्टी ही घट का उपादान कारण हो सकती है और इसीलिए घट के अस्तित्व के लिए उसका होना परमावश्यक है, परन्तु घट का निमित्त-कारण दण्ड उसी प्रकार से आवश्यक नहीं है क्योंकि चाक को बिना दण्ड[१] के हाथ से भी परिचालित किया जा सकता है। अतएव प्रमाणित यह किया गया है कि परब्रह्म पर जगत् के प्रतिबिम्ब का कारण स्वतन्त्र रूप से अस्तित्वशाली

---

[१] तं० आ० भाग २–६९

जगत् नहीं है वरन् स्वातंत्र्यशक्ति है[1] एवं परब्रह्म के पास प्रतिबिम्ब को प्रकट करने की अनन्त[2] शक्ति है।

प्रमाणमीमांसा के दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त की सहायता से ज्ञान की प्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण विभिन्न विषयभूत वस्तुओं के साथ विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं है जैसा कि न्याय वैशेषिक मतावलम्बी प्रतिपादित करते हैं। वरन् इस प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण ज्ञानेन्द्रिय पर विषयभूत वस्तु का प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के पास विषयभूत वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की सीमित शक्ति है। अतएव देखने की ज्ञानेन्द्रिय आंखों के पास केवल दृश्यमान वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ही ग्रहण करने की शक्ति है। इसी प्रकार से अन्य ज्ञानेन्द्रियां अपने विषयवस्तु के प्रतिबिम्बों को ग्रहण करने की शक्ति से युक्त हैं। उसी प्रकार से बुद्धि भी दर्पण के समान है। इस पर केवल ज्ञानेन्द्रियों पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही प्रतिबिम्बित नहीं होता वरन् स्मृतिगत वस्तु भी प्रतिबिम्बित होती है। स्मृति की प्रगाढ़ता स्मृतिगत वस्तु को दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष उपस्थित कर देती है। इस प्रसंग में स्मृतिगत वस्तु का प्रतिबिम्ब वाह्य प्रकाश[3] पर पड़ता है। इस सिद्धान्त की सहायता से यह सिद्ध करते हैं कि चेतना अथवा संविद् पर जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह चेतना से अभिन्न रूप में प्रकाशित होती है, परन्तु बुद्धि पर जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह आत्मा से भिन्न विषय रूप में प्रकाशित होती है, जैसे कि स्वतन्त्र कल्पनागत अथवा स्वप्नगत[4] वस्तुएं। यह सिद्धान्त यह भी प्रमाणित करता है कि न्याय दर्शन[5] के कुछ मतावलम्बियों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि नयनों की ज्योतिकिरणें दर्पण से प्रतिफलित होकर उस व्यक्ति की आकृति को ग्रहण करतीं हैं जो दर्पण के सामने वर्तमान है। यथार्थ यह है कि दर्पणान्तर्गत प्रतिबिम्ब ही स्वयं प्रत्यक्षणीय वस्तु है। दर्पण में प्रतिबिम्ब का साक्षात्कार कोई मिथ्याज्ञान नहीं है वरन् वह प्रमा (यथार्थज्ञान) एवं अप्रमा (मिथ्याज्ञान) दोनों से भिन्न है। इस सिद्धान्त के सहयोग से यह भी सिद्ध करते हैं कि अन्य व्यक्तियों के सुख दुःख के अनुभव भी दर्शकों में प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे युवक तथा युवती की परस्पर सुखमयी प्रणयक्रीड़ा दर्शकों की चेतना पर प्रति-

---

[1] तं० आ० भाग २ टीका ७२
[2] तं० आ० भाग २, ९–१०
[3] तं० आ० भाग २, ६९–७०
[4] तं० आ० भाग २, ७०–१
[5] तं० आ० भाग २, १३

बिम्बित होकर समुचित प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करती है। दुःख की वह संवेदना भी जो एक व्यक्ति प्रचण्ड आघात के सहने के कारण अनुभव करता है दर्शक के अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर उसको मूर्च्छित[1] भी कर सकती है।

रसानुभव के प्रसंग में बिम्बप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त की सहायता से यह स्पष्ट करते हैं कि विभिन्न प्रकार के नाटकीय प्रदर्शनों को विषयरूप में देखने से सुखप्रधान एवं दुःखप्रधान अनुभव दर्शकों के अन्तः करण में किस कारण से उद्भूत होते हैं। जैसाकि हम अभी कह चुके हैं प्रदर्शित अनुभवों के प्रतिबिम्ब के कारण ये अनुभव उत्पन्न होते हैं। क्षणस्थायी होने के कारण तथा प्रधान रूप[2] से स्मृति एवं स्वतन्त्रकल्पनाशक्ति से इन अनुभवों को उत्पन्न करने वाले विषयों के विरचित होने के कारण इनको सत्य नहीं कहा जा सकता।

रसानुभव के प्रसंग में दो प्रकार के प्रतिबिम्ब स्वीकार किए गए हैं। एक वे प्रतिबिम्ब जो आत्मचेतना से एकात्म रूप हैं। दूसरे वे प्रतिबिम्ब जो आत्म-चेतना से विलग अर्थात् विषय रूप में जिनका ज्ञान होता है। प्रतिबिम्ब की विषय रूप में प्रतीति का कारण दर्पण के समान बुद्धि के साथ प्रतिबिम्ब का वही सम्बन्ध है जो स्वप्नदृष्ट विषयों अथवा कल्पना कल्पित वस्तुओं का उनके विषयरूप में साक्षात्कार करने के समय होता है। इन प्रसंगों में बुद्धि रूपी दर्पण पर प्रतिबिम्ब के प्रकट होने का कारण क्रमशः स्मृति शक्ति, जिसके कारण ज्ञात चेतनप्रेरणा के बिना ही स्मृतिगत पदार्थ मानस चक्षुओं के सामने उपस्थित हो जाते हैं, तथा स्वतन्त्र कल्पना शक्ति है। व्याख्याधीन बिम्बप्रति-बिम्बवाद के सिद्धान्त के अनुसार आत्मसंवित् से पृथक् रूप में प्रतिबिम्ब की प्रतीति का कारण आत्मसंवित् का सीमित होना संवित् की शुद्ध ज्योति का परिच्छिन्न होना एवं अन्तःकरण से परिवेष्टित होना है। अतएव जब कोई व्यक्ति व्यक्तित्व विधायक परिवेष्टनों से स्वतन्त्र होता है अर्थात् उसके व्यक्तित्व जनक आवरण नष्ट हो जाते हैं और अन्तःकरण की सीमाओं से मुक्त होकर जब वह शुद्ध चेतना के स्तर पर पहुंच जाता है तो उस समय वह प्रतिबिम्ब आत्मसंवित् से एकात्मस्वरूप होकर उसी रूप में प्रकट होता है जिस रूप में वह परब्रह्म, परमात्मा अथवा महेश्वर में प्रकट होता है। अतएव साधारणीभाव के तल पर सांगीतिक अनुभव व्यक्तित्वविधायक पाशों से मुक्त आत्मसंवित् पर सांगीतिक स्वरों के सामंजस्य पूर्ण समुदाय का वह प्रतिबिम्ब है जो आत्मचेतना से विषय रूप में भिन्न न होकर उसके साथ अभिन्न स्वरूप होता है।

---

[1] तं० आ० भाग २, ४५ [2] तं० आ० भाग २, ५१–२

संगीतकला से उद्भूत अनुभव के लोकोत्तर तल पर आनन्द की अनुभूति

जैसा कि हम कह चुके हैं, अभिनवगुप्त के संगीतकलादर्शन को पूर्णतया समझने के लिए अद्वैत शैवमत के इस दूसरे सिद्धान्त को हृदयंगम करना आवश्यक है कि 'प्रकाश एवं विमर्श अथवा स्वातन्त्र्य का अविच्छिन्न एवं अविच्छेद्य ऐक्य ही परब्रह्म है।' अद्वैत शैवमत के अनुसार परब्रह्म अक्रिय न होकर सक्रिय है। समग्र जगत् को यह परब्रह्म अपने से प्रकट करता है। प्रकट हो जाने पर भी सृष्टि परब्रह्म में उसी प्रकार निवास करती है जिस प्रकार से किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में संस्कार स्वरूप में वर्तमान विचार उस समय भी उसके अन्तः-करण में ही रहते हैं जिस समय वे स्वप्न अथवा स्वतन्त्रकल्पना में वहिर्भूत रूप में प्रकट होते हैं। इस अभिव्यक्त दशा में भी ये भाव और विचार प्रमाता व्यक्ति से स्वतन्त्र नहीं होते। इस विषय के विविध अंशों का वर्णन हमने अभिनवगुप्त एन हिस्टारिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न (कश्मीर शैवमत) एवं वर्तमान ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में किया है। इस प्रसंग में संगीतकला दर्शन के दृष्टिकोण से जो समस्या उठती है वह यह है—'विसर्ग', 'स्वातन्त्र्य', 'विमर्श' तथा 'आनन्द' परब्रह्म की एक ही शक्ति के द्योतक हैं' इस सिद्धान्त के आधार पर यदि यह मान लें कि जो कुछ भी परब्रह्म बाह्य रूप में प्रकट करता है वह सभी मूलतः आनन्दमय है तो क्या यह मान्यता अनुभव से असिद्ध नहीं है। क्योंकि अनुभव यह सिद्ध करता है कि सांसारिक वस्तुएं सुखदायी अथवा दुःखदायी होती हैं?' अभिनव गुप्त इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि विषयभूत वस्तुएं उसी समय सुखदायी अथवा दुखदायी होती हैं जब वे प्रत्यक्ष करने वाले प्रमाता के व्यक्तित्व के साथ सम्बन्धित होती हैं, जब उनको विषय रूप में और किसी प्रयोजन सिद्धि के साधन के रूप में प्रमाता देखता है अथवा जिस समय प्रमाता प्रमेय को उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखता है। परन्तु जिस समय उपयोगिता के दृष्टिकोण के स्थान पर संगीतकलाजन्य अनुभव सम्बन्धी दृष्टिकोण वर्तमान होता है, जब किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए वस्तु का साक्षात्कार नहीं किया जाता, जिस समय प्रत्यक्ष करने वाला प्रमाता सब प्रकार के व्यक्तित्व विधायक अवच्छेदकों से रहित होता है अथवा साधारणीभूत अन्तःकरण पर वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, तब उसका अनुभव सुखदायी अथवा दुःखदायी रूप में नहीं होता। ऐसी दशा में वह विषय साधारणीभूत चित् में एक तरंग सी

उत्पन्न करता है और आत्मा के आनन्द स्वरूप की प्रधानता को उत्पन्न करता है। जिस समय कोई सहृदय व्यक्ति मधुर संगीत[1] को सुन कर आनन्द का अनुभव करता है तो ऐसा ही घटित होता है। संगीत कला अथवा अन्य किसी स्वतन्त्र कला की कृति मूलतः यदि आनन्दस्वरूप अथवा परब्रह्म स्वरूप न हो तो वह किस प्रकार से साधारणीभूत सहृदय[2] में आनन्द को अभिव्यक्त कर सकती है? अभिनवगुप्त के मतानुसार संगीत कला से उद्भूत अनुभव लोकोत्तर[3] तल के आनन्द का अनुभव है। अतएव वे यह मानते हैं कि सहृदय वह प्रमाता है जो अपने को लोकोत्तर तल तक उठा सकता है। अतएव वह व्यक्ति अहृदय[4] है जो शरीर आदि अवच्छेदकों को हटा कर लोकोत्तर तल तक पहुंचने की शक्ति से रहित है।

संगीत के स्वरों का आधार परतत्त्व

अद्वैत शैव मत का तीसरा मूल सिद्धान्त जो संगीतकलादर्शन के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है—यह है कि 'परमब्रह्म अनेकता में एकता है।' इसका उल्लेख हम एक पूर्व प्रकरण में कर चुके हैं। शैव मत के अनुसार परब्रह्म संवित्-ज्योति अर्थात् 'प्रकाश' एवं स्वतंत्रता अर्थात् 'विमर्श' की अछेद्य एकात्मता है। सृष्टि दो वर्गों में विभाजित है—१ वाचक शब्द एवं २ वाच्य अर्थ। वाच्य अर्थ में परब्रह्म का प्रकाशरूप परन्तु वाचक शब्द में परब्रह्म का विमर्शरूप प्रधान है[5]। वर्णमाला के उन अक्षरों को प्रकट करने के कारण जो अर्थप्रकटकारी शब्दों के विधायक हैं, इसको पराशक्ति अथवा परावाक्[6] कहते हैं। जिस प्रकार से संवित्-प्रकाश को विन्दु इसलिए कहते हैं क्योंकि यह अपने परप्रकाश[7] स्वरूप को उस समय भी नहीं छोड़ता जब वह असंख्य प्रमाताओं तथा प्रमेय वस्तुओं को प्रकट करता है, उसी प्रकार से स्वातन्त्र्य अर्थात् विमर्श को 'नाद' अथवा 'परनाद' इसलिए कहते हैं क्योंकि अपने स्वातंत्र्यरूप मूलस्वरूप को उस समय भी यह नहीं छोड़ता जिस समय वह अपने को सभी प्राणवन्त शरीरों में जीवकला[8] के स्वरूप में प्रकट करता है और इसी कारण सभी अर्थमयी ध्वनियों,

---

[1] तं० आ० भाग० २–२०० [2] तं० आ० भाग २–२१८–९

[3] तं० आ० टीका भाग २–२००–२०१

[4] तं० आ० भाग २–२२८ [5] तं० आ० भाग २ टीका ७४

[6] भा० भाग १–२५० [7] तं० आ० भाग २–११६–७

[8] तं० आ० भाग २ टीका ११९

उनके समुदायों तथा प्रकटनीय विविध सीमित विचारों के रूपों में अपने को प्रकट करता है। इसको शब्द अथवा परावाक् कहने का कारण यह है कि सृष्टि का यह अपने से एकात्मरूप में अनुभव करता है।

विमर्श, नाद, परनाद अथवा परावाक् स्थूलस्वरूप ध्वनियों की ही नहीं वरन् उन सूक्ष्मतमस्वरूप ध्वनियों की पूर्णतया वह एकात्मता है जिससे सब प्रकार की स्थूलस्वरूप ध्वनियाँ एवं विचार उद्भूत होते हैं। यह अपने को क्रमशः तीन दशाओं में प्रकट करता है—पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। स्थूल-स्वरूप ध्वनियों की सम्पूर्ण शक्तियों की यह एकरूपता है। यह सभी व्यक्ति प्रमाताओं में उनके शरीर, बुद्धि आदि से सम्बन्धित न होकर उनसे परे उनके आत्मसंवित् से एकात्म होकर वर्तमान रहता है। यह प्रकटनीय विचार तथा उसको प्रकट करनेवाली ध्वनि की पूर्ण एकता है। इसकी परवर्ती दशाओं में अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में क्रमशः भेद का आविर्भाव होता है। प्रथम दशा में भेद के अत्यन्त सूक्ष्मरूप में वर्तमान होने के कारण पदार्थ से भिन्न स्वरूप ध्वनि का ज्ञान अत्यन्त अस्फुट रूप में ही हो पाता है। इसी लिए इसको पश्यन्ती कहते हैं। द्वितीय दशा में भेद का ज्ञान केवल मानसिक रूप में ही हो पाता है। यह पश्यन्ती तथा वैखरी के बीच की दशा है। अतएव इसको मध्यमा कहते हैं। तीसरी दशा में विचार से ध्वनि की भौतिक भिन्नता इसलिए स्पष्ट हो जाती है क्योंकि ध्वन्युत्पादक अवयवों से भौतिक ध्वनि उद्भूत हो जाती है। वैखरी इसको इसलिए कहते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध भौतिक तल[1] से है।

पश्यन्ती एवं सांगीतिक स्वर

अद्वैत शैव दर्शन के आधार पर केवल उन व्यक्त स्वरूप ध्वनियों की ही व्याख्या नहीं की गई है जो मानव विचारों को प्रकट करने का साधन हैं वरन् उन अव्यक्त स्वरूप ध्वनियों की भी व्याख्या की गई है जो कण्ठसंगीत का आधार स्वरूप हैं। उच्चारण के भिन्न स्थानों से वायु को संचालित करने से यद्यपि सांगीतिक स्वर उत्पन्न होते हैं फिर भी इनको अव्यक्त स्वरूप उच्चारण इसलिए कहते हैं क्योंकि इनमें वर्णों का स्फुटरूप से उच्चारण नहीं होता है। ध्वनि की वर्णरूप में अविभाजनीयता पर ही आलाप का सौन्दर्य अर्थात् उसकी मधुरता अवलम्बित है।

---

[1] तं० आ० भाग २ टीका २२५

ऐसी दशा में प्रश्न यह उठता है कि 'शैवमूलतत्वचिन्तन' में सांगीतिक स्वरों का स्थान क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में शैवमत का कथन यह है कि तीन प्रकार की ध्वनियों अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में से प्रत्येक के तीन तीन स्वरूप अथवा भेद हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर । सांगीतिक स्वर एवं उनके आलाप स्थूल पश्यन्ती[1] के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसी को यदि लोक प्रसिद्ध भाषा में कहें तो यह कहेंगे कि स्थूल पश्यन्ती के अन्तर्गत ही ये सांगीतिक स्वर तथा आलाप होते हैं । वागिन्द्रिय जनित ये वे ध्वनियां हैं जिनमें व्यक्त उच्चारण के लिए आवश्यक चेष्टा नहीं की जाती । व्यक्त स्वरूप न होने के कारण ही वे मधुर होती हैं। क्योंकि व्यक्तता ही परुषता[2] की जननी है।

सांगीतिक अनुभव में परनाद के साथ तादात्म्य

गत उपप्रकरण में जो कुछ हम कह चुके हैं उससे यह सिद्ध होता है कि सांगीतिक स्वरों का परनाद के साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है । क्योंकि वे उस पश्यन्ती से सम्बन्धित हैं जो परा अथवा परनाद का प्रथम प्रकट रूप है और इसी कारण जिसकी परनाद से घनिष्ठतम समानता है । जिस प्रकार से मणिप्रभा की ओर जाकर व्यक्ति मणि तक पहुँच जाता है उसी प्रकार से सांगीतिक स्वर पर अपने ध्यान को केन्द्रित करने से सहृदय लोकोत्तर तल[3] पर पहुँच जाता है और इस प्रकार से परनाद के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है । अतएव लोकोत्तर तल पर सांगीतिक अनुभव परनाद अथवा नाद का अनुभव ही है । इसको आनन्द का भी अनुभव कह सकते हैं क्योंकि विभिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने पर परब्रह्म के एक ही स्वरूप को विमर्श, आनन्द, परनाद आदि कहते हैं ।

मध्यमा तथा वाद्योत्पन्न स्वर

गत उपप्रकरण में हम यह कह चुके हैं कि पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी तीनों के तीन तीन भेद–स्थूल, सूक्ष्म और पर हैं । अतएव जिस प्रकार से ध्वन्युत्पादक अवयवों से उत्पन्न सांगीतिक स्वर स्थूल पश्यन्ती के साथ सम्बद्ध हैं उसी प्रकार से वाद्योत्पन्न सांगीतिक स्वर स्थूल मध्यमा के साथ सम्बद्ध हैं । क्योंकि मध्यमा की विशेषता आंशिक रूप से अस्फुट तथा आंशिक रूप से स्फुट

[1] तं० आ० भाग २–२२६ [2] तं० आ० भाग २–२२७
[3] सं० र० (आन०) ३१

होना है। इस प्रकार का सांगीतिक स्वर जो वाद्य यंत्रों से प्रकट होता है इस रूप में स्फुट है क्योंकि वागिन्द्रिय जनित स्वरों से वह अधिक स्पष्ट रूप है परन्तु वह अस्फुट भी इस रूप में है कि वाद्योत्पन्न ध्वनि समुदाय को वर्णों[1] में विभक्त नहीं किया जा सकता।

पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के सूक्ष्म एवं पर स्वरूप

पश्यन्ती तथा मध्यमा के सूक्ष्म स्वरूपों का सम्बन्ध सांगीतिक स्वरों के उत्पादन में वर्तमान मानसिक प्रक्रिया के साथ है। प्रत्येक क्रिया को करने के पूर्व उसको करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा करने की क्रिया में इच्छित वस्तु स्पष्टतया भात नहीं होती। सांगीतिक स्वरों को उत्पन्न करने के पूर्व उनके विषय में जो इच्छा की जाती है उसमें मनुष्य के ध्वन्युत्पादक अवयवों एवं वाद्यों के आघात से उत्पन्न जो स्वर वर्तमान हैं वे क्रमशः सूक्ष्म पश्यन्ती एवं सूक्ष्म मध्यमा[2] से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार से एक वाक्य अथवा शब्द के व्यक्त वर्ण स्थूल वैखरी[3] से उत्पन्न होते हैं और इच्छान्तर्गत वस्तुरूप में उनके अस्फुट रूपों की उत्पत्ति सूक्ष्म वैखरी से होती है। परन्तु अपने पर रूप में वे सभी विश्वात्मा अथवा शिव के साथ एकात्मस्वरूप हैं।

स्वरों की सामंजस्यपूर्ण अखण्डता सांगीतिक माधुर्य का मूल है

कलागत सौन्दर्य का मूल कलाकृति के विधायक तत्वों की सामंजस्य पूर्ण एकात्मता है (अविभागैकरूपत्वम् माधुर्यम्)। नाटक तथा काव्य में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं स्थायी भाव की यह सामञ्जस्यपूर्ण एकात्मता उनके सौन्दर्य की विधायिका होती है। वागिन्द्रिय जनित तथा वाद्यजनित संगीत में उन स्वरों की सामंजस्य पूर्ण एकात्मता के कारण यह सौन्दर्य उद्भूत होता है जो मानवीय ध्वन्युत्पादक अवयवों एवं वाद्यों से आविर्भूत होते हैं। इसी एकात्मता के कारण संगीतकला में मानव के हृदय को मुग्ध करने की शक्ति है। यह तथ्य अनुभव सिद्ध है। अतएव इसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए युक्तियों का उल्लेख करना अनावश्यक है।

---

[1] तं० आ० भाग २–२२८   [2] तं० आ० भाग २–२३१
[3] तं० आ० भाग २–२३०

नाद ब्रह्मवाद तथा योगमत

संगीतकलादर्शन अथवा नादब्रह्मवाद का विकास योगमत के व्यवहारिक रूप के प्रभाव से हुआ था। इसमें योगमत के उस शरीर—विज्ञान को मान्य ठहराया गया जिसमें मनुष्य के भौतिक शरीर में दस चक्रों को प्रतिपादित किया गया था। चक्र मनुष्य के शरीर में वे स्थान हैं जहां पर प्राण को रोकने से परब्रह्म के साक्षात्कार करने के विभिन्न क्रमतलों की प्राप्ति होती है। संगीत रत्नाकर (आन०) २६–३० में इनका उल्लेख किया गया है। हम इन चक्रों का वर्णन निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं।

१ आधार चक्र : यह गुदा एवं लिंग के बीच में एक स्थान है। इसका आकार चार दलों से युक्त कमल जैसा है। प्रत्येक दल पर प्राणवायु को अवरुद्ध करने से विभिन्न प्रकार के आनन्दों का अनुभव होता है।

कुण्डलिनी : आधार चक्र में एक सूत्र है जो कुण्डलित सर्प की भांति कुण्डलाकार है। यह ज्ञानशक्ति का मूर्तरूप है। अपने मुख-भाग से यह सूत्र सुषुम्णा के निम्नमुख को ढँके रखता है (सुषुम्णा वह केन्द्रस्थित नाड़ी है जिसमें प्राणवायु को संचारित करने से योगमतानुसार परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। उन अन्य दो नाड़ियों को जिनसे हम वायु को श्वास रूप में ग्रहण करते हैं और उसको बाहर निकालते हैं शास्त्रीय भाषा में इड़ा एवं पिंगला कहते हैं—इनमें इड़ा का अन्तिम भाग दक्षिण नासिका पुट में तथा पिंगला का अन्तिम भाग वाम नासिका पुट में है।) जिस समय योग ग्रन्थों में लिखित विभिन्न विधियों का अनुसरण तथा अभ्यास करने के कारण इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों में प्राणवायु के संचरण की क्रिया को पूर्णतया रोक लेते हैं और प्राणवायु तथा अपान वायु[१] को एकात्म कर लेते हैं तो जठराग्नि जाग उठती है। जठराग्नि का अनुभव कर कुण्डलिनी में गति का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार कुण्डलिनी अपने आकार को सीधा कर ऊपर की ओर उठने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि सुषुम्णा नाड़ी का निम्नमुख खुल जाता है। इसके उपरान्त योगी को प्राणवायु को सुषुम्णा नाड़ी में इस लिए संचारित करना पड़ता है जिससे वे तीन ग्रन्थियाँ नष्ट की जा सकें जिनको शास्त्रीय भाषा में ब्रह्म, विष्णु तथा रुद्र ग्रन्थियाँ कहते हैं। इनके नष्ट हो जाने से कुण्डलिनी अपने को अवाधगति से सीधा प्रसारित कर सकती है। इस प्रकार से जब

---

[१] ह० यो० प्र०–२३

कुण्डलिनी अपना प्रसार उस ब्रह्मरंध्र तक कर लेती है जो सुषुम्णा नाड़ी का ऊर्ध्वमुख है तो यह सहस्र दल कमल को बेधती है। यह कमल शिरोभाग में वर्तमान है। इसमें अमृत का वास है। वेधन करने पर इससे अमृत प्रवाहित होता है जो योगी को अमरता प्रदान कर देता है।

२ स्वाधिष्ठान चक्र : यह लिङ्ग के मूल भाग में एक स्थान है। इसके छः भाग हैं जो कमल दल के समान हैं। इसी स्थान को स्वाधिष्ठान चक्र कहते हैं। यहाँ कामशक्ति निवास करती है। इसके विभिन्न दलों पर प्राणवायु को अवरुद्ध करने से विभिन्न मानसिक उन्मुखताओं की प्रधानता उत्पन्न होती है।

३ मणिपूरक चक्र : नाभि में एक स्थान है जिसके भाग कमल के दस दलों के समान हैं। शास्त्रीय भाषा में इसको मणिपूरक चक्र कहते हैं। यह प्राणवायु का वासस्थान है। इसके विभिन्न दलों पर प्राण वायु को अवरुद्ध करने से कुछ विशेष मानसिक उन्मुखताएं प्रधान हो जाती हैं।

४ अनाहत चक्र : यह स्थान हृदय में स्थित है। कमल दल के समान इसके बारह भाग हैं। यह शिव का वासस्थान है। इसके विभिन्न दलों पर प्राणवायु को अवरुद्ध करने से उत्पन्न होने वाले प्रभाव योग ग्रन्थों में वर्णित हैं।

५ विशुद्धि चक्र : यह स्थान कण्ठ में है और सरस्वती का निवासस्थान है। कमल दल के समान इसके सोलह भाग हैं। भारतीय संगीत कला के दृष्टिकोण से यह चक्र इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके नवें दल से लेकर पन्द्रहवें दल तक में प्राणवायु को अवरुद्ध करने से तथा षड्ज आदि सात स्वरों का ध्यान करने से उन स्वरों को उत्पन्न करने में पूर्ण दक्षता प्राप्त होती है। इसके दूसरे दल पर प्राण वायु को अवरुद्ध करने से तथा स्वरों का ध्यान करने से सामवेद के उस अंश को गाने की दक्षता प्राप्त होती है जिसको उद्गीथ कहते हैं।

६ ललना चक्र : यह स्थान जिह्वा के मूल में है। कमल दल के समान इसके बारह भाग हैं। इनमें से प्रत्येक दल पर प्राणवायु को अवरुद्ध करने से विभिन्न फल प्राप्त होते हैं।

७ आज्ञा चक्र : यह दोनों भौंहों के बीच में स्थित है। कमल दल के समान इसके तीन भाग हैं। प्राणवायु को इनमें से प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय दल पर अवरुद्ध करने के परिणाम स्वरूप क्रमशः सत्व, रजस् एवं तमस् गुण प्रकट होते हैं।

८ मनस् चक्र : आज्ञा चक्र के निकट ऊर्ध्व भाग में यह स्थान है। कमल

दल के समान इसके छ भाग हैं। उनमें से प्रत्येक भाग पर प्राणवायु को केन्द्रित करने से विभिन्न प्रभाव उद्भूत होते हैं।

९ सोम चक्र : यह मनस् चक्र के निकट ऊर्ध्व भाग में स्थित है। कमल दल की भांति इसके सोलह भाग हैं। उनमें से प्रत्येक भाग पर प्राणवायु को अवरुद्ध करने से जो प्रभाव उत्पन्न होते हैं उनका भी योग ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है।

१० सुधाधार चक्र : यह ब्रह्मरंध्र पर एक स्थान है। कमल दल के समान इसके एक सहस्त्र भाग हैं। इसी को सुधाधार चक्र कहते हैं। अमृत का आधार होने के कारण इसको सुधाधार कहा जाता है। इस अमृत के प्रवाह से शरीर का विकास होता है।

संगीत कला के लिए चक्रों का महत्व

भारतीय संगीत कला के दृष्टिकोण से उपर्युक्त दस चक्रों में से तीन चक्र १ अनाहत, २ विशुद्धि एवं ३ ललना महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि शास्त्रकार यह मानते हैं कि उनके कुछ अंशों पर प्राणवायु को अवरुद्ध करने से संगीत कला कृति की रचना करने में दक्षता उत्पन्न होती है एवं अन्य भागों पर प्राणवायु को अवरुद्ध करने से संगीतकला कृति उत्पादन की शक्ति नष्ट होती है। इस प्रकार से अनाहतचक्र के प्रथम, अष्टम, एकादश एवं द्वादश भाग पर, विशुद्धि चक्र के आठवें से पन्द्रहवें भाग तक आठ भागों पर एवं ललना चक्र के दसवें तथा ग्यारहवें भाग पर प्राणवायु को अवरुद्ध करने से दक्षता प्राप्त होती है। परन्तु उत्कृष्ट स्वरूप संगीतकला कृति को उत्पन्न करने की शक्ति ब्रह्मरंध्र[1] पर ही प्राणवायु अथवा जीव को अवरुद्ध करने से प्राप्त हो सकती है।

मोक्ष का साधन—नाद पर मन का केन्द्रीकरण

शास्त्रों में दो प्रकार के योग का प्रतिपादन किया गया है :—१ हठयोग एवं २ राजयोग। हठयोग से राजयोग की प्राप्ति होती है। हठयोग प्रदीपिका जैसे योग प्रतिपादक ग्रन्थों में नाद (वह ध्वनि जो सुषुम्णा नाड़ी में स्थित है और जिसको प्राणायाम के अभ्यास से स्पष्ट सुना जा सकता है) पर ध्यान को केन्द्रित करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है—इसी को नादोपासना कहते हैं। आदिनाथ अथवा शिव से निर्देशित मोक्ष के सवा करोड़ साधनों में से यह एक

[1] सं० र० (आन०) २६–९

साधन है। इन साधनों में से[1] नादोपासना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। गोरक्षनाथ ने इसका प्रतिपादन किया था। इसको मोक्ष का सबसे अधिक सहज साधन मानते हैं।

नादोपासना की चार क्रमावस्थाएं हैं। प्रथम क्रम दशा में जिसको शास्त्रीय भाषा में 'आरम्भ' कहते हैं, अनाहत चक्र स्थित ग्रन्थि जिसको शास्त्रीय भाषा में ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं प्राणवायु की शक्ति से वेधित होती है। एवं एक रमणी के अलंकारों से उत्पन्न ध्वनि के समान मधुर आकर्षक ध्वनियां अन्तःकरण में सुनाई पड़ती हैं। यह ध्वनियां आघात से उत्पन्न नहीं होतीं अतएव अनाहत हैं। दूसरी क्रमावस्था को शास्त्रीय भाषा में घटावस्था कहते हैं। क्योंकि इस दशा में प्राणवायु कण्ठ में अवरुद्ध होती है और प्राण अपान नाद एवं बिन्दु परस्पर मिले जुले होते[2] हैं। कण्ठस्थित ग्रन्थि जिसको शास्त्रीय भाषा में विष्णु ग्रन्थि कहते हैं वेधित होती है और दुन्दुभि से उत्पन्न ध्वनि के समान ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। तीसरी क्रम दशा को परिचय कहते हैं। इस दशा में दो भौंहों के मध्य भाग से वैसी ध्वनि सुनाई पड़ती है जैसी मर्दल नामक वाद्य से उद्भूत होती है। चौथी क्रमदशा को शास्त्रीय भाषा में निष्पत्ति कहते हैं। इस दशा में भौंहों के मध्य भाग में स्थित आज्ञा चक्र में वर्तमान रुद्र ग्रन्थि को प्राण वायु वेधित करती है। इस दशा में प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच जाती है और वीणाजनित ध्वनियों के समान ध्वनियां सुनाई पड़ने लगती हैं।

नादोपासना की इस अन्तिम क्रमदशा पर ध्यानगम्य तथा अन्य सभी प्रकार के विषय लुप्त हो जाते हैं[3] और आत्मा अपने आनन्द रूप में प्रकट हो जाती है। अतएव इस क्रमदशा पर योगी का अनुभव अखण्ड आनन्द स्वरूप होता है। अतएव नादोपासना को आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए एक अमोघ साधन मानते हैं। अनाहत नाद[4] पर ध्यान को केन्द्रित करने के अन्य सहज उपायों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

आहत नाद—एक मोक्ष साधन

नाद को दो प्रकार का प्रतिपादित किया गया है १ अनाहत अर्थात् वह ध्वनि जो आघातोत्पन्न नहीं है एवं २ आहत अर्थात् वह ध्वनि जो आघातोत्पन्न है। राजयोग के अभ्यासी योगी जिस पर ध्यान को केन्द्रित करते हैं उस

---

[1] ह० यो० प्र० २०८
[2] ह० यो० प्र० (टीका) २०५
[3] ह० यो० प्र० १८५
[4] ह० यो० प्र० २०९

अनाहत नाद का वर्णन हम पूर्व उपप्रकरण में कर चुके हैं। उसके विषय में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि अनाहत नाद पर ध्यान को केन्द्रित करना अत्यन्त कठिन साधना है। क्योंकि बिना हठ योगाभ्यास के यह सम्भव नहीं है और हठयोग का अभ्यास एक कठिन साधना है। इसके अतिरिक्त अनाहत नाद मधुर[1] नहीं होता अतएव यह नाद मनोरंजक न होने के कारण आकर्षक भी नहीं है। परन्तु आहतनाद, अर्थात् गीत वाद्य आदि से उत्पन्न नाद, मधुर तथा आकर्षक होने के कारण चित्ताकर्षक है, और इसको भी अनाहत नाद की भांति मोक्ष को प्राप्त करने का एक साधन माना गया है। अतएव संगीतकला के शास्त्रकारों ने संगीत कला के महत्त्व को घोषित किया है।

शार्ङ्गदेव का नादब्रह्मवाद

संगीत रत्नाकर के लेखक शार्ङ्गदेव नाद तथा ब्रह्म को एक ही मानते हैं तथा ब्रह्म के सभी गुणों को नाद के गुण भी मानते हैं। संगीत रत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ के मतानुसार नादब्रह्मवाद का विकास व्याकरण दर्शन के प्रभाव से हुआ था। वैयाकरणों से प्रतिपादित शब्दब्रह्म, स्फोट अथवा परा[2] का अनुसरण करते हुए शार्ङ्गदेव ने नाद ब्रह्म के स्वरूप की रचना की थी। जिस प्रकार से भारतीय वैयाकरण स्फोट को व्यक्त ध्वनि का अन्तिम कारण प्रतिपादित करते थे उसी प्रकार से संगीत कला के शास्त्रकार यह स्वीकार करते थे कि श्रुति, स्वर आदि संगीतस्वरूप ध्वनियां नाद से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि व्यक्त ध्वनि के कारणस्वरूप शब्दब्रह्मविषयक विचार-धारा ने सांगीतिक ध्वनियों के कारणस्वरूप नाद अथवा नादब्रह्म के सिद्धान्त को उत्पन्न किया। इसके उपरान्त स्वभावतः शब्दब्रह्म के सभी विशेषगुणों को नादब्रह्म से सम्बन्धित कर लिया गया।

सांगीतिक स्वरों की उत्पत्ति के विषय में नागेशभट्ट का अभिमत

नाद के स्वरूप के विषय में एक मत का प्रतिपादन भागवतपुराण में किया गया है। स्फोट सिद्धान्त का वर्णन करते हुए नागेश भट्ट ने स्वरचित ग्रन्थ लघुमंजूषा में इस मत को उद्धृत किया है। नागेश भट्ट ने यह प्रतिपादित किया है कि स्फोट उस आंतरिक अध्यात्म ध्वनि अर्थात् परप्रणव के अतिरिक्त और

---

[1] सं० र० (आन०) ३०   [2] सं० र० (आन०) ३१

कुछ नहीं है जो ब्रह्म का समानार्थक शब्द है (स चायम् स्फोट: आन्तरप्रणव-रूप: । ल० मं० ३६९) और निम्नलिखित उद्धरण भी दिया है :—

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥

पंडित सभापति लघुमंजूषा की अपनी टीका में स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि यह नाद स्फोट भी कहा जाता है। (नादः स्फोटो वेत्युच्यते । ल० मं० ३७१) नागेश भट्ट नाद तथा शब्दब्रह्म को एक ही मानते हैं। (अस्माद्बिन्दोः शब्दब्रह्मापरनामधेयम्—नादमात्रम् ल० मं० १४५)

वस्तुतः वाक् के विभिन्न रूपों की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट ने लघु-मंजूषा में (पृष्ठ १४८) वाक्यपदीयम् से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रैय्या वाचः परं पदम् ॥

और 'अनेकतीर्थभेदायाः' शब्द की टीका करते हुए उन्होंने ध्वनि का विभाजन दो रूपों में किया है १ व्यक्तध्वनि (शिष्टव्यक्तवर्णरूपा) तथा २ अव्यक्तध्वनि (अपभ्रष्टा)। अपभ्रष्टा के अन्तर्गत उन्होंने दुन्दुभि, बाँसुरी एवं वीणा के समान वाद्यों से उत्पन्न ध्वनियों की गणना की है। इस प्रकार से नागेश भट्ट सांगीतिक स्वरों का मूलकारण नाद अथवा स्फोट मानते हैं।

नागेश भट्ट का अनुसरण करते हुए प्रोफेसर सूर्य नारायण शुक्ल ने उपर्युक्त श्लोक की टीका में वाक् के पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी नामक तीन रूपों में से प्रत्येक का वर्गीकरण स्थूल, सूक्ष्म तथा पर में किया है। इस उपविभाजन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह और लिखा है कि एक निपुण संगीतज्ञ जिन अव्यक्तरूप सांगीतिक स्वरों को उत्पन्न करता है वे स्थूल-पश्यन्ती से सम्बद्ध हैं। यही स्वर उत्पादन की इच्छा के विषय होने पर सूक्ष्म-पश्यन्ती से सम्बद्ध होते हैं। परन्तु जब ये स्वर इस भांति की इच्छा का विषय भी नहीं हैं तो ये परापश्यन्ती से सम्बन्धित होते हैं। इसी प्रकार से वे यह कहते हैं कि वाद्यजनित[1] ध्वनियां स्थूल मध्यमा से सम्बन्धित हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि नादब्रह्म के विषय में शार्ङ्गदेव ने जो कुछ लिखा है उसको व्याकरण दर्शन भलीभांति मानता है। उन्होंने केवल शब्दब्रह्म के स्थान पर एक नए नाम अर्थात् नादब्रह्म का प्रयोग किया है। यह शब्द संगीतकला के प्रसंग में अधिक सारपूर्ण है। नागेश भट्ट के मत की विशदरूप व्याख्या करते

---

[1] वा० प० (टीका सूर्य नारायण) ११७

हुए प्रोफेसर सूर्य नारायण शुक्ल ने उसी मत को दोहरा दिया है जिसका प्रतिपादन अभिनवगुप्त जैसे उन शैव दार्शनिकों ने किया है जिनके तत्सम्बन्धी मतों का उल्लेख हम पूर्वलिखित पृष्ठों में कर चुके हैं।

इस प्रसंग में यह कह सकते हैं कि यद्यपि वर्तमान युग के विद्वानों के मतानुसार शब्दब्रह्म एवं स्फोट के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भर्तृहरि तथा नागेश भट्ट में यह मतभेद है कि भर्तृहरि के मतानुसार दोनों (शब्दब्रह्म तथा स्फोट) एक ही हैं जब कि नागेशभट्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि स्फोट मध्यमा गत नादांशरूप है (मध्यमायाम् यो नादांशः तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वम्। ल० मं० १५१) फिर भी ध्यान इस बात पर देना चाहिए कि नागेशभट्ट ने सृष्टि की क्रमदशाओं का वर्णन शैवागमों अथवा शैवतंत्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों से प्रभावित होकर किया है। क्योंकि इस प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट रूप से प्रपंच-सार जैसे ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। अतएव सृष्टि के क्रमों का उल्लेख उन्होंने निम्नरूप में किया है।

जिस समय आत्माओं के पूर्वकर्मजनित संचित फल परिपक्व हो जाते हैं उस समय परमेश्वर[1] से माया और पुरुष उत्पन्न होते हैं। यह माया सृष्टि रचने की इच्छा मात्र ही है। माया से बिन्दु की उत्पत्ति होती है। बिन्दु शक्ति मात्र ही है। बिन्दु के दो स्वरूप होते हैं १ चित् और २ अचित्। चित् स्थूलरूप बिन्दु है और अचित् अविद्या मात्र है। अविद्या शब्दों एवं अर्थों के सम्पूर्ण संचित संस्कार मात्र ही है। नाद इन दोनों रूपों अर्थात् चित् एवं अचित् का मिश्रित स्वरूप है। इतना कहने के उपरान्त वे तुरन्त यह कहते हैं कि बिन्दु से शुद्ध नाद की उत्पत्ति होती है (नादमात्रम्) इसमें वर्णों[2] की विभिन्नता वर्तमान नहीं होती। इसमें ज्ञान तत्व प्रधान होता है। अनेक स्वरूपों में से चित् इसका एक स्वरूप है। यह परमेश्वर की वह दशा है जो सृष्टि के लिए परमावश्यक है। इसको शब्दब्रह्म अथवा परावाक् कहते हैं। सर्वव्याप्त होने पर भी बोलने की इच्छा के जागृत होने के कारण उत्पन्न परिस्पन्द के परिणाम स्वरूप में व्यक्ति के मूलाधार में यह प्रकट होता है।

इस प्रकार से ज्ञात यह होता है कि स्फोट सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए नागेशभट्ट ने स्फोट और आन्तर प्रणव अथवा ब्रह्मन् को एक ही वस्तु माना है। टीकाकार ने स्फोट और नाद[3] को एकरूप प्रतिपादित किया है। इसके

[1] ल० मं० १४२–४ [2] ल० मं० १४५
[3] ल० मं० ३७१

अतिरिक्त सृष्टि के क्रमों का वर्णन करते हुए उन्होंने बिन्दु से 'नादमात्र' की उत्पत्ति का उल्लेख किया है और 'नादब्रह्म' को 'शब्दब्रह्म' माना है । इससे यह स्पष्ट सा है कि उन्होंने नाद अथवा, यदि अधिक समुचित भाषा में कहें तो 'नादमात्र', 'शब्दब्रह्म' तथा 'स्फोट' को समानार्थक शब्द ही प्रतिपादित किया है ।

परन्तु ऐसी दशा में प्रश्न यह उठता है कि जब वे स्फोट को मध्यमा[1] गत नादांशरूप प्रतिपादित करते हैं तो क्या उनका मत स्वविरोध दोष से दूषित नहीं हो जाता ? परन्तु यदि ग्रन्थ के तद्विषयक अंश का अध्ययन ध्यानपूर्वक किया जाय तो उनका मत ऐसे दोष से दूषित नहीं है । क्योंकि प्रथम प्रयुक्त 'स्फोट' शब्द का अर्थ 'मूल स्फोट' है परन्तु पर प्रयुक्त 'स्फोट' शब्द का अर्थ 'अर्थसंबद्ध स्फोट' है । क्योंकि स्पष्ट रूप से वे यह लिखते हैं कि 'तत्र मध्यमायाम् यो नादांशः तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेन अन्वतिः' (ल० मं० १५१)

सिद्धान्त शैव द्वैतवाद के मतानुसार संगीतकलादर्शन

संगीतकलादर्शन के सभी प्रतिपादनों में समानरूपता इस बात में है कि नाद के तात्विक स्वरूप के आधार पर इस दर्शन को प्रतिपादित किया गया है । वागिन्द्रियजनित एवं वाद्यजनित सांगीतिक स्वरों को अभिनवगुप्त ने परनाद से क्रमशः स्थूल पश्यन्ती एवं स्थूल मध्यमा द्वारा उद्भूत प्रतिपादित किया है । नागेश भट्ट अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हैं क्योंकि वे नाद—अधिक समुचित शब्द से कहें तो 'नादमात्र' को शब्दब्रह्म ही प्रतिपादित करते हैं । और भर्तृहरि लिखित 'वैखर्या मध्यमायाश्च—' आदि श्लोक में प्रयुक्त 'अनेकतीर्थ' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने ध्वनि के दो रूपों का प्रतिपादन किया है १ व्यक्त एवं २ अव्यक्त । दुन्दुभि, बाँसुरी, वीणा आदि संगीत वाद्यों से उत्पन्न ध्वनियों की गणना उन्होंने अव्यक्त ध्वनि के अन्तर्गत की है । इस विषय के प्रतिपादन में अभिनवगुप्त ने जो कुछ लिखा है उसके आधार पर प्रोफेसर सूर्यनारायण शास्त्री ने विशदरूप में प्रतिपादित करते हुए षड्ज् आदि सांगीतिक स्वरों को स्थूल पश्यन्ती से सम्बन्धित किया है, यह हम गत उपप्रकरण में लिख चुके हैं । इस प्रकार से व्यक्त अर्थात् अक्षर सम्बन्धी अथवा अव्यक्त अर्थात् सांगीतिक स्वर सम्बन्धी सभी प्रकार की ध्वनियों का मूल नाद ही माना गया है । परन्तु विभिन्न विश्वसृष्टिविषयक मतों में नाद के स्थान के विषय में मतभेद है । अद्वैत शैवमत के आधार पर अभिनवगुप्त ने परब्रह्म के विमर्श रूप को इस

---

[1] ल० मं० १५१

नाद से एकात्म माना है एवं इसको परनाद कहा है। उनके मतानुसार विमर्श, स्वातंत्र्य, परा, स्पन्द एवं परनाद विभिन्न दृष्टिकोणों से परब्रह्म के एक ही रूप के लिए समानार्थक शब्द हैं, परन्तु नागेश भट्ट के मतानुसार नाद अर्थात् 'नादमात्र' उस बिन्दु से उत्पन्न है जो परमेश्वर की सृष्टि रचना करने की उस इच्छा से स्वयं उद्भूत है जिसको शास्त्रीय भाषा में 'माया वृत्ति' कहते हैं। नाद के विषय में द्वैत शैव मत को निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं :—

सिद्धान्त शैव द्वैतमत के प्रतिपादक पदार्थों का विभाजन दो वर्गों में करते हैं (१) प्रधान एवं (२) अप्रधान। प्रधान पदार्थ तीन हैं (१) पति (२) पशु और (३) पाश। पाश सम्बन्धित पांच अप्रधान पदार्थ हैं (१) मल (२) माया (३) कर्म (४) निरोधशक्ति और (५) बिन्दु।

बिन्दु तथा नाद

संगीतकलादर्शन का प्रतिपाद्य विषय व्यक्त तथा अव्यक्त ध्वनियों के मूल कारण की व्याख्या है। क्योंकि संगीतकला उक्त दोनों प्रकार की ध्वनियों से सम्बन्धित है। सिद्धान्त शैव द्वैत मत के अनुसार सभी प्रकार की ध्वनियों का मूल स्रोत बिन्दु है। नाद से इसकी भिन्नता को प्रदर्शित करने के लिए इसको परनाद भी कहते हैं। नाद परनाद से उद्भूत है। सिद्धान्त शैवमत में प्रतिपादित बिन्दु का स्वरूप कश्मीर शैवमत में प्रतिपादित बिन्दु के स्वरूप से इस बात में भिन्न है कि सिद्धान्त शैवमत में कश्मीर शैवमत की भांति बिन्दु को परमब्रह्म का एक स्वरूप नहीं माना गया है वरन् तीसरे मूल पदार्थ का एक आश्रित पदार्थ प्रतिपादित किया गया है। नागेश भट्ट के तद्विषयक मत से भी यह मत भिन्न है क्योंकि उनसे प्रतिपादित मत की भांति शैव सिद्धान्त मत में यह स्वीकार नहीं किया गया है कि परमेश्वर की मायावृत्ति से बिन्दु उत्पन्न है वरन् उसमें यह प्रतिपादित करते हैं कि बिन्दु शुद्ध सृष्टि का उपादान कारण है और इसका अस्तित्व निमित्तकारण स्वरूप परमब्रह्म से उसी प्रकार से स्वतन्त्र है जिस प्रकार से उपादान कारण रूप मिट्टी का अस्तित्व कुम्हार से स्वतन्त्र रूप में होता है।

बिन्दु शाश्वत है। महाप्रलय के समय में भी जब विषय स्वरूप सृष्टि वर्तमान नहीं होती, यह बिन्दु पति की सदैव क्रियाशील ज्ञान शक्ति के विषय के स्वरूप में विद्यमान रहता है। यह बिन्दु उस शुद्ध सृष्टि का उपादान कारण है जिसके अंश शुद्ध पदार्थ और शुद्ध जगत् हैं और जिस सृष्टि में मुक्त आत्माएँ

निवास करती हैं। परम शिव जब इस बिन्दु को क्षुभित करते हैं तो इससे शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या शुद्ध पदार्थ उद्भूत होते हैं। इसीलिए महाप्रलय के समय वह सब कुछ इसी में लीन हो जाता है जो इससे सृष्टिदशा में विकसित होता है। यह बिन्दु एक प्रकार का मल भी है क्योंकि यह वह उपादान स्वरूप तत्त्व भी है जिससे मंत्रमहेश्वर मंत्रेश एवं मंत्र आदि शुद्ध प्रमाताओं के शरीर रचित होते हैं। ये शुद्ध प्रमाता मायालोक के परे शुद्ध लोक में निवास करते हैं। ये शुद्ध प्रमाता आंशिक रूप में स्वतंत्र हैं क्योंकि उनमें माया तथा कर्म मल वर्तमान नहीं हैं। परन्तु पशुत्वमल से और बिन्दु रचित-शरीर से बद्ध होते हैं अतएव वे पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। और अन्ततो-गत्वा बिन्दु को नाद का कारण प्रतिपादित किया गया है—यह नाद संगीतकला के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस महत्त्व का वर्णन निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

सिद्धान्त शैवमत के अनुसार सृष्टि दो प्रकार की है—(१) शुद्ध तथा (२) अशुद्ध। शुद्ध सृष्टि निर्विकल्प रूप तथा अशुद्ध सृष्टि सविकल्प रूप है। शुद्ध सृष्टि का निमित्त कारण शिव है और अशुद्ध सृष्टि के निमित्त कारण अनन्त आदि हैं। परमेश्वर अनन्त आदि को सृष्टि रचने की शक्ति प्रदान करता है। परन्तु यदि सृष्टा के विचार सविकल्पस्वरूप नहीं हैं तो सृष्ट वस्तु में भी सवि-कल्पता वर्तमान नहीं हो सकती है। लेकिन विचारगत सविकल्पता का कारण सूक्ष्म शब्दों में प्रकट किया गया आन्तर संजल्प है। अतएव इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि 'बिना आन्तर संजल्प के अनन्त के विचारों में सविकल्पता क्या संभव हो सकती है ?' अशुद्ध सृष्टिकर्ता के विचारों में सविकल्पता के कारण को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्त शैव द्वैत मत के प्रतिपादक यह कहते हैं कि नाद बिन्दु का परिणाम है। यह नाद वह सूक्ष्म ध्वनि रूप शब्द है जो अनन्त के शरीर के विधायक रूप में जैसे वर्तमान है। इसी शरीर के कारण अनन्त के विचारों में वह सविकल्पता उद्भूत होती है जो उनको अशुद्ध सृष्टि को रचने की शक्ति अथवा योग्यता प्रदान करती है। यह बिन्दु नादरूप में परिणत तभी होता है जब परमेश्वर बिन्दु को स्पन्दित करता है।

इस प्रसंग में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए (१) सूक्ष्मध्वनि (नाद) के मूल कारण बिन्दु को शब्दतत्त्व, ब्रह्मन्, परनाद आदि कहते हैं। (२) परमेश्वर जनित बिन्दु में प्रथम गति अथवा मूल स्पंदन नाद का कारण है। अतएव सिद्धान्त शैव द्वैतवाद के मतानुसार संगीत कला के प्रतिपादक शास्त्रकार

'कला परब्रह्म को प्रदर्शित करती है' इस मत को स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि संगीत कला परनाद अथवा शब्दब्रह्म को प्रदर्शित करती है तथा यह कला श्रव्य मधुर ध्वनियों के साधन से स्वप्रदर्शित वस्तु अर्थात् शब्दब्रह्म के अनुभव की ओर श्रोता को ले जाती है। परन्तु यदि हम इस सूक्ष्म ध्वनि की व्याख्या उसके कारणरूप स्पंदन के आधार पर करें (क्योंकि इस उपप्रकरण के पूर्व भाग में हम यह लिख आये हैं कि द्वैतवादी शैव मत के अनुसार सूक्ष्मरूप ध्वनि (नाद) का कारण परमेश्वर से बिन्दु का क्षुभित किया जाना है) तो हम यह कह सकते हैं कि संगीत कला 'प्रथम गति' अथवा 'मूल स्पंदन' को प्रदर्शित करती है। यह मूल स्पंदन सभी ध्वनियों एवं विचारों की वह अखंड एकता है जिससे सभी ध्वनियां तथा विचार उत्पन्न होते हैं। यदि हम इसी को संगीतकलाशास्त्रीय भाषा में कहें तो कहेंगें कि यह कला उस मूल स्पन्दन को प्रकट करती है जो सभी सांगीतिक स्पन्दनों का उत्पादक है और श्रोताओं को संगीतकलाजन्य अनुभव की ओर ले जाता है।

बहुत स्थलों में यह प्रतिपादित किया गया है कि बिन्दु और नाद दो प्रकार के हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। सूक्ष्म बिन्दु को शिव तथा सूक्ष्म नाद को शक्ति मानते हैं। और सदाशिव पदार्थ के अन्तर्गत स्थूल बिन्दु एवं स्थूल नाद की गणना करते हैं। स्थूल बिन्दु व्यक्तरूप ध्वनि का कारण है और स्थूल नाद से अव्यक्त ध्वनि उद्भूत होती है। यह भासित होता है कि स्थूल नाद को अव्यक्तध्वनि रूप सांगीतिक स्वरों का कारण मानते हैं। इस प्रकार से सिद्धान्त शैव द्वैतमत के अनुसार सांगीतिक स्वरों की व्याख्या स्थूल नाद के आधार पर उसी प्रकार से की गई है जिस प्रकार से अभिनवगुप्त ने उनकी व्याख्या स्थूल पश्यन्ती के आधार पर की है। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य यह है कि द्वैतवादी शैवमत के व्याकरण दर्शन में प्रतिपादित नाद का स्वरूप पश्यन्ती के समान ही है। सिद्धांत शैव द्वैतवादी मत के अनुसार बिन्दु एवं नाद के तात्त्विक स्वरूपों का वर्णन हमने विशदरूप में भास्करी के तीसरे भाग की प्रस्तावना के पृष्ठ ८५ से लेकर पृष्ठ ९९ तक किया है।

अध्याय १४

वास्तु कला

वास्तु शब्द का अर्थ

वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति 'वस्' धातु से है। इस धातु का अर्थ 'किसी एक स्थान पर निवास करना' है। उणादि सूत्र (वसेस्तुन् १–७८) के अनुसार इसमें तुन् प्रत्यय लगाया गया है। प्रथम अक्षर 'व' के ह्रस्व 'अ' को दीर्घ 'आ' इसलिए किया गया है क्योंकि इस प्रत्यय को णित् मानते हैं (अगारे णिच्च १–७९)। पूरे शब्द का अर्थ है 'वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करते हैं।' (वसन्ति अत्र)। परन्तु चाणक्य ने स्वकृत अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग अत्यन्त विस्तृत रूप में किया है। उनके मतानुसार गृह, क्षेत्र, वाटिका, बन्ध, सेतु, प्रत्येक प्रकार की इमारत, तड़ाग तथा पुष्करिणी आदि सभी वास्तु[1] हैं। अतएव वास्तु कला का अर्थ गृह आदि निर्माण कला हो गया है। और तदनुसार वास्तुशास्त्र का एक मात्र प्रतिपाद्य विषय मानवगृहों, देवमन्दिरों, बान्धों, सेतुओं एवं तड़ागों अर्थात् प्रत्येक प्रकार के भवन, क्षेत्र, वाटिका आदि की रचना के उपायों तथा साधनों की व्याख्या करना है। मानसार आदि वास्तु शास्त्र प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय यही है।

वास्तु शास्त्र का आधार

किसी भी विषय के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादन करने के लिए यह आवश्यक है कि उन सिद्धान्तों के आधार स्वरूप लौकिक पदार्थ वर्तमान हों। अतएव यह मानना युक्तिसंगत है कि वास्तु विज्ञान के सुव्यवस्थित प्रतिपादन के पूर्व वास्तु कृतियां वर्तमान थीं। प्राचीन साहित्य के प्रमाण से इस अभिमत की पुष्टि होती है। क्योंकि ऋग्वेद में विभिन्न प्रकार की वास्तु कृतियों का उल्लेख है। जैसे कि पत्थर और अन्य कठोर वस्तुओं से रचे गए दुर्ग, लकड़ी के बने सुन्दर प्रासाद, स्तम्भों से अलंकृत, छतों से युक्त, असंख्य वातायनों से सज्जित राजप्रासाद, मित्र और वरुण का एक सहस्र स्तम्भों से युक्त

---

[1] अ० शा० अध्या० ६१

प्रासाद, लोह निर्मित दुर्ग, एक सौ दीवारों के भवन आदि। परन्तु ऋग्वेद का कोई भाग इस विषय पर प्रकाश नहीं डालता कि भवनों की रचना किस प्रकार से की जाती थी।

हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो में प्राप्त पुरातत्व सम्बन्धी अवशेषों से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि हो जाती है। क्योंकि यदि हम यह मान लें कि सिन्धु प्रदेश की प्राचीन संस्कृति भारत के आदि निवासियों के सांस्कृतिक जीवन का प्रतिबिम्ब है, कि वे आर्य किसी बाहरी देश से भारत में आए थे जिनकी अन्तरप्रेरणा से वेदों का उद्भव हुआ था, कि वे आर्य भारत के मूल निवासियों के शत्रु थे, कि हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो के भित्तियों से घिरे हुए नगरों का ध्वंस उन इन्द्र ने किया था जो एक प्रमुख पुरातत्ववेत्ता के मतानुसार इसीलिए पुरन्दर के नाम से पुकारे जाते थे, तो हमें यह ज्ञात हो जाता है कि वास्तु कृतियां वैदिक काल के भी पूर्व वर्तमान थीं।

वास्तुकला विषयक साहित्यिक ज्ञान-स्रोतों का वर्गीकरण

वास्तुकला के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान की सामग्री समग्र संस्कृत साहित्य में केवल इसीलिए विकीर्णरूप में प्राप्त होती है क्योंकि साहित्य मानवीय जीवन को चित्रित करता है और वास्तु निर्माण सम्बन्धी क्रिया सभ्य मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। परन्तु यह प्राप्त ज्ञान दो प्रकार का है—१ वास्तुकृतियों का वर्णन तथा २ वास्तु रचनाविधि का निरूपण। इनमें से प्रथम प्रकार का ज्ञान काव्य रचनाओं में प्राप्त है।

वास्तुकृतियों की रचना विधियों के ज्ञान-स्रोत तीन प्रकार के हैं (१) पुराण आदि संकलन रूप ग्रन्थ (२) शैवागम ग्रन्थ जिनमें धर्म का सर्वांगीण निरूपण किया गया है (३) वास्तुकला प्रतिपादक ग्रन्थ। इन ग्रन्थों में मूर्ति रचना कला तथा इनमें से कुछ ग्रन्थों में चित्रकला की भी व्याख्या की गई है। समरांगण सूत्रधार एक ऐसा ही ग्रन्थ है।

वास्तुकला के वर्णनात्मक उल्लेख

हम यह कह चुके हैं कि स्वयं ऋग्वेद में वास्तु कृतियों का वर्णन किया गया है जैसे कि दुर्ग तथा अनेक प्रकार के प्रासाद। शतपथ ब्राह्मण में उन विविध रूप वास्तुकृतियों का वर्णन है जिनकी रचना शवों की अन्तिम क्रिया के स्थानों अथवा श्मशानों में की जाती थी। उनको वास्तु, गृह और प्रज्ञान

कहते थे। इनमें से वास्तु का सम्बन्ध किसी विशिष्टरूप रचना से नहीं है। गृह भवन के स्वरूप का होता था और प्रज्ञान सम्भवतः स्मारक स्वरूप होता था।

बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ पिटक तथा जातक वास्तुकृतियों के वर्णनों से परिपूर्ण हैं। वास्तुकृतियों के जिन विविधरूपों का उल्लेख इन ग्रन्थों में किया गया है उनके भग्नावशेष आज भी वर्तमान हैं। महाभारत में द्वारावती तथा इन्द्रप्रस्थ नगरों का जो वर्णन प्राप्त है उससे नगर की रूपरेखा तथा भवनों के स्वरूप का स्पष्ट बोध हो जाता है। रामायण में भी अयोध्या का अत्यन्त विशद वर्णन है जिसमें उसके प्रसार (लम्बाई-चौड़ाई) दुर्ग रचनाओं एवं सुरक्षा स्थानों, राजमार्गों, बीथियों, मनोरंजन तथा क्रीडा स्थलों और मिश्रित आबादी का उल्लेख किया गया है।

परवर्ती साहित्य के निम्नलिखित अंशों में भारतीय वास्तु कृतियों का पर्याप्तरूप से स्पष्ट तथा विशद वर्णन प्राप्त है—कालिदासकृत मेघदूत में विशाला एवं अलका नगरियों का वर्णन, शूद्रक रचित मृच्छकटिक में वसन्त-सेना के भवन के आठ प्रकोष्ठों का वर्णन, उत्तर रामचरित नाटक में लोकोत्तर वास्तु रचनाकार विश्वकर्मा के पुत्र नल रचित भारत को लंका से सम्बन्धित करने वाले सेतु का वर्णन, माघकृत शिशुपालवध में द्वारावती नगरी, युधिष्ठिर और कृष्ण के भव्य तथा विशाल राजप्रासाद और सभाभवनों का वर्णन, वाणभट्ट-रचित हर्षचरित में अनेक प्रकोष्ठों, पुष्प क्यारियों एवं फलवृक्षों से युक्त अनेक प्रासादों, प्रवेश भवनों, छाजनों तथा पथिकशालाओं का वर्णन, कादम्बरी में दर्शकभवन, तपस्वीकुटीर, सूतिकागृहों तथा प्रासाद का रोचक वर्णन आदि।

वास्तुकला रचनाविधि विषयक उल्लेख

वास्तु रचना विधि सम्बन्धी ज्ञान अनेक प्रकार के ग्रन्थों से प्राप्त होता है जैसे अथर्ववेद तथा सूत्र साहित्य, शुक्रनीति एवं कौटिलय कृत अर्थशास्त्र के समान राजनीति एवं अर्थनीति प्रतिपादक ग्रंथ, नाट्य-शास्त्र जैसे नाट्यकला प्रतिपादक ग्रंथ तथा पुराण। इन ग्रन्थों में वास्तु शास्त्रीय सामग्री प्रसंग-वश उल्लिखित मिल जाती है। परन्तु इनके अतिरिक्त वास्तुकला संबंधी तीन प्राचीन सम्प्रदाय हैं १ शैव २ ब्राह्म एवं ३ माय। परन्तु इन सम्प्रदायों का उल्लेख करने वाला साहित्य उस युग में लिखा गया था जिस समय ये सम्प्रदाय परस्पर इतने घुलमिल चुके थे कि उनके भेद सूचक विशेष लक्षण

नष्ट हो चुके थे। इन सम्प्रदायों के आधार पर अत्यंत विशाल साहित्य की रचना की गई थी।

१. अथर्ववेद तथा सूत्र-साहित्य

वास्तु रचना विधि विषयक ज्ञान के सर्वाधिक प्राचीन अंश अथर्ववेद (अथर्व० वे० ९-३) में उपलब्ध होते हैं। इसमें स्तम्भ रचना विधि, उन स्तम्भो पर आश्रित परस्पर प्रतिनिविष्ट शहतीरों से उनको संबंधित करने, उन पर बांस की खपंचियों को छा कर छत बनाने और उस पर घास फूस को छाने का उल्लेख है। उसमें भवन की गोष्ठीशाला, भण्डार शाला, आन्तरिक शाला (अन्तः पुर), यज्ञशाला तथा अतिथिशाला जैसे भागों का वर्णन है। इस प्रकार से अथर्ववेद वह सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ है जिसमें वास्तुकला संबंधी किंचित् रचना विधि का उल्लेख प्राप्त होता है।

सूत्र साहित्य में यज्ञों के लिये आवश्यक वेदियों के विभिन्न रूपों की रचनाविधियों के विषय में ध्यानाकर्षक सूक्ष्म विवरण प्राप्त हैं। इनमें इस बात का उल्लेख है कि विभिन्न तलों पर कितनी ईंटों की चिनाई करनी चाहिए, उन ईंटों की लम्बाई चौड़ाई क्या होनी चाहिए, वैज्ञानिक और निर्दोष रूप में ईंटों की चिनाई करने के लिए विभिन्न स्तरों का विभिन्न अंशों में विभाजन किस प्रकार से करना चाहिए। बौधायन एवं आपस्तम्ब में श्येन-चित्, कंकचित्, द्रोणचित् आदि की रचनाविधियों का सूक्ष्म तथा विशद रूप वर्णन है।

२. अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तुकला-विषयक सामग्री

कुछ प्राचीन ग्रन्थ इस प्रकार के हैं जिनका रचनाकाल निश्चत स्वरूप से ज्ञात है। शुक्रनीति एवं कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र ऐसे ही ग्रन्थ हैं। अतएव वास्तुकला संबंधी जो सामग्री इनमें लिखी हुई है उसका ऐतिहासिक महत्व है। इतिहास का यह मत है कि ३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से नन्दवंश को पराजित किया था। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र (दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः। अध्याय १ प्रकरण २) में उशनस् के मतावलम्बियों के मत का उल्लेख शुक्रनीति के लेखक के मतावलम्बियों के मत का परिचायक है तो शुक्राचार्य अर्थशास्त्र के लेखक कौटिल्य के पूर्ववर्ती शास्त्रकार सिद्ध होते हैं। इस ग्रन्थ में चौथी शताब्दि

ईसा पूर्व में ज्ञात वास्तु विज्ञान का धूमिल रूप मिलता है। हम गत उप-प्रकरण में यह कह चुके हैं कि इन ग्रन्थों में वास्तु रचना विषयक ज्ञान की सामग्री का उल्लेख प्रसंग वश किया गया है अतएव उनमें सर्वांगीण विवरण उपलब्ध नहीं होते।

शुक्रनीति में देवालय एवं राजप्रासाद तुल्य अन्य प्रकार के भवनों की रचना विधि के नियमों का उल्लेख है। इनमें दुर्गरचित नगरों एवं दुर्गों आदि की बनावट का विस्तार पूर्ण वर्णन है। परन्तु प्रधानतया इस ग्रन्थ में वास्तुविज्ञान विषयक सामग्री नहीं बरन् मूर्तिरचनाकला विषयक सामग्री उपलब्ध होती है जिसकी गणना स्वतंत्र कलाओं के प्राचीन भारतीय वर्गीकरण के आधार पर वास्तु कला के अन्तर्गत की गई है। इस ग्रंथ में खण्डित मूर्तियों की मरम्मत करने की विधियों का उल्लेख है। मानव मूर्तियों के विषय में प्रयुक्त किए जाने वाले सप्तताल मानों का स्पष्टरूप से इसमें उल्लेख है। इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में सामान्य रूप मूर्ति रचना तथा गणपति, शक्ति आदि की विशेषरूप रचना विधियों का भी उल्लेख है। (अध्याय १-४)

कौटिल्य का अर्थशास्त्र :—चाणक्य के युग में वास्तु विज्ञान अत्यंत प्रसिद्ध था। वास्तु विज्ञान के कुशल वैज्ञानिकों का उल्लेख उन्होंने ग्रन्थ के इक्कीसवें अध्याय में किया है। कौटिल्य ने इस ग्रन्थ में एक राज्य में भूमि विभाजन प्रकार की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उन्होंने यह बताया है कि एक गांव में कितने भवनों की रचना करना आवश्यक है, एक गांव दूसरे गांव से कितना दूर हो, और सीमा का निर्धारण कौन से साधनों से किया जाय। इस प्रकार के ग्राम समुदायों की रचना के उपरान्त विभिन्न आकारों के निर्माणनीय नगरों की रूपरेखाओं का भी स्पष्ट उल्लेख इस ग्रन्थ में है। नगरों की रचना करने के प्रसंग में उन्होंने बाहरी आक्रमणों से नगर को सुरक्षित रखने के लिए बनाए गए सीमादुर्गों (अध्याय १९) का वर्णन किया है। देश की आन्तरिक व्यवस्था की सुरक्षा के लिए केन्द्रीय दुर्ग रचना, उस का उचित स्थान जहां उसे बनाना चाहिए, नगर को घेरने वाली परिखा, खात और प्राकार, नगर के विभिन्न भागों को परस्पर संयोजित करने वाले राजमार्ग, पानी निकालने की नालियां और नहरें, नगर भित्तियां अथवा नगर सुरक्षा के निमित्त अन्य इमा-रतें जहां से नगर-आक्रमणकारी शत्रु सेना को वाणों से आहत किया जा सके और उनके वाणों को निष्फल किया जा सके आदि विषयों का वर्णन इसमें किया गया है। नगर के गोपुरों की रचना में प्रयुक्त की जाने वाली उपादेय

सामग्री, विभिन्न तल्लों के भवन एवं राजप्रसादों की रचना का वर्णन भी कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। उन्होंने यह नियम बनाया था कि गृह निर्माण के लिए भूमि अंशों का विभाजन एवं वितरण निर्माताओं की वृत्ति के अनुरूप होना चाहिए।

भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र :—इस ग्रन्थ में भरतमुनि ने रंगशाला की रचनाविधि के नियमों को निर्धारित करते हुए उसके महत्व को प्रदर्शित किया है। उनके मतानुसार आकार के आधार पर रंगशाला तीन प्रकार की होती है। १ आयताकार २ वर्गाकार एवं ३ त्रिकोणाकार। इन तीन आकारों के तीन परिमाण भेद संभव हैं—१ विशाल २ मध्यम एवं ३ लघु। इस प्रकार से रंगशालाओं के नौ भेद माने गए हैं। भरतमुनि ने अणु से दण्ड तक के मानों का उल्लेख किया है। वास्तुकला सम्बन्धी सामान्य बातों का वर्णन भी उन्होंने नाट्य शास्त्र में किया है जैसे गृहभूमि का चुनाव, उसका परिमार्जन, उसके विस्तार के परिमाण का निर्धारण, नाट्यशाला का नक्शा, शिलान्यास करने की धार्मिकविधि, भित्ति रचना, उन स्तंभों की रचना जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्णों के आधार पर चार प्रकार के होते थे, दो द्वारों से युक्त प्रसाधन प्रकोष्ठ, रंगमंच का चबूतरा और चार स्तंभों पर आधारित रंगमंच के दोनों पार्श्वभागों में पूरी लम्बाई में बने हुए प्रग्रीव (छज्जे)।

भरतमुनि का यह आदेश है कि रंगमंच का फर्श कच्छप अथवा मछली की पीठ के समान वर्तुलाकार न होकर दर्पण की भांति समतल होना चाहिए। हाथियों, चीतों, सर्पों आदि की खुदी हुई आकृतियों से रंगमंच को अलंकृत करना चाहिए। भरतमुनि के मतानुसार रंगमंच (क्रीड़ागृह) को दो तल्ले का होना चाहिए और उसमें छोटे झरोखे होना चाहिए। वायु की तरंगों से रहित तथा श्रुति विषयक गुणों (acoustic qualities) से इसको परिपूर्ण होना चाहिए। दर्शकों के बैठने का स्थान जीने की भांति होना आवश्यक है, उसकी प्रत्येक पंक्ति दूसरी पंक्ति से एक हाथ अर्थात् डेढ़ फुट की ऊंचाई पर होना चाहिए और पहली पंक्ति धरातल से एक हाथ ऊपर होना चाहिए।

पौराणिक साहित्य :—मत्स्य पुराण के आठ अध्यायों में वास्तु तथा मूर्ति रचना कला का वर्णन किया गया है। गरुड़ पुराण में वास्तुकला प्रतिपादक अध्यायों में तथा दो सम्पूर्ण अध्यायों में मूर्तिरचना कला का वर्णन है। अग्निपुराण में वास्तुकला का वर्णन उतना विस्तार पूर्वक नहीं किया गया है जितना विस्तार पूर्वक मूर्तिरचनाकला का उल्लेख है। इस पुराण में मूर्ति-

रचना कला का निरूपण तेरह अध्यायों में तथा वास्तुकला का वर्णन केवल तीन अध्यायों में ही किया गया है। इसी प्रकार से भविष्य पुराण के तीन अध्यायों में मूर्तिरचना कला तथा केवल एक अध्याय में वास्तु कला का निरूपण किया गया है।

३. शैव सम्प्रदाय

शैवधर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। हड़प्पा एवं मोहेंजोदड़ो के पुरातत्व संबंधी अवशेषों से यह स्पष्टतया ज्ञात है कि यह भारतवर्ष की भूमि पर सर्वाधिक प्राचीन धर्म है। इन भग्नावशेषों से यह प्रकट होता है कि शैव धर्म और वास्तु तथा मूर्तिरचनाकला में परस्पर अत्यंत घनिष्ठ संबंध था। अतएव यह अनुमान लगाना युक्तिसंगत सा है कि शैवागमों में लिखित वास्तु तथा मूर्तिरचना कलाओं की निर्माण विधि सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें कोई संशय नहीं है कि शैवागमों की भाषा वेद की भाषा की भांति मध्यकालीन शास्त्रीय भाषा से अधिक प्राचीन नहीं मानी जा सकती। परन्तु किसी प्रकार के ज्ञान के आविर्भाव के समय और उसको लिपिबद्ध करने के समय के बीच अन्तर होता है। हम कहना यह चाहते हैं कि शैवागमों में प्रतिपादित वास्तु और मूर्ति कला सम्बन्धी रचना विधियां सर्वाधिक प्राचीन हैं, यद्यपि यह मानना युक्ति संगत है कि शैवागमों में किए हुए तद्विषयक उल्लेख उतने प्राचीन नहीं हैं। क्योंकि सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित रचना विधान के बिना हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के भग्नावशेष, शैवमत के परिचायक शिव के प्रतीकरूप लिंग आदि का अस्तित्व हो नहीं सकता था। अतएव हमारे अपने मत के अनुसार शैवागमों में जिस रचना विधान का उल्लेख है वह भारतीय वास्तु रचना विधान का आधारभूत मूल विधान है। चाहे परवर्ती समय में उसमें प्रक्षिप्त अंश मिला दिए गए हों और चाहे उसको बहुत समय पश्चात् लिपिबद्ध किया गया हो।

शैवागमों की संख्या ९२ है। इनके सभी नामों का उल्लेख हमने अपने पूर्वलिखित ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त-एन हिस्टारिकल एंड फिलासोफिकल स्टडी' में किया है। सामान्यतः एक शैवागम के चार पाद अथवा भाग होते हैं— ज्ञानपाद, योगपाद, चर्यापाद तथा क्रियापाद। क्रियापाद में अन्य विषयों के प्रतिपादन के साथ साथ वास्तु तथा मूर्तिरचनाकला का प्रतिपादन है। उदाहरण स्वरूप कुछ का उल्लेख आवश्यक है। कामिकागम में कुल ७५

अध्याय हैं। इनमें से ६२ अध्यायों का विषय वास्तु एवं मूर्तिरचना कला है। कारणागम में तृतीय अध्याय से लेकर आठवें अध्याय तक अर्थात् ६ अध्यायों में वास्तु कला विषयक विधियों का वर्णन है जैसे १ वास्तु—विन्यासविधि। २ आद्येष्टकाविधि। ३ अधिष्ठानविधि। ४ गर्भन्यासविधि। ५ प्रासादलक्षण-विधि। ६ प्राकारलक्षणविधि। इसके उपरान्त छ अध्यायों में लिंगलक्षणविधि, प्रतिमालक्षणविधि आदि मूर्ति रचना विषयक बातों का भी उल्लेख है। इसमें नृत्त मूर्ति, दक्षिणा मूर्ति, चन्द्रशेखर, अर्धनारी, कालनिग्रह, पुरारि, चण्डेश, गौरी, दुर्गा, लक्ष्मी, मोहिनी आदि का भी उल्लेख है। वास्तु तथा मूर्ति-निर्माण कलाओं का निरूपण सुप्रभेदागम के पन्द्रह अध्यायों में किया गया है।

काश्यपरचित अंशुमद्भेद वास्तु कला विषयक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। ज्ञात यह होता है कि द्वैतशैवमत प्रतिपादक अंशुमान् आगम में लिखित प्राचीन सामग्री के आधार पर इसको लिखा गया था। यह ग्रन्थ विशेष रूप से मूर्तिरचना विधान का मुख्य रूप से प्रतिपादक है। इस ग्रन्थ के ३९ अध्यायों में मूर्तिरचनाकला का निरूपण है। चन्द्रशेखर, अर्द्धनारीश्वर, गजह, पाशुपत आदि शिव के पौराणिक स्वरूपों के आधार पर उनकी मूर्तियों की रचना और उनके विशेष लक्षणों का इस ग्रन्थ में उल्लेख है। ऐसा ज्ञात होता है कि काश्यप ने उस युग में अपने ग्रन्थ को लिखा था जब शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के परस्पर वैमनस्य और विरोध नष्ट हो रहे थे अथवा उनको मिटाने की चेष्टा जागरूक थी। क्योंकि इस ग्रन्थ में एक स्थल पर यह लिखा हुआ है कि शिव की एक विशेष मूर्ति का लक्षण यह है कि इसका अर्धांश विष्णु रूप होता है 'हर्यर्ध–हर'। कोई भी ऐसा दूसरा ग्रन्थ नहीं है जिसमें इतनी अधिक शिवमूर्तियों के स्वरूपों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया हो।

दूसरा प्रसिद्ध वास्तु कला विषयक ग्रन्थ आगस्त्य है। इसका उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त है। मद्रास में संकलित पाण्डुलिपियों में से एक अपूर्ण पाण्डुलिपि से यह ज्ञात होता है कि प्रधानतया इस ग्रन्थ में काश्यपकृत अंशुमद्भेद में प्रतिपादित शैव वास्तु के सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया है। क्योंकि इसके मूर्तिरचनाकला निरूपक अध्याय में चन्द्रशेखर, कल्याण-सुन्दर, अर्धनारीश्वर आदि की विभिन्न मूर्तियों के विशेष लक्षणों का प्रतिपादन उपलब्ध है।

नारायण रचित तंत्रसमुच्चय में शैव मत से संबंधित वास्तु के प्राचीन विज्ञान को प्रकट किया गया है। क्योंकि लेखक यह स्वयं कहते हैं कि ग्रन्थ में जो वास्तुकला विषयक तथ्य लिखे गए हैं उनका संकलन शैव तन्त्रों अर्थात आगमों से किया गया है। 'सोऽयं तंत्रमिदं व्यधाद् वहुविधाद्दुद्धृत्य तन्त्रार्णवात्'।

४. ब्राह्म सम्प्रदाय

इस प्रसंग में यह कह सकते हैं कि वास्तु रचना विधान संबंधी एक ब्राह्म सम्प्रदाय का भी अस्तित्व था। इसकी स्थापना मूल रूप से ब्रह्मा ने की थी। राजा भोज ने स्वरचित ग्रंथ समरांगण सूत्रधार के चौथे अध्याय में इसका उल्लेख इस प्रकार से किया है—देवलोक के वास्तु कलाकार विश्वकर्मा ने अपने पुत्र जय के वास्तु कला विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के प्रसंग में यह कहा कि 'वदतो मेऽवधानेन शृणु यद् ब्रह्मणोदितम्।' और इस ग्रन्थ में वास्तु-कला का प्रतिपादन इसी ब्राह्म सम्प्रदाय के आधार पर राजा भोज ने किया है। परन्तु यह सम्प्रदाय शैव वास्तु संप्रदाय से अर्वाचीन है—वह मानसार में लिखित वास्तुकला के शास्त्रकारों की सूची से भली भाँति ज्ञात हो जाता है। इसमें सबसे पहले गंगाशिरः (शिव) और उसके उपरान्त कमलभू (ब्रह्मा) का उल्लेख है—

गंगाशिरःकमलभूकमलेचणेन्द्र-गीर्वाण-नारदमुखैरखिलैर्मुनीन्द्रैः।

(मा० सा० अध्याय १–२)

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में प्रधानतया वास्तुकला के ब्राह्म सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है—प्रासादलक्षणमिदं कथितं समासाद् आलोक्य पूर्वचरितम् (रचितम्) हि पितामहोक्तम् (३–८६–१३९)। इस पुराण के ४३ अध्यायों में वास्तुकला एवं तदन्तर्गत मूर्तिरचनाकला तथा चित्रकला का वर्णन है। इस पुराण में मानव गृहों तथा देवालयों की रचना का निरूपण अलग अलग है। परन्तु वास्तु कला विषयक दो सम्प्रदायों अर्थात् शैव तथा ब्राह्म के भिन्न स्वरूप होने का उल्लेख है। निम्नलिखित उद्धरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

'मातुलुंगन्तु कर्तव्यं त्र्यम्बकेन तदीरितम्' (३–६६–३)

'ब्रह्मणा वृद्धिदो नाम प्रासादः परिकीर्तितः' (३–८६–३१)

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के वास्तु कला प्रतिपादक तेंतालीस अध्यायों के

प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त रूप से वर्णन निम्नलिखित रूप में हम कर सकते हैं।

अध्याय २६ स्कन्ध २ में छ प्रकार के दुर्गों उनको चारों ओर से घेरने वाली परिखा और खांई, प्रवेश भवन, देवालय, राजप्रासाद, राजमार्ग, विभिन्न व्यापारियों तथा विभिन्न जीवनवृत्तियों के व्यक्तियों के लिए बाजार और भवनों की रचना का वर्णन है। इसमें उन वस्तुओं का उल्लेख है जिनका संचय भाण्डागार में करना चाहिए। विविध प्रकार की तोपों का उल्लेख करते हुए इसमें इस बात का वर्णन है कि दुर्ग के किस विशेष स्थल पर उनको स्थापित करना चाहिए। मनोरंजन के लिए इसमें पशुप्रदर्शक बाटिका का भी उल्लेख है।

स्कन्ध २–२९ वें अध्याय में गृह-भूमि के चुनाव, दीपक, पुष्प और जल से भूमि की परीक्षा, चौंसठ भागों में गृह भूमि का विभाजन, उसके विभिन्न भागों को विभिन्न देवों को समर्पित करना एवं तदनुसार भवनों के विभिन्न भागों की रचना करना (तत्र देवविभागेन गृहकर्म विधीयते २–२९) आदि वास्तुकला संबंधी विषयों का वर्णन है। इसमें सौ हाथों अथवा डेढ़ सौ फीट से अधिक ऊंचे भवनों की रचना करने का निषेध किया है (वास्तूच्छ्रयं न कर्तव्यं तथा हस्तशताधिकम्)। इसमें विभिन्न प्रकारों के वृत्ताकार, समकोण आदि स्तम्भों का वर्णन है। इसमें द्वार रचना के स्थलों को निर्दिष्ट किया गया है और यह भी बताया गया है कहां पर उनकी रचना नहीं करना चाहिए।

स्कन्ध २—तीसवें अध्याय में इस नियम का उल्लेख है कि बाटिका की रचना गृह के वाम भाग में करना चाहिए। इस प्रसंग में इसका भी वर्णन है कि किस प्रकार के वृक्षों में किस प्रकार की खाद देनी चाहिए और उनके विभिन्न प्रकार के रोगों को कौन सी औषधियों से नष्ट करना चाहिए।

स्कन्ध ३—३५ वें अध्याय से लेकर ४३ वें अध्याय तक चित्रकला का वर्णन है। ग्रन्थ के इस अंश को चित्रसूत्र कहते हैं। हम इसका उल्लेख एक भावी उपप्रकरण में करेंगे। स्कन्ध ३—४४ वें अध्याय से लेकर ८५ वें अध्याय तक के ४२ अध्यायों में इस बात का वर्णन है कि विभिन्न देवों की मूर्तियों की आकृतियों में किन विशेष लक्षणों को प्रकट करना आवश्यक है। इसका विशदता के साथ वर्णन हम भावी उपप्रकरण में करेंगे। ८६ वें अध्याय में सौ प्रकार के देव मन्दिरों का उल्लेख और उनकी वास्तुकला संबंधी

रूप-विलक्षणताओं का वर्णन है। ८७ वें अध्याय में सर्वतोभद्र नामक देव-मन्दिर की रचना का विस्तारपूर्ण वर्णन है। ८८ वें अध्याय में सभी प्रकार के मन्दिरों के सामान्य लक्षणों का निरूपण है। ८९ वें अध्याय में भवन निर्माण में उपयुक्त की जाने वाली लकड़ी के लट्ठों की परीक्षा विधि का उल्लेख है। ९० वें अध्याय में पत्थर की परीक्षा विधि, ९१ वें अध्याय में ईंट पकाने के उपाय, ९२ वें अध्याय में चिरस्थाई सीमेन्ट बनाने की विधि का वर्णन, ९३ वें अध्याय में भूमिपरीक्षा एवं गृह भूमि का चुनाव एवं ९५ वें अध्याय में वास्तु पुरुष के स्वरूप का वर्णन है।

चित्र कला

वास्तु कला के ब्राह्म सम्प्रदाय को विष्णुधर्मोत्तर पुराण में प्रदर्शित किया गया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार जैसा कि समरांगण सूत्रधार से भी ज्ञात होता है चित्र कला वास्तु कला का ही एक अंश है। अतएव इस पुराण में चित्रकला का भी वर्णन है। इस पुराण के मतानुसार नृत्यकला की भांति चित्रकला का भी उद्देश्य तीनों[1] लोकों में प्राप्त अनुभवगम्य वस्तुओं की अनुकृति करते हुए उनके आदर्श रूपों को प्रदर्शित करना है। अन्तर केवल यह है कि भावानुरूप वस्त्रभूषा पहन कर आंखों तथा शरीर के अन्य अंगों के क्रमबद्ध परिचालन से एक मानसिक दशा को नृत्यकला में प्रदर्शित किया जाता है, परन्तु चित्रकला में इस प्रकार के क्रमरूप कार्य का केवल एक अंश अर्थात् पूरी क्रम श्रृंखला की केवल एक कड़ी को ही प्रदर्शित करते हैं।

स्कन्ध ३ के ४० वें अध्याय में भित्तिचित्र रचना की विधियों एवं उसके उपायों और साधनों का वर्णन है। इस प्रसंग में उस प्रलेप रचना विधि का उल्लेख है जो एक शताब्दि तक नष्ट न हो सके। और ऐसे मूल रंगों तथा मिश्रित रंगों के बनाने की विधि का उल्लेख है जो पानी से धुल न जाएँ।

इस पुराण में चित्र कला सम्बन्धी निम्नलिखित विषयों का उल्लेख है:—चार प्रकार के चित्र १ सत्य २ वैणिक ३ नागर एवं ४ मिश्र, पांच प्रकार की मानवाकृतियों जिनको शास्त्रीय भाषा में १ हंस २ भद्र ३ मालव्य ४ रुचक एवं ५ शशक कहते हैं, तीन वर्तनाएं अर्थात् शैलियां १ पत्र २ अहैरिका ३ बिन्दुजा, चित्रकला के गुण तथा दोष, चित्र के दो भेद १ परोक्षवस्तु सम्बन्धी जैसे देव, अर्ध-देव, असुर आदि एवं २ प्रत्यक्ष वस्तु सम्बन्धी जैसे मनुष्य, पशु आदि।

---

[1] वि० ध० ३३१

परोक्ष वस्तु सम्बन्धी चित्रों के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित स्वरूप का अनुकरण करने और प्रत्यक्ष वस्तु सम्बन्धी चित्रों में यथार्थ आकृति के सादृश्य को चित्रित करने का आदेश भी इसमें दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें नवरसों को व्यक्त करने की विधि का उल्लेख है। निवास गृहों तथा राजप्रासादों में केवल श्रृंगार, हास्य तथा शान्त रस को ही प्रदर्शित करने का आदेश एवं अन्य रसों को प्रदर्शित करने का निषेध है। ४१ वें अध्याय से लेकर ४३ वें अध्याय तक देव मन्दिरों तथा राजाओं के सभा भवनों में सभी रसों को प्रदर्शित करने का शास्त्रीय आदेश आदि विषयों की व्याख्या है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के मतानुसार उत्कृष्ट चित्र वही है जो सजीव, स्वांस लेता हुआ एवं मानसिक दशाओं को प्रकट करता हुआ सा प्रतीत होता है।

मूर्ति कला

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मूर्ति कला के प्रसंग में निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख है—(१) बनी हुई देव मूर्तियों में उन रंगों को प्रयुक्त करने की विधि जो विशिष्ट देवता के रंग, उसकी वस्त्रभूषा तथा आंखों को प्रदर्शित कर सकें (२) यह मत कि किसी देवता के सर्वजगन्मय स्वरूप को मूर्ति रचना कला प्रतीकात्मक रूप में ही प्रकट करती है। दृष्टान्त रूप में ब्रह्मा रजोगुण स्वरूप हैं अतएव उनके शरीर का रंग लाल है। उनके चार मुख चार वेदों के, हाथ दिशाओं के, कमण्डल जड़ और जंगम जगत् का, अक्षमाला समय का, उनके शरीर पर कृष्ण मृग की खाल यज्ञ का तथा उनके सात हंस सात लोकों के प्रतीक हैं। स्कन्ध ३-अध्याय ४६।

१ विश्वकर्म वास्तु शास्त्र एवं २ विश्वकर्म शिल्प एक सम्पूर्णरूप ग्रन्थ के दो भाग ज्ञात होते हैं। इनमें विश्वकर्मा स्थापित परंपरागत प्राचीन ज्ञान को लिपिबद्ध किया गया है—यह बात ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट हो जाती है। शीर्षकों से ही यह ज्ञात हो जाता है कि इसमें वास्तु कला के ब्राह्म सम्प्रदाय गत स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, यद्यपि यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वास्तुकला सम्बन्धी अन्य सम्प्रदायों का भी प्रभाव इस पर पड़ा है। यह ग्रन्थ केवल संकलन मात्र ही है। पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर इसकी रचना की गई थी। मुद्रित तथा पाण्डु लिपियों के रूप में अन्य ऐसे अनेक ग्रन्थों का अस्तित्व है जिनके नामों में 'विश्वकर्मा' का नाम वर्तमान है, जैसे कि विश्वकर्मज्ञान, विश्वकर्म पुराण, विश्वकर्म प्रकाश, विश्वकर्म सम्प्रदाय, विश्वकर्म शिल्प सम्प्रदाय

आदि। इस प्रसंग में यह कह सकते हैं कि इनमें से कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें निश्चित रूप से शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित वास्तुकला का वर्णन है। दृष्टान्त रूप में विश्वकर्ममत तांत्रिक शैली में लिखा हुआ एक ग्रंथ है जिसमें शिव वक्ता हैं।

५. माय सम्प्रदाय

भारतीय वास्तुकला के इतिहास में 'मय' अत्यन्त महत्वपूर्ण नाम है। इस नाम से सम्बन्धित परस्पर विरोधी अनेक पौराणिक कथाएं हैं। वास्तुकला सम्बन्धी अनेक मुद्रित एवं अमुद्रित ग्रन्थों के शीर्षकों में 'मय' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे १ मयमत २ मयमतशिल्पशास्त्र विधान, ३ मयशिल्पशतिका ४ मयशिल्प ५ मयवास्तु ६ मयवास्तुशास्त्रम् ७ मयमतवास्तुशास्त्र। कारणवश 'मय' एक जाति का नाम हो गया था। इस जाति की एक निजी विशिष्ट संस्कृति थी जिसका प्रसार मध्य अमेरिका तक था। मध्य अमेरिका में पुरातत्व सम्बन्धी खुदाई से हनूमान, गणेश, इन्द्र, विशिष्ट रूपों के शीर्षवेष्ठनों से युक्त भारतीयों की आकृतियों की मूर्तिकलाकृत मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं।

वाल्मीकिकृत रामायण के किष्किन्धा काण्ड के ५० वें सर्ग से लेकर ५३ वें सर्ग तक में एक भूगर्भ में वर्तमान गिरि दुर्ग का रमणीय विशद वर्णन है जिसकी रचना मय ने अपनी लोकोत्तर शक्तियों से की थी। 'मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम्' (रा० कि० सर्ग ५३ श्लो० १५)। रामायण में यह लिखा है कि 'मय' नामक एक महासुर था जिसने एक हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की थी। इसी तपस्या के फलस्वरूप उसने असुर गुरु शुक्राचार्य अथवा उशनस् की सम्पूर्ण मानसिक शक्तियां प्राप्त कर ली थीं। वह स्वयं स्वरचित एक भूगर्भीय गिरि दुर्ग में निवास करता था। यहीं पर 'हेमा' नाम की एक अप्सरा से उसका प्रेम हो गया था। इसी पर क्रुद्ध होकर इन्द्र ने उसका बध कर डाला था। देवों में जो प्रतिष्ठा विश्वकर्मा की है वही प्रतिष्ठा असुरों में 'मय' की है। लंका में बने हुए रावण के भवनों के सौन्दर्य के विषय में सुन्दर काण्ड में आदि कवि ने यह लिखा है कि अपनी सर्वांगीण रमणीयता में वे इतने अधिक विलक्षण थे मानों स्वयं 'मय' ने उनकी रचना अपने हाथों से की थी। (मयेन साक्षादिव निर्मितानि। रा० सु० सर्ग ७ श्लो० ४)।

महाभारत के सभापर्व के प्रथम अध्याय में मय विषयक उपर्युक्त कथन को

दोहराया भर गया है। महाभारत में भी यह लिखा हुआ है कि सुरों में जो प्रतिष्ठा विश्वकर्मा की है वही प्रतिष्ठा असुरों में मय की है। मय ने कृष्ण को सहायता देने का वचन दिया था और उनके भवनों की रचना की थी। पाण्डवों की विलक्षण राजसभा की रचना मय ने ही की थी। ऐसी राजसभा की रचना का अनुकरण मनुष्य जाति के लोग नहीं कर सकते थे। इसमें देव सम्बन्धी, असुर सम्बन्धी तथा मानव सम्बन्धी भावों को पत्थर, चूना, ईंट तथा रंगों में प्रकट किया गया था।

मानसार के दूसरे अध्याय में यह लिखा हुआ है कि ब्रह्मा के दक्षिण मुख से मय उत्पन्न हुआ था। उसको महाविश्वकर्मा भी कहते हैं। ब्रह्मा के अन्य तीन मुखों से, विश्वकर्मा, मनु एवं त्वष्टा की उत्पत्ति हुई है। ज्ञात यह होता है कि मय ने सूत्र ग्राहिता (draftsmanship) में विलक्षण निपुणता प्राप्त की थी क्योंकि उनके पुत्र को सूत्रग्राहिन् कहा गया है। विश्वकर्मा, त्वष्टा तथा मनु को क्रमशः स्थपति, त्वष्टृ तथा तक्षक के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें से स्थपति अन्य तीनों का, सूत्रग्राही त्वष्टा तथा तक्षक का, और त्वष्टा केवल तक्षक का पथप्रदर्शक माना गया है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य यह बात है कि उपर्युक्त प्रसंग में तक्षक शब्द का प्रयोग केवल बढ़ई के अर्थ में ही नहीं किया गया है वरन् उपादान सामग्री को योजनानुरूप एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने वाले कारीगर का अर्थ उससे प्रकट होता है।

वास्तुकला के प्रतिष्ठित शास्त्रकार के रूप में मय के नाम का उल्लेख मानसार, विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र, मत्स्य पुराण, वराहमिहिर रचित बृहत्संहिता आदि वास्तुकला विषयक ग्रन्थों में किया गया है।

वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थों का अनिश्चित रचना काल

वास्तुकला विषयक अत्यंत विशदरूप साहित्य वर्तमान है। इस साहित्य का विवरण डाक्टर पी० के० आचार्य ने स्वसंपादित मानसार ग्रन्थ माला के चौथे भाग में लिखा है। परन्तु राजा भोजकृत समरांगण सूत्रधार (१०१८–६० ई०) तथा मण्डनकृत शिल्पशास्त्र (ईसा की १५ वीं शताब्दि) के समान कुछ ग्रन्थों का रचनाकाल तो निश्चितरूप से ज्ञात है। परन्तु वास्तु कला विषयक अन्य ग्रन्थों के रचनाकाल के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। पूर्ववर्ती शास्त्रकारों के उल्लेख से ग्रन्थरचनाकाल के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता क्योंकि प्रायः अर्वाचीन शास्त्रकार

भी स्वरचित ग्रन्थ को किसी प्राचीन शास्त्रकार की रचना कह कर इसलिए प्रसिद्ध करते हैं कि साधारण लोग उनके ग्रन्थ को प्राचीन ग्रन्थों की भांति प्रतिष्ठित तथा प्रामाणिक स्वीकार कर लें। वास्तुकला विषयक बहुसंख्यक ग्रन्थों एवं ३००० ई० पू० में रचित इमारतों को देखने से यह बात ज्ञात हो जाती है कि भारतीय वास्तुकला विषयक परम्परा यदि संसार की सर्वाधिक प्राचीन परम्परा नहीं है तो उसकी प्राचीनतम परम्पराओं में से एक परम्परा अवश्य है। और यह भी ज्ञात होता है कि यह परम्परा मूलस्वरूप तथा स्वतंत्र रूप में विकसित हुई है जिसका प्रसार मध्य एशिया एवं भारत निकट द्वीपसमूहों में होकर मध्य अमेरिका तक हुआ था।

भारतीय संस्कृति एवं उसकी वास्तुकला का प्रसार क्षेत्र

उत्साहप्रिय साहसी व्यापारी वे प्रथम व्यक्ति हैं जो स्वदेशीय संस्कृति और सभ्यता का प्रसार अन्य देशों में करते हैं। यदि हम भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास एवं उससे उत्पन्न सांस्कृतिक प्रभाव को देखें तो ज्ञात यह होता है कि अंग्रेज सर्वप्रथम भारत में व्यापारी के स्वरूप में आए थे। इतिहास के इस आधार पर हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि पुरातत्व सम्बन्धी अवशेषों से प्रकटित भारतीय संस्कृति के चिह्न जो पूर्व उपप्रकरण में लिखित सुदूर देशों में प्राप्त किए गए हैं वे उन भवनों और प्रतिमाओं के भग्नावशिष्ट चिह्न हैं जिनकी रचना उन देशों में रहने वाले भारतीयों ने की थी। भारत के ये निवासी उन देशों में व्यापार करने वाले भारतीयों की सहायता से वहां पर बसे थे अथवा वहां पर भारतीय संस्कृति से प्रभावित मूलनिवासियों की सहायता से उन देशों में रह सके थे। ऋग्वेद में समुद्र-व्यापारियों के उल्लेख से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि स्वदेश में जिस प्रकार से व्यापार चलता था उसी प्रकार से बाहरी देशों में भी भारतीय व्यापार चलता था। दृष्टान्त के लिए ऋ० वे० १-४८-३ में 'धन की कामना करने वाले व्यक्ति समुद्रों में अपने जलपोतों को भेजते हैं।' तथा ऋ० वे० १–५६–२ में 'लाभ की आकाँक्षा वाले व्यापारी व्यापार की सामग्री ढोने वाले जलयानों के झुण्डों को समुद्रों में भेजते हैं'। उनमें से कुछ जलयानों में सौ पतवारें होतीं थीं और उनमें पाल लगे होते थे। इस प्रकार से भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का प्रसार मध्य अमेरिका के समान सुदूर देशों में हुआ था। मध्य अमेरिका के यूकटन के बनों में मय संस्कृति के जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं उनमें गणेश, हनुमान तथा

इन्द्र की मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। इनकी सहायता से यह सम्यक् रूप से प्रमाणित हो जाता है कि मध्य अमेरिका में मय संस्कृति के प्रसार और उसके परिवर्धन में भारतीयों का सहयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण था, और भारतीय नाविक अत्यन्त प्राचीन समय में अमेरिका के तट तक पहुंच गए थे। क्योंकि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रसार इतने दूरवर्ती देशों में नहीं हो सकता था यदि भारतीय नाविक समुद्र के महासाहसी यात्री न होते।

मध्य अमेरिका की मय संस्कृति के प्रसंग में यह बात अत्यन्त चित्ताकर्षक है कि लोल्टन की वह विशाल गुफा जिसका वर्णन हम आगामी पंक्तियों में करेंगे अधिकांशतः उस भूगर्भस्थित गिरिदुर्ग के समान है जिसकी रचना जैसा कि हम पूर्व प्रकरण में लिख चुके हैं मय ने अपने रहने के लिए की थी। और रामायण के मतानुसार जिसमें हनुमान ने अपने साथियों के साथ सीता की खोज करते हुए प्रवेश किया था।

डाक्टर गन ने उस गुफा का वर्णन निम्नलिखित रूप में किया है:—

लौल्टन की अतिविशाल गुफा में उत्तर दिशा में विद्यमान कूप के समान विशाल भूरंध्रों से सीढ़ियों की सहायता से प्रवेश करते हैं। सीढ़ियों द्वारा चट्टानों के बाहर निकले हुए भागों में क्रमशः उतरते हुए शिलाओं से बने हुए उन विशाल प्रकोष्ठों में पहुंचते हैं जिनके फर्श चूने के टुकड़ों और गुफा की मिट्टी से ढंके हुए हैं और जिनकी ऊँची छतों से चूने की काई लठक रही है। इनमें से दो भूरंध्रों की परस्पर दूरी एक मील की है और योरूप का कोई भी निवासी अभी तक इस मध्यस्थित स्थान के एक ओर से दूसरी ओर नहीं गया है। विशाल प्रकोष्ठों से प्रत्येक दिशा में वे मार्ग बने हुए हैं जिनका पूरा पता अभी तक नहीं लगाया जा सका है।

इस वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीय वास्तु कला संबंधी संस्कृति का प्रसार मध्य अमेरिका जैसे सुदूर देशों में हो चुका था।

परन्तु भारतीय संस्कृति और उसकी वास्तुकला संबंधी परम्परा मध्य अमेरिका तक सहसा एक कुदान में ही नहीं पहुंच गई थी और न इस प्रकार से वह पहुंच ही सकती थी। मध्यवर्ती प्रदेशों को क्रमशः शनैः शनैः पार करते हुए उसने मध्य अमेरिका में प्रवेश किया था। निम्नलिखित तथ्य ऐसे हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि भारतीय संस्कृति और उसकी वास्तुकला संबंधी परम्परा का मध्य अमेरिका में प्रसार क्रमशः शनैः शनैः हुआ था:—

१ ईसा की सांतवीं शताब्दि के मध्य भाग में बनाए गए लासा में लब्रांग का मठ और रमोके का देव मन्दिर।

२. तिब्बत में लासा से लगभग पैंतीस मील की दूरी पर ईसा की आठवीं शताब्दि में पद्मसंभव से स्थापित मठ। पद्मसंभव विहार से बौद्ध धर्म के कुछ उपदेष्टाओं के साथ तिब्बत गये थे।

३. लंका में अशोक के समय से लेकर आधुनिक समय तक रचे गए बौद्ध धर्म सम्बन्धी स्मारकों की पूरी क्रमबद्ध श्रृंखला।

४. वास्तुकला और मूर्तिकला के वे भग्नावशेष जो मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं। उदाहरणतः खोतन में उपलब्ध स्तूप, विहार, उपासनागृह, मन्दिर, देवालय, राजभवन एवं दुर्ग।

५. ह्वेन सांग के मतानुसार यू—तेन नगर में वर्तमान वैश्रवण का प्रसिद्ध देवालय।

६. खदलिक में रचे गए वे देवालय जिनका रचनास्वरूप हिन्दू मन्दिर के समान है।

७. अजन्ता और एलोरा की गुफाओं के समान तुन हाँग प्रदेश में वर्तमान सहस्र बुद्धों की कन्दराएँ।

८. इनमें से दो कन्दराओं में वर्तमान महात्मा बुद्ध की मिट्टी से निर्मित बृहदाकार मूर्तियाँ।

९. उस चिआओ त्जु में वर्तमान गुहामन्दिरों का समूह जिसको जनश्रुति के आधार पर 'दश सहस्र बुद्धों का देश' कहते हैं।

१०. भारतवर्ष के निकटवर्ती द्वीप समूहों में प्राप्त वास्तुकला एवं मूर्तिकला से निर्मित कृतियां।

११. ब्रह्म देश, स्याम, चम्पा, कम्बोडिया, सुमात्रा, जावा, बाली और बोर्नियो में प्राप्त असंख्य मन्दिर एवं चैत्य।

१२. चीन देश में वे बौद्ध मन्दिर जिनमें बुद्ध प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

१३. चीन की धार्मिक संस्कृति से प्रभावित जापान के बौद्ध मन्दिर।

मानव निवास गृह की सर्वाधिक प्राचीन उपादान-सामग्री-लकड़ी

संस्कृति के उषःकाल के पूर्व मानव जीवन के विकास की आरम्भिक दशा की कल्पना यदि हम करें तो ज्ञात यह होता है कि उस युग में वह पशुओं

जैसा ही था। अतएव सूर्य के प्रखर ताप और वर्षा से रक्षा करने के लिए उसके अधिकार में छायादार वृक्षों को छोड़ कर और कोई शरणस्थल नहीं था। वस्तुतः आज भी यात्री जब सुदूर देशों की पैदल यात्रा निर्जन प्रदेशों के बीच से करते हैं तो प्रकृति के कोपों से बचने के लिए उनको छायादार वृक्षों की शरण लेनी पड़ती है। वृक्षों की हरी कोमल शाखाओं को हाथों से तोड़ना सहज है। उनको झोपड़े की आकृति में बदलना और उस पर पत्तियों का छाजन बनाना भी कठिन नहीं है। इन सब कामों को पूरा करने में किसी विशेष साधन यंत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार के गृह की उस पूर्ण विकसित वटवृक्ष के प्राकृतिक स्वरूप के आधार पर रचना कठिन नहीं थी जिसकी जटाएं विस्तृत क्षेत्र में भूमि के अन्दर तक प्रवेश कर लेती हैं। पर्वतीय प्रदेशों में प्रकृतिजन्य कन्दरायें स्वभावतया कुछ मनुष्यों के निवास गृहों के रूप में रही होंगी। परन्तु भवनों अथवा गुफाओं की रचना बिना प्रभावशाली सहकारी यंत्रों के नहीं हो सकती थी। अतएव यह अनुमान करना युक्तिसंगत है कि मनुष्य-सभ्यता के प्रारम्भिक काल में लकड़ी ही मनुष्यों के गृहरचना का सर्वप्रथम उपादान कारण थी।

इस युक्तिसंगत अनुमान को समरांगण सूत्रधार के छठे अध्याय में पौराणिक शैली में निम्नलिखित रूप से कहा गया है :—

कृतयुग (स्वर्णयुग) में देवता और मनुष्य साथ साथ सुखपूर्वक निवास करते थे। उस युग में वे उन कल्पद्रुमों (इच्छापूरक वृक्षों) में रहते थे जिनका स्वरूप राजप्रासाद जैसा था। ये वृक्ष उनकी सभी आकांक्षाओं को पूर्ण करते थे। उस युग में केवल बसन्त ऋतु ही वर्ष भर रहती थी अतएव किसी कठोर और दृढ़ निवास-गृह की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उस समय सामाजिक समता पूर्णतया वर्तमान थी अतएव जीवन शान्तिपूर्ण था और शक्ति तथा प्रतिष्ठा[1] को प्राप्त करने के लिए संघर्षों का कोई अस्तित्व नहीं था। परन्तु दुर्भाग्यवश मनुष्य देवताओं का अनादर करने लगे। परिणाम यह हुआ कि देवता कल्पतरुओं को लेकर स्वर्गलोक को भाग गए। तब मनुष्य जाति के लोगों ने अपने प्राणों की रक्षा के लिए खाद्यान्न खोजा और चावल पाया। उन्होंने धान की खेती करना आरम्भ किया। तब पूर्व युग कालीन सदा बसन्त ऋतु निदाघ, शीत और वर्षा की ऋतुओं में बदल गई। इसीलिए वृक्षों की छाया ही उनके लिए यथेष्ट मात्रा में सुरक्षक शरण स्थल अर्थात् निवास गृह के

[1] स० सू० धा० अध्याय ९

रूपों में नहीं रह सकी। अतएव उन्होंने पत्थर से बने औजारों से वृक्षों की शाखाओं को काटकर, राजप्रासाद की आकृति के कल्पद्रुमों के स्वरूप को याद कर अपने नए भवनों को बनाना आरम्भ कर दिया।

अजातप्रीतयो वृक्षैः कुट्टिमानि गृहाणि च
व्यधुश्छित्वाऽश्मभिर्वृक्षानन्यान् दुःखार्तचेतसः
स्मृत्वा कल्पद्रुमाकारांस्तद्रूपाणि गृहाणि ते।
(स० सू० धा० भाग १–२५)

भवन और उसके निवासी में संबंध

वास्तुकृति और उस देवता अथवा मनुष्य में जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है तथा जो उसमें निवास करता है वही संबंध है जो शरीर और आत्मा में है। जिस प्रकार से काव्यकृति उसमें वर्णित प्रधान नायक के स्थायी भाव को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करती है उसी प्रकार से वास्तुकृति पत्थरों, ईंटों तथा भवन निर्माणकारी अन्य उपादानस्वरूप साधनों द्वारा उसके प्रधान निवासी देवता अथवा मनुष्य की मूल उन्मुखता को प्रकट करती है।

वास्तु को पुरुष-स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। यह तथ्य स्पष्टतया भवनाधारभूत भूमि पर निर्मेय भवन के रूपरेखाचित्र से ज्ञात हो जाता है जिसको 'वास्तु पुरुष' कहते हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में एक प्राचीन कथा का उल्लेख प्राप्त है जिसमें वास्तु को एक असुर कहा गया है। यह वास्तु नामक दैत्य तीनों लोकों को नष्ट करना चाहता था। देवों ने अस्त्र प्रहार से उसको धराशायी कर दिया। भूमि पर वह औंधे मुँह गिरा। उसके शरीर के विभिन्न अंगों पर विभिन्न देवता बैठ गए जिससे कि वह फिर न उठ सके। यह गृह के रूपरेखा चित्र (नक्शे) की उस अखण्डता को प्रकट करने की पौराणिक शैली है जिसे मानव शरीर की अखण्डता के समान होना चाहिए। इस कथा से यह भी स्पष्ट होता है कि गृहभूमि के किस भाग में भवन के किस भाग की रचना करना आवश्यक है। जैसे उसके किस भाग में बैठका, भण्डार कोष्ठ, पाकशाला आदि की रचना करनी चाहिए।

प्रधानतया भवनों को दो वर्गों में विभाजित करते हैं। १. देवमूर्तियों के लिए एवं २. मनुष्यों के लिए। 'प्रासाद' शब्द का प्रयोग सामान्यतः देवालय तथा राजभवन दोनों अर्थों में करते हैं। क्योंकि विश्वास यह है कि आठ दिक्पालों की शक्तियां राजा के रूप में शरीर धारण करती हैं (अष्टानां लोकपा-

लानां वपुर्धारयते नृपः)। और भवनाधार भूमि से उठते हुए प्रासाद रचना की रूपरेखा को भी मनुष्य शरीर जैसा मानते हैं। इसीलिए उसमें अखण्डता को भी वर्तमान मानते हैं। प्रधानतया भवन को छ भागों में विभाजित करते हैं अर्थात् १. अधिष्ठान (आधारभूमि) २. स्तंभ (खम्भा) ३. प्रस्तर (स्तम्भ का ऊर्ध्वशीर्ष)४. गल (कण्ठ) ५. शिखर (शिर) एवं ६. स्तूपिका (शृङ्ग)। अन्य शास्त्रकार प्रासाद के उपर्युक्त भागों को ऐसे नामों से अभिहित करते हैं जिनका अर्थ शरीर के विभिन्न अङ्ग भी होते हैं जैसे पादुका, पाद, प्रपद, चरण, अंघ्रि, जंघा, ऊरु, कटि, कुक्षि, पार्श्व, गल, ग्रीवा, कंधर, कण्ठ, शिखर, शिरस्, शीर्ष, मूर्धन् , मस्तक, मुख, वक्त्र, कूट, कर्ण, नासिका, शिखा आदि। प्रासाद अथवा देवालय के विभिन्न अंगों के अर्थ को प्रकट करने के लिए उपर्युक्त शब्दों के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि प्रासाद का स्वरूप मानव शरीर जैसा माना गया था और इसी कारण से जो मनुष्य अथवा देवता उसमें निवास करता था उसको उस प्रासाद की आत्मा मानते थे।

देवालय और उसमें स्थापित देवमूर्ति के परस्पर सम्बन्ध को दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—(१) स्थापित मूर्ति के दृष्टिकोण से एवं (२) वास्तुकृति के कलाकार के दृष्टिकोण से। स्थापित मूर्त्ति के दृष्टिकोण से देवालय और उसमें स्थापित मूर्ति का परस्पर वही संबंध है जो शरीर और तद्गत आत्मा में है। इसी विश्वास के आधार पर देवमन्दिर को वह स्थान मानते हैं जहां पर कोई विशिष्ट देवशक्ति पूजोपहार लेती हुई और उसका उपभोग करती हुई निवास करती है। क्योंकि न्याय-वैशेषिक मत में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि शरीर वह स्थान है जहां पर आत्मा निवास करती हुई अनेक भोगों का उपभोग करती है (भोगायतनं शरीरम्)। अतएव प्रासाद को विभाव भी कह सकते हैं। वस्तुतः भरतमुनि ने शृङ्गार रस के विभावों में रमणीक प्रासाद (वरभवन) को भी एक विभाव माना है। परन्तु वास्तुकृति के कलाकार देवालय और उसमें स्थापित देवमूर्ति में उसी प्रकार का ऐक्य मानते हैं जैसा कि जीव और शरीर में है। अत एव उनके दृष्टिकोण से देव मूर्ति में संकेतित आध्यात्मिकता (Spirituality) अथवा देवात्मशक्ति शरीररूप देवालय में केवल प्रतिबिंबित ही नहीं होती वरन् देवालय उस आध्यात्मिकता की विषय रूप में अभिव्यक्ति है। उनकी दृष्टि में दोनों में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यदि हम वास्तुकलाकार की कल्पना में वर्तमान वास्तुकृति तथा उसके निवासी मनुष्य के परस्पर सम्बन्ध की समस्या को देखें तो यह बात और

भी स्पष्ट हो जाएगी। दृष्टान्त के लिए एक दुर्ग को देखें। क्या वास्तुकलाकार के कल्पनालोक में दुर्ग उस राजा की मूल उन्मुखता, उत्साह, का प्रकट स्वरूप नहीं है जिसके लिए उसकी रचना की जाती है? अतएव देवालय वह शरीर है जिसमें स्थापित मूर्ति में प्रतीक रूप में प्रकटित आध्यात्मिकता अथवा देवात्म-शक्ति उसी प्रकार से प्रतिबिंबित होती है जिस प्रकार से एक व्यक्ति के शरीर पर उसके मानसिक भाव तथा भावनाएं प्रतिबिंबित होती हैं। अतएव यह कह सकते हैं कि देवमन्दिर प्रतीक रूप में प्रदर्शित आध्यात्मिकता के अत्यन्त आवश्यक अंशों का मूर्त रूप है।

वास्तुकृतियों का रचनाशैली के आधार पर वर्गीकरण

प्रतिष्ठित शास्त्रकारों ने वास्तु की तीन आकार-शैलियों का प्रतिपादन किया है—नागर, द्रविड तथा वेसर। यह हम कह चुके हैं कि देवमन्दिर के आकार का स्वरूप मानवशरीर के आकार सा अखण्ड होता है। नृतत्ववेत्ताओं (anthropologists) ने प्रधानतया शिर की बनावट के आधार पर मनुष्य जातियों का वर्गीकरण स्पष्ट रूप से किया है—मनुष्य शरीर के अन्य भागों को प्रधान रूप से वर्गीकरण का आधार नहीं बना सके हैं। अतएव स्वभावतया यदि हम वास्तुकृतियों का वर्गीकरण करना चाहते हैं तो उनके अन्य भागों की अपेक्षा शीर्ष भाग पर ही उसको आधारित करना होगा। नागर शैली की विलक्षणता वर्गाकार अथवा चतुष्कोण शिखर है, वेसर शैली की इमारत का शिखर वृत्ताकार अथवा गोलाकार तथा द्रविड शैली का शिखर कई पहलू वाला होता है।

निम्नलिखित उद्धरण से उपर्युक्त कथन और भी पुष्ट हो जाता है:—

मूलाद्याशिखरं युगाश्ररचितं गेहं स्मृतं नागरम्
ग्रीवाद्याशिखरक्रियं षड्उरगाश्रोद्भेदितम् द्राविडम्
मूलाद्वा गलतोथवा परिलसद् वृत्तात्मकम् वेसरम्।

(स्ट० सं० टे० ६८)

भारतीय वास्तुकृतियों के वर्गीकरण का दूसरा आधार

भारतीय वास्तु कृतियों के वर्गीकरण के दो आधार हैं। (१) आकार-शैली (२) स्थापित मूर्त्ति का स्वरूप। गत उपप्रकरण में हम यह लिख आये हैं कि देवालय के शिखर की आकृति के आधार पर नागर, द्रविड़ तथा वेसर के रूप में उनका वर्गीकरण करना सम्भव हुआ है। नागर शैली का शिखर वर्गाकार, वेसर का वृत्ताकार और द्रविड़ का कई पहलूवाला होता है। किसी

विशेष देवालय के शिखर को देखकर उसकी आकार शैली का बोध होता है। स्थापित मूर्त्ति के स्वरूप के आधार पर वास्तु कृतियों का वर्गीकरण तीन वर्गों में करते हैं :—(१) स्थानक (खड़ी हुई) (२) आसन (बैठी हुई) तथा (३) शयान[1] (लेटी हुई)। देव मन्दिर में स्थापित मूर्ति उपर्युक्त तीन दशाओं में ही हो सकती है। इन्हीं दशाओं के आधार पर देवालयों का वर्गीकरण स्थानक आदि रूपों में किया गया है। यह वर्गीकरण देवालय के आकार तथा उसमें स्थापित मूर्ति के सामंजस्य पर अधिक जोर देता है। देवालय को स्थापित मूर्त्ति के शारीरिक स्वरूप को ही अपने में प्रतिबिम्बित नहीं करना चाहिए वरन् उसके मनोगत भाव को भी प्रतिबिम्बित करना चाहिए।

स्थापित देवों और वास्तु शैलियों में परस्पर संबंध

भारतीय वास्तुकृतियों की प्रधान आकार-शैलियां तीन हैं।—नागर, वेसर और द्रविड। हिन्दूधर्म के प्रधान देवता भी तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु और शिव। अतएव भारतीय वास्तु कृतियों के साहित्य को अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उदित होता है कि हिन्दू वास्तुकृतियों की आकार शैलियों और हिन्दू धर्म में पूजित तीन प्रधान देवों में क्या किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध है ? ब्रह्मकान्त, विष्णुकान्त और ईशकान्त स्तम्भों के ऐसे नाम हैं जिनसे इनमें एक प्रकार के परस्पर सम्बन्ध का बोध होता है। यह हम लिख ही चुके हैं कि वर्गाकार शिखर नागर शैली की, अष्टकोणात्मक अथवा बहुकोणात्मक शिखर द्रविड शैली की तथा वृत्ताकार शिखर वेसर शैली की अपनी विलक्षणताएं हैं। और वर्गाकार स्तंभ को, ब्रह्मकान्त, ब्रह्मा को प्रिय अथवा प्रसन्नताप्रदायक, इसलिए कहते हैं क्योंकि ब्रह्मा के चार मुख हैं। अष्टकोणात्मकस्तंभ को विष्णुकान्त (विष्णु को प्रिय) इसलिए कहते हैं क्योंकि विष्णुपुराण में (८–६–८२) प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम्) विष्णु को आठ भुजाओं का कहा गया है। और वृत्ताकार स्तम्भ को ईशकान्त इसलिए कहते हैं क्योंकि शिवलिंग स्वरूप प्रतीक वृत्ताकार होता है।

यद्यपि परवर्ती काल में लिखित ग्रन्थों में उपर्युक्त स्तम्भों के नाम उनके आकार के आधार पर रखे गए हैं—जैसे क्रमानुसार तुर्यश्र सर्वाष्टाश्र एवं वृत्तपाद[2] फिर भी मयमत, काश्यपशिल्प और मानसार जैसे वास्तु कला प्रतिपादक ग्रन्थों में ब्रह्मकान्त आदि नाम ही लिखे प्राप्त होते हैं।

---

* [1] स्ट० सं० टे० २८५ * [2] स्ट० सं० टे० २१७

इस प्रसंग में यह कह सकते हैं कि स्तम्भों के अन्य नाम भी हैं। इनमें से प्रत्येक नाम का आधार स्तम्भ का आकार है और इन नामों से उस देव-शक्ति का बोध होता है जिसको विशिष्ट आकार का स्तम्भ प्रिय है। प्रत्येक आकार के स्तम्भ में उस देवशक्ति की प्रधान विलक्षणताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं जिनके आधार पर उनका नामकरण हुआ है। इस प्रकार से सोलह-कोणी खम्भों को चन्द्रकान्त (चन्द्रमा को प्रिय) इसलिए कहते हैं क्योंकि खम्भे के सोलह कोण चन्द्रमा की सोलह कलाओं के तुल्य हैं।

स्तम्भ के विभिन्न स्वरूपों की रचना का आधार—सामंजस्य का सिद्धान्त

बिना किसी आधार के स्तम्भों के विविध स्वरूपों का प्रतिपादन नहीं किया गया है। सामंजस्य के सिद्धान्त से ये स्वरूप अनुशासित हैं। यह सामंजस्य दो प्रकार का है—(१) स्थापित मूर्ति से सामंजस्य तथा (२) आकार-शैली से सामंजस्य। आकार-शैली में स्थापित मूर्ति की विलक्षणता प्रतिबिम्बित होती है। स्तम्भ के विभिन्न रूपों के स्वरूपों का अभिप्राय यह है कि देवालय के आकार और स्थापित मूर्ति में, देवालय की रचना के ऊपरी तथा निचले भाग में अथवा आलंकारिक दृष्टिकोण से वास्तुकृति की मनुष्य शरीर से समानता स्वीकृति के अनुसार शिखर तथा स्तंभ अथवा शिर और उसके चरण भाग में सामंजस्य स्थापित किया जाय।

वास्तुकृति की सर्वाधिक दीर्घकालीनता

भारतीय स्वतंत्रकलाशास्त्र में प्रतिपादित तीन प्रमुख कलाओं में जो परब्रह्म को अपनी कृतियों में प्रकट करती हैं वास्तुकलाजनित कृति सर्वाधिक दीर्घकाल तक स्थायी होती है। इसका कारण स्पष्ट है। पत्थर, ईंट आदि जैसी उपादान सामग्री का प्रयोग वास्तुकृति की रचना में होता है। यह सामग्री अन्य स्वतंत्र कलाओं की उपादान सामग्री से अधिक दीर्घकाल तक वर्तमान रहती है।

अन्य दो स्वतंत्र कलाएं काव्य और संगीत हैं। इन में प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत वस्तु को व्यक्त एवं अव्यक्त ध्वनियों की सहायता से प्रकट करते हैं। काव्यकृति में ध्वनि अर्थ का प्रतीक मात्र होती है इसलिए काव्यकृति के उत्कृष्ट अनुभव में ध्वन्यंश का अस्तित्व नहीं होता है। परन्तु संगीत में ध्वन्यंश का

अपना एक महत्व है जिसके कारण संगीतकला के उत्कृष्ट अनुभव में ध्वन्यंश का अनुभव प्रमुख रहता है। परन्तु ध्वनि क्षणस्थायी होती है—उत्पन्न होते ही वह नष्ट हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि काव्य तथा संगीत की उन कृतियों को परम्परा की सहायता से सुरक्षित रखने की चेष्टा करते हैं जिनका सांस्कृतिक महत्व बहुत अधिक है। जैसे कि ऋग्वैदिक काव्य और सामवैदिक गानों को स्मरण एवं मौखिक परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक उनकी रक्षा करते हुए सहस्रों वर्षों तक चिरस्थायी बनाया गया है। लिपि के आविष्कृत हो जाने पर कलाजन्य कुछ कृतियों को पाण्डुलिपियों द्वारा चिरस्थायी बनाया गया है, जैसे कालिदासकृत काव्यकृति एवं अन्य महाकवियों की रचनाएं। परन्तु कृतियों को सम्यक् रूप से मूल रूप में चिरस्थायी बनाए रखने के लिए स्मरणशक्ति विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती है। और लेखन की उपादान सामग्री मसी तथा कागज भी वास्तुकृति की उपादान सामग्री ईंट, पत्थर आदि की अपेक्षा कम चिरस्थायी होती है। कुछ भी हो उपर्युक्त साधन काव्य एवं संगीत कृति को मूल रूप में सुरक्षित नहीं रख सकते हैं वरन् एक अन्य माध्यम में उनकी पुनर् रचना अथवा पुनर् अभिव्यक्त रूप को सुरक्षित रख सकने में समर्थ हो सकते हैं। परन्तु वास्तु कृतियां अन्य स्वतंत्र कलाओं की कृतियों की अपेक्षा अपने मूल रूप में अत्यन्त दीर्घकाल तक वर्तमान रहती हैं। वे समय के कठोर आक्रमण सुदीर्घ काल तक सह सकती हैं। उनमें इस प्रकार की वृद्धि तथा परिवर्तन करना संभव नहीं है जिनसे उनके रूप में आमूल परिवर्तन हो जाय। वास्तुकृतियों पर उस राष्ट्र की संस्कृति के विकास तल का यथार्थमूलक प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से पड़ता है जिसके विशेष ऐतिहासिक युग में उनकी रचना की जाती है। समकालीन अन्य कलाकृतियों के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर भी वास्तुकृतियों का अस्तित्व बना रहता है।

भारत में हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो के दुर्ग आदि भग्नावशेषों एवं मध्य अमेरिका के विशाल कन्दरागृहों से हमको अत्यन्त प्राचीन कालीन उन प्रदेशों के निवासियों की वास्तुकला विषयक सफलताओं का स्पष्ट बोध हो जाता है। परन्तु उन प्राचीन काल के निवासियों ने जिस काव्यकला एवं संगीतकला को विकसित किया था उनका आज हमें कोई चिह्न भी नहीं मिलता है। इस प्रसंग में यह नहीं कह सकते कि वे लोग काव्यकला एवं संगीतकला के सर्वथा अनभिज्ञ थे, क्योंकि बिना इन कलाओं के किसी देश अथवा मनुष्य जाति में वास्तुकला विकासमान नहीं हो सकती है।

मूर्तिरचना एवं चित्ररचना कलाएं आश्रित कलाएं हैं

भारतवर्ष में काव्य, संगीत और वास्तु तीन कलाओं को ही परब्रह्म को प्रकट करने वाली माना गया है। अतएव भारतीय मतानुसार यही तीन कलाएं स्वतन्त्र हैं। मूर्तिरचना तथा चित्ररचना कलाएं वास्तुकला के ही अंश स्वरूप अथवा उसकी आश्रित कलाएं ही प्रतिपादित की गई हैं। इस कथन की पुष्टि इस बात से होती है कि वास्तु कला प्रतिपादक ग्रन्थों में ही मूर्ति तथा चित्र कलाओं का निरूपण किया गया है।

इस प्रकार से उस मानसार ग्रन्थ में जिसमें सत्तर अध्याय हैं, बयालिस अध्यायों में वास्तुकला का और इक्कीस अध्यायों में मूर्तिरचनाकला का प्रतिपादन है। इसका अर्थ यह हुआ कि मूर्ति रचनाकला प्रतिपादक अध्यायों की संख्या वास्तुप्रतिपादक अध्यायों की संख्या की आधी है। इन इक्कीस अध्यायों में मूर्तिरचना विषयक निम्नलिखित विषयों का उल्लेख है—मूर्ति की उपादान सामग्री के रूप में नौ धातुएं—स्वर्ण, रजत, ताम्र, प्रस्तर, काठ, लेप, प्रस्तरचूर्ण, शीशा एवं पकाई गई मिट्टी, चल तथा अचल मूर्तियां, मूर्ति के सभी अंगों, आधे अङ्गों तथा एक चौथाई अङ्गों के प्रदर्शित करने के आधार पर उनके स्वरूप का उच्च, मध्यम तथा लघु रूपों में वर्गीकरण, उन देवताओं, देवियों, अर्धदेवों, ऋषियों, पशुओं, शिवलिंग प्रतीकों के विभिन्न आसनों तथा मुद्राओं एवं मूर्तिरचना विषयक अन्य विशेषताओं का वर्णन जिनका वर्गीकरण अनेक प्रकारों में जैसे शैव, पाशुपत, कालमुख, महाव्रत, वाम, भैरव, समकर्ण, वर्धमान, शिवांक आदि में करते हैं तथा हीरे के शिवलिंग के एवं जैन और बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों के आकारों का वर्णन आदि।

यद्यपि मानसार ग्रन्थ में चित्रकला का वर्णन पृथक् रूप में नहीं है फिर भी मूर्तियों की सफल रचना करने के लिए चित्रकला के रचनाविधान का ज्ञान होना अनिवार्य रूप से आवश्यक माना गया है। क्योंकि मूर्तिकला-रचना-विधान में विभिन्न देवों, देवियों के शरीरों और उनके वस्त्रों के रङ्गों का निरूपण किया गया है। जैसे कि ब्रह्मा का पूरा शरीर सुनहरे रंग का, विष्णु का श्याम रंग का, उनके वस्त्रों को पीत रंग का, शिवमूर्ति को लाल रंग का और उनकी ग्रीवा के वाम भाग में कालकूट विष के चिह्न को बनाना आवश्यक कहा गया है। इसी प्रकार से मानसार में बौद्ध, जैन तथा अर्द्धदेवों की मूर्तियों के शरीरों तथा उनके वस्त्रों के रंगों का बहुत वर्णन है।

राजा भोजकृत समरांगणसूत्रधार में सत्तरवें अध्याय से लेकर तिरासिवें अध्याय तक मूर्तिरचना विधि के प्रतिपादन के बीच बीच में चित्ररचनाविधि की भी व्याख्या है। इस ग्रन्थ के सत्तरवें अध्याय में शिव के प्रतीक स्वरूप अनेक प्रकार के लिंगों को बनाने का विधान है। इकहत्तरवें अध्याय में चित्रकला सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का निरूपण है। इस अध्याय में यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि चित्रकला सब कलाओं में प्रमुख है। सभी वर्ग के व्यक्ति इस कला से आनन्दित होते हैं। भित्तियों, पट्टों अथवा वस्त्रों[१] पर चित्रों को आंकना चाहिए। इस अध्याय में चित्रकला संबंधी प्रतिपाद्य विषयों का भी वर्णन है। बहत्तरवें अध्याय में प्रधानतया उस भूमिबन्ध अर्थात् भित्तितल के बाह्यतल को विभिन्न प्रकार की तूलिकाओं (brush) द्वारा एक विशेष प्रकार के प्रलेप से बनाने की विधि बताई गई है। इस प्रलेप को बनाने की विधि और उसकी उपादान सामग्रियों का भी विस्तारपूर्ण वर्णन है। इसके साथ साथ गीले रंगों की रचना विधि का भी उल्लेख है। तिहत्तरवें अध्याय में प्रसंगानुकूल भूमिबन्धविधान में विभिन्न प्रकार की तूलिकाओं से उपयोज्य प्रलेप को बनाने की विधि का वर्णन है। चौहत्तरवें अध्याय में भूमिबन्ध के विभिन्न भागों को अंकनीय चित्र के विभिन्न अंगों को चित्रित करने के लिए चिह्नित करने का कलाकार को निर्देश दिया गया है। पचहत्तरवें अध्याय में 'मानों' अर्थात् 'परिमाणों' का उल्लेख है। परन्तु ग्रन्थ के छिहत्तरवें अध्याय में मूर्तियों की विलक्षणताओं का और सतहत्तरवें अध्याय में इस बात का विशदरूप वर्णन है कि देवों तथा अर्धदेवों की आकृतियों के विभिन्न अङ्गों की रचना किस प्रकार से करना चाहिए और उनकी रचना में कौन से रङ्गों का प्रयोग वांछनीय है।

इस प्रकार से यह सिद्ध है कि भारतवर्ष में मूर्तिरचनाकला की कृतियां केवल तक्षणी निर्मित कृति न होकर तूलिका और तक्षणी दोनों औज़ारों से बनी हुई कृतियां थीं। चित्र तथा काव्य की भांति मूर्तिरचनाकला का भी लक्ष्य शारीरिक अनुभावों, विशेषतया नयनों के अनुभावों (भाव-प्रदर्शनों) के साधन से मानसिक दशाओं को प्रकट करना है। वर्तमान समय में भी यह परम्परा जागरूक है। राम, कृष्ण तथा अन्य देवताओं की असंख्य देवमन्दिरों में प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ अपने नयनों तथा शरीर के अन्य अङ्गों की रचना में प्रयुक्त रङ्गों के कारण आज भी सजीव तथा श्वास लेती हुई सी दिखाई देती हैं।

---

[१] स० सू० धा० भाग २-२५२

भारतीय प्राचीन विश्वास के अनुसार मूर्ति रचनाकला और चित्रकला के दो प्रमुख प्रयोजन हैं—(१) धार्मिक (इसके अन्तर्गत स्मारक भी हैं) तथा (२) अलंकरण। अतएव इन कलाओं को वास्तुकला की आश्रित कलाएं ही प्रतिपादित किया गया है। सर्वाधिक प्राचीन चित्र भित्तियों पर बने चित्र हैं। और मूर्तियाँ या तो मन्दिरों में प्रतिष्ठित उन देवप्रतिमाओं के रूप में हैं जिनका सामंजस्य पूर्णतया देवालयों के वास्तु संबंधी रूपों के साथ है, क्योंकि देवालयों की रचना मूर्तियों की स्थापना के लिए ही की जाती है, या ये मूर्तियां देवालय के अलंकरण के रूप में हैं जो कि वास्तु कलाकृत निर्माण से भूमि से अंकुर की तरह उगते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं।

वास्तुकला प्रतिपादक अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा ही पाया जाता है। जैसे कि मयमत ग्रन्थ में मूर्तिरचनाकला का प्रतिपादन है। काश्यप लिखितं अंशुमद्भेद में सब मिला कर छियासी अध्याय हैं। इनमें से सैंतालिस अध्यायों में मूर्तिरचनाकला का वर्णन है। विश्वकर्मा के मतों पर आधारित दो ग्रन्थ हैं (१) विश्वकर्मप्रकाश अथवा विश्वकर्मवास्तुसार तथा (२) विश्वकर्मशिल्पशास्त्र। इनमें से दूसरे ग्रन्थ में मूर्तिरचना कला का ही निरूपण है।

मूर्तिरचनाकला एवं चित्रकला को आश्रित कलाएं प्रतिपादन करने के निम्नलिखित कारण हैं—

भारतवर्ष में स्वतंत्र अर्थात् प्रधान कलाओं का वर्गीकरण उन ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर करते हैं जिनके साधन से कलाकृति को प्रत्यक्ष करने पर कलाजनित अनुभव सहृदय में उत्पन्न होता है। और भारतीय कलाशास्त्रकार देखने की ज्ञानेन्द्रिय आँख और सुनने की ज्ञानेन्द्रिय कान को ही कलानुभावक इन्द्रियां प्रतिपादित करते हैं। इसका कारण यह है कि ये ही दो ज्ञानेन्द्रियां ऐसी हैं जो अपनी ज्ञेय वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता को यथापूर्व बनी रहने देती हैं। इन्हीं इन्द्रियों की ज्ञेय वस्तु एक ही प्रमाता के लिए न होकर एक ही समय में अनेक प्रमाताओं के लिए होती है। ये ही दो इन्द्रियां ऐसी हैं जो अपनी ज्ञेय वस्तुका अनुभव करती हुई भी उसको किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाती हैं, जैसा कि स्पर्शनेन्द्रिय एवं स्वादनेन्द्रिय करती हैं, और न ये ज्ञानेन्द्रियां ऐसी हैं जिनको घ्राणेन्द्रिय के समान अपनी ज्ञेय वस्तु का अनुभव करने के लिए उस वस्तु का क्रमशः क्षीण होना आवश्यक होता है। यही दो इन्द्रियां हैं जिनके विषय के साथ भोज्यभोजक भाव (Appetitive) संबंध से विलक्षण भाव्य-भावकरूप (Contemplative) संबंध स्थापित किया जा सकता है। इसी संबंध

के कारण प्रमाता दर्शक और प्रमेय कलाकृति का साधारणीकरण होता है जिसके फलस्वरूप स्वतन्त्रकलाकृतिजन्य अनुभव प्राप्त होता है। कलाबोधक इन्द्रियों के आधार पर कलाकृतियों एवं कलाओं को तीन वर्गों में शास्त्रकारों ने विभाजित किया है—१ दृश्य २ श्रव्य एवं ३ दृश्य-श्रव्य। प्रथमवर्ग की कला वास्तु और उसके अधीनस्थ मूर्ति तथा चित्र कलाएं हैं। दूसरे वर्ग की कलाएं काव्य और संगीत हैं और तीसरे वर्ग की कला नाट्यकला है जो काव्यकला के उत्कृष्ट रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संगीतकला को और काव्यकला को दो भिन्न वर्गों में रखने का कारण संभवतः यह है कि यद्यपि इन्द्रिय बोध के तल पर दोनों कलाएं समानरूप से श्रवणेन्द्रिय से संबंधित हैं फिर भी, कल्पना, भाव तथा साधारणीभाव के तलों पर काव्यकला का इन्द्रियानुभवगम्य अंश क्रमशः क्षीण होता हुआ लोकोत्तर तल में सर्वथा नष्ट हो जाता है परन्तु संगीतकला के अनुभव में इन्द्रियानुभवगम्य अंश सर्वदा बना रहता है।

कलाओं के वर्गीकरण का दूसरा आधार प्रदर्शनीय वस्तु तथा विषयभूत प्रदर्शन का पारस्परिक संबन्ध है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो कहेंगे कि यह आधार अभिव्यंग्य साररूप मनोगत भाव और उसको अभिव्यक्त करनेवाली कलाकृति के बाह्यस्वरूप का पारस्परिक संबन्ध है। इस सम्बन्ध को तीन प्रकार का मानते हैं—(१) अभिव्यंग्य की प्रधानता (२) उसकी गौणता एवं (३) उसका अभाव। इन सम्बन्धों के आधार पर कलाकृतियों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। प्रथम वर्गान्तर्गत वे कलाकृतियां हैं जिनमें अभिव्यंग्य मनोभाव अर्थात् आध्यात्मिक वस्तु अभिव्यंजक कलाकृति के प्रत्यक्षगम्य स्वरूप से प्रधान है। द्वितीयवर्गान्तर्गत वे कलाकृतियां हैं जिनमें अभिव्यंग्य आध्यात्मिक वस्तु अभिव्यंजक कलाकृति के प्रत्यक्षगम्य स्वरूप की अपेक्षा अप्रधान है। तृतीयवर्गान्तर्गत वे कलाकृतियां हैं जिनमें अभिव्यंग्य मनोभाव अर्थात् आध्यात्मिक वस्तु का सर्वथा अभाव है। यद्यपि यह वर्गीकरण काव्यकला के प्रसंग में प्रतिपादित किया गया है फिर भी यह सभी कलाओं पर सामान्यतः प्रयुक्त किया जा सकता है। यह विचार तीसरे वर्ग के लिए चित्र शब्द के प्रयोग से ध्वनित होता है। क्योंकि चित्र–काव्य उस काव्य को कहते हैं जिसमें आध्यात्मिक वस्तु नहीं होती, जो किसी भी प्रकार के आत्मतत्व को प्रकट नहीं करता और जो चित्र की भांति आत्महीन होता है।

इस संकेत का अनुसरण करते हुए तीन स्वतंत्र कलाओं का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

काव्य-कला सर्वोत्कृष्ट और प्रथमवर्गीय कला है। क्योंकि काव्य-कला जनित कृति में सारस्वरूप आत्मतत्व उसको प्रकट करने वाले साधन के स्वरूप की अपेक्षा प्रधानभूत होकर ही वर्तमान नहीं होता वरन् प्रकट करने वाला साधन भी मूलरूप में आत्मतत्वरूप होता है, क्योंकि यह ज्ञप्तियों के सुसंगठित समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—चाहे इसको हम कवि के दृष्टिकोण से देखें और चाहे सहृदय के दृष्टिकोण से देखें। इसका कारण यह है कि कवि जिस अनुभव को प्रकट करता है और सहृदय जिसका अनुभव सर्वोत्कृष्ट तल पर करता है उस अनुभव का स्वाभाविक गुण यह है कि उसमें आध्यात्मिक ज्ञप्तियों को प्रकट करने वाली भाषा की ध्वनियों के अनुभव का अल्पांश भी वर्तमान नहीं होता, क्योंकि एक काव्यकृति में प्रयुक्त भाषा के शब्द भावों के केवल प्रतीक मात्र ही होते हैं।

संगीतकला दूसरे वर्ग की कला है। क्योंकि संगीतकलाजनित कृतियों में सांगीतिक स्वरों की ध्वनियां सांगीतिक सर्वांगीण अनुभव का केवल आवश्यक अंश ही नहीं होती वरन् जैसा कि भारतीय संगीतकला के शास्त्रकारों ने प्रतिपादित किया है, संगीत के अनुभव में ध्वनि अथवा नाद प्रधान होता है। (गीतं नादात्मकम् सं० र० अध्याय २–१)। काव्यकला संगीतकला से इसीलिए एक भिन्नकला है क्योंकि काव्यकला अध्यात्मतत्वप्रधान कला है (काव्यस्यात्मा ध्वनिः। अथवा काव्यं रसात्मकं वाक्यम्)। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय संगीतकला प्रतिपादक ग्रन्थों में रस की भी चर्चा की गई है। परन्तु उसका संबंध केवल गीत मात्र से न होकर वागिन्द्रियजनित एवं वाद्यजनित गानों और नृत्य को मिला कर जो संगीत (शास्त्रीय अर्थ संगीत का यही है) उत्पन्न होता है उससे है (तूर्यत्रयं गीतवाद्यनृत्यानां मेलनम्—सं० र० व्याख्या, अध्याय ७–१३६१)। और प्रतिपादित यह किया गया है कि इस संगीत में रसप्रधान होता है (रसप्रधानमिच्छन्ति तौर्यत्रिकम् इदंविदः। सं० र० अध्याय ७–१३६२)।

'वास्तु' तृतीय वर्ग की कला है। इसको निम्नतम कोटि की कला भी इसलिए कहते हैं क्योंकि वास्तुकलाकृत कृतियों में आत्मतत्व वर्तमान नहीं होता। इसका कारण यह है कि पत्थर, ईंट आदि साधन (medium) जिसमें वास्तुरचनाकार सार रूप आत्मतत्व को प्रकट करने की चेष्टा करता है वह उस साधन के अन्दर नहीं होता। कवि में भाव एवं गीतकार में सांगीतिक स्वर साधन

रूप में होते हैं और वे कलाकार के अन्दर ही होते हैं। परन्तु वास्तुरचनाकार के पास पत्थर, ईंट, चूना, लकड़ी आदि वाह्य वस्तुएं ही उपादान सामग्री के रूप में होती हैं। वास्तु के प्रसंग में ये साधन सर्वथा विषयरूप और कलाकार से बहिर्भूत हैं—इसीलिए वास्तुकृति आत्मतत्वशून्य होती है—अर्थात् आत्मतत्व उसमें निहित न होकर उससे बहिर्भूत होता है। मूर्तिरचनाकला एवं चित्रकला के प्रसंग में भी यह बात समान रूप से सच है।

इस प्रकार से मूर्तिरचनाकला और चित्रकला को स्वतंत्र कलायें न मानने का एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उपर्युक्त दोनों कलाओं की कृतियों के उपादान साधन तत्वतः वही हैं जो वास्तुकृतियों के उपादान साधन हैं। क्योंकि प्रस्तर और रंग उतने ही पार्थिव हैं जितने ईंट और चूना।

वास्तु-ब्रह्मवाद, वास्तुकलादर्शन

जिस प्रकार से रसब्रह्म का तात्विक स्वरूप तैत्तिरीय उपनिषद् (२—७) के रचना-काल में लिखा हुआ मिलता है और जिस प्रकार से नादब्रह्म के तात्विक स्वरूप की सर्वांगीण व्याख्या शैवमत के विभिन्न सम्प्रदायों से संबंधित ग्रन्थों और व्याकरण दर्शन में की गई है, उसी प्रकार से वास्तुब्रह्म का उल्लेख किसी भी दार्शनिक ग्रन्थ में अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। जहां तक हमारी जानकारी है वहां तक वास्तुकला प्रतिपादक केवल एक ग्रन्थ अर्थात् राजा भोजकृत समरांगणसूत्रधार में ही इसका उल्लेख प्राप्त हो सका है। और इस ग्रन्थ में भी वास्तुब्रह्मवाद के तात्विक स्वरूप की व्याख्या स्पष्टतया विस्तार-पूर्वक नहीं की गई है। तथ्य यह है कि जिस पंक्ति में 'वास्तुब्रह्म' का उल्लेख है उसके निम्नलिखित दो विभिन्न पाठ हैं :—

१. वास्तुब्रह्म सदा विश्वं व्याप्नोति सकलं जगत्।
२. वास्तुब्रह्म ससर्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा।

नादब्रह्मवाद अथवा रसब्रह्मवाद की भांति वास्तुब्रह्मवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि वास्तुब्रह्म साक्षात् रूप में प्रत्यक्ष होने के लिए अपने को विषयस्वरूप में प्रकट करता है, ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय होने के लिए यह अपने को व्यक्ति रूप में भासित करता है। यह ब्रह्म अपने को वास्तुकृतियों तथा तद्विधायक आवश्यक उपादान सामग्री के रूपों में प्रकट करता है।

वास्तुकृति से रसात्मक अनुभव

वास्तुकृति, जैसे राजप्रासाद, दुर्ग अथवा देवालय, को दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। १ प्रमेय विषय रूप में और २ प्रमातृगत अनुभव रूप में। वैषयिक दृष्टिकोण से देखने पर वास्तुकृति एक ऐसी वस्तु है जो चक्षुरिन्द्रिय के सामने साक्षात् उपस्थित होती है। ऐसी दशा में वास्तुकृति का साक्षात्कार उसमें निवास करने वाले मनुष्य अथवा देवता के साथ वास्तुकृति के सम्बन्ध के बोध से सर्वथा शून्य होता है। इस दृष्टिकोण से दर्शक वास्तुकृति का साक्षात्कार, वास्तुकलाकार के प्रातिभचक्षुओं से साक्षात्कृत मानस चित्र को भौतिक मूर्त रूप में, आदर्श को यथार्थरूप में, स्वर्गांश को पृथ्वी पर उतरे हुए रूप में अर्थात् विस्मयकारी रूप में, करता है। इस प्रकार से दर्शक के अन्तःकरण में वास्तुकृति आश्चर्य के भाव को उत्पन्न करती है अर्थात् शास्त्रीय भाषा में जिसको अद्भुत रस कहते हैं उसका अनुभव दर्शक को वास्तुकृति के देखने से होता है। इस प्रकार के अनुभव की उत्पत्ति उस समय होती है जब विषयभूत कृति के चिन्तन तथा मनन से दर्शक का साधारणीकरण पूर्णतया हो जाता है। क्योंकि भरत मुनि ने केवल यही प्रतिपादित नहीं किया है कि अद्भुत रस का स्थायीभाव विस्मय है वरन् उन्होंने यह भी कहा है कि देवालय (देवकुल) और सभा-भवन[1] ऐसी वस्तुएं हैं जिनसे अद्भुत रस का अनुभव उद्भूत होता है। और राजा भोज भी स्वरचित ग्रन्थ समरांगणसूत्रधार में यह प्रतिपादित करते हैं कि वास्तुकृति विस्मय[2] को उत्पन्न करती है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि इङ्गलैन्ड के एक सुप्रसिद्ध कलातत्त्व-मर्मज्ञ बर्क (१७२९–१७९७ ई०) भारतीय कलातत्त्व प्रतिपादकों से इस बात में एक मत हैं कि वास्तुकला की महान् कृतियों से विस्मय का भाव उत्पन्न होता है और वास्तु की महान् कृतियों से उत्पन्न अनुभव उस विस्मय के भाव का जनक है जो अन्तःकरण में इतनी पूर्णता से व्याप्त हो जाता है कि अन्य कोई भाव उस समय उसमें प्रवेश नहीं कर सकता। अतएव वास्तुकृति से उद्भूत कलात्मक अनुभव वह आश्चर्य है जो वास्तुकृति से संबंधित है। आश्चर्य का यह भाव अन्तःकरण में इतनी मात्रा में परिव्याप्त हो जाता है कि अन्य किसी भाव के लिए उसमें ठौर ही नहीं रहता। वास्तु–कृति जनित अनुभव भव्यता (sublime) का अनुभव है।

---

[1] अभि० भा० भाग १–३३०   [2] स० सू० धा० भाग १–१७१

विषयरूपवस्तुजनित अनुभव के दृष्टिकोण से वर्क ने 'भव्यता' की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। वर्क का यह मत है कि वह वस्तु भव्य है जो १ प्रसन्नतादायक भय अथवा २ विस्मय के भाव को उत्पन्न करती है। वे यह कहते हैं कि जिस समय हमारे अन्तःकरण में पीड़ा तथा भय के भावों के साथ साथ संकटकारी परिस्थितियों से बाहर होने का बोध रहता है तो एक प्रकार की प्रसन्नता का अनुभव हम करते हैं। इस प्रकार की प्रसन्नता जिस वस्तु से उत्पन्न होती है वही भव्य वस्तु है। ज्ञात यह होता है कि बर्क ने उन दुःख-प्रधान नाटकों एवं दुःखप्रधान लोकघटनाओं से जनित अनुभव के प्रसंग में उपर्युक्त मत को स्थापित किया है जिनको वे भव्य इसलिए मानते हैं क्योंकि उनसे एक विलक्षण प्रकार के आनन्द की उत्पत्ति होती है जिसका वर्णन गत पंक्तियों में किया गया है। परन्तु वास्तु कृति के भव्य होने का कारण यह नहीं है कि उससे 'आनन्दपूर्ण भय' का अनुभव उत्पन्न होता है वरन् वह इसलिए भव्य है क्योंकि इससे 'विस्मय' का भाव उद्भूत होता है। क्योंकि बर्क के मतानुसार आकार की अत्यधिक विस्तीर्णता भव्य है, क्रमिकता और अङ्गों की समरूपता अप्राकृत अनन्तता की रचना करते हैं और अनन्त भव्य है, इमारत के आकार की विशालता भव्य है। और यह हमको अपने अनुभव से ज्ञात होता है कि वे वस्तुएं जो उपर्युक्त तीन स्वरूपों में से एक स्वरूप तथा अन्य किसी स्वरूप के कारण भव्य होती हैं 'आनन्दप्रद भय' को उत्पन्न न कर केवल आश्चर्य के भाव को ही उत्पन्न करती हैं।

'अन्तर्मुखी' (Subjective) दृष्टिकोण से अर्थात् उस मानुष अथवा देव व्यक्ति के दृष्टिकोण से जो वास्तुकृति में निवास करती है और जिसके स्थायी भाव को वास्तुकृति अपने स्वरूप में प्रतिबिम्बित करती है, प्रकट करती है अथवा व्यक्त करती है, वास्तुकृति से उत्पन्न कलात्मक अनुभव उसमें निवास करने वाले व्यक्ति के अन्तर्गत स्थायी भाव का तादात्म्य के साधन से अनुभव है। इसी सिद्धान्त के आधार पर एक राजप्रासाद को देखकर दर्शक के अन्तःकरण में रति का भाव इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि दर्शक उस राजा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है जो उस राजमहल का निवासी है। दर्शक को रति का अनुभव इसलिए होता है क्योंकि राजप्रासाद रूपी वास्तुकृति अपने में उस राजा के रतिभाव को प्रतिबिम्बित अथवा प्रकट करती है जो उसका निवासी है। समरांगणसूत्रधार में राजा भोज ने इस तथ्य का प्रतिपादन ग्रन्थ के उस भाग में किया है जहां पर उन्होंने राजप्रासाद को रति का वासस्थान बताया है

(रतेरावासभवनम् । स० सू० धा० भाग १–१७१)। इसी प्रकार से दुर्ग उत्साह के स्थायी भाव को जागृत करता है। ध्यानमुद्रा में भगवान् बुद्ध की मूर्ति जिस मन्दिर में प्रतिष्ठित है उसको देख कर मानसिक शान्ति का भाव उद्भूत होता है। और भावानुभव तल एवं साधारणीभाव तल का अतिक्रमण कर दर्शक उसी प्रकार से वास्तुकृति से वास्तुब्रह्म का अनुभव करता है जिस प्रकार से संगीत कला का रसिक वागिन्द्रिय तथा वाद्यजनित गीतों और रागों से नादब्रह्म का एवं काव्यरसिक काव्यकृति के पढ़ने अथवा सुनने से रसब्रह्म का अनुभव करता है।

भारतीय स्वतंत्र कलादर्शन

भारतवर्ष में स्वतंत्र कलाविषयक ऐसे किसी व्यापक दर्शन को रचने का प्रयास नहीं किया गया था जिसके अन्तर्गत सभी स्वतंत्र कलाओं का तात्विक विवेचन हो। इसका कारण यह मालूम होता है कि भरतमुनि ने काव्य, संगीत और वास्तु कलाओं तथा सभी अन्य कलाओं को नाट्यकला के अधीन कलाएं प्रतिपादित किया था। इस व्यवस्था के आधार पर नाट्यकलादर्शन अर्थात् रसब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया गया था और उसी को काव्यकला का भी दर्शन इसलिए मान लिया गया था क्योंकि नाटक को काव्य का एक विशिष्ट रूप ही माना जाता था। परन्तु परवर्ती समय में संगीत और वास्तु को भी स्वतंत्र कलाएं स्वीकार किया गया और संगीतकला के दर्शन 'नादब्रह्मवाद' तथा वास्तुकला के दर्शन 'वास्तुब्रह्मवाद' का विकास 'रसब्रह्मवाद' के प्रभाव से होना आरम्भ हो गया। परन्तु भारत में स्वतंत्रकला विषयक ऐसे किसी व्यापक दार्शनिक मत का प्रतिपादन नहीं किया जा सका जिसमें प्रधानस्वरूप तीन स्वतंत्रकलाओं के दर्शनों को एक सूत्र में ग्रथित करते हुए सर्वांगीण स्वतन्त्रकलाशास्त्र विषयक मत की स्थापना की गई हो। सम्भवतः इसका कारण यह था कि भारतवर्ष के इतिहास में ऐसे अनेक विदेशी राज्यों की स्थापना हुई जो भारतीय संस्कृति के पोषक नहीं थे अपितु उसके विरोधी थे। अथवा इसका कारण यह था कि अभिनवगुप्त जैसे महान् दार्शनिक ने स्वकृत तन्त्रालोक में और श्रीकण्ठ तथा रामकण्ठ ने क्रमशः रत्नत्रय और नादकारिका में शैव सम्प्रदाय के अद्वैत तथा द्वैत मतों का प्रतिपादन इस प्रकार से किया था जिससे कि नाद के स्वरूप की व्याख्या उनके दर्शनों में हो गई थी और राजा भोज ने जिस वास्तुब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप को प्रतिपादित किया था उसकी ओर परवर्ती दार्शनिक आकर्षित नहीं हुए।

परन्तु विभिन्न साम्प्रदायिक मतों को एक सूत्र में ग्रथित करना अत्यन्त कठिन काम नहीं है। वस्तुतः भर्तृहरि ने उस मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसके आधार पर विभिन्न मतों को एकसूत्र में ग्रथित कर सकते हैं। भर्तृहरि ने व्याकरणदर्शन को प्रतिपादित करते हुए परब्रह्म के एक ऐसे प्राचीन परंपरागत स्वरूप का वर्णन किया है जो उपनिषदों में कथित तथा पूर्वकालीन वेदान्त मत में प्रतिपादित ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न है। भर्तृहरि का प्रतिपाद्य विषय वह व्याकरण दर्शन है जिसका विषय व्यक्ताक्षरसमूह रूप शब्द और अर्थ हैं। अतएव उनके सामने मुख्य रूप से दो समस्याएं थीं—(१) स्थूल व्यक्त ध्वनियों का मूल कारण क्या है? और (२) शब्द और अर्थ में परस्पर संबंध क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर उन्होंने निम्न प्रकार से दिए थे—१. स्थूल व्यक्त ध्वनियों का मूल कारण वह सूक्ष्मतम ध्वनि है जिसको शास्त्रीय भाषा में शब्द-ब्रह्म कहते हैं—यह सभी ध्वनियों का अखण्डित ऐक्य है। और २. अर्थ एक मिथ्या बोध है। अनादि अज्ञान के कारण शब्दों अथवा व्यक्त ध्वनिसमूहों में अर्थ की मिथ्या प्रतीति ठीक उसी प्रकार से उद्भूत होती है जिस प्रकार सूर्य की प्रकाशमान किरणों के कारण सीपी में चांदी की मिथ्या प्रतीति उत्पन्न होती है। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि वाक्यपदीयम् के उस प्रथम श्लोक के अनेकार्थ संभव हैं जिसके आधार पर उपर्युक्त मत को स्थापित करते हैं।

संगीतकला के दार्शनिकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ध्वनि' है। अतएव सांगीतिक स्वरों के मूल उत्पत्ति स्रोत को जानने के लिए यह प्रश्न उठाया गया कि 'व्याकरण-दर्शन से प्रतिपादित सूक्ष्मतम मूल ध्वनि वर्ण स्वरूप है अथवा वर्ण स्वरूप नहीं है?' और यह जान कर कि ध्वनि की वर्णरूपता वागिन्द्रिय के व्यापार से जनित है और वागिन्द्रिय का यह व्यापार ध्वनि के उस सूक्ष्मतम स्वरूप में संभव नहीं है जिसको व्याकरण शास्त्रकारों ने सब स्थूल ध्वनियों का मूल कारण प्रतिपादित किया है, उन दार्शनिकों ने यह स्वभावतया निरूपित किया कि मूल ध्वनि अव्यक्त स्वरूप है। उन्होंने इस अव्यक्त स्वरूप ध्वनि को "नादब्रह्म' कहा और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि सङ्गीतकला नादब्रह्म को प्रकट करती है और नादब्रह्म का अनुभव श्रोता को कराती है। इसका प्रतिपादन हम गत अध्याय में अनेक शास्त्रकारों के दृष्टिकोणों से कर चुके हैं। जो शास्त्रकार वास्तुकला को भी एक स्वतंत्र कला मानते थे उन्होंने भी उक्त सैद्धान्तिक परिपाटी का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने प्रतिपाद्य विषय 'वास्तु' को मूल तत्व माना और उसको उसी प्रकार से वास्तुब्रह्म कहा जिस

प्रकार से संगीतकला के दार्शनिकों ने जिनका प्रतिपाद्य विषय अव्यक्त स्वरूप ध्वनि था अव्यक्त ध्वनि के सूक्ष्मतम रूप को मूलध्वनि अर्थात् नादब्रह्म प्रतिपादित किया था।

परन्तु स्वयं भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए यह प्रश्न उठाया था कि 'क्या ब्रह्म अनेक हैं ?' अथवा 'क्या शब्दब्रह्म मूलब्रह्म से भिन्न है ?' वाक्यपदीयम् के दूसरे श्लोक में ही इस प्रश्न का उत्तर भर्तृहरि ने दिया है।— यह श्लोक निम्न लिखित है :—

> एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
> अपृथक्त्वेपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव भासते॥

श्लोक का भावार्थ निम्नलिखित है :—

अनुभवसिद्ध होने के कारण हम लौकिक परस्पर विभिन्नस्वरूप वस्तुओं की अनेकता को अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि हम प्रत्येक वस्तु का मूलकारण एक ही तत्व मानते हैं तो तर्कशास्त्रानुसार उस मूलकारण में अनेक शक्तियों को वर्तमान मानना परमावश्यक हो जाता है। भर्तृहरि उक्त युक्ति की अकाट्यता को स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि 'ब्रह्म' तो एक ही तत्त्व है पर वह अनेक इसलिए भासित होता है क्योंकि उसका संबंध उन विभिन्न शक्तियों के साथ है अथवा वह उन विभिन्न अनेक शक्तियों का आधार है (व्यपाश्रयात्) जिनकी कल्पना वस्तुओं की विविधता को स्पष्ट करने के लिए की गई है।

अतएव भर्तृहरि परब्रह्म और शब्दब्रह्म में तात्विक ऐक्य को अस्वीकार नहीं करते परन्तु इसके साथ साथ दोनों की आपेक्षिक भिन्नता को भी मानते हैं। वे इस मत के पोषक हैं कि शक्तियों का अस्तित्व ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं है। वे यह मानते हैं कि शक्तियां ब्रह्म से अभिन्न हैं।

> 'सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः'
> 'एकमेव ब्रह्म सर्वशक्ति।' वा० प० (ब) ६

विभिन्न प्रकार के कार्यों के कारणों को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न शक्तियों का अनुमान दार्शनिक करते आए हैं (कार्यनानात्वोन्नीयमानः शक्तिभेदः)। जैसे जैसे ये शक्तियां परब्रह्म से उद्भूत होती हैं अथवा यह कहें कि जैसे जैसे परब्रह्म इन शक्तियों को प्रकट करता है वैसे वैसे ये शक्तियां उसको व्यक्ति का स्वरूप प्रदान करती जाती हैं। ये शक्तियां परब्रह्म के स्थूलीभवन के क्रमशः

विभिन्न तल हैं। अतएव ये शक्तियां उस दार्शनिक मत में प्रतिपादित पदार्थ स्वरूप होती हैं जो इन पर विश्वास इसलिए करता है कि उन पदार्थों की सहायता से उस दार्शनिक मत में विभिन्न प्रकार के कार्यों के कारणों को स्पष्ट किया जाता है। इस रूप में कश्मीर के अद्वैत शैव मत में प्रतिपादित सर्वोच्च पदार्थ शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या हैं। ये पदार्थ क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कही जाने वाली उन पांच शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जो परम शिव से उद्भूत होती हैं अथवा यह कहें कि परमशिव जिनको प्रकट करता है।

भारतीय स्वतंत्रकलाओं के परब्रह्मवादी (Absolutist) दर्शन का निर्माण उसी विधि के अनुसार कर सकते हैं जिस विधि के अनुसार व्याकरण दर्शन और कश्मीरी शैव दर्शन की रचना की गई है। क्योंकि कला संबंधी कुछ तथ्यों और विभिन्न प्रकारों के अनुभवों के स्वरूपों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने के लिए रसब्रह्म, नादब्रह्म और वास्तुब्रह्म को सैद्धान्तिक रूप में उसी प्रकार से स्थापित किया गया है जिस प्रकार से व्याकरण दर्शन में शब्दब्रह्म को अथवा अद्वैत शैवमत में शिव, शक्ति आदि पदार्थों की स्थापना सैद्धान्तिक रूप में की गई है।

अतएव यदि हम यह मान लें कि उपर्युक्त रसब्रह्मादि पदार्थ परब्रह्म के आभासन, अभिव्यक्तीकरण अथवा स्थूलीभवन के विभिन्न क्रमस्तर हैं तो हम इसी मान्यता का अनुसरण करते हुए, स्वतंत्र कलाओं के दर्शन का निर्माण कर सकते हैं। इस विचारसरणी के अनुसार परब्रह्म सर्वोपरि पदार्थ है और उससे आभासित अथवा अभिव्यक्तीकृत तीन प्रधान पदार्थ रसब्रह्म, नादब्रह्म और वास्तुब्रह्म हैं।

अभिव्यक्तीकरण अथवा स्थूलीभवन की प्रक्रिया, चाहे मूलतत्त्वचिन्तन के प्रसंग में हो या स्वतन्त्रकला दर्शन के सम्बन्ध में हो, मन्द गति से क्रमानुसार ही होती है। स्थूलीभवन अथवा विषयस्वरूपीभवन के विभिन्न तल होते हैं। मूलतत्त्वदर्शन (Metaphysics) में स्वीकृत परब्रह्म अपने को विभिन्न पदार्थों में आभासित करता है (Concretises)। इनमें से प्रत्येक परवर्ती पदार्थ अपने से पूर्ववर्ती पदार्थ की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है। पृथ्वी सबसे अधिक स्थूल है—इससे अधिक स्थूल कोई दूसरा नहीं है। इसी प्रकार से स्वतंत्रकला दर्शन में स्वीकृत परब्रह्म अपने को विभिन्न कला-पदार्थों (Art-categories) अर्थात् रसब्रह्म, नादब्रह्म तथा वास्तुब्रह्म के स्वरूपों में स्थूलीभूत करता है।

ये पदार्थ अपने को विभिन्न कलाओं तथा कलाकृतियों में प्रकट करते हैं। और भावप्रदर्शन के लिए प्रयुक्त साधन की आपेक्षिक स्थूलता के आधार पर ये कलाएं और उनकी कृतियाँ परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक स्थूलस्वरूप अथवा सूक्ष्मस्वरूप मानी जाती हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्यकला सर्वोत्कृष्ट कला है क्योंकि इसमें भाव को प्रकट करने के लिए जिस व्यक्त ध्वनिस्वरूप भाषा को साधन रूप में प्रयुक्त किया जाता है वह भावों की प्रतीक मात्र ही होती है। उसका अपने में कोई महत्व नहीं होता। काव्यकलाजनित अनुभव में इस व्यक्त ध्वनिस्वरूप भाषा के अनुभव का कोई अंश वर्तमान नहीं होता। व्यक्त ध्वनिरूप भाषा काव्यकृति की विधायक उस प्रकार से नहीं होती जिस प्रकार से सांगीतिक स्वरसमुदाय गीतों के विधायक होते हैं। इसका कारण यह है कि काव्यानुभव में सहृदय को कल्पना, भाव अथवा साधारणीभाव के तलों पर जिस विचार, वेदना अथवा भाव का अनुभव होता है वही काव्यजनित अनुभव का विषयरूपी अंश होता है। उत्कृष्ट काव्यानुभव का विशेष लक्षण यह है कि यह अनुभव उन सब विषय रूप तत्वों से शून्य होता है जिनका बोध हमको सामान्य ज्ञानेन्द्रियों से हो सकता है। क्योंकि काव्यानुभव में उस व्यक्त ध्वनिस्वरूप भाषा के अनुभव का भी कोई अंश नहीं होता जो काव्यकला के प्रकटीकरण का एकमात्र साधन है। अतः काव्यकृति का विषयरूप अंश सद्रूप बाह्य वस्तु से रचित न होकर उससे रचित होता है जो ज्ञप्तिरूप है अथवा इस प्रकार की कोई वस्तु है जो पूर्णतया चित्लोक की निवासिनी है अर्थात ऐसी कोई वस्तु है जिसके तात्विकस्वरूप का बोध अथवा जिसकी कल्पना मन से ही की जा सकती है। अतएव काव्यकला को सर्वोत्कृष्ट कला प्रतिपादित करने का कारण यह है कि यह कला जिस अनुभव को काव्यकृति के रूप में प्रकट करती है और जिस अनुभव को सहृदय श्रोता अथवा रसिक पाठक में उत्पन्न करती है वे दोनों सामान्य इन्द्रियानुभवजनक तत्वों से सर्वथा रहित होते हैं।

संगीतकला काव्य कला की अपेक्षा इसलिए निम्नतर कोटि की है क्योंकि इस कला से जनित अनुभव में सामान्य इन्द्रियजन्य अनुभव के विषयरूपी अंश का सर्वथा अभाव नहीं होता। इसका कारण यह है कि संगीत के अनुभव में स्वरसमुदाय का अनुभव आवश्यक अंश के रूप में वर्तमान रहता है। परन्तु वास्तुकला के साथ तुलना करने पर संगीतकला इसलिए उच्चकोटि की कला मानी जाती है क्योंकि वास्तुकलाकृति की विधायक उपादान सामग्री सांगीतिक स्वरों की अपेक्षा अधिक स्थूल होती है और उसकी सत्ता प्रमाता से पृथक्

होती है जब कि संगीतकला के प्रकटनीय तत्व और प्रकटनकर्ता साधन दोनों ही प्रमातृनिष्ठ (Subjective) होते हैं। इसका कारण यह है कि संगीतकला से प्रकटनीय वस्तु अर्थात् वेदना और भाव आदि जो हमारे जीवन के अंश हैं, तथा संगीतकलाकृति का विधायक साधन स्वर–समुदाय, दोनों ही ऐसे स्वरूप के हैं कि उनका अस्तित्व पूर्णतया चित्स्वरूप जीवन पर निर्भर है, क्योंकि स्वरसमुदाय वास्तुकला की उपादान सामग्री पत्थर, लकड़ी, ईंट आदि की भांति प्रमाता से पृथक्, स्वतंत्र एवं दिक्परिच्छिन्न रूप में अपनी सत्ता को बहुत समय तक कायम रखनेवाली नहीं होती है। स्वर प्रकट होते ही विलीन हो जाते हैं।

वास्तुकला उपर्युक्त दोनों कलाओं की अपेक्षा निम्नकोटि की कला है क्योंकि आध्यात्मिक भाव को प्रकट करने के लिए जिस उपादान सामग्री अथवा साधन को इसकी कृति के निर्माण में प्रयुक्त करते हैं वह स्थूलतम है। प्रस्तर, ईंट, मट्टी आदि पार्थिव वस्तुएं हैं। भारतवर्ष के कुछ मुख्य दार्शनिक मतों में यह प्रतिपादित किया गया है कि दर्शनशास्त्र में निरूपित परब्रह्म के स्थूलीभवन की प्रक्रिया का अवसान पृथ्वी तत्व में हो जाता है—इससे अधिक स्थूलस्वरूपवाला दूसरा कोई तत्व नहीं है। वास्तुकृतियों की प्रमाता से पृथक् स्वतंत्र सत्ता दिक् और काल में होती है और यह कुछ समय तक बनी भी रहती है। दिक् संबंधी तीनों परिमाणाकारों (Dimension) से युक्त होना इनका अपना विशेषगुण है। वास्तुकृति में आध्यात्मिक भाव उससे संमिश्रित रूप में विद्यमान नहीं रहता। वास्तुकृति ऐसे भाव की ओर केवल संकेत ही करके रह जाती है। वास्तुकृति भाव से पृथक् और उससे स्वतंत्र होती है।

अतएव भारतीय स्वतंत्र कलाओं के परब्रह्मवादी दर्शन का परब्रह्माभासित प्रथम प्रधान पदार्थ रसब्रह्म है। उसका दूसरा पदार्थ नादब्रह्म है जो रसब्रह्म से अधिक स्थूल स्वरूप होने के कारण उससे कम सूक्ष्म है। और उस दर्शन का अन्तिम तीसरा पदार्थ वास्तु–ब्रह्म है जो नादब्रह्म से भी अधिक स्थूल रूप होने के कारण उसकी भी अपेक्षा कम सूक्ष्म स्वरूप है।

इति

विशिष्टपद सूची

छ

ज

प